कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनाका सूत्रपात १९५५ ई०के अगस्तमासमें ही हो गया था, किन्तु परिस्थितिजन्य विविध विघ्नसमुदायकी विडम्बनासे इस महायज्ञकी पूर्णाहुति १९७२के मईमासमें पड़ सकी। जून १९७२में टङ्कित करवाकर ६५० पृष्ठोंवाले इस महाकलेवर शोधप्रबन्धको इलाहाबाद विश्वविद्यालयमें परीक्षणार्थ प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार यह सप्तदशवत्सरीय महासत्र पूर्णताको प्राप्त हुआ। लगभग आठ मासकी प्रतीक्षाके पश्चात् मार्च १९७३में मौखिक-परीक्षा हुई और उसके अनन्तर डी० फिल्० उपाधि प्रदान कर दी गई।

इस प्रबन्धकी रचनामें मुझे मुख्यरूपसे पूज्यचरण आचार्यप्रवर पण्डित रघुवरमिट्ठूलालजी शास्त्रीसे निर्देशन और साहाय्य प्राप्त हुआ। इस प्रबन्धकी परिकल्पना उन्हींके मेधावी मस्तिष्कमें उपजी थी। मैं नहीं जानता कि इसके प्रणयनद्वारा उनकी वह कल्पना किस सीमातक साकार हुई है, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी प्रेरणा मन्त्रणा परामर्श और उपदेशकी परिधिका अतिक्रमण न करते हुए मैंने इस प्रबन्धको उनकी कल्पनाके अनुरूप बनानेका पूर्ण-प्रयास किया है। दुर्भाग्यसे गुरुवर्य आज हमारे बीचमें नहीं हैं। जनवरी १९७४ में अपने नश्वरदेहका उत्सर्ग करके उन्होंने निःस्पृहमुनियोंके गन्तव्य कैवल्यपदको प्राप्त कर लिया है। यदि आज वे हमारे बीचमें होते, तो मुझे पूर्णविश्वास है कि इसके प्रकाशनसे अवश्य ही आनन्दित होते। उनके अतिरिक्त श्रद्धेय गुरुदेव महामहोपाध्याय डॉ० उमेशमिश्र (दिवङ्गत) तथा डॉ० आद्याप्रसादमिश्रके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अपने व्यस्त-जीवनमेंसे कुछ समय निकालकर इस रचनाके कतिपय अंशोंको सुना और प्रसन्नतापूर्वक मेरा उत्साहवर्धन किया।

अपने पूज्यगुरुवर्य डॉ० बाबूरामजी सक्सेनाका मैं विशेषरूपसे अनुगृहीत हूँ। उनसे जब भी मेरी भेंट हुई, उन्होंने प्रत्येक वार मुझे शोधके प्रति अपने कर्त्तव्यका स्मरण दिलाया, तथा मुझे निरुद्यम देखकर कभी-कभी सात्त्विकरोष भी प्रकट किया। उनकी सत्प्रेरणा और आशीर्वचनसे ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है, अन्यथा मैं तो हिम्मत ही हार चुका था।

जबसे यह शोधप्रबन्ध विश्वविद्यालयके द्वारा स्वीकृत हुआ है, तभीसे इसको प्रकाशित करानेकी स्पृहा मुझे निरन्तर व्यग्र करती रही है। जिन विद्वानोंने वेदान्तसारपर लिखी गई मेरी तत्त्वपारिजातव्याख्याको देखा है, वे मुझसे किसी अन्य वेदान्तग्रन्थकी रचनाके लिए निरन्तर आग्रह करते रहे हैं, किन्तु प्रकाशनकी समस्याको देखते हुए मेरा ग्रन्थप्रणयनका उत्साह दिनानुदिन शिथिल ही हुआ है। आजके अर्थपरायण वातावरणमें कोई भी प्रकाशक पाठ्यपुस्तकेतर ग्रन्थका प्रकाशन करके अपना पैसा एक लम्बी अवधिके लिए नहीं फँसाना चाहता है, और अर्थाभावसे सताया हुआ वेतनैकशरण अध्यापक भला ग्रन्थप्रकाशनके लिए द्रव्य कहाँसे जुटाएगा? फलतः नितान्त विवशताकी स्थितिमें प्रस्तुतग्रन्थ मेरी दृष्टिमें अविलम्ब प्रकाशनार्ह होनेपर भी अप्रकाशित ही

रहा। इस बार भगवान्‌की कृपासे कुछ ऐसा सुयोग बना है कि शोधप्रबन्धको प्रकाशित करानेके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोगसे मिलनेवाली राशिके लिए मैं भी चुन लिया गया हूँ। इसके लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालयके अधिकारियों तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोगके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस अपर्याप्त स्वल्पराशिसे प्रकाशनभारको शिरोधार्य करनेवाले प्रयागस्थ **पीयूष प्रकाशन**का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने अपने पाससे प्रभूत पूरकराशि मिलाकर इसको प्रकाशित किया है। ६५० टङ्कितपृष्ठोंके इस विपुलकाय प्रबन्धको निरन्तर-सङ्घटन(Solid-composing)के द्वारा ४०० पृष्ठोंके भीतर समेटनेवाले **सत्य महेश प्रेस**के प्रबन्धकों और कर्मचारियोंको मैं जितना भी धन्यवाद दूँ, वह कम ही रहेगा, क्योंकि उनकी सहृदयता कार्यकुशलता और तत्परतासे ही यह दुष्करकार्य निर्धारित अवधिके भीतर सम्पन्न हो सका है।

इस ग्रन्थकी रचना तथा प्रकाशनके समय मेरी पत्नी विजयाने जिस मनोयोगसे मुझे गार्हस्थ्यचिन्तासे विनिर्मुक्त रक्खा तथा विघ्न-बाधाओंको मेरे पास फटकने नहीं दिया, उसके लिए यद्यपि उन्हें औपचारिक धन्यवादकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी ग्रन्थप्रकाशनके इस माङ्गलिक अवसरपर उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन करना मेरा अधिकार है। परिवारके अन्य आत्मीयजनोंने तथा वात्सल्यभाजन पुत्र-पुत्रियोंने अपने-अपने ढंगसे मुझे जो अपेक्षित सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए मैं उन सभीको यथोचित साधुवाद तथा आशीर्वाद वितरित करता हूँ।

प्रयाग
शुद्धफाल्गुन शुक्ल द्वितीया, २०३९ वि० **सन्तनारायण श्रीवास्तव्य**

विषयानुक्रमणिका

चरकसंहिताकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

The Philosophical Background of Charaka-Samhita



डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तव्य
एम्० ए०, शास्त्री, डी० फिल्०
रीडर, संस्कृतविभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय



पीयूष प्रकाशन
१३३, नई कॉलोनी, अलोपीबाग
इलाहाबाद
१९८३

पीयूष प्रकाशन

१३३, नई कॉलोनी, अलोपीबाग,

इलाहाबाद–२११००६

द्वारा प्रकाशित





प्रथम संस्करण : १९८३



सत्य महेश प्रेस,

२३/४७/१२१ एफ,

बाघम्बरी क्षेत्र, अल्लापुर, इलाहाबाद

द्वारा मुद्रित

मूल्य ११०=००

पूजाञ्जलिः



वैकुण्ठवासी श्रीयुत मुंशी मन्नालाल जी श्रीवास्तव्य

अपने निष्कलुष आचरण और भक्तिपूत निश्छल चारित्र्यके द्वारा जिन्होंने
मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको संस्कार प्रदान किया, जिनका अमोघ आशीर्वाद
जीवनके प्रत्येक समुत्कर्षमें अनुभूयमान है, अपने उन पूज्य
पिताजीके पावन श्रीचरणोंमें पूजाप्रसूनकल्पा
यह शोधकृति सर्वात्मना समर्पित है।

आत्मनिवेदन

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

—श्रीमद्भागवत (४।९।६)

आजसे सत्रह वर्ष पूर्व एम्० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करनेके पश्चात् १९५५ ई०के ग्रीष्मावकाशमें पूज्यचरण गुरुवर्य पं० श्रीरघुवरमिट्ठूलालजी शास्त्री तथा डा० श्रीआद्याप्रसादजी मिश्रकी सत्प्रेरणासे मेरे मनमें शोध करनेका विचार उदित हुआ था। विश्वविद्यालय खुलनेपर विषम आर्थिकपरिस्थितियोंके कारण पहले तो ऐसा लगा कि अब शोध करना मेरे बूतेकी बात नहीं है, अतः मैं आजीविकाकी तलाशमें इधर-उधर भटकने लगा, किन्तु कुछ समय-तक ठोकरें खा लेनेके बाद जब चित्त कुछ स्थिर हुआ, तो मैंने लखनऊसे डा० आद्याप्रसादजी मिश्रको अपनी स्थितिका ब्योरा देते हुए एक पत्र लिखा और शोध करनेकी अपनी बलवती इच्छा प्रकट की। डा० मिश्रने पूज्य शास्त्रीजीसे परामर्श करके मुझे तत्काल प्रयाग बुला लिया। जब मैं शास्त्री-जीसे मिला, तो मुझे देखते ही उन्होंने कहा—"तुम निरुत्साह क्यों होते हो? **योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते?**" और सचमुच गुरुजनोंके अमोघ आशीर्वाद तथा विश्वम्भरकी अहेतुकी कृपासे मुझे तत्काल विभागीय शोधच्छात्रवृत्ति मिल गई। इतना सहारा मेरे लिए पर्याप्त था।

जब विषयचयनकी बात आई, तो मैंने अद्वैतवेदान्तमें अपनी अनुसन्धित्सा प्रकट की। किन्तु अनेक विषयोंका पर्यवेक्षण करते-करते जब पूज्य शास्त्रीजीने **चरकसंहिताकी दार्शनिक पृष्ठभूमि** यह विषय सुझाया और इसकी उपयोगिता-पर प्रकाश डाला, तो मुझे बहुत भाया, और मैंने इसे गुर्वाज्ञा तथा भगवदिच्छा समझकर तत्काल शिरोधार्य कर लिया। उसके बाद जब मैंने अपनी अल्पज्ञता और असमर्थताकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया, तो उन्होंने हितकर प्रिय और सुखद वचनोंके द्वारा मेरी उत्साहवृद्धि की। जब श्रद्धेय पं० क्षेत्रेश-चन्द्र चट्टोपाध्यायने मेरे आवेदनपत्रमें इस विषयको देखा, तो उन्होंने कहा कि इस विषयपर थीसिस नहीं लिखी जा सकती है, इसपर तो केवल एक रिसर्च-पेपर ही लिखा जा सकता है। यद्यपि गुरुवर्य शास्त्रीजीने तत्काल इसका प्रतिवाद किया, तथापि मेरे मनमें सन्देहका अङ्कुर उत्पन्न हो गया और यह तबतक बना रहा, जबतक मैंने चरकसंहिताका आद्योपान्त अध्ययन नहीं कर लिया। इस चिकित्साविषयक ग्रन्थमें आई हुई विपुल दार्शनिक सामग्रीको देखकर मेरे मनमें अपने विषयके प्रति आस्था उत्पन्न हुई, और मैं अपने कार्यमें लग गया। किन्तु गुरुजनोंकी प्रेरणासे उसी वर्ष गवर्नमेण्ट

संस्कृत कालेज बनारसकी सम्पूर्णशास्त्रिपरीक्षा भी उत्तीर्णकी, अतः शोधकार्यमें कोई विशेष प्रगति न हो पाई।

सितम्बर १९५६ ई०में संस्कृतविभागके तत्कालीन अध्यक्ष पूज्यगुरुवर्य डा० बाबूरामजीसक्सेनाके अनुग्रहसे संस्कृतविभागमें प्रवक्तापदपर मेरी नियुक्ति हो गई। नया-नया अध्यापनकार्य आ पड़नेसे सारी शक्ति और सारा समय उसीके प्रति समर्पित होने लगा। तीन-चार वर्षतक यही स्थिति रही। सन् १९६०ई०में कृतसङ्कल्प होकर मैं अपने शोधकार्यमें जुट गया और चार मासके भीतर शोधप्रबन्धके तीन-चार अध्याय लिख डाले। आयुर्वेदकी उत्पत्ति और स्वरूप, आयुर्वेदका प्रयोजन, प्रमाणनिरूपण और पदार्थमीमांसाके कुछ अंश उसी समयके लिखे हुए हैं। किन्तु भाग्य मेरा साथ नहीं दे रहा था। उसी समय अकस्मात् कुछ ऐसी गम्भीर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिन्होंने न केवल मेरी प्रगतिको अवरुद्ध कर दिया, प्रत्युत मेरे उत्साहको भी ठण्डा कर दिया और मुझे लगने लगा कि यह शोधकार्य कभी भी पूरा न हो सकेगा। हमारे एक सहयोगी इसी प्रकारकी परिस्थितियोंमें विक्षिप्त हो गए, यद्यपि उनकी स्थिति मेरी अपेक्षा कम विषम थी। उधरसे विरक्त होकर **सदानन्दयोगीन्द्रके वेदान्तसारपर 'तत्त्वपारिजात'** व्याख्या लिखनी प्रारम्भ की जो १९६८ई०के अन्तमें प्रकाशमें आ सकी। इस व्याख्याका प्रकाशन होते ही देशके प्रख्यात और लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंने, शिष्यवत्सल गुरुजनोंने, तथा स्नेहैकदृष्टि सहयोगिबन्धुओंने प्रशंसाके जो प्रसून बरसाने प्रारम्भ किए, उनके सौरभसे मेरे मन और प्राण आप्यायित हो उठे और मैंने परम सन्तोषका अनुभव किया। इसके साथ ही मेरा खोया हुआ आत्म-विश्वास और उत्साह पुनः जीवन्त हो उठा और एक बार फिर कृतसङ्कल्प होकर मैंने लेखनी उठा ली अपने अधूरे शोधकार्यको पूर्णता प्रदान करनेके लिए।

अन्तर्यामीकी कृपासे अब प्रतिकूल परिस्थितियोंसे सङ्घर्ष करनेकी आदत पड़ चुकी है और मेरे भाग्याकाशपर मँडरानेवाले बादल भी बहुत कुछ छँट गए हैं। अतः अपने अध्यवसाय और अनुकूल परिस्थितियोंकी सहायतासे इस शोधप्रबन्धको प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्रस्तुत शोधप्रबन्धके निर्देशक पूज्यचरण पं० श्रीरघुवरमिट्ठूलालजी शास्त्री नियुक्त हुए थे। लेकिन उन्होंने एक वर्षके भीतर ही अवकाशग्रहण कर लिया। उनके बाद महामहोपाध्याय डॉ० श्रीउमेशमिश्र और डॉ० आद्याप्रसादमिश्र क्रमशः निर्देशक बनाए गए; किन्तु इन महानुभावोंका निर्देशकत्व केवल औपचारिक ही रहा। मेरे सौभाग्यसे गुरुवर्य शास्त्रीजीने अवकाशग्रहणके अनन्तर प्रयागमें ही रहनेका निश्चय किया, और अनेक उच्च पदोंके प्रबल प्रलोभनोंकी अवहेलना करके अन्यत्र जानेसे इनकार कर दिया। प्रयागवासके प्रति गुरुवर्यका यह अभिनिवेश मेरे लिए कल्पतरु सिद्ध हुआ। पूज्यचरणसे मैंने न केवल अपने शोधकार्यमें मार्गदर्शन और निर्देशन प्राप्त किया, अपितु जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मुझे उनका पितृतुल्य सहज स्नेह तथा वात्सल्य प्राप्त हुआ। जीवनकी विषमताओंके बीच जब जब मेरा मन विषाद और नैराश्यसे ग्रस्त हुआ, तब तब पूज्यश्री के चरणोंमें मुझे विश्रान्ति प्राप्त हुई। उन्होंने वर्षोंतक घण्टों बैठकर मुझे ग्रन्थका विषय समझाया है और अपने

अमूल्य सुझाव दिए हैं, जिनके अभावमें इस शोधप्रबन्धका इस रूपमें परिपाक सर्वथा असम्भव ही था ।

पूज्यश्रीके निर्देशन और अपने अध्ययनके बलसे जब मैंने विषयवस्तुमें प्रवेश किया, तो मेरे सामने नए-नए आयाम खुलते गए, और मैंने देखा कि इस ग्रन्थमें ऐसी विपुल सामग्री भरी पड़ी है, जिसका पूर्वसूरियोंने स्पर्शतक नहीं किया है । अन्तमें जब मैंने देखा कि इस प्रबन्धका कलेवर अत्यन्त विस्तारको प्राप्त होता जा रहा है और मेरी विवेच्यसामग्रीका अन्त होनेको नहीं आ रहा है, तो मुझे विवश होकर पूर्वनिर्धारित अध्यायोंमें कटौती करनी पड़ी । मनोविज्ञानको दर्शनशास्त्रका ही एक अङ्ग माना जाता है, इसलिए मैंने चरकके मनोविज्ञानको भी एक अध्यायमें प्रस्तुत करनेकी योजना बनाई थी, किन्तु उसको सम्मिलित करनेसे इसकी पृष्ठसङ्ख्या एक सहस्रका भी अतिक्रमण कर जाती, अतः बाध्य होकर उसको छोड़ना पड़ा । शरीर और मनके परस्परावलम्बी होनेके कारण तद्गत रोगोंकी परस्परकारणता और परस्परचिकित्स्यताको विषय बनाकर 'चरकसंहितामें मनोवैज्ञानिक चिकित्सा' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखनेका विचार बना रहा हूँ, जिसकी पूर्त्ति प्रभुकृपा और गुरुजनोंके आशीर्वादपर अवलम्बित है ।

प्रस्तुत प्रबन्धमें यदि कोई गुण और अच्छाई है तो वह पूर्वजों और गुरुजनोंका प्रसाद है, और जितने भी दोष तथा असङ्गतियाँ हैं, वे मेरी मूर्खता और प्रमादका परिणाम हैं । इस प्रबन्धके गुण-दोषोंके विषयमें कुछ कहना मेरे लिए न तो सम्भव ही है ओर न उचित ही है । इस विषय में विपश्चिज्जन ही प्रमाण हैं । मैं तो आचार्यकुमारिलके शब्दोंमें केवल इतना ही कह सकता हूँ—

न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥
कुतो वा गृह्णते दोषं सूरयो मद्विधोक्तिषु ।
नेष्यते यः परस्थोऽपि स स्वयं गृह्यते कथम् ॥
निर्दोषत्वैकवाक्यत्वं क्व वा लोकस्य दृश्यते ।
सापवादा यतः केचिन्मोक्षस्वर्गावपि प्रति ॥
आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

इस ग्रन्थका अवलोकन करते समय विद्वानोंको अपनी मनोवृत्ति अतीव दोषदर्शनपरक नहीं बनानी चाहिए, क्योंकि दोषान्वेषणपरायण जनोंको ऐसा दोष भी भासित होने लगता है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है । मेरे जैसे साधारण मनुष्यकी उक्तियोंमें विद्वज्जन भला दोष किस कारणसे ग्रहण करेंगे ? दोष तो दूसरे व्यक्तिमें भी अभीष्ट नहीं होता है, फिर वह स्वयं कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? वाक्योंका सर्वथा दोषराहित्य लोकमें कहाँ देखनेको

मिलता है ? जो मोक्ष और स्वर्ग सर्वथा निर्दोष तथा परमपुरुषार्थरूप समझे जाते हैं, कुछ नास्तिकजन उनकी भी निन्दा करनेसे बाज़ नहीं आते हैं। भला वाक्योंकी निन्दा करनेसे उन्हें कैसे रोका जा सकता है ? अतः कुछ लोगोंके निन्दा करनेसे किसी वस्तुको सदोष नहीं मान लेना चाहिए। आगम(शास्त्र)के अनुसार ग्रन्थरचनामें प्रवृत्त हुआ मैं यदि कहीं लड़खड़ा जाऊँ, कोई त्रुटि कर बैठूँ, तो भी आशा है कि भर्त्सनाका पात्र नहीं बनूँगा, क्योंकि सन्मार्गपर चलते-चलते यदि कोई फिसल जाय, तो क्या वह निन्दाका पात्र बनता है ?

अन्तमें सर्वत्र अनुप्रविष्ट अन्तर्यामी भगवान् वासुदेवसे निवेदन है कि अन्तःकरणमें बद्धमूल कर्तृत्वाभिमानके सुदृढपाशोंको अपने निरवग्रह अनुग्रहसे काटकर मुझे इस योग्य बना दें कि निन्दा अथवा प्रशंसासे असंस्पृष्ट रह सकूँ।

इस शोधप्रबन्धमें चरकसंहिताके जिस संस्करणसे अध्यायसङ्ख्या तथा श्लोकसङ्ख्या इत्यादिके निर्देश दिए गए हैं, वह संस्करण आयुर्वेदाचार्य पं० हरिदत्तशास्त्रीद्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास (सैदमिट्ठा बाज़ार लाहौर) द्वारा १९४०-४१ में द्वितीयावृत्तिके रूपमें प्रकाशित किया गया था।

प्रयाग,
ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया, २०२९ वि०

सन्तनारायण श्रीवास्तव्य

भूमिका

(१)

चरकसंहिताके निर्माता और उसका रचनाकाल

आजकल चरकसंहिताकी जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनका अध्ययन करनेसे जो तथ्य निर्विवाद सामने आते हैं, वे इस प्रकार हैं—**पुनर्वसु आत्रेय** नामक महर्षिने इस शास्त्रका उपदेश अपने शिष्य **अग्निवेश**को किया था। अग्निवेशने उन उपदेशोंको सङ्कलित करके **'अग्निवेश-संहिता'**का निर्माण किया, और कालान्तरमें चरकमुनिने उसका प्रतिसंस्कार किया। किन्तु वे किसी कारणसे या तो सम्पूर्ण ग्रन्थका प्रतिसंस्कार ही नहीं कर सके, अथवा प्रतिसंस्कार करनेपर भी दृढबलके समयतक उसका अन्तिम अंश किसी कारणसे विलुप्त हो गया, अतः उस अंशकी पूर्ति **दृढबलने** की। प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें **'इति ह स्माह भगवानात्रेयः'** यह वाक्य प्राप्त होनेसे, तथा सम्पूर्ण ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर आत्रेय और अग्निवेशका परस्पर वार्त्तालाप तथा प्रश्नोत्तर प्राप्त होनेसे, एवं प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति होनेपर **'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** तथा अन्तिम अध्यायोंमें **'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढबलसम्पूरिते'** इस प्रकार पुष्पिकाका प्रारम्भ होनेसे इन तथ्योंकी पुष्टि होती है। ग्रन्थके अन्तमें **"इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्। हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता"** (सिद्धि० १२।३४) तथा **"अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना। संस्कृतं तत्त्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते॥ तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्। अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे॥"** (सिद्धि० १२।३७-३८) इन श्लोकोंकी उपलब्धि होनेसे भी पूर्वोक्त तथ्य प्रमाणित होते हैं।

इस प्रकार वर्त्तमान चरकसंहिताका सम्बन्ध पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल—इन चार आचार्योंसे सिद्ध होता है। यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्तिकी कृति नहीं है। महर्षि पुनर्वसु आत्रेयके पूर्ववर्ती इन्द्र भरद्वाजादि महापुरुषोंके द्वारा आयुर्वेदविषयक जो ज्ञानराशि अर्जित की गई थी, उसको सम्मिलित करके चरक और दृढबलके समयतकका सम्पूर्ण सञ्चित ज्ञान इस संहितामें उपनिबद्ध हुआ है। इसीलिए चरकके विषयमें प्रफुल्लचन्द्र रायका यह कथन सर्वथा समीचीन है—**"वस्तुतः वैदिक युगसे लेकर प्रतिसंस्कर्ताओंके समयतक इस विषयपर जो ज्ञान सञ्चित हुआ था, यह ग्रन्थ उस सम्पूर्ण ज्ञानका भाण्डागार है"**—(हिस्ट्री ऑव हिन्दू केमिस्ट्री)।

चरकसंहिताके प्रथम अध्यायसे ज्ञात होता है कि पुनर्वसु आत्रेयने **अग्निवेश भेल जतूकर्ण पराशर हारीत** और **क्षारपाणि**—अपने इन छः शिष्योंको आयुर्वेदकी शिक्षा दी थी। इनमें अग्निवेशने सर्वप्रथम आयुर्वेदपर तन्त्ररचना की, उसके अनन्तर अन्य शिष्योंने भी अपने-अपने तन्त्र बनाए। आत्रेयने अन्य ऋषियोंके सामने इन तन्त्रोंमें सूत्रित अर्थोंका श्रवण करके उनका अनुमोदन किया और अपनी प्रसन्नता प्रकट की। इससे आत्रेय और उनके इन छः शिष्योंकी समकालीनता सिद्ध होती है। उपलब्ध सामग्रीके आधारपर इनका संक्षिप्त परिचय और काल-निर्धारण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुनर्वसु आत्रेय (उपदेष्टा) और अग्निवेश (संहिताकार)

चरकसंहितामें आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय—ये चार नाम आए हैं। इनमें **आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय** एक ही व्यक्ति हैं, किन्तु **भिक्षु आत्रेय** इनसे भिन्न हैं। **दीर्घञ्जीवितीयमें** महर्षियोंकी सूचीमें आत्रेयसे भिक्षु आत्रेयको पृथक् गिना गया है, तथा **यज्जःपुरुषीय** में पुनर्वसु आत्रेयने भिक्षु आत्रेयके मतका निषेध किया है। इसलिए पुनर्वसु आत्रेय और भिक्षु आत्रेय ये दो पृथक् व्यक्ति हैं। भिक्षु आत्रेय संन्यासी थे; जब कि पुनर्वसु आत्रेय नित्य अग्निहोत्र करनेके कारण संन्यासी नहीं थे।[1] पुनर्वसु नक्षत्रमें उत्पन्न होनेके कारण और अत्रिका पुत्र होनेके कारण इनको पुनर्वसु आत्रेय कहा गया होगा। आत्रेय नाम गोत्रापत्यवाचक नहीं है, क्योंकि चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर इनको अत्रिसूनु अत्रिज अत्र्यात्मज और अत्रिनन्दन कहा गया है। अश्वघोषने **बुद्धचरितमें** आत्रेय ऋषिको चिकित्साशास्त्रका प्रवक्ता माना है, किन्तु उनके पिता अत्रिको नहीं।[2] कृष्णात्रेय भी इन्हींका नाम है। **'त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता'** (च० सं० सूत्र० ११।६५) तथा **'कृष्णात्रेयं जितात्मानमग्निवेशोऽनुपृष्टवान्'** (च० सं० चिकि० ३०।४) इत्यादि वाक्योंसे कृष्णात्रेय पुनर्वसुका ही नाम सिद्ध होता है। महाभारतमें भी कृष्णात्रेयको चिकित्साशास्त्रका वेत्ता कहा गया है।[3] अग्निवेशके सतीर्थ्य भेलने भी अपने गुरु आत्रेय पुनर्वसुको कृष्णात्रेय कहा है।[4] चक्रपाणिने चिकि० १५।१३२की व्याख्यामें लिखा है—**'कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः'**। अष्टाङ्गसंग्रहके टीकाकार इन्दुने तथा सिद्धयोगसंग्रहकी टीका कुसुमावलिमें श्रीकण्ठने भी **'कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः'** कहकर इसका समर्थन किया है। शिवदाससेन और श्रीकण्ठदत्तके द्वारा

---

१. द्रष्टव्य—चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १९।३ तथा २९।३

२. **चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद।**

—(बुद्धचरित १।४३)

३. **गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।**
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्॥ —(शान्तिपर्व २१०।२१)

४. **'कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः।'** —(भेल संहिता, पृ० २८)
तथा—**'अशीतिकं नरं विद्यात् कृष्णात्रेयवचो यथा।'**—(भेलसंहिता, पृ० ६८)

उद्धृत कृष्णात्रेयके शालाक्यतन्त्रविषयक वचनोंको देखकर कुछ लोग उनके पुनर्वसु आत्रेयसे भिन्न होनेकी कल्पना करते हैं, किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि एक ही कृष्णात्रेय कायचिकित्साके समान शालाक्यतन्त्रके भी विद्वान् हो सकते हैं। अथवा शालाक्यतन्त्रके प्रणेता कृष्णात्रेय यदि अग्निवेशके गुरु कृष्णात्रेयसे भिन्न भी हों, तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं है। हमारा मन्तव्य तो केवल इतना है कि अग्निवेशके गुरु पुनर्वसु आत्रेय कृष्णात्रेयके नामसे भी प्रसिद्ध थे। कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध होनेके कारण अथवा श्यामवर्ण होनेके कारण उनका यह नाम पड़ा होगा।

कृष्णात्रेयके अतिरिक्त इनका एक नाम **चान्द्रभाग** या **चान्द्रभागि** भी उपलब्ध होता है। भेलसंहितामें आए हुए **'सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह'** तथा **'संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्'** इत्यादि वाक्य चान्द्रभाग और पुनर्वसुकी एकताको सिद्ध करते हैं। सम्भवतः इनकी माताका नाम **चन्द्रभागा** था। चन्द्रभागासे अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय लगकर **चान्द्रभागि** और अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगकर **चान्द्रभाग** शब्द बनेगा। कुछ लोग काश्मीरसे निकलनेवाली **चन्द्रभागानदी**से इनका सम्बन्ध जोड़कर इन्हें उसके तटवर्ती प्रदेशका निवासी मानते हैं।

यादवशर्माप्रभृति कुछ विद्वान् **गान्धारदेश**को इनकी जन्मभूमि या निवासभूमि मानते हैं। उनके इस कथनका आधार **भेलसंहिता**का यह वचन है—

गान्धारभूमौ राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्गमार्गदः।
सङ्गृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥

न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रीभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥

एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये।
विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वरः॥

—(पृष्ठ ३०)

किन्तु इस कथनसे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि पुनर्वसु राजर्षि **नग्नजित्**के समकालीन थे तथा उन दोनोंकी भेंट गान्धार देशमें हुई थी। चरकसंहिताका अध्ययन करनेसे उनका जो स्वरूप सामने आता है वह एक विचरणशील यायावरका है। उन्हें हम पञ्चालक्षेत्रकी राजधानी **काम्पिल्य**में **गङ्गा**के तटपर अपने अन्तेवासियोंके साथ वनमें विचरण करते हुए, रमणीय **चैत्ररथवन**में विहार करते हुए, **पञ्चगङ्ग** प्रदेशमें अपने शिष्योंको आयुर्वेदका उपदेश देते हुए, हिमालयके रमणीय प्रान्तरमें **धनेशायतन**(अलकापुरी)के समीप विश्राम करते हुए, किन्नरोंसे आकीर्ण **कैलासपर्वत**पर विहार करते

हुए तथा हिमालयके **उत्तरपार्श्व(तिब्बत)**में घूमते हुए पाते हैं।[1] उनका यह देश-देशान्तरमें परिभ्रमण लोकोपकारार्थ, आयुर्वेदके प्रचारार्थ तथा ओषधियोंके विज्ञानार्थ होता था। ऐसी स्थितिमें उनके निवासस्थान या जन्मभूमिका निर्णय करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रायः समग्र ऋषिमुनिसेवित उत्तरवर्ती हिमालयप्रदेशके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारतमें केवल पाञ्चाल क्षेत्रको अपना क्रीडास्थल चुननेके कारण तथा **'द्विजातिवराध्युषितायाम्'** इस विशेषणके द्वारा राजधानी **काम्पिल्य**की प्रशंसा करनेके कारण उन्होंने उसके प्रति अपना विशेष अनुराग प्रदर्शित किया है। सम्भवतः उनका जन्म इसी भूभागमें हुआ होगा।

आत्रेय पुनर्वसुको हार्नलेप्रभृति बहुतसे विदेशी और भारतीय विद्वान् गौतम बुद्धका समसामयिक मानते हैं। इसका कारण यह है कि किसी तिब्बतीय कथानकमें मगधसम्राट् **बिम्बसार**के राजवैद्य गणिकापुत्र **आचार्य जीवक**के गुरुका नाम आत्रेय बताया गया है, जो उस समय **तक्षशिलामें** आयुर्वेदका प्रधान आचार्य था। किन्तु **विनयपिटक**के **महावग्ग**के अनुसार जीवकका गुरु **दिशाप्रमुख** नामका कोई आचार्य था। सिंहलकी कथामें **कपिलाक्ष**को जीवकका गुरु माना गया है। दिशाप्रमुखका अर्थ यदि दिगन्त-प्रसिद्ध मानकर आत्रेयको ही जीवकका गुरु माना जाय, तो भी पुनर्वसु आत्रेय जीवकके गुरु कदापि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनके समयमें तक्षशिलाकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। काम्पिल्य पञ्चगङ्ग धनेशायतन चैत्ररथ कैलास त्रिविष्टप और गान्धार इत्यादि स्थानोंसे पुनर्वसुका सम्बन्ध वर्णित होनेपर भी कहीं तक्षशिलाका नामतक नहीं आया है। इससे सिद्ध होता है कि उनके समयमें तक्षशिला कोई प्रसिद्ध स्थान नहीं था और आत्रेयका उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि पुनर्वसु आत्रेय ही तक्षशिला विद्यापीठके आचार्य होते, तो अग्निवेशने अपनी संहितामें कहीं-न-कहीं तक्षशिलाका उल्लेख अवश्य किया होता। तक्षशिलाकी खुदाईमें निकला हुआ **बिर्माउण्ड** नामक दक्षिण भाग सबसे पुराना और ईसासे लगभग १०००-१२०० वर्ष पूर्व प्रसिद्ध था। आत्रेयके समयमें यह अस्तित्वमें नहीं आया था। **पाणिनि**ने **अष्टाध्यायी** (४।३।९३)में तक्षशिलाका उल्लेख किया है। ऐसे प्रसिद्ध विद्यापीठका अग्निवेशके द्वारा उल्लेख न किया जाना यही सिद्ध करता है कि अग्निवेशसंहिताका निर्माण तक्षशिलाके पूर्व हो चुका था। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि तक्षशिलाके दिशाप्रमुख वैद्यका शिष्य जीवक जैसा लोक-प्रिय और लब्धख्याति वैद्य था। उसके नामसे उसके अद्भुत चिकित्साकौशल-को प्रदर्शित करनेवाली अनेक कहानियाँ जुड़ी हुई हैं, उसने **भगवान् तथागत**के दोषग्रस्त शरीरको अपने चिकित्साकौशलसे नीरोग कर दिया था। यदि वह अग्निवेशादिके समान पुनर्वसु आत्रेयका शिष्य या उनका समकालीन

---

१. द्रष्टव्य—**चरकसंहिता**, (विमान० ३।३, सूत्र० २६।६, चिकित्सा० ४।३, सिद्धि० ३।३, चिकित्सा० २१।३ तथा १९।३) एवं नावनीतक (१।१)

होता, तो अग्निवेशने भेल पराशर जतूकर्ण हारीत और क्षारपाणिके साथ उसका नामोल्लेख अवश्य किया होता। चरकसंहितामें आत्रेयके सभापतित्वमें होने वाली आयुर्वेदज्ञोंकी अनेक गोष्ठियोंका वर्णन हुआ है और उनमें भाग लेनेवालोंका नामोल्लेख भी किया गया है, किन्तु उनमें कहीं भी जीवक जैसे आचार्यका नामोल्लेख न होनेसे तथा जीवकविषयक कथाओंमें अग्निवेशादिका उल्लेख न होनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि चरकसंहितामें वर्णित इतिवृत्त जीवकके समयकी अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। यही कारण है कि चरकमें उल्लिखित भिक्षु आत्रेय भी जीवकका गुरु नहीं हो सकता है, क्योंकि भिक्षु आत्रेय पुनर्वसुका समकालीन था।

चरकसंहितामें वर्णित पञ्चालदेशकी राजधानी **काम्पिल्य** वैदिककालमें खूब प्रसिद्ध थी। **शुक्लयजुर्वेद**में तथा **कृष्णयजुर्वेद**की **तैत्तिरीय मैत्रायणीय** और **काठक** संहिताओंमें **काम्पिल्य** शब्द प्राप्त होता है। **पाञ्चाल** शब्द भी वेदों ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदोंमें दृष्टिगोचर होता है। किन्तु तक्षशिलाका नाम वेद ब्राह्मण उपनिषद् तथा किसी भी प्राचीनग्रन्थमें नहीं मिलता है। जिस समय तक्षशिलाका आविर्भाव और प्रसिद्धि हुई, उस समयतक काम्पिल्यका गौरव समाप्त हो चुका था, इसीलिए बौद्ध साहित्यमें काम्पिल्यका नामोल्लेख नहीं है।

वस्तुतः पुनर्वसु आत्रेय तथा उनके शिष्य अग्निवेश पराशर और जतूकर्णादि महाभारत युद्धसे भी बहुत पूर्व हुए थे, ऐसा वैदिक साहित्य और महाभारतादिके अवलोकनसे सिद्ध होता है। आत्रेयके समकालीन गान्धारदेशवासी नग्नजित्का उल्लेख **शतपथब्राह्मण**(८।१।४१०) और **ऐतरेयब्राह्मण** (७।३५)में हुआ है। **महाभारत**के **शान्तिपर्व**(२१०।२१)में शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मने कृष्णात्रेयको आयुर्वेदका ज्ञाता कहा है। इनके शिष्य अग्निवेशने गङ्गाद्वारमें आश्रम बनाकर रहनेवाले द्रोणाचार्यके पिता भरद्वाजसे वेदवेदाङ्गकी शिक्षा पाई थी, और उन्हींसे आग्नेयास्त्र प्राप्त किया था,[१] तथा कालान्तरमें धनुर्वेदकी शिक्षा अगस्त्यसे ग्रहण की थी।[२] इस प्रकार अग्निवेश आयुर्वेद धनुर्वेद और वेद-वेदाङ्गके प्रकाण्ड पण्डित थे। अग्निवेशसे ही कौरव-पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्यने आग्नेयास्त्रकी शिक्षा पाई थी।[३] पञ्चालनरेश पृषतके पुत्र द्रुपद और द्रोणाचार्यने एकसाथ भरद्वाजसे वेदवेदाङ्गकी शिक्षा प्राप्त की थी। इसके अनन्तर ये दोनों धनुर्वेदकी शिक्षा पानेके लिए अग्निवेशके पास गए थे और दीर्घकालतक उनकी शुश्रूषा करते हुए विद्या ग्रहण की थी।[४] इस प्रकार द्रोणाचार्य और द्रुपदके गुरु होनेके कारण अग्निवेश महाभारत युद्धसे बहुत पहले हुए थे। फिर भला इनके गुरु आत्रेय बौद्धकालीन कैसे हो सकते हैं?

---

१. द्रष्टव्य—**महाभारत** (आदिपर्व अध्याय १३१।१४-१५)
२. ,, ,, (,, ,, १४१।८-९)
३. ,, ,, (,, ,, १७२।२८-२९)
४. ,, ,, (,, ,, १३३।२६-२८)

अग्निवेशके सतीर्थ्य पराशर, शक्तिके पुत्र तथा वेदव्यासके पिता थे। ये आयुर्वेदके ज्ञाता और मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। शान्तनुकी पत्नी सत्यवतीसे कौमार्यावस्थामें सहवास करके इन्होंने कृष्णद्वैपायन व्यासको जन्म दिया था। इन्होंने अपने आयुर्वेद-सहपाठी जतूकर्णके पुत्र जातूकर्ण्यको वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा दी थी।[1] जातूकर्ण्य वेदव्याससे उम्रमें कुछ बड़े थे।[2] व्यासने वेदकी शिक्षा औपचारिकरूपसे जातूकर्ण्यसे पाई थी।[3] ये भी वेद-व्यासके समान दीर्घजीवी थे, क्योंकि युधिष्ठिरके सभाप्रवेश-महोत्सवमें इनकी उपस्थिति प्रदर्शित की गई है।[4] **बृहदारण्यकोपनिषद्**(२।६।३ तथा ४।६।३)में कहा गया है कि पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। उस प्रकरणमें आत्रेय और आग्निवेश्यका भी नाम आया है। इससे इन सभी महर्षियोंका महाभारत युद्धके पूर्व वैदिककालमें होना सिद्ध होता है। अग्निवेश जतूकर्ण और पराशर इन तीन आचार्योंका नाम **पाणिनि**ने भी अन्य प्राचीन महर्षियोंके साथ गर्गादिगणमें पढ़ा है। भारतीय परम्पराके अनुसार महाभारत-युद्ध ईसासे ३००० वर्ष पूर्व हुआ था। ज्योतिषकी गणनाके अनुसार कलियुगको आरम्भ हुए ५०७२ वर्ष हो चुके हैं। कलियुग आरम्भ होनेके अव्यवहितपूर्व ३६ वर्षतक युधिष्ठिरने राज्य किया था। अतः महाभारतयुद्धको ५१०८ वर्ष बीत चुके हैं। यदि उसके दो सौ वर्ष पूर्व भी आत्रेय और अग्निवेशादिका समय माना जाय तो **अग्निवेशसंहिताका निर्माण-काल लगभग ३३०० ई० पू० सिद्ध होता है।** शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितने अपने **'भारतीयज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः'** नामक ग्रन्थमें पृष्ठ १२८पर शतपथब्राह्मणका रचनाकाल गणितके द्वारा ईसासे ३००० वर्ष पूर्व निर्णीत किया है। अतः आत्रेयके समकालीन नग्नजित्का शतपथब्राह्मणमें उल्लेख होनेसे आत्रेय और उनके शिष्योंका समय शत-पथब्राह्मणकी रचनासे कुछ पहले लगभग ३३००ई०पू० ही सिद्ध होता है।

किन्तु यदि भारतीय पौराणिक परम्पराको अतिरञ्जनापूर्ण मानकर महाभारतयुद्धको इतना प्राचीन माननेसे इनकार कर दिया जाय, तो भी ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् ग्रन्थोंमें महाभारतके पात्र **परीक्षित जनमेजय** इत्यादि तथा **कुरुक्षेत्र**का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होनेसे इन ग्रन्थोंकी रचनाके पूर्व अर्थात् १५००से लेकर २०००ई०पू०के बीच महाभारतयुद्धका समय आता है। अतः इस आधारपर भी **अग्निवेश संहिताका निर्माणकाल लगभग २००० ई०पू० सिद्ध होता है।**

चरक (प्रतिसंस्कर्त्ता)

चरकके द्वारा प्रतिसंस्कार किए जानेपर भी अग्निवेशसंहिता अपने मूलरूपमें बहुत दिनोंतक प्राप्त होती रही। **जेज्जट भट्टारहरिचन्द्र** और **चक्र-**

---

१. द्रष्टव्य—**ब्रह्माण्डपुराण** (१।१।६-१०)
२. ,, ,, (३।७३।६२)
३. ,, **वायुपुराण** (१।४४)
४. ,, **महाभारत** (सभापर्व ४।१४)

पाणिकी टीकाओंमें इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। चक्रपाणिका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी है। अतः ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीतक अग्निवेशसंहिता प्राप्य थी, उसके बाद धीरे-धीरे लुप्त हो गई। चरकके द्वारा उसका प्रतिसंस्कृत रूप इतना लोकप्रिय और सुग्राह्य सिद्ध हुआ कि लोग उसके मूलरूप को भूल गए। प्रतिसंस्कारका लक्षण दृढबल ने इस प्रकार किया है—

विस्तारयति लेशोक्तं सङ्क्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥

—(सिद्धि० १२।३६)

अर्थात् किसी ग्रन्थका संस्कर्त्ता सङ्क्षेपसे कही गई बातको विस्तारसे समझा देता है और अनावश्यक विस्तारको सङ्क्षिप्त कर देता है। वह पुराने और लुप्तव्यवहार शास्त्रको पुनः नवीन बना देता है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्त्ताको पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतिसंस्कर्त्ता चरक कौन थे? प्राचीनकालमें चरक कृष्णयजुर्वेदकी एक शाखाका नाम था। इस शाखाका सम्बन्ध ऋषि **वैशम्पायन**से है। **काशिका**में कहा गया है कि चरक वैशम्पायनका नाम है, अतः उनके सम्बन्धसे उनके सभी अन्तेवासी चरक कहलाते हैं।[1] **ब्रह्माण्डपुराण**में भी वैशम्पायनके शिष्योंको चरक कहा गया है।[2] **पाणिनि**ने **अष्टाध्यायी**में इस शब्दका **'कठचरकाल्लुक्'** (४।३।१०७) तथा **'माणवकचरकाभ्यां खञ्'** (५।१।११) इन दो सूत्रोंमें उल्लेख किया है। दोनों ही स्थलोंपर यह व्यक्ति-विशेषपरक न होकर शाखापरक ही जान पड़ता है। **ललितविस्तर**में श्रमण ब्राह्मण और परिव्राजकोंके बीच चरक शब्दका प्रयोग होनेसे यह भ्रमणशील संन्यासीका वाचक जान पड़ता है।[3] **वराहमिहिर**के **बृहज्जातक**में भी यह शब्द विचरण करनेवाले संन्यासियोंके अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] **बृहज्जातक**के टीकाकार **भट्टोत्पल**ने चरक शब्दकी **'चरकश्चक्रधरः'** तथा **रुद्र**ने **'चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणाः पाखण्डभेदाः'** यह व्याख्या प्रस्तुत की है। **याज्ञवल्क्यस्मृति**की टीकामें **विश्वरूपाचार्य**ने **'तथा च चरकाः पठन्ति'** कहकर जो कथा उद्धृत की है, उसका वैद्यकशास्त्रसे सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध है।[5] इससे सिद्ध होता है कि वैशम्पायनकी शिष्यपरम्परामें आगे चलकर ऐसे संन्यासियोंका आविर्भाव हुआ, जो निरन्तर पर्यटन किया करते थे, योगाभ्यास और चिकित्साकर्ममें कुशल थे, चक्र और मुद्रा इत्यादि चिह्न

---

१. **चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।** —**काशिका** (४।३।१०४)
२. **वैशम्पायनशिष्यास्ते चरकाः समुदाहृताः।** —**ब्रह्माण्डपुराण** (२।५।२६)
३. **अन्यतीर्थकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्।**—**ललितविस्तर** (अध्याय १)
४. **शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः।** —**बृहज्जातक** (१५।१)
५. द्रष्टव्य—**याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका बालक्रीडा** (१।२।३२)

धारण करते थे, और घूम-घूमकर आर्त्तजनों तथा रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा एवं चिकित्सा किया करते थे। **महाराज कनिष्क**के समयतक और सम्भवतः उसके पश्चात् भी दीर्घकालतक चरक-संन्यासियोंकी यह परम्परा चलती रही। चीनसे प्राप्त **संयुक्तरत्नपिटकसूत्र** और **श्रीधर्मपिटकसम्प्रदायनिदान** नामक बौद्ध ग्रन्थोंसे पता चलता है कि इसी प्रकारका कोई चिकित्साकुशल चरक महाराज कनिष्कका राजवैद्य था। फ्रेञ्च विद्वान् **सिल्विन लेवी** इसीको चरकसंहिताका प्रणेता मानता हैं। किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता है।

अग्निवेश-संहिताका प्रतिसंस्कर्ता] इसी प्रकारका कोई भ्रमणशील आयुर्वेदका विद्वान् आचार्य रहा होगा, किन्तु वह कनिष्कका राजवैद्य ही था, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता है। अग्निवेशसंहिताका प्रतिसंस्कर्ता चरक यदि कनिष्कका वैद्य और उनका कृपापात्र होता तो भारतमें उपलब्ध होनेवाले विशाल बौद्ध-वाङ्मयमें उसका उल्लेख अवश्य ही प्राप्त होता क्योंकि अशोकके पश्चात् कनिष्क ही उत्तरभारतमें बौद्धधर्मका प्रधान प्रचारक हुआ था। साथ ही यह बात भी समझमें नहीं आती है कि बौद्धधर्मके महान् प्रचारकके आश्रयमें रहनेवाले चरकके ग्रन्थमें बौद्धधर्म और दर्शनका प्रभाव क्यों नहीं है? सम्पूर्ण चरकसंहिता वैदिक धर्म और दर्शनसे भरी पड़ी है। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग ही उसमें अनुष्ठेय रूपसे प्रतिपादित हुआ है। उस कालमें यह सम्भव नहीं था कि कोई ग्रन्थकार अपने आश्रय-दाताके धर्मकी उपेक्षा करके उसके विरोधी धर्म और दर्शनका अपने ग्रन्थमें प्रतिपादन करे। चरकसंहितामें बौद्धोंके अनात्मवादका खण्डन करके स्थायी आत्माका प्रतिपादन किया गया है,[1] तथा तिस्रैषणीय अध्यायमें अनात्मवादी नास्तिकोंकी जमकर निन्दाकी गई है। **'उपायहृदय'** नामक ग्रन्थका रचयिता आर्य **नागार्जुन** भी कनिष्कका समकालीन था। उसने अपने ग्रन्थमें भैषज्यके प्रकरणमें **सुश्रुत**का नाम लिया है, किन्तु चरकका नहीं। यदि चरक उसका समकालीन होता तो नागार्जुन उसका नामोल्लेख अवश्य करता। **अश्वघोष** भी कनिष्कके गुरु और उनके आश्रित कवि थे। इनकी रचनाओंसे स्पष्ट है कि उनके समयमें चरकसंहिता उपलब्ध थी और उसका प्रतिसंस्कार हो चुका था। इनकी रचनाओंमें चरकसंहिताके भाव और उपमाएँ साफ झलकती हैं। इससे स्पष्ट है कि चरकसंहिता कनिष्कके पहलेकी रचना है। कनिष्कका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी है, **राजतरङ्गिणी**में भी कनिष्कके वृत्तान्तमें चरकका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। कनिष्कके समयके आस-पास लिखे गए जो लेख **नासिक** और **गिरनार**की गुफाओंमें पाए गए हैं, उनमें स्थान-स्थान पर श्लेष अनुप्रास तथा दूसरे अलङ्कारोंका बाहुल्य है, किन्तु चरककी भाषा-शैलीकी सरलता ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थोंका स्मरण दिलाती है। इसलिए कनिष्ककालीन भाषासे चरककी भाषामें भेद होनेके कारण भी चरकका पूर्ववर्त्तित्व सिद्ध होता है।

---

१. द्रष्टव्य—**चरकसंहिता** (शारीर० १।४६-४९)

चरक और पतञ्जलि

ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीसे महाभाष्यकार पतञ्जलि, योगसूत्रकार पतञ्जलि और चरकमुनि—इन तीनों आचार्योंके शेषावतार और अभिन्न होनेकी मान्यता प्राप्त होती है। ग्यारहवी शताब्दीमें **भोजराज**के द्वारा योग-सूत्रपर लिखी गई **राजमार्त्तण्डवृत्ति**में मङ्गलाचरणके रूपमें यह श्लोक प्राप्त होता है—

> **शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता**
> **वृत्तिं राजमृगाङ्कसञ्ज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।**
> **वाक्चेतोवपुषां मलः फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-**
> **स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥**

इसमें जिस सहजभाव और विश्वासके साथ **शेषनाग (पतञ्जलि)**को तीनों शास्त्रोंका कर्त्ता कहा गया है, उससे यह मान्यता काफी पुरानी जान पड़ती है। चक्रपाणि(११वीं शताब्दी ई०)ने चरकसंहिताकी टीका **आयुर्वेद-दीपिका**के प्रारम्भमें **'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥'** इस नमस्कारात्मक श्लोकके द्वारा, **विज्ञानभिक्षु**(१६वीं शताब्दी ई०)ने **योगवार्त्तिक**में **'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥''** इस आनमन के द्वारा, **नागेशभट्ट**(१७वीं शताब्दी ई०)ने **'तदुक्तं चरके पत-ञ्जलिना'** तथा **'इति चरके पतञ्जलिः'** इत्यादि वाक्योंके द्वारा, **रामभद्र दीक्षित**(१८वीं शताब्दी ई०)ने **पतञ्जलिचरित**में **'सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च संहि-तामतुलाम्। कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥'** इस प्रशंसा-वाक्यके द्वारा, तथा **चरकपञ्जिका** टीकाके प्रारम्भमें **आचार्य स्वामिकुमार**ने **'वाचो व्याकरणेन शुद्धिमकरोद्योगेन चित्तस्य यस्तं वन्दे चरकं हिताय जगतां व्याख्यात-वैद्यागमम्।'** इस वन्दनाके द्वारा सुदीर्घकालसे चली आती हुई इस परम्परा-को परिपुष्ट किया है। इसी परम्परासे प्रभावित होकर **भावमिश्र**ने १६वीं शताब्दीमें अपने ग्रन्थ **भावप्रकाश**(अध्याय १)में शेषनागके महीतलपर अवतीर्ण होनेकी एक कथाका अपनी कल्पना द्वारा सृजन कर दिया और **'यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः। तस्माच्चरकनाम्नासौ विख्यातः क्षितिमण्डले।'** इन शब्दोंमें उनके 'चरक' नामको भी सार्थक और संगत सिद्ध किया है। इन तीनों महर्षियोंको शेषनागका अवतार और एक व्यक्ति माननेकी परम्परा आज भी जनसाधारण और वैद्यसमुदायमें प्रचलित है।

इस दीर्घकालीन परम्पराके विषयमें हमें केवल इतना ही निवेदन करना है कि इन तीनों आचार्योंको शेषनागका अवतार माननेमें हमारी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। भारतीय परम्परामें श्रेष्ठ व्यक्तियोंको देवी-देवताओंका अवतार माननेकी प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीनकालसे परिलक्षित होती है। **गीताके** **'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥'** इत्यादि वाक्य इस परम्पराके उपोद्बलक हैं। इस लिए इनके शेषावतार

होनेकी मान्यताका खण्डन करके हम आस्तिकभावापन्न भारतीय जनमानसको व्याकुल नहीं करना चाहते हैं। किन्तु हम इस तथ्यको अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं कि शेषावतार होनेपर भी पतञ्जलि और चरक एक व्यक्ति नहीं हैं और इनका आविर्भाव भिन्न-भिन्न कालोंमें हुआ है। जिस प्रकार लक्ष्मण और बलराम शेषावतार होनेपर भी एक व्यक्ति नहीं हैं, क्योंकि काल-भेद के अतिरिक्त दोनोंमें आचार-व्यवहार और योग्यता इत्यादिका महान् अन्तर है, उसी प्रकार चरक और पतञ्जलि भी कालभेद शैलीभेद और दृष्टिभेदके कारण शेषावतार होनेपर भी एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते हैं। यदि शेषावतार होनेके कारण हम चरक और पतञ्जलिके अभेद का प्रतिपादन करेंगे, तो फिर इन दोनोंका लक्ष्मण और बलरामसे भी अभेद मानना पड़ेगा, जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वथा असङ्गत और उपहासास्पद होगा। वस्तुतः कालभेदका ज्ञान न होनेके कारण ही परवर्त्ती विद्वानोंमें इनके ऐक्यकी भ्रान्ति हमें ईसाकी १६वी शताब्दीसे विज्ञानभिक्षु रामभद्रदीक्षित और नागेशभट्ट इत्यादिमें परिलक्षित होती है, क्योंकि इन लोगोंने पतञ्जलिको तीनों शास्त्रोंका प्रणेता कहा है, जब कि इनके पूर्ववर्त्ती भोजराज और चक्रपाणिने केवल शेषनागको मन वाणी और शरीरके दोषोंका हरण करनेवाला कहा है। भावमिश्रने भी केवल चरकके शेषावतार होनेका वर्णन किया है, उनके पतञ्जलि होने का नहीं, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। अब हम उन तर्कोंको प्रस्तुत करते हैं जिनसे चरक और पतञ्जलिका पार्थक्य सिद्ध होता है।

(१) चरकसंहिताकी भाषा और शैली न तो महाभाष्यसे मेल खाती है और न योगसूत्रसे। महाभाष्यमें स्थान-स्थानपर लोकोक्तियाँ तथा समास-व्यासोक्तियाँ प्रचुरतासे उपलब्ध होती हैं, किन्तु चरकमें ऐसा कुछ नहीं है। महाभाष्यमें प्रतिपक्षीको जैसा आड़े हाथों लिया गया है, वैसा चरकमें नहीं, प्रत्युत प्रतिपक्षीकी बातका सरलता से निषेध करके अपनी बातको समझाया गया है। एक ही ग्रन्थकारके ग्रन्थोंमें साधारण अन्तर तो हो सकता है, किन्तु इतना नहीं, जितना कि इन ग्रन्थोंमें है।

(२) महाभाष्यमें पतञ्जलिने अपनेको गोनर्दीय अर्थात् गोनर्द(गोंडा)-देशवासी कहा है। किन्तु चरकसंहितामें कहीं भी गोनर्द देशका उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत उसमें काम्पिल्य, पञ्चाल, बाह्लीक, सिन्धु और सौवीरादि देशोंका उल्लेख मिलता है।

(३) चरकसंहितामें कहीं भी पतञ्जलिका नाम या संकेत नहीं मिलता है, सर्वत्र चरकके नामसे ही प्रतिसंस्कर्त्ताका निर्देश किया गया है। इसी प्रकार महाभाष्य और योगसूत्रमें कहीं भी चरकका नामनिर्देश नहीं है। चरकसंहिताके सबसे पुराने टीकाकार **भट्टारहरिचन्द्र** और **अष्टाङ्गसङ्ग्रहकार वाग्भट**(चतुर्थ शताब्दी ईसवी)ने चरकके साथ कहीं भी पतञ्जलिका नाम संसृष्ट नहीं किया है। यदि दृढबल भट्टारहरिचन्द्र और वाग्भटके समयमें चरककी पतञ्जलिके नामसे प्रसिद्धि होती तो कहीं न कहीं उन्होंने इस बात काउल्लेख अवश्य किया होता।

(४) यदि पतञ्जलि आयुर्वेदके विद्वान् होते, तो उन्होंने 'वायसविद्यक:, सार्पविद्य:, आङ्गविद्य:, घार्मविद्य:, त्रैविद्य:' आदि उदाहरणोंके साथ आयुर्वेद-विद्या-सम्बन्धी उदाहरण भी अवश्य दिया होता। इसी प्रकार **'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्'** (३।३।१०८) तथा **'रोगाच्चापनयने'** (५।४।४६) इत्यादि सूत्रोंके भाष्यमें आयुर्वेदका कोई भी उदाहरण न देना यह सिद्ध करता है कि पतञ्जलि आयुर्वेदमें बिल्कुल कोरे थे।

(५) जो पतञ्जलि व्याकरण शास्त्रपर महाभाष्य और योगशास्त्रपर सूत्रोंकी रचना करके अपनी मौलिकता और अद्भुत प्रतिभाका परिचय देते हैं, वे भला दूसरेके ग्रन्थका प्रतिसंस्कार करके अपनी प्रतिभाका संकुचित और अपेक्षाकृत हीन रूप क्यों प्रदर्शित करते? वे स्वयं नवीन ग्रन्थ लिख सकते थे।

(६) योगसूत्र तथा चरकसंहितामें वर्णित आध्यात्मिक विषयोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। चरकमुनि जहाँ एक ओर न्याय-वैशेषिक और सांख्यदर्शनके विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करते हैं, वहाँ वे दूसरी ओर नैष्ठिकी चिकित्सा-के द्वारा ब्रह्मभावापत्तिका निरूपण करके अद्वैतवादमें अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। वे वस्तुतः समन्वयवादी हैं। किन्तु योगसूत्रकारमें ऐसी कोई प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती है, वे सांख्ययोगके प्रतिपादक और द्वैतवादी हैं। चरक-संहितामें कहीं भी चित्तवृत्तिके निरोधको योग नहीं कहा गया है, प्रत्युत रजस् और तमस्की निवृत्ति होनेपर शुद्ध हुए चित्तका स्थिर होकर आत्मामें लग जाना योग कहा गया है।[1] योगमें जो यमनियमादि साधन बताए गए हैं, चरकके **पुरुषविचयशारीर**में उससे भिन्न साधनोंका बड़े विस्तारसे निरूपण मिलता है। चरकने **'योगो मोक्षप्रवर्त्तक:'** कहकर योगकी उपादेयता स्वीकार करनेपर भी योगसाधनापर कोई विशेष बल नहीं दिया है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा योगसूत्रकार पतञ्जलिमें नामसाम्य होनेके कारण कथञ्चित् एकत्व स्वीकार कर लेनेपर भी चरक और पतञ्जलिका एकत्व कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

चरकसंहिताका रचनाकाल

अब चरकसंहिताके रचनाकालका निर्णय करनेके लिए जिन तथ्योंपर ध्यान देना आवश्यक है, उनको प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) चरकसंहितामें न्याय-वैशेषिकका जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह निश्चित रूपसे न्यायसूत्र और न्यायभाष्यसे पहले का है। चरकने केवल तीन हेत्वाभास गिनाए हैं, किन्तु अक्षपादने उनकी संख्या बढ़ाकर पाँचतक पहुँचा दी है। चरकमें न्यायशास्त्रका प्रारम्भिक और अपरिपक्व रूप मिलता है जबकि न्यायसूत्रमें उसकी अपेक्षा परिष्कृत। हमने प्रमाण-निरूपणमें इसपर विशेष प्रकाश डाला है। न्यायसूत्रकी रचना डा० राधाकृष्णन्के

---

१. द्रष्टव्य—**चरकसंहिता** (शारीर० १।१३८-१३९)

अनुसार ३००ई०पू०में हुई थी, क्योंकि कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि न्यायसूत्रसे परिचित प्रतीत होते हैं। अतः चरकसंहिताकी रचना न्यायसूत्रसे कम-से-कम दो सौ वर्ष पूर्व माननेपर ५०० ई०पू०में सिद्ध होती है। इसके समर्थनमें चरकसंहिताका बौद्ध प्रभावसे सर्वथा रहित होना भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

(२) चरकसंहितामें जिन साङ्ख्यसिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे महाभारतादिमें प्रतिपादित प्राचीन सेश्वर सांख्यसे प्रभावित जान पड़ते हैं, न कि **ईश्वरकृष्ण**के निरीश्वर और पुरुषबहुत्वका प्रतिपादन करनेवाले सांख्यसे। **ईश्वरकृष्ण**ने प्रकृतिको पुरुषसे सर्वथा पृथक् मानकर पचीस तत्त्व गिनाए है, जबकि चरकमुनिने महाभारतका अनुसरण करके पुरुषको अव्यक्तत्वरूप साधर्म्यके कारण अव्यक्त प्रकृतिमें ही प्रक्षिप्त करके चौबीस तत्त्व ही गिनाए हैं। **ईश्वरकृष्ण**की सातवीं कारिका, चरकसंहिताके **'सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात्करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात्समानाभिहारादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः'** इस अंशका कुछ परिष्कार के साथ अनुवादमात्र करती है। अपने पूर्व गद्यमें कही गई बातको उन्होंने कारिकाबद्ध कर दिया है। ईश्वरकृष्णका समय ईसवी प्रथम शताब्दीसे पर्याप्त पूर्व सिद्ध किया गया है। इससे भी चरकसंहिता को ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माननेमें कोई बाधा नहीं है।

(३) **'अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः। सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा॥'**(चरकसंहिता शारीरस्थान १।५६)। इसमें आए हुए **'सदकारणवन्नित्यम्'** इस अंशको वैशेषिकसूत्र(४।१।१)में नित्यता सिद्ध करनेवाले हेतुके रूपमें अक्षरशः ग्रहण कर लिया गया है। राधाकृष्णन्के अनुसार वैशेषिकदर्शनका आविर्भाव गौतमबुद्ध और महावीरके समय लगभग पाँचवीं और छठीं शताब्दी ई०पू०में हुआ था। वैशेषिकसूत्र न्यायसूत्रकी अपेक्षा काफी पुराना है और उसको हम ईसापूर्व तृतीय शतीके पश्चात् नहीं रख सकते हैं। इससे भी चरकसंहिताका समय ५०० ई०पू०के आस-पास ही सिद्ध होता है।

(४) चरकसंहितामें दो अध्यायोंका नामकरण क्रमशः **'खुड्डाकचतुष्पाद'** और **'खुड्डीका गर्भावक्रान्ति'** किया गया है। ये दोनों हमें **सूत्रपिटक**के **खुद्दकनिकाय**का बरबस स्मरण दिलाते हैं। खुद्दक खुड्डाकका ही पालिरूप है। इससे ऐसा लगता है कि सूत्रपिटक और चरकसंहिताकी रचना या तो एक ही समयमें हुई है या फिर इनके रचनाकालमें थोड़ा ही अन्तर है, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंके अतिरिक्त खुड्डाक (खुद्दक) शब्दका प्रयोग कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है।

(५) चरकसंहिताके **ज्वरचिकित्साप्रकरण**(चिकित्सा० ३।३१२)में **विष्णुसहस्रनाम**के जपका विधान आया हुआ है। यह महाभारतोक्त विष्णुसहस्रनामकी ओर सङ्केत है। महाभारतसे पूर्ववर्त्ती किसी ग्रन्थमें विष्णुसहस्रनामका उल्लेख नहीं है। इसलिए चरकसंहिता महाभारतके बादकी रचना है। महाभारतका २४००० श्लोकोंवाला मूलरूप १००० ई०पू०के पहले अस्तित्व में आ चुका था।

(६) ईसवी सन्‌का आरम्भ हो जानेके अनन्तर उपलब्ध होनेवाले साहित्य-में चरकका भूरिशः उल्लेख मिलता है। अश्वघोषकी रचनाओंसे स्पष्ट है कि उनके समयमें चरकसंहिता उपलब्ध थी। गुप्तकालीन वाग्भटने अपने ग्रन्थोंमें चरक और सुश्रुतकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। **तत्त्वसङ्ग्रहकार शान्तरक्षित** (७०५ई०) तथा उनके व्याख्याकार **कमलशील**(७२८ई०)ने तत्त्वसङ्ग्रह श्लोक सं० १६६३में चरकमुनिके मतका उल्लेख किया है। चरकसंहिता (शारीर० १।३८)का **'एवं यो वेद तत्त्वेन'** यह अंश **माण्डूक्यकारिका**(२।३०)में अक्षरशः प्राप्त होता है। इसी प्रकार **'किं पूर्वमिति नोच्यते'** (शारीर०१।८२) यह अंश **माण्डूक्यकारिका**(४।६७)में प्राप्त होता है। **श्रीहर्षने नैषधीयचरित** (४।११६)में चरक और सुश्रुतका उल्लेख किया है।

चरकसंहिताके टीकाकारोंमें भट्टारहरिचन्द्र सबसे प्राचीन हैं। ये वाग्भटके पूर्ववर्त्ती हैं। इनका समय ईसवी तृतीय शताब्दी है। वाग्भटके शिष्य जेज्जट-की भी प्राचीन टीकाकारोंमें गणना है।

दृढबल (प्रतिसंस्कारपूरक)

दृढबलने चिकित्सास्थान और सिद्धिस्थानके अन्तमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥

—(चिकि० ३०।२८९-९०)

अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं तत्त्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते॥
तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्।
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे॥
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम्॥

—(सिद्धि० १२।३७-३९)

इससे पता चलता है कि चरकके द्वारा अग्निवेशसंहिताके प्रतिसंस्कृत रूपमें चिकित्सास्थानके १७ अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान दृढबलके समयमें उपलब्ध नहीं होते थे। इस प्रकार वर्त्तमान चरकसंहिताका लगभग एक चौथाई भाग कालकी महिमासे विलुप्त हो गया था। दृढबलने भगवान् शङ्करको प्रसन्न करके अपनी विलक्षण मेधाके द्वारा अनेक तन्त्रोंसे शिलोञ्छ-वृत्त्या तथ्योंका निष्कर्ष करके ग्रन्थको पूरा किया।

दृढबल कपिलबलके पुत्र थे और इनका जन्म पञ्चनदपुरमें हुआ था। **कल्हण**की **राजतरङ्गिणी**से ज्ञात होता है कि पञ्चनदपुर काश्मीरमें था (देखिए श्लोक सं० २४६-२५०)। यह स्थान आजकल वितस्ता और सिन्धु-नदी के सङ्गमपर पंजनोर नामसे प्रसिद्ध है। इससे ये काश्मीरी सिद्ध होते हैं।

दृढबलका समय निर्णीत करनेके लिए यद्यपि कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि इनको वाग्भट और जेज्जटसे निश्चयपूर्वक पूर्वभावी कहा जा सकता है। वाग्भटके अष्टाङ्गसंग्रहमें दृढबलके वचन उद्धृत किए गए हैं और जेज्जटने तो दृढबलके द्वारा चरकसंहितामें जोड़े गए अंशपर टीका भी लिखी है। वाग्भटके द्वारा मद्यपानकी जो विधि प्रस्तुत की गई है, उसपर दृढबलके मद्यपान वर्णनकी छाया उपलब्ध होती है।[१] इस प्रकार दृढबलका समय ईसाकी तीसरी शताब्दी निर्धारित होता है। कविराज गणनाथसेनने भी दृढबलको तीसरी शताब्दी में ही रक्खा है।



१. द्रष्टव्य—च० सं० (चिकित्सा० २४।१०–१७), तथा अष्टाङ्गहृदय (चि० ७।७५–७८, ८०)

भूमिका

(२)

आयुर्वेदकी उत्पत्ति और स्वरूप

जब संसारमें तप उपवास अध्ययन ब्रह्मचर्य और व्रतादिका पालन करनेमें रोगोंके कारण विघ्न होने लगा, तो प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके विचारसे अङ्गिराप्रभृति पुण्यकर्मा महर्षि हिमालयके सुरम्य पार्श्वमें एकत्रित हुए। ध्यानपूर्वक विचार करनेसे उन्होंने इन्द्रकी शरण लेनेका निश्चय किया। भरद्वाजने रोगशान्तिका उपाय जाननेके लिए स्वेच्छापूर्वक इन्द्रके पास जाना स्वीकार किया। तदनन्तर इन्द्रभवनमें पहुँचकर भरद्वाजके पूछनेपर इन्द्रने उन्हें आयुर्वेदका उपदेश दिया। इन्द्रने इस शास्त्रका ज्ञान अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने प्रजापतिसे, और प्रजापतिने साक्षात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे प्राप्त किया था।

इन्द्रसे आयुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त करके महर्षि भरद्वाजने भूमण्डलके ऋषियोंमें उसका प्रचार किया। उनमेंसे समस्त प्राणियोंमें आत्मबुद्धि रखनेवाले भरद्वाजके शिष्य पुनर्वसु आत्रेयने सब भूतोंपर अनुग्रह करनेकी दृष्टिसे अपने छः शिष्योंको यह पवित्र आयुर्वेदशास्त्र पढ़ाया। यद्यपि उन्होंने सबको सामान्यरूपसे आयुर्वेदका उपदेश दिया था, तथापि अग्निवेशने ही सबसे पहले आयुर्वेदपर ग्रन्थरचना की, क्योंकि अग्निवेशकी बुद्धि सर्वोत्कृष्ट थी। इसके अनन्तर उनके अन्य शिष्य भेल जतूकर्ण पराशर हारीत और क्षारपाणिने भी आयुर्वेदपर अपने-अपने तन्त्र बनाए। फिर उन मेधावियोंने स्वरचित तन्त्र ऋषियोंके समूहमें बैठे हुए महर्षि आत्रेयको सुनाए। अपने पुण्यकर्मा शिष्योंके ग्रन्थोंमें सूत्रित विषयोंको सुनकर महर्षि आत्रेय तथा अन्य ऋषियोंने हर्षपूर्वक उनका अनुमोदन किया और कहा, 'तुमने विषयोंका यथार्थरूपसे सन्निवेश किया है।' तदनन्तर समस्त प्राणियोंका कल्याण चाहनेवाले उन ऋषियोंने अग्निवेशादिकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की और फिर सब एक साथ ऊँचे स्वरसे हर्षातिरेकके कारण चिल्ला उठे 'साधु, साधु, तुमने प्राणियोंपर दया की।' उनके इस पुण्यनादको द्युलोकवासी देवर्षियों तथा देवताओंने सुना और सुनकर अत्यन्त मुदित हुए। आकाशमें प्राणियोंके 'अहो साधु, अहो साधु'के स्निग्धगम्भीर निर्घोषने प्रतिध्वनित होकर तीनों लोकोंको गुञ्जरित कर दिया। सारे जगत्में मङ्गलकारी वायु बहने लगी।

प्रकाशसे दिशाएँ दीप्त हो उठीं और आकाशसे सजल दिव्यपुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। सारा संसार आनन्दमग्न हो उठा। इसके अनन्तर अग्निवेशादि तन्त्रकारोंके भीतर बुद्धि सिद्धि (साध्यसाधनज्ञान) स्मृति मेधा धृति कीर्त्ति क्षमा और दयाके अभिमानी देवता प्रविष्ट हो गए। अग्निवेशादिके ऋषिसम्मत तन्त्रोंने प्राणिसमूहकी नीरोग जीवनयात्राके लिए संसारमें प्रतिष्ठा प्राप्त की।[१]

प्राणियोंके प्रति जिस करुणाके भावसे द्रवित होकर भगवान् तथागतने एकान्तवासका विचार छोड़कर अपने उपदेशामृतकी वर्षासे संसारके प्राणियों-को आप्यायित किया था, जिस कारुण्यके उद्दामवेगसे द्रवीभूत हो आदि-विद्वान् भगवान् कपिलको निर्माणचित्तका आश्रय लेकर जिज्ञासु आसुरिको उपदेश देनेके लिए अवतीर्ण होना पड़ा था और जिस दयाकी भावनाने दुःखत्रयकी निरन्तर चोट खानेवाले प्राणियोंकी मुक्तिके लिए ईश्वरकृष्णको साङ्ख्यकारिकाकी रचना करनेके लिए विवश किया था, उसी कारणके वशीभूत हो इन परम कारुणिक अग्निवेशादि ऋषियोंने त्रिविध दुःखोंकी तप्त मरुभूमिमें बिलबिलाते हुए, शास्त्राभावरूपी अवर्षणसे सताए हुए सांसा-रिक जीवोंके कल्याणके लिए आयुर्वेदामृतकी सृष्टि की, जिसकी आह्लाद-कारिणी वृष्टिने रोगोंकी झुलसनको दूर कर जगत्में नवजीवनका सञ्चार किया। आशाका नव अङ्कुर फूटा, सुखकी लताएँ लहलहाने लगीं।

यह है संसारमें आयुर्वेदके अवतीर्ण होनेकी कथा। स्पष्ट है कि जिस कारुण्यभावनाकी पृष्ठभूमि में साङ्ख्ययोगादि अन्य दर्शनशास्त्रोंका जन्म हुआ, उसी भावनाने इस शास्त्रको भी जन्म दिया है। अतएव इस शास्त्रका महत्त्व दार्शनिक दृष्टिसे किसी प्रकार कम नहीं है, अपितु अनेक दार्शनिक पद्धतियोंका परस्पर समन्वय करनेके कारण इसका महत्त्व अन्य दर्शनशास्त्रों-की अपेक्षा कुछ बढ़ ही जाता है।

आयुर्वेदके स्वरूपपर विचार करनेके पूर्व संस्कृत वाङ्मयमें आयुर्वेदका स्थान कहाँ पर है, इसपर सङ्क्षेपमें प्रकाश डालना असङ्गत न होगा। अष्टादश विद्याओंमें आयुर्वेदकी भी गणना की जाती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग हैं। पुराण न्याय मीमांसा और धर्म-शास्त्र—ये चार उपाङ्ग हैं। उपपुराणोंका पुराणोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। वैशेषिकशास्त्रका न्यायमें, वेदान्तशास्त्रका मीमांसामें और रामायण महाभारत तथा साङ्ख्य पातञ्जल पाशुपत और वैष्णवादि शास्त्रोंका धर्म-शास्त्रमें अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार ये सब मिलकर चौदह विद्याएँ होती हैं। चार उपवेदोंके मिलनेसे इन्हींकी संख्या अठारह हो जाती है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद हैं। कामशास्त्र आयुर्वेदके ही अन्तर्गत है। वैद्योंके सम्प्रदायमें आयुर्वेदका सम्बन्ध अथर्ववेदसे माना जाता है। महर्षि आत्रेय, अग्निवेश, चरक और सुश्रुतप्रभृति आयुर्वेदज्ञ

१. द्रष्टव्य—**चरकसंहिता** (सूत्रस्थान १।३—४०)

इसे स्वीकार करते हैं। चरकसंहितामें महर्षि आत्रेय अग्निवेशसे कहते हैं—"यदि कोई प्रश्नकर्त्ता इस बातको पूछें कि ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद—इन चार वेदोंमेंसे आयुर्वेदज्ञ किस वेदका उपदेश करते हैं, तो ऐसा प्रश्न किए जानेपर वैद्यको ऋग्वेदादि चार वेदोंमेंसे अथर्ववेदमें अपनी भक्ति (अभिरुचि) बतानी चाहिए, क्योंकि आथर्वणवेद, स्वस्त्ययन बलि मङ्गल होम नियम प्रायश्चित्त उपवास और मन्त्रादिका परिग्रह करनेके कारण, चिकित्साका उपदेश करता है, और चिकित्साका उपदेश आयुके हितके लिए किया जाता है।"[१] इसलिए समान प्रयोजन होनेके कारण आयुर्वेद अथर्ववेदका ही एकदेश सिद्ध होता है। इसी कारण आयुर्वेदके पर्यायोंमें उसे 'शाखा' भी कहा गया है।[२] अथर्ववेद तथा अथर्ववेदविद् ब्राह्मणोंकी उपयोगिताका उपदेश चरकसंहितामें भूयस्त्वेन उपलब्ध होता है।[३] सुश्रुतसंहितामें भी अष्टाङ्ग आयुर्वेदको अथर्ववेदका उपाङ्ग कहा गया है।[४] शिक्षाकल्पादि छः वेदाङ्ग कहलाते हैं, और आयुर्वेदादि वेदोंके चार उपाङ्ग कहे जाते हैं।

आयुकी वृद्धि करनेवाला वेद आयुर्वेद कहलाता है।[५] गर्भमें आनेसे लेकर मरण तककी अवधिको आयु कहा जाता है।[६] इस आयुके परिमाणको बढ़ानेके लिए जो उपाय किए जाते हैं, उन्हें चिकित्सा कहते हैं, और जिस शास्त्रमे चिकित्साका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है, उसे आयुर्वेदशास्त्र कहते हैं। आयुके हितको दृष्टिमें रखकर ही चिकित्साका उपदेश किया जाता है।[७]

जो आयुका ज्ञान कराता है, उसे आयुर्वेद कहते है।[८] आयुर्वेदके इस लक्षणको समझनेके लिए सबसे पहले आयुका क्या स्वरूप है इसपर विचार कर लेना चाहिये। "शरीर(पञ्चमहाभूतोंका विकाररूप आत्माका भोगायतन), इन्द्रिय(चक्षु आदि बाह्यकरण), मन(अन्तःकरण) और आत्मा (ज्ञानका प्रतिसन्धाता करनेवाला)—इनके (अदृष्टद्वारा नियन्त्रित) संयोगको आयु कहते हैं। संयोगी शरीरके क्षणिक होनेसे यद्यपि यह संयोग भी क्षणिक है, फिर भी सन्तानप्रवाह द्वारा व्यवस्थित होनेसे इसका एकत्वसे ग्रहण किया

---

१. **तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः—चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां क वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः,..... तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या, वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह, चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।** —(सूत्र० ३०।२०-२१)

२. द्रष्टव्यम्—(सूत्र० ३०।३१)

३. द्रष्टव्यम्—(शारीर० ८।३२, ३५, ३६)

४. **इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य।** —सुश्रुतसंहिता (सूत्र० १।५)

५. **वेदं वर्धनमायुषः।** —चरकसंहिता (सूत्र० १।२७)

६. **एतच्च गर्भावधिमरणपर्यन्तं बोद्धव्यम्।** —चक्रपाणिः (सूत्र० ३०।२२)

७. **चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।** —चरकसंहिता (सूत्र० ३०।२१)

८. **आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः।** —चरकसंहिता (सूत्र० ३०।२३)

जाता है। इस आयुको धारि जीवित नित्यग और अनुबन्ध इन पर्यायशब्दोंसे भी कहा जाता है।"[१] शरीरादिको धारण करनेसे तथा दौर्गन्ध्यादि दोषोंसे बचानेके कारण आयुको 'धारि' कहते हैं। जीवित रखनेसे अर्थात् प्राणोकी रक्षा करनेसे इसे 'जीवित' कहते हैं। शरीर क्षणिक है, क्षणिक शरीरोंमें नित्य अनुस्यूत रहनेके कारण इसको 'नित्यग' कहा जाता है और उत्तरोत्तर शरीरादिके साथ सम्बन्ध करानेसे इसको 'अनुबन्ध' कहते हैं। किन्तु रोग-भिषग्जितीय नामक अध्यायमें अनुबन्धकी व्याख्या दूसरे प्रकारसे की गई है। वहाँ कहा गया है—"अनुबन्ध, कार्यसे उत्पन्न होनेवाला वह शुभ या अशुभ भाव है, जो कार्यके उत्तरकालमें कर्त्तासे अवश्य (अनिवार्यतः) सम्बद्ध होता है।"[२] शुभ कार्यका अनुबन्ध शुभ होता है, और अशुभका अशुभ। उदाहरणार्थ—धातुसाम्यरूप शुभ कार्यके उत्तरकालमें आयूरूप जो शुभभाव कर्त्ता पुरुषसे अवश्य सम्बद्ध होता है, उस आयुको ही अनुबन्ध समझना चाहिए। इसीलिए आचार्यने कहा—"(चिकित्साजन्य धातुसाम्यरूप कार्यका) अनुबन्ध निश्चित रूपसे आयु है, और उसका लक्षण है प्राणोंके साथ संयोग।"[३] इस प्रकार यहाँपर धातुसाम्यके उत्तरकालीन फलके रूपमें आयुको 'अनुबन्ध' कहा गया है। यद्यपि आयुके लिए 'नित्यग' और 'अनुबन्ध' शब्द रूढ नहीं हैं, तथापि नित्यगत्व और अनुबन्धत्व इन धर्मोंको बतानेके लिए ये सञ्ज्ञायें प्रदान की गई हैं। आगे चलकर महर्षि पुनर्वसुने पुनः आयुकी व्याख्या करते हुए कहा है—'आयु, चेतनानुवृत्ति, जीवित, अनुबन्ध और धारि—इन सबका एकही अर्थ है।'[४] इस प्रकरणमें हम देखते हैं कि पूर्वप्रकरणस्थ 'जीवित' 'अनुबन्ध' और 'धारि' शब्दोंकी आवृत्तिमात्रकी गई है। नया शब्द केवल 'चेतनानुवृत्ति' है। इसका अर्थ है 'चेतनताका सन्तानरूपसे प्रवाह (continuous flow of conciousness)' आयु कहलाता है। अर्थात् गर्भाव-क्रान्तिसे मरणपर्यन्त(जबतक चैतन्यका शरीरसे विच्छेद नहीं होता तबतक) की अवधि आयु कहलाती है। मृत्युके अनन्तर शरीरमें चैतन्यकी अनुवृत्ति नहीं होती। इसका प्रमाण यह है कि उसकी साक्षात् उपलब्धि नहीं होती। यहाँपर इस प्रकारकी शङ्का नहीं उठाना चाहिए कि सुषुप्तिमें चैतन्यका विच्छेद हो जाता है, क्योंकि सुषुप्तिमें भी सूक्ष्मज्ञान अवश्य रहता है। अन्यथा 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकारका उत्तरकालीन प्रतिसन्धान नहीं हो सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक स्थानपर आयुको 'शरीर इन्द्रिय मन और आत्माका संयोग' तथा दूसरे स्थानपर 'चेतनानुवृत्ति' कहनेका क्या तात्पर्य है? इन दोनों लक्षणोंका परस्पर समन्वय किस प्रकार हो? इसका उत्तर यह है, वस्तुतः शरीर इन्द्रिय चित्त और आत्माके संयोगसे ही चैतन्यानु-

---

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ —(सूत्र० १।४२)

२. अनुबन्धः खलु सः, यः कर्त्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो वा भावः। —(विमान० ८।७४)

३. अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सह संयोगः।—(विमान० ८।९१)

४. तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः। —(सूत्र० ३०।२२)

वृत्तिका जन्म होता है, क्योंकि शरीरादिसंयोग होनेपर अविनाभावसम्बन्ध (अव्यभिचरित रूप)से चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। शरीरादिसंयोग कारण है, और चेतनानुवृत्ति कार्य है। कारण और कार्यका अभेद दिखलानेकी इच्छासे यह दो प्रकारका लक्षण किया गया है। रोगभिषग्जितीयोक्त प्राणसंयोगका शरीरादिसंयोगसे भेद नहीं है। वस्तुतः आयु शरीरादि-संयोगरूप ही है, क्योंकि इस संयोगके अभावमें प्राणोंका विच्छेद हो जानेसे आयुःप्रशमरूप मृत्यु हो जाती है और मृतशरीरमें चित्तका अभाव होनेसे आयूरूप संयोग बन नहीं सकता है।

आयुका स्वरूप निर्धारित हो जानेपर यह जिज्ञासा होती है कि "आयुर्वेद आयुका ज्ञान किस प्रकार कराता है? इसका उत्तर यह है—आयुर्वेद (आयुके) लक्षणके द्वारा, सुख और असुख(दुःख)के द्वारा, हित और अहितके द्वारा तथा प्रमाण और अप्रमाणके द्वारा आयुका ज्ञान कराता है।"[१]

आयुके लक्षण(सूत्र० १।४२, ३०।२२)का ज्ञान करानेसे यह "आयुर्वेद कहलाता है। 'सुखरूप' आयु और 'दुःखरूप' आयुका ज्ञान करानेसे भी इसे आयुर्वेद कहा जाता है। "शारीरिक और मानसिक रोगोंसे मुक्त, विशेषरूपसे युवा, समर्थ, बल वीर्य यश पौरुष (उत्कृष्टकर्म) और पराक्रमसे युक्त, ज्ञानबल विज्ञानबल इन्द्रियबल और विषयबलके समुदायमें स्थित (अर्थात् इनसे युक्त), अत्यधिक समृद्धिके कारण रुचिर तथा विविध भोगोंका उपभोग करनेवाले, समस्त कार्योंमें सफल होनेवाले और यथेष्ट विचरण करनेवाले (स्वतन्त्र) पुरुषकी आयु 'सुखरूप' कहलाती है। इसके विपरीत 'दुःखरूप' आयु होती है।"[२]

'हितायु' और 'अहितायु'का ज्ञान करानेसे भी यह शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है। "प्राणियोंका हित चाहनेवाले, पराये धनसे विमुख,[३] सत्यवादी, शान्तिपरायण, सोच विचारकर कार्य करनेवाले, प्रमादरहित, परस्पर अबाधक त्रिवर्ग(धर्म अर्थ और काम[४]का) सेवन करनेवाले, पूज्यों की पूजा करनेवाले, ज्ञान विज्ञान और उपशमका अनुशीलन करनेवाले, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, राग रोष ईर्ष्या मद और मानके वेगोंको सम्यग्रूपसे नियन्त्रित करनेवाले, निरन्तर विविध प्रकारके दान देनेवाले, तप ज्ञान और मनःशान्तिमें लगे हुए, अध्यात्म(आत्माके स्वरूप)को जानने वाले तथा उसमें तत्पर, इस लोक और परलोकका ध्यान रखनेवाले, स्मृति

---

१. **कथमिति चेत्? उच्यते—स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च।** —(सूत्र० ३०।२३)

२. **तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्ययशःपौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्त्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते। असुखमतो विपर्ययेण।** —(सूत्र० ३०।२४)

३. तुलना कीजिए—**'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'**—(ईशावास्योपनिषद्—मन्त्र १)

४. तुलना कीजिए **'न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्'**—(किरातार्जनीयम् १।११)

और बुद्धिसे युक्त पुरुषकी आयु 'हितायु' कहलाती है, और इससे विपरीत 'अहितायु' कही जाती है।"[१]

आयुर्वेद आयुके प्रमाण और अप्रमाणका भी ज्ञान कराता है। "अर्थ इन्द्रिय मन बुद्धि और चेष्टा इत्यादिमें अकस्मात् प्रकट हुए विकारलक्षणों(अरिष्टों)से आयुका प्रमाण जाना जाता है। यह प्राणी इसी क्षण, इसी मुहूर्त, दिनभरमें, तीन पाँच सात दस या बारह दिनोंमें, इस पखवारेमें, महीने भरमें, छः महीनेमें अथवा वर्षभरमें स्वभाव(मरण)को प्राप्त होगा—इस प्रकार आयुका प्रमाण ज्ञात होता है। स्वभाव, प्रवृत्तिकी शान्ति, मरण, अनित्यता और निरोध—इन सबका एकही अर्थ है।"[२]

अर्थकी विकृतिसे आयुका प्रमाण जान लिया जाता है, यथा—'नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे युक्त फूले हुए वनकी भाँति जिस पुरुषके शरीरसे अनेक प्रकारके फूलों जैसी गन्ध रात-दिन निकलती रहती है, उस मनुष्यको पण्डित लोग मृत्युके लक्षणोंसे पुष्पित कहते हैं। वह पुरुष वर्षभरमें देहका त्याग कर देता है, ऐसा निश्चित है।'[३] **इन्द्रियकी विकृति**से भी आयुके प्रमाणका ज्ञान होता है, यथा—'जो (वायु आदि) अदृश्य पदार्थोंको देखता है और जो दृश्य पदार्थोंको नहीं देखता, वे दोनों शीघ्र ही यमलोकका दर्शन करते हैं।'[४] **मनोविकृति**से आयुका परिमाण जाननेका उदाहरण यह है—'जिन वस्तुओंके उपस्थित होनेपर रोगीको पहले अत्यन्त प्रसन्नता होती थी, उन्हीं वस्तुओंके प्राप्त होनेपर यदि उसे कोई प्रीति न हो और शरीर क्षीण हो,तो उसकी मृत्यु निश्चित समझना चाहिए।'[५] **बुद्धिविकृति**से भी आयुका ज्ञान होता है, यथा—

---

१. हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते। अहितमतो विपर्ययेण। —(सूत्र० ३०।२४)

२. प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः, अयमस्मात्क्षणान्मुहूर्ताद्दिवसात्त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात्पक्षान्मासात्षण्मासात्सं-वत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति। तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः। —(सूत्र० ३०।२५)

३. नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य वाति दिवानिशम्।
पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः॥
तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः।
स ना संवत्सराद्देहं जहातीह विनिश्चयः॥ —(इन्द्रिय० २।८-९)

४. यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै दृश्यान् यश्च न पश्यति।
तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम्॥ —(इन्द्रिय० ४।१८)

५. यैर्विन्दति पुरा भावैः समेतैः परमां रतिम्।
तैरेवारममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत्॥ —(इन्द्रिय० ८।२१)

'छः मासमें मरनेवाले पुरुषकी इच्छा शील स्मृति त्याग बुद्धि और बल—ये छः विना किसी हेतुके निवृत्त हो जाते हैं।'[१] **चेष्टाओंकी विकृति**से भी आयुका प्रमाण जाना जा सकता है, यथा— विकृतिके कारण जिसके कन्धे शिथिल हो गये हैं, और जो पैरोंको ज़मीनपर रगड़ता हुआ सा दौड़ता है, वह अधिक दिन इस दुनियाँमें नहीं रहता है।[२] इसके अतिरिक्त नौकर-चाकरोंकी विकृतियों और चेष्टाओंसे भी रोगीकी आयुका प्रमाण निश्चित किया जा सकता है। इसके विपरीत विकारलक्षणोके न प्रकट होनेपर आयुके प्रमाणका निश्चय नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार आयुर्वेद आयुके प्रमाण और अप्रमाण दोनोंका ज्ञान कराता है।

'चूँकि यह शास्त्र आयुष्य (आयुके लिए हितकर) और अनायुष्य (आयुके लिए अहितकर) द्रव्य गुण और कर्मका ज्ञान कराता है, इसलिए भी इसको आयुर्वेद कहते हैं।'[३] आयुष्य और अनायुष्य पदार्थ आयुके कारण होनेसे आयु' शब्दसे निर्दिष्ट होते हैं। अनायुष्य पदार्थ भी आयुके कारण होते हैं, क्योंकि उनकी असेव्यताको जानकर उनसे परहेज़ करनेसे आयुकी वृद्धि होती है। आयुर्वेदका यह लक्षण वस्तुतः गौण है। मुख्य लक्षण तो पहले ही कह दिया गया है।

आयुर्वेदके इन सभी लक्षणोंका एकत्र समाहार चरकसंहिताके प्रारम्भमें इस प्रकार किया गया है—'जिस शास्त्रमें हितायु और अहितायु, सुखमय और दुःखमय आयु, आयुके लिए हितकर और अहितकर पदार्थ (द्रव्य गुण और कर्म), आयुका प्रमाण (और अप्रमाण), तथा आयुका स्वरूप कहा गया है, उसे आयुर्वेद कहते हैं।'[४] अर्थात् आयुका समग्ररूपसे ज्ञान करानेवाला शास्त्र आयुर्वेद है।

'आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः' यहाँपर विद्धातु ज्ञानार्थक ही है। सुश्रुतसंहितामें इसे सत्तार्थक अथवा लाभार्थक माना गया है।[५] परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ये अर्थ 'आयुर्वेद' शब्दसे साक्षात् नहीं निकलते हैं। परम्परासे इन अर्थोंकी भी प्रतीति होती है।

---

१. भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम्।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः॥ —(इन्द्रिय० ११।७)

२. निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति।
विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः॥ —(इन्द्रिय० १२।४)

३. यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।
—(सूत्र० ३०।२३)

४. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ —(सूत्र० १।४१)

५. आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।
—सुश्रुतसंहिता (सूत्र० १।४१)

इन्द्रने भरद्वाजको जिस आयुर्वेदका उपदेश दिया था, उसके स्वरूपका निर्देश इस प्रकार किया गया है—'हेतु (निदान), लिङ्ग (लक्षण), और औषध (चिकित्सा)का ज्ञान करानेवाले, स्वस्थ और रोगी दोनोंके आश्रयरूप, त्रिसूत्र (हेतु लिङ्ग और औषध—ये तीन जिसमे सूत्रित हुए हैं), शाश्वत और पुण्यजनक जिस आयुर्वेदको पितामह ब्रह्मा जानते थे (उसका इन्द्रने उपदेश किया)।'[१]

यहाँपर आयुर्वेदको शाश्वत कहा गया है। उक्त श्लोकमें 'बुबुधे' क्रियासे भी यही सिद्ध होता है। इन्द्रने ब्रह्मासे जिस आयुर्वेदका अध्ययन किया था। उसकी ब्रह्माने रचना नहीं की थी, अपितु उसका उन्हें बोध हुआ था (बुबुधे)। अर्थात् दूसरे वेदोंकी भाँति आयुर्वेद भी नित्य होनेके कारण ब्रह्माके चित्तमें आविर्भूत हुआ था। आगे चलकर आयुर्वेदकी नित्यताको सिद्ध करते हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं—

"यह आयुर्वेद तीन कारणोंसे शाश्वत कहा जाता है—(१) अनादि होनेके कारण, (२) लक्षणके स्वभावसिद्ध होनेके कारण और (३) पदार्थोंका स्वभाव नित्य होनेके कारण।"[२]

(१) 'कभी ऐसा नहीं हुआ, जब आयुका प्रवाह न रहा हो। और न कभी ऐसा हुआ, जब बुद्धिका प्रवाह न रहा हो। आयुको जाननेवाला (राशिपुरुष) भी नित्य है। द्रव्य हेतु और लक्षणके साथ-साथ सुख और दुःखभी अनादि-कालसे चले आ रहे हैं, क्योंकि सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका (परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण) ताँता लगा ही रहता है।'[३]

यहाँपर वस्तुतः शब्दरूप आयुर्वेदकी नित्यता सिद्ध करना हमारा प्रयोजन नहीं है, अपितु व्यवहाररूपसे नित्य अर्थरूप आयुर्वेदकी नित्यता साध्य है। आयुर्वेदकी प्रतिपाद्य **आयु प्रवाहरूपसे नित्य है**। विश्वमें कभी आयुका पूर्णरूपसे विनाश नहीं हुआ। प्रवाहकी क्रमिक परम्परासे आयु रहती ही है, क्योंकि आयुवाले प्राणियोंका सर्वथा उच्छेद असम्भव है। यदि प्राणियोंका सर्वथा उच्छेद सम्भव माना जाय, तो उसका साक्षी कौन होगा? साक्षिनिर-पेक्ष घटनाकी सत्यतामें क्या प्रमाण है? और यदि कोई साक्षी मान लिया जाय, तब तो यह वदतोव्याघातका अच्छा निदर्शन प्रस्तुत होगा। इसी प्रकार-से **बुद्धिका प्रवाह भी नित्य है**। बुद्धिकी परम्पराका किसी भी प्रकार उच्छेद होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदका **वेदिता (जाननेवाला) भी नित्य है**। वस्तुतः ज्ञानका विलय किसी प्रकार सम्भव नहीं है। मृत्यु भी ज्ञानका उच्छेद करनेमें असमर्थ है। **मृत्युका ज्ञान** हमें हो सकता है, परन्तु **ज्ञानकी**

---

१. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥ —(सूत्र० १।२४)

२. सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। —(सूत्र० ३०।२७)

३. न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्। —(सूत्र० ३०।२७)

मृत्युको हम कल्पनामें भी नहीं ला सकते हैं। **इस प्रकार वेद्य (आयु) वेदन (ज्ञानका साधन—बुद्धि) और वेदिता (पुरुष)के अनादि होनेके कारण आयुर्वेद नित्य है।** सुख (आरोग्य) और दुःख (व्याधि) भी एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेके कारण अनादि हैं। इसलिए इनके निदान लक्षण और औषध (चिकित्सा) भी प्रवाहरूपसे अनादि सिद्ध होते है। दुःखको दूर करनेकी और सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा किसी कालमें नहीं मिटती है, और जिसके लिए इच्छा होती है, उसका उपाय भी होता है। इसलिए दुःखपरिहार और सुखप्राप्तिका उपायभूत आयुर्वेद भी अनादि सिद्ध होता है।

(२) '(आयु बुद्धि वेदिता सुख और दुःख) इन पदार्थोंका सङ्ग्रह आयुर्वेदका लक्षण (प्रतिपाद्य विषय) समझा जाता है।'[१] अर्थात् आयु आदि अभिधेय विषयोंसे आयुर्वेद लक्षित होता है। अतः आयुर्वेदके लक्षणरूप आयु इत्यादिके अनादि होनेके कारण ही आयुर्वेदका लक्षण स्वभावसिद्ध कहा जाता है, अर्थात् प्रवाहरूपसे यह लक्षण नित्यसिद्ध है।

परन्तु कोई भी लक्षण स्वाभाविक होनेपर भी अनित्य हो सकता है। जैसे घटकी कम्बुग्रीवाकारता स्वाभाविक होनेपर भी अनित्य होनेके कारण घटकी नित्यताको सिद्ध नहीं कर सकती है। इसका उत्तर यह है—'आयुर्वेदका जो लक्षण इस शास्त्रमें दिया गया है, वह स्वाभाविक होनेके साथ-साथ अकृतक है, अर्थात् किसीके द्वारा बनाया नहीं गया है। (इसलिए नित्य है।) जैसे अग्निकी उष्णता और पानीकी द्रवता।'[२] घटकी कम्बुग्रीवाकारता तो हमारे द्वारा बनाई गई है, इसलिए अनित्य है। लक्षणके (व्यवहाररूपेण) नित्यसिद्ध होनेपर आयुर्वेद भी (व्यवहाररूपसे) नित्य सिद्ध होता है। 'गुरुका सेवन करनेसे गुरु(धातुओं)की वृद्धि और लघुका ह्रास होता है' इस प्रकार जो पदार्थोंके स्वभावकी नित्यता बताई गई है, वह भी अकृतक है। इसलिए इनका प्रतिपादन करनेवाला आयुर्वेद भी नित्य है।

(३) "गुरु-लघु, शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्षादि द्रव्योंकी सामान्यसे वृद्धि और विशेषसे ह्रास होता है। जैसा कि कहा गया है—गुरु(द्रव्यों)का निरन्तर सेवन करनेसे गुरु(धातुओं)की वृद्धि होती है और लघु(धातुओं)का ह्रास होता है। इसी प्रकार लघु(द्रव्यों)का निरन्तर अभ्यास करनेसे लघु(धातुओं)की वृद्धि और गुरु(धातुओं)का ह्रास होता है। यह पदार्थका स्वभाव नित्य होता है, अर्थात् सामान्यसे वृद्धि और विशेषसे ह्रास होनेका स्वभाव कभी बदलता नहीं है। इसके अतिरिक्त पृथिव्यादि द्रव्योंका अपना-अपना (खरत्व, द्रवत्व आदि) लक्षण भी नित्य है। द्रव्य और गुण तो नित्य और अनित्य दोनों प्रकारके होते हैं, परन्तु उनके अपने-अपने लक्षण नित्य ही हैं।"[३] जैसे आकाशादि द्रव्य नित्य हैं, परन्तु

---

१. एष चार्थसङ्ग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति। —(सूत्र० ३०।२७)

२. स्वाभाविकं चास्य लक्षणमकृतकम्, यदुक्तमिहाद्येऽध्याये च, यथाग्नेरौष्ण्यम्, अपां द्रवत्वम्। —(सूत्र० ३०।२७)

३. यत्पुनः गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ, यथोक्तम्—गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्। एवमेवेतरेषामिति। एष भावस्वभावो नित्यः स्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनाम्। सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः।

पृथिव्यादि अनित्य हैं। इसी प्रकार आकाशादिके परिमाणादि गुण नित्य हैं, परन्तु पृथिव्यादिके रसादि गुण अनित्य हैं। इनमें जो अनित्य हैं, वे भी सजातीय परम्पराप्रवाहसे सदैव रहते हैं। अतः अनित्य पदार्थ भी प्रवाहरूपसे नित्य होते हैं। चूंकि सभी पदार्थोंका स्वभाव नित्य है, इसलिए व्याधियोंको उत्पन्न और शान्त करने वाले पदार्थोंका भी स्वभाव नित्य होनेसे उनका प्रतिपादन करनेवाला आयुर्वेद भी नित्य सिद्ध होता है।

"आयुर्वेद पहले नहीं था, बादमें उत्पन्न हुआ—ऐसा कहीं भी नहीं मिलता है। जहाँ कहीं भी आयुर्वेदकी उत्पत्तिका वर्णन हुआ है, वहाँपर अवबोध(Intuitive knowledge)रूपमें अथवा उपदेशरूपमें उत्पत्ति कही गई है।"[१] जैसे ब्रह्मासे आयुर्वेदकी उत्पत्ति हुई, इस कथनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्माके चित्तमें ध्यानके द्वारा आयुर्वेदका उदय हुआ। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि असत् आयुर्वेदकी रचना करके ब्रह्माने उसे सत्ता प्रदान की। इसी प्रकार इन्द्रके उपदेशसे भरद्वाजने मर्त्यलोकमें आयुर्वेदको उत्पन्न किया—इसका अर्थ यही है कि भरद्वाजने इन्द्रसे प्राप्त हुए आयुर्वेदका संसारमें प्रचार किया। इसलिए कुछ लोग अवबोध और उपदेश—इन दोनोंको दृष्टिमें रखकर ही 'उत्पत्ति' शब्दका व्यवहार करते हैं।

इस आयुर्वेदके आठ अङ्ग हैं।[२] (१) **कायचिकित्सा**—सर्वाङ्गमें रहनेवाले ज्वरादि रोगोंकी शान्तिके लिए कायचिकित्सा नामक तन्त्र पृथक् माना गया है। (२) **शालाक्य**—जत्रुसन्धिसे ऊपर होनेवाले कान आँख मुख और नासिका आदिके रोगोंकी शान्तिके लिए शालाक्य तन्त्र है। इसमें मुख्यरूपसे शलाकाका प्रयोग किया जाता है। (३) **शल्यापहर्तृक**—विविध तृण काष्ठ पत्थर धातु इत्यादि और शल्यरूपमें स्थित गर्भको निकालनेके लिए यन्त्र तथा शस्त्रादिका प्रयोग बतानेवाला तन्त्र शल्यापहर्तृक कहलाता है। (४) **विषगरवैरोधिकप्रशमन**—साँप कीड़े मकड़ी और चूहे आदिके काटनेसे होनेवाले विष, कालान्तरमें कुपित होनेवाले विष और संयोगज विषोंकी शान्ति इस तन्त्रका विषय है। (५) **भूतविद्या**—भूत प्रेत पिशाच यक्ष डाकिनी और ग्रहादिसे आविष्ट चित्तवालोंकी शान्तिके लिए बलिहरणादि कर्मका उपदेश देनेवाला यह तन्त्र है। (६) **कौमारभृत्य**—बच्चोंका पालन-पोषण, धात्रीके दूधके दोषोंका संशोधन, दूधके दोषोंसे तथा ग्रहादिके कारण होनेवाले रोगोंकी चिकित्सा और गर्भविज्ञानको बतानेवाला तन्त्र कौमारभृत्य कहलाता है। (७) **रसायन**—यह तन्त्र यौवनको स्थिर रखने, आयु मेधा और बलको बढ़ाने तथा रोगोंके अपहरण करनेका उपाय बताता है। (८) **वाजीकरण**—अल्पवीर्य दुष्टवीर्य शुष्कवीर्य और क्षीणवीर्य लोगोंमें प्रभूत मात्रामें शुद्धवीर्य तथा प्रहर्ष(मैथुनेच्छा)को उत्पन्न करना वाजीकरणतन्त्रका विषय है।

---

१. **न ह्यायुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके।** —(सूत्र ३०।२७)

२. **तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ, तद्यथा–कायचिकित्सा, शालाक्यम्, शल्यापहर्तृकम्, विषगरवैरोधिकप्रशमनम्, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, रसायनानि, वाजीकरणमिति।** —(सूत्र० ३०।२८)

'आयुर्वेद शाखा विद्या सूत्र ज्ञान शास्त्र लक्षण और तन्त्र—इन सबका एक ही अर्थ है।"[१] आयुर्वेदशास्त्रमें इन शब्दोंका आयुर्वेदके पर्यायरूपसे प्रयोग हुआ है। आयुर्वेदके प्रतिपाद्य विषयका बोध इन पर्यायशब्दोंसे ही हो जाता है। तद्यथा—आयुका ज्ञान करानेसे 'आयुर्वेद' 'विद्या' और 'ज्ञान', अथर्ववेदका उपवेद होनेसे तथा अथर्ववेदोक्त चिकित्साकी एक शाखा होनेके कारण 'शाखा', पुरुष-सम्बन्धी विषयोंका सूत्रण(ग्रथन) करनेके कारण 'सूत्र', आरोग्यके लिए शासन(उपदेश) करनेके कारण 'शास्त्र', आयु तथा आयुस्सम्बद्ध भावों-का लक्षण बतानेके कारण 'लक्षण', तथा शरीरादिका तन्त्रण (नियमन) करनेके कारण इसे 'तन्त्र' कहा जाता है।[२]

आयुर्वेदके प्रकरण

आयुर्वेदके इन प्रतिपाद्य विषयोंका प्रकरणानुसार विचार करनेसे, शरीर वृत्ति हेतु व्याधि कर्म कार्य काल कर्त्ता करण और विधिका विनिश्चय (निर्णय) करनेके कारण यह शास्त्र दस प्रकरणोंवाला सिद्ध होता है। इन प्रकरणोंका सम्पूर्ण तन्त्रके द्वारा उपदेश दिया गया है।[३] शरीरादि प्रत्येक प्रकरण अवयवादिके भेदसे बहुत प्रकारका हो जाता है, अतः प्रकरणोंका यह स्थूल विभाजन है। 'शरीर' पञ्चमहाभूतोंके विकारका समुदायरूप है। 'वृत्ति' आहारको कहते हैं, यह भी अशितपीतादिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। 'हेतु'से तात्पर्य है, व्याधियोंके हेतु, जो असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम कहलाते हैं। 'व्याधि'का स्वरूप है, धातुओंका वैषम्य। 'कर्म' चिकित्साको कहते हैं। 'कार्य' है आरोग्य। ऋतु इत्यादि तथा क्रियाकालको 'काल' कहा जाता है। भिषक् कर्त्ता' कहलाता है। भेषज 'करण' है। स्नेहन स्वेदन इत्यादिके विधान या उपकल्पनाको 'विधि' कहा जाता है, यह काल व्याधि और द्रव्यकी अपेक्षासे होती है, जैसे "हेमन्त ऋतुमें उष्ण जलका उपयोग करनेवालेकी आयु क्षीण नहीं होती है।"[४]

चरकसंहिताका विभाजन

चरक और दृढबलके द्वारा प्रतिसंस्कृत इस ग्रन्थमें (१) श्लोकस्थान या सूत्रस्थान, (२) निदानस्थान, (३) विमानस्थान, (४) शारीरस्थान, (५) इन्द्रियस्थान, (६) चिकित्सितस्थान, (७) कल्पस्थान, और (८) सिद्धि-

---

१. **तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्।** —(सूत्र० ३०।३१)

२. **निरुक्तं तन्त्रणात्तन्त्रम्।** —(सूत्र० ३०।७१)

३. **स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो भूय एव शरीरवृत्तिहेतुव्याधिकर्मकार्यकाल-कर्तृकरणविधिविनिश्चयाद्दशप्रकरणः। तानि च प्रकरणानि केवलेनोप-देक्ष्यन्ते तन्त्रेण।** —(सूत्र० ३०।३२)

४. **हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णं चायुर्न हीयते।** —(सूत्र० ६।१३)

स्थान—ये आठ स्थान हैं।[१] प्रधानभूत अर्थकी प्रतिष्ठापना करनेके कारण इन्हें स्थान कहा जाता है।[२] श्लोकस्थानादि सञ्ज्ञाएँ योगरूढ हैं।

श्लोकस्थानमें तीस अध्याय है, इनमें चार-चार अध्यायोंके सात चतुष्क हैं, जिनमें क्रमशः औषध स्वास्थ्य निर्देश उपकल्पना रोग योजना और अन्न-पानका निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्याय प्राण और देहविषयक हैं, इनको सङ्ग्रहाध्याय भी कहा जाता है। सम्पूर्ण तन्त्रके प्रधान-प्रधान विषयोंका सङ्ग्रह करनेके कारण श्लोकस्थानको इस तन्त्रका मङ्गलमय मूर्धा कहा गया है।[३] महत्त्वपूर्ण अर्थसमूहका सूत्रण (यथास्थान सन्निवेश) करनेके कारण, सूचन (सङ्क्षिप्त प्रकाशन) करनेके कारण, तथा सवन (जनन) करनेके कारण, इसे सूत्रस्थान भी कहा जाता है।[४] निदानस्थान विमानस्थान और शारीरस्थानमें आठ-आठ अध्याय हैं। इन्द्रियस्थानमें बारह अध्याय है। इस प्रकार दो त्रिंशक, तीन द्वादशक, तथा तीन अष्टक होनेसे सम्पूर्ण ग्रन्थमें एक सौ बीस अध्याय हैं।



---

१. तन्त्रस्यास्याष्टौ स्थानानि, तद्यथा—श्लोकनिदानविमानशारीरेन्द्रियचिकित्सितकल्पसिद्धिस्थानानि। —(सूत्र० ३०।३३)

२. स्थानमर्थप्रतिष्ठया। —(सूत्र० ३०।७१)

३. औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः।
चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः॥
द्वौ चान्त्यौ संग्रहाध्यायाविति त्रिंशकमर्थवत्।
श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरः शुभम्॥ —(सूत्र० ३०।४५-४६)

४. सूचनात्सूत्रणाच्चैव सवनाच्चार्थसन्ततेः।
....................सूत्रस्थानं प्रचक्षते॥—सुश्रुत०(सूत्र० ३।१२)

प्रथम अध्याय

आयुर्वेदका प्रयोजन और दर्शनसे सम्बन्ध

आजकल आयुर्वेदके सम्बन्धमें लोगोंमें बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। साधारणतया लोग समझते हैं कि आयुर्वेदका एकमात्र प्रयोजन केवल शारीरिक आरोग्य और ऐहिक सुखकी प्राप्ति कराना है। न केवल साधारण लोगोंकी अपितु अधिकांश वैद्योंकी भी यही धारणा है। यही कारण है कि चिकित्साशास्त्रके पृष्ठपोषक (आधारशिलात्मक) दार्शनिक ज्ञानके अभावमें वर्त्तमान समयमें अधिकांश वैद्योंकी दुर्दशा हो रही है, और उनकी इस प्रकारसे अपूर्ण अतएव अवैज्ञानिक चिकित्साप्रणालीका आश्रय लेकर हमारे निरवद्य और परम वैज्ञानिक आयुर्वेद शास्त्रपर अनेक प्रकारकी अवाञ्छनीय टीका-टिप्पणियाँ और आक्षेप आए दिन किये जा रहे हैं। वैद्योंमें सामान्यतया आयुर्वेदके आधारभूत दार्शनिक विवेचनका अभाव होनेके कारण उन वैद्योंका आश्रय लेनेवाले रोगी आरोग्यलाभ न होनेपर एलोपैथी आदि अन्य चिकित्साप्रणालियोंमें शरण लेकर आयुर्वेदकी भरपेट निन्दा करते हैं। इसलिये सम्प्रति इस बातकी आवश्यकता है कि अपनी पुरातन आयुर्वेद-विद्याका सम्यग्रूपसे अध्ययन किया जाय, और उसका पुनरुद्धार किया जाय।

आयुर्वेदका अध्ययन करनेसे विश्वास करना पड़ता है कि इस विज्ञानका विशाल भवन अत्यन्त सुदृढ दार्शनिक नींव पर खड़ा है। कालके थपेड़े उसको आसानीसे नहीं हिला सकते हैं। जो विज्ञान केवल भौतिक आधारपर खड़ा होता है, उसमें परतः अनुसन्धान होनेपर नये नये रहस्य अनावृत होते रहते हैं और कभी कभी उसके सिद्धान्तोंमें आमूलचूड परिवर्त्तन करना पड़ता है। परन्तु जो शास्त्र सुदृढ आध्यात्मिक आधारपर अवलम्बित है, उसमें यत्र-तत्र छोटे छोटे पल्लव-कल्प संशोधन और परिवर्तनकी सम्भावना रहते हुए भी उसके मूलभूत सिद्धान्तोंपर कभी आँच नहीं पहुँच सकती है। चरकसंहिता आदि आयुर्वेदके ग्रन्थ उसी आध्यात्मिक आधारपर टिके हुए हैं, जिस अध्यात्मके बलपर आर्यसंस्कृति आज भी संसारके अध्यात्मप्रेमियोंका पथ आलोकित कर रही है, और भविष्यमें युगोंतक पुनः पुनः सूखती हुई अध्यात्मलतिकाको सींचती रहेगी।

आयुर्वेदकी संसारमें प्रवृत्ति क्यों हुई? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए हमें प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका अध्ययन करना होगा। महर्षि आत्रेय कहते हैं :—

"सारे प्राणियोंकी समस्त चेष्टाएँ सुखकी प्राप्तिके लिए होती हैं। जो विवेकी हैं, वे (विचारपूर्वक सुखप्राप्तिके) उचित मार्गका अनुसरण करते हैं, और जिनमें विवेक नहीं है, वे (समुचित विचार न कर सकनेके कारण दुःखसाधनको

ही सुखका साधन समझकर) कुमार्गमें प्रवृत्त होते हैं। (यदि उनको पहलेसे ही इस बातका ज्ञान हो जाय कि यह मार्ग दुःखका है, तो वे कदापि उस मार्गमें प्रवृत्त न हों।) परीक्षक लोग उचित प्रकारसे परीक्षा करके हितके ही सेवनपर बल देते हैं, और रज तथा मोहसे आवृत चित्तवाले लौकिक (अपरीक्षक) पुरुष तो (हितकी परवाह न करके) प्रियकी ही कामना करते हैं।[1] परीक्षक पुरुष शास्त्रज्ञान, बुद्धि, स्मृति, दक्षता, धृति, हितसेवन, वाणीकी शुद्धि, शान्ति और धैर्य आदि गुणोंका आश्रय बन जाता है। परन्तु मोह और रजके आश्रित लौकिक मनुष्यमें ये गुण बिल्कुल नहीं होते हैं। उलटे मोह और रजोगुणसे होनेवाले बहुत से शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते है, क्योंकि अज्ञ मनुष्य प्रज्ञापराधके कारण चक्षु आदि पञ्चेन्द्रियोंके अहितकारी विषयोंका सेवन करता है, वेगोंको रोकता है, साहसिक कर्म करता है, और तत्काल सुख देनेवाले विषयोंमें अनुरक्त होता है।[2] परन्तु ज्ञानी मनुष्य विज्ञानके निर्मल होनेपर क्षणिक सुखोंमें आसक्ति नही करते हैं।''[3]

---

१. **सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।**
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥
हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः॥ —(सूत्रस्थान २८।४९-५०)

श्रुति भी कहती है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
—कठोपनिषद् (१।२।२)

अर्थात् 'श्रेय और प्रेय ये दोनों ही मनुष्यके सामने आते हैं। धीर पुरुष उन दोनोंके स्वरूपका भले प्रकार विवेचन कर दोनोंको अलग अलग समझ लेता है, और प्रेयकी अपेक्षा श्रेयको उत्तम समझकर उसीका वरण करता है। परन्तु मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेमके लिए प्रेयको अपनाता है।'

२. ऐसे सुखके विषयमें गीता कहती है—
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ —गीता (१८।३८)

अर्थात् 'विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो आरम्भमें अमृतके समान लगता है, परन्तु परिणाममें विषके समान होता है, उस सुखको राजस कहते हैं।'

३. **श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम्।**
वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम्॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणाः मोहरजःश्रितम्।
तन्मूला बहुलाश्चैव रोगाः शारीरमानसाः॥
प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते।
सन्धारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च॥
तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते॥ —(सूत्र० २८।५१-५४)

इसलिए हित और अहित तथा अप्रिय और प्रियका भली प्रकार विवेचन करके मनुष्यके ऐहलौकिक और पारलौकिक हितका पूरा पूरा ध्यान रखनेवाले ऋषियोंके द्वारा संसारमें आयुर्वेदका प्रवर्त्तन किया गया।

यद्यपि अन्य वेदोंकी भाँति आयुर्वेद भी शाश्वत है,[1] फिर भी कल्पके आदिमें अन्य शाश्वत विद्याओंकी भाँति इसकी भी ऋषियोंके द्वारा अभिव्यक्ति की गई। इसलिये सामान्यरूपसे आयुर्वेदका प्रयोजन प्राणियोंको कल्याणमय सुख प्रदान करना सिद्ध होता है। विशेषरूपसे आयुर्वेदका प्रयोजन द्विविध है—"स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्यकी रक्षा करना तथा रोगीके विकारोंको शान्त करना।"[2] ये दोनों प्रयोजन योगक्षेमरूप हैं। अन्यत्र भी प्रकारान्तरसे इन्हीं प्रयोजनोंको स्पष्ट किया गया है—"सुखार्थी मनुष्यको उस विधिका पालन करना चाहिए, जिससे अनुत्पन्न रोग उत्पन्न न होने पावें और उत्पन्न रोग शान्त हो जायें।"[3] आचार्य मधुसूदनसरस्वतीके अनुसार "चिकित्साशास्त्रका प्रयोजन—रोग (लक्षण), रोगके साधन (निदान), रोगनिवृत्ति और रोगनिवृत्तिके साधनों(चिकित्सा)का ज्ञान कराना है।"[4] वस्तुतः आयुर्वेदके ये प्रयोजन साधारण लौकिक जनोंके लिए है। परीक्षकोंके लिए आयुर्वेदका परमलक्ष्य क्या है, इसका विवेचन अब हम आगे करेंगे।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृतिके स्तम्भरूप है। इनमें धर्म अर्थ और काम तो साधनभूत है, और इनका साध्य है मोक्ष। इसीलिए मोक्षको परम पुरुषार्थ कहा गया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मयका सूक्ष्मदृष्टिसे पर्यालोचन करनेपर यही निश्चय करना पड़ता है कि समस्त धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका एकमात्र उद्देश्य लौकिक अभ्युदयपूर्वक मोक्ष या निःश्रेयसकी प्राप्ति है। इस चतुर्वर्गका साक्षात् प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंके अतिरिक्त आयुर्वेदादि अन्य शास्त्रोंका प्रयोजन चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें सहायता देना है। जिस प्रकार व्याकरण मीमांसा और न्यायशास्त्रका प्रयोजन पदज्ञान वाक्यज्ञान और प्रमाणज्ञानपूर्वक चतुर्वर्गप्राप्तिपरक शास्त्रोंके वास्तविक तात्पर्यको समझना है, उसी प्रकार चरकादिसंहिताओंसे प्रतिपादित आयुर्वेदका प्रयोजन चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें अन्तराय बननेवाले रोगोंको दूर कर आरोग्य प्रदान करना है। शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्यके विना मनुष्य किसी भी पुरुषार्थको प्राप्त करनेमें

---

१. देखिए—चरकसंहिता (सूत्र० ३०।२७)

२. **प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।**
—(सूत्र० ३०।२६)

३. **अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये।**
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत्॥ —(सूत्र० २८।४८)

४. **चिकित्साशास्त्रस्य च रोगतत्साधनरोगनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम्।**
—**शिवमहिम्नःस्तोत्रम्** (श्लोकसंख्या ७ पर मधुसूदनी)

समर्थ नहीं है। श्रुति कहती है—"यह आत्मतत्त्व बलहीन मनुष्यके द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है।"[१] कालिदास भी 'शरीर ही धर्मका प्रथम साधन है'[२] इस वाक्यमें आंशिकरूपसे इसी सत्यका प्रतिपादन करते हैं।

आयुर्वेदके संसारमें अवतीर्ण होनेकी कथा चरकसंहिताके प्रारम्भमें ही पौराणिक ढंगसे कही गई है, जो यत्किञ्चित परिवर्त्तनके साथ भावप्रकाशमें भी सङ्कलित हुई है। जब संसारमें विविध रोग प्रादुर्भूत होकर तप उपवास अध्ययन और ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेमें विघ्न उत्पन्न करने लगे, तो प्राणियोंके प्रति दयाके भावसे प्रेरित होकर महर्षिगण हिमालयके सुरम्य पार्श्वमें एकत्रित हो परस्पर इस प्रकारकी चर्चा करने लगे—"धर्म अर्थ काम और मोक्षका प्रधान कारण आरोग्य है। रोग उस आरोग्यको, कल्याण (निःश्रेयस)को और जीवन(अभ्युदय)तकको नष्ट करनेवाले हैं। चतुर्वर्गकी सिद्धिमें ये रोग महान् विघ्नस्वरूप उत्पन्न हो गए हैं। इनको शान्त करनेका क्या उपाय है? ऐसा कहकर वे लोग ध्यानमें स्थित हो विचार करने लगे।"[३] इसके अनन्तर भरद्वाज इन्द्रके पास जाकर आयुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। ऋषियोंके इस पारस्परिक विमर्शसे यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टिमें आयुर्वेदका प्रयोजन आरोग्य प्राप्त करके चतुर्वर्गको सिद्ध करना था।

सूत्रस्थान के तीसवें अध्यायमें आयुर्वेदके स्वरूप और प्रयोजनका विवेचन करते समय कहा गया है—"आयुर्वेदका अध्ययन ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके लोगोंको करना चाहिए। ब्राह्मणोंको इसका अध्ययन प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिए करना चाहिए। क्षत्रियोंको प्राणियोंकी रोगोंसे रक्षा करनेके लिए तथा अपने आरोग्यके लिए इस शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए, (क्योंकि स्वयं स्वस्थ रहकर प्रजाका पालन करना क्षत्रियका धर्म है) और वैश्य जीविकाके लिए इस शास्त्रको पढ़ें। आयुर्वेदके अध्ययनके सम्बन्धमें यद्यपि वर्णविशेषका अपना अपना विशिष्ट प्रयोजन है, तथापि इसके अतिरिक्त एक सामान्य प्रयोजन भी है, और वह यह है कि धर्म अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिए इस शास्त्रका अध्ययन सभीको करना चाहिए। आयुर्वेदको पढ़नेसे धर्मकी सिद्धि इस प्रकार होती है—अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले, धर्ममार्गकी स्थापना करनेवाले तथा (कर्त्तव्याकर्त्तव्यरूप) धर्मको प्रकाशित करनेवाले महापुरुषों, माता-पिता, भाई-बन्धु तथा गुरुजनोंके शरीर और मानस विकारोंको शान्त करनेके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह मनुष्यका परम धर्म है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदमें वर्णित अध्यात्मज्ञानका मनमें ध्यान करनेसे, दूसरोंको बतानेसे तथा उसके अनुकूल आचरण करनेसे भी धर्मकी सिद्धि होती है। आयुर्वेदके द्वारा राजाओं और धनिकोंके पाससे

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। —मुण्डकोपनिषद् (३।२।४)

२. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। —कुमारसम्भव (५।३३)

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः॥ —(सूत्र० १।१५-१६)

आरोग्यके बदले उपहाररूपमें जो धन और संरक्षण प्राप्त होता है, तथा अपने आश्रित नौकर आदि प्राणियोंकी रोगोंसे जो रक्षा होती है, वह सब अर्थ-सिद्धिके अन्तर्गत है। आयुर्वेदका अध्ययन करनेमे विद्वानोंके मध्यमें यश फैलता है। राजासे लेकर रङ्कतक अनेक लोग शरणमें आते हैं। दूसरोंसे सम्मान और शुश्रूषा प्राप्त होती है। (कामिनी आदि) अभीष्ट विषयोंका सेवन करनेके लिए स्वयम् आरोग्य प्राप्त किया जाता है, तथा दूसरोंको भी प्राप्त कराया जाता है। चूँकि सभी मनुष्य इनकी कामना किया करते हैं, इसलिए इनके प्राप्त होनेसे कामकी सिद्धि होती है।"[१]

इस प्रकार इस प्रकरणमें आयुर्वेदको धर्म अर्थ और कामका साधक माना गया है। मोक्षरूप परम पुरुषार्थका यहाँपर उल्लेख नहीं किया गया है। वस्तुतः धर्म अर्थ और कामकी प्राप्ति तो आयुर्वेदका तात्कालिक प्रयोजन है, इस शास्त्रका पर्यवसान तो दुःखकी आत्यन्तिक शान्तिरूप मोक्षमें होता है। प्रायः लोग दुःखका तात्कालिक प्रशमन चाहते हैं। उनकी आवश्यकताकी पूर्त्ति तो आयुर्वेद करता ही है, परन्तु साथ ही दुःखके आत्यन्तिक विनाशका भी उपदेश देता है। इसीलिए यह केवल चिकित्साशास्त्र न रहकर दर्शनशास्त्र-के क्षेत्रका भी भली भाँति आलोडन करता है। यहाँ हम चरकसंहितामें उल्लिखित प्रमाणोंके आधारपर इस कथनकी सत्यताको प्रदर्शित करेंगे।

भगवान् आत्रेय ग्रन्थके आरम्भमें ही प्रतिज्ञा करते हैं—"आयुसम्बन्धी वेद पवित्रतम तथा वेदज्ञोंका अभिमत है, क्योंकि इसमें मनुष्योंका दोनों लोकोंमें जो हितरूप साधन है, वह बताया जायगा।"[२] तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद इस लोक-में भौतिक सम्पत्तिरूप अभ्युदय और परलोकमें शाश्वत आनन्दरूप निःश्रेयस प्रदान करनेवाला है। "इसीलिए इस शास्त्रको पुण्यतम कहा गया है, क्योंकि ऋग्वेदादि अन्य शास्त्र केवल परलोकसम्बन्धी हितका ही उपदेश करते हैं, इसलिए वे पुण्य हैं। आयुर्वेद तो पुण्यतम है, क्योंकि मनुष्योंके उभयलोकहितकारी आयु आरोग्यसाधन और धर्मसाधनका वर्णन करता है।"[३] इसके अतिरिक्त वे

---

१. स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः। तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैः, आरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः। तत्र च यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थापकानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृपितृभ्रातृबन्धु-गुरुजनस्य वा विकारप्रशमने प्रयत्नवान् भवति, यच्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनु-ध्यायति, वेदयत्यनुविधीयते वा, सोऽस्य परो धर्मः। या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च, या च स्वपरि-गृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः। यत्पुनरस्य विद्वद्ग्रहणयशः शरण्यत्वं च, या च सम्मानशुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते सोऽस्य कामः इति। —(सूत्र ३०।२९)

२. तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ —(सूत्र० १।४३)

३. यदन्ये ऋग्वेदादयः प्रायः परलोकहितमेवार्थं वदन्ति तेन पुण्याः। पुण्यतमश्चाय-मायुर्वेदो यद् यस्मान्मनुष्याणामुभयोरपि लोकयोर्यद्धितमायुरारोग्यसाधनं धर्म-साधनं च तद्वक्ष्यते। —(चक्रपाणिः—सूत्र० १।४३)

यह भी कहते हैं—"(आयुर्वेदका साध्य) आरोग्य धर्मार्थकाममोक्षका मूल-कारण हैं।"[१] आगे चलकर वे वैद्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"देह सुख और आयुका दान देनेके कारण वैद्य, धर्म अर्थ काम और मनुष्यके इहलोक तथा परलोक दोनोंका दाता बन जाता है।"[२] तात्पर्य यह है कि आयुर्वेदका लक्ष्य मनुष्यका सार्वलौकिक और सर्वाङ्गीण हित करना है।

आयुर्वेदको "अनन्तपार" भी कहा गया है। चक्रपाणि इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"अथवा अनन्त शब्द मोक्षका पर्याय है, मोक्ष ही है पार अर्थात् उत्कृष्ट फल जिसका, वह आयुर्वेद अनन्तपार है।"[३] चरककारने केवल शारीरिक और मानसिक विकृतियोंके दूर करनेका उपाय बतानेमे ही अपने कर्तव्यकी समाप्ति नहीं समझ ली। उन्होंने इसके अतिरिक्त 'नैष्ठिकी' चिकित्सापर विशेष बल दिया। दुःखकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति ही 'नैष्ठिकी' चिकित्सा कहलाती है। आचार्य कहते है—"जो चिकित्सा उपधा (तृष्णा)से रहित (होनेके कारण मोक्षप्रदायिनी) होती है, उसे 'नैष्ठिकी' कहा गया है।"[४] "प्रवृत्तिलक्षण भावदोषको उपधा कहते हैं।"[५] ये भावदोष तीन हैं, राग द्वेष और मोह। इन्हीं तीन उपधाख्य भावदोषोंसे मनुष्य संसारबन्धनमें पड़ता है। कहा भी गया है—"राशिसंज्ञक पुरुष तो मोह इच्छा द्वेष और तज्जन्य कर्मोंसे उत्पन्न होता है।"[६] "सुख और दुःखसे इच्छा और द्वेषरूप तृष्णा प्रवृत्त होती है, और यह तृष्णा पुनः सुख-दुःखका कारण कही जाती है।"[७] इस प्रकार यह संसार-चक्र अनवरत घूमता रहता है। "उपधा ही दुःख और दुःखके आश्रयरूप शरीरको देनेवाला मूलकारण है, और समस्त उपधाओंका त्याग सब दुःखोंका नाशक है। जैसे रेशमका कीड़ा अपने मृत्युकारक रेशोंको उत्पन्न करता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य विषयोंसे तृष्णाको ग्रहण कर लेता है, और इससे सदा दुःखमें पड़ा रहता है। जो ज्ञानी पुरुष विषयोंको अग्निके समान दाहक समझकर उनसे निवृत्त हो जाता है, उसके पास कर्म न करनेसे, तथा कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले शरीरका संयोग न होनेके कारण दुःख फटकता तक नहीं।"[८] इस

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। —(सूत्र० १।१५)

२. धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च।
दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम्॥ —(सूत्र० १६।३८)

३. किंवा अनन्तो मोक्षः एव पारमुत्कृष्टं फलं यस्यायुर्वेदस्यासावनन्तपारः।
—(चक्रपाणिः—सूत्र० १।२५)

४. उक्ता चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्। —(शारीरस्थान १।९४)

५. भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा। —वैशेषिकसूत्र (६।२।४)

६. पुरुषो राशिसञ्ज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः। —(शारीर० १।५३)

७. इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्त्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥ —(शारीर० १।१३४)

८. उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोशकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥

सबका निष्कर्ष यह है कि चरकसंहिताकारने शारीरिक और मानसिक दुःखके अतिरिक्त दुःखसामान्यका भी विवेचन किया, और इस निश्चय पर पहुँचे कि राग द्वेष और मोहका सर्वथा परित्याग कर देना ही दुःखसामान्यकी नैष्ठिकी चिकित्सा है। इतना ही नहीं, आगे चलकर महर्षि आत्रेय कहते हैं—"प्रवृत्ति ही सारे जरामरणादि दुःखोंका मूल है, तथा निवृत्तिसे ही त्रिविध दुःखकी शान्ति हो सकती है। प्रवृत्ति दुःखरूप है, और निवृत्ति सुखरूप है, यही वस्तुतः सत्यज्ञान है। अग्निवेशने पूछा—भगवन्! प्रवृत्ति किस कारणसे होती है, और निवृत्तिका क्या उपाय है? भगवान् आत्रेयने कहा—प्रवृत्तिका कारण मोह इच्छा (राग) और द्वेषसे किया गया कर्म है। जैसे अतिविशाल शाखाओंवाले वृक्ष नए वृक्षको दबाकर बढ़ते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले अहङ्कार, सङ्ग, संशय, अभिसम्प्लव (अनात्मपदार्थमें आत्मबुद्धि), अभ्यवपात (अनात्मपदार्थमें ममता), विप्रत्यय (विपरीतज्ञान), अविशेष (समानताका ज्ञान) तथा अनुपाय (मोक्षके अनुपाय) पुरुषको दबाकर बढ़ते हैं। इनसे अभिभूत हुआ पुरुष प्रवृत्तिके कारणोंसे छुटकारा नहीं पाता है, और संसारचक्रमें भ्रमित होता रहता है। प्रवृत्ति ही समस्त पापोंकी जड़ है। इसके विपरीत निवृत्ति अपवर्गरूप है, वह सर्वोत्कृष्ट है, वह प्रशान्त है, वह अक्षर है, वह ब्रह्म है, और वही मोक्ष है।"[1]

इसके अनन्तर आचार्यने मुमुक्षुओंके लिए मोक्षके उपायोंकी सविस्तर व्याख्या की है—"उत्कट वैराग्यके कारण जगत् और जगत्के भोगोंमें दोष देखनेवाले मुमुक्षुको सर्वप्रथम मोक्षशास्त्रका उपदेश देनेवाले आचार्यके पास जाना चाहिए। वह जैसा उपदेश करे, उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिए। अग्निकी ही सेवा करे। धर्मशास्त्रका अध्ययन करे, उसके अर्थको समझे, और उसीका सहारा पकड़े। वहाँ जो क्रियाएँ कही गई हों, उनको करे। सत्पुरुषोंके सङ्गका सेवन, असत् पुरुषोंका त्याग, दुर्जनोंके सम्पर्कमें न आना,

---

यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्त्तते।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते॥—(शारीर० १।९५-९७)

१. तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः। निवृत्तिरुपरमः। प्रवृत्तिर्दुःखम्, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम्।······अथाग्निवेशः उवाच—किंमूला भगवन्! प्रवृत्तिर्निवृत्तौ च क उपाय इति। भगवानुवाच—मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः। तज्जा ह्यहङ्कारसङ्गसंशयाभिसम्प्लवाभ्यवपातविप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुणमिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ति। यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्त्तते।......भ्राम्यमाणो नातिवर्त्तते प्रवृत्तिम्। सा च मूलमघस्य। निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः। —(शारीर० ५।८-११)

तुलना कीजिए—
'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'
—गौ० न्या० सू० (१।१।२)
तथा 'वीतरागजन्मादर्शनात्' —गौ० न्या० सू० (३।१।२४)

उचित अवसरपर सब प्राणियोंके लिए हितकर सत्य तथा मृदुल वचन सोच-विचारकर बोलना, समस्त प्राणियोंको अपने समान देखना, सभी स्त्रियोंके (सम्बन्धमें) स्मरण संकल्प प्रार्थना और सम्भाषणका अभाव (अर्थात् ब्रह्मचर्यका पूर्णतया पालन करना), सब परिग्रहोंका त्याग करना, शरीरको ढकनेके लिए कौपीन धारण करना, गेरुए वस्त्र पहनना, कथरी सीनेके लिए सुईका पात्र और नहाने-धोनेके लिए जलपात्र रखना, दण्ड धारण करना, भिक्षा माँगनेके लिए पात्र रखना, प्राणधारण करनेके लिए केवल एक समय यदृच्छाप्राप्त अग्राम्य (बिना जोता-बोया हुआ वन्य कन्दमूलादि पदार्थ) भोजन करना, थकावट दूर करनेके लिए स्वयं गिरे हुए सूखे पत्ते तथा घास-फूसका बिछौना और तकिया बना लेना, ध्यानके लिए योगपट्ट रखना, वनोंमें बिना घरके निवास करना, तन्द्रा निद्रा और आलस्यादि कर्मोंका परित्याग, इन्द्रियोंके विषयोंमें राग और द्वेषका निग्रह, सोना बैठना चलना देखना आहार-विहार और प्रत्येक अङ्गकी चेष्टा इत्यादि क्रियाओंमें पहले हिताहितका स्मरण करके तब प्रवृत्त होना, आदर स्तुति निन्दा और अपमानको (भाव-परिवर्त्तनसे रहित होकर) सहन करनेमें अभ्यस्त होना, भूख-प्यास मेहनत-थकावट शीत-उष्ण वायु-वर्षा (आँधी-मेंह) और सुख-दुःखके संस्पर्शको सहना, शोक दीनता मान उद्वेग मद लोभ राग ईर्ष्या भय और क्रोध इत्यादिसे विचलित न होना, अहङ्कारादि पूर्वोक्त आठ दोषोंको अनर्थका हेतु समझना, लोक और पुरुषमें सृष्टि इत्यादि रूपोंकी सामान्यदृष्टि रखना, कार्यका समय बीतनेसे भय होना, योगाभ्यासमें निरन्तर अनिर्विण्ण (सोत्साह) बने रहना, मनमे उत्साह रखना, अपवर्गके लिए बुद्धि धृति और स्मृतिका बल लगाना, इन्द्रियोंका मनमें, मनका आत्मा(बुद्धि)में और आत्मा(बुद्धि)का स्वयम् अपने आत्मामें नियमन करना, शरीरके अवयवोंका (वैराग्यभावनाके लिए) रक्त मांस और अस्थि आदि धातुओंके रूपमें विचार करना, सारे कारणवान् पदार्थ दुःखरूप हैं अनात्म हैं और अनित्य हैं—ऐसा मानना, सब प्रवृत्तियोंको पाप जानना और सर्वत्यागोंमें सुखरूपताका अभिनिवेश होना—यह मोक्षका मार्ग है। इसके विपरीत आचरण करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है।"[१]

---

१. तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि व्याख्यास्यामः—तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनम्, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसंकल्पनमप्रार्थनम-नभिभाषणं च स्त्रीणाम्, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं, धातुराग-निवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोः जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्ष्यचर्यार्थं पात्रम्, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नो-ऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानम्, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनम्, वनेऽनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनम्, इन्द्रिया-र्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारविहारप्रत्यङ्गचेष्टादि-केष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमित्वम्, क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वम्, शोकदैन्यमानो-

इतने विस्तारसे मोक्षमार्गकी व्याख्या करनेवाले शास्त्रका लक्ष्य तात्कालिक रोगनिवृत्ति ही है, ऐसी धारणा बनाना नितान्त अज्ञानमूलक और भ्रमोत्पादक है। प्रत्युत दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही इस उपदेशका प्रयोजन है। अन्तमें आचार्य ने कहा है—

"मोक्षके उक्त उपायोंका अनुष्ठान करनेसे मलिन मन उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार तेल कपड़ा और बाल इत्यादिके द्वारा माँजनेसे दर्पण स्वच्छ हो जाता है। जैसे ग्रह मेघ धूल धुआँ और कोहरेसे अनावृत सूर्यमण्डल दीप्त होता है, उसी प्रकार निर्मल मन दीप्त होता है। शुद्ध स्थिर और उज्ज्वल शिखावाला दीप बन्द दीपाशयके भीतर जैसा चमकता है, उसी प्रकार रुद्ध इन्द्रियद्वार वाले आत्मामें निरुद्ध निर्मल मन प्रकाशित होता है। शुद्ध मनमें जो शुद्ध सत्य बुद्धि प्रवृत्त होती है, जिससे महामोहमय अज्ञानान्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिससे मनुष्य सब पदार्थोंके स्वभावको जानकर निःस्पृह हो जाता है, जिससे योगका साधन करता है और साङ्ख्य (विवेकज्ञानी) हो जाता है, जिससे फिर अहङ्कारमें नहीं पड़ता है, जिससे कारण (माया)की उपासना करना बन्द कर देता है, जिससे किसी (अनात्म वस्तु) को नहीं पकड़ता है, जिससे सब कुछ त्याग दिया जाता है, जिससे नित्य(सनातन) जरारहित शान्त एकरस ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसी बुद्धिको विद्या सिद्धि मति मेधा प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है। ऐसा परावरदर्शी महात्मा अपनेको लोकमें व्याप्त और लोकको अपने भीतर देखता है। इसलिए उसकी ज्ञानमूलक शान्ति कभी नष्ट नहीं होती है। क्योंकि सब भावोंको सर्वदा सब अवस्थाओंमें देखनेवाले और शुद्ध मनवाले ब्रह्मभूत पुरुषका (शरीरजनक धर्माधर्मके साथ) संयोग नहीं बन सकता है। शरीरेन्द्रियादि करणोंका अभाव हो जानेपर आत्माके लिङ्ग (प्राणापान, निमेषोन्मेष, सुखदुःखादि) भी प्राप्त नहीं होते हैं। इस अवस्थामें समस्त कारणोंका त्याग होनेसे पुरुष (विदेह)मुक्त कहलाता है। मोक्षरूपा शान्तिकी इस अवस्थाको ही पापरहित विरज शान्त पर अक्षर अव्यय अमृत ब्रह्म और निर्वाण कहते हैं! हे सौम्य! यह वह विज्ञान है. जिसे जानकर संशयरहित मुनियोंने मोह रज और स्पृहासे रहित होकर परमशान्ति प्राप्तकी है।"[१]

द्वेगमदलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिरसञ्चलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि चेतसः आत्मनि आत्मनश्च, धातुभेदेन शरीरावयवसङ्ख्यानम्, अभीक्ष्णं सर्व कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसञ्ज्ञा, सर्वसंन्यासेषु सुखमित्यभिनिवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते, इत्युदयनानि व्याख्यातानि। —(शारीर० ५।१२)

१. एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुद्ध्यति।
मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः॥
ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्।
यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथामलम्॥

यह प्रकरण समस्त संशयसमूहको दूरकर इस बातको निश्चितरूपसे सिद्ध कर देता है कि आयुर्वेदका चरम लक्ष्य दुःखोंका आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश करके मोक्ष प्राप्त कराना है। अन्यथा उक्त मोक्षपरक प्रकरणका आयुर्वेदके ग्रन्थमें सन्निवेश निरर्थक सिद्ध होगा तथा उन्मत्तके प्रलापके समान उपेक्षणीय होगा। परन्तु आर्षग्रन्थोंमें निरर्थकताकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसलिये उद्धृत प्रकरण सर्वथा उपादेय और विचारणीय है।

आगे चलकर महर्षि आत्रेयने स्पष्ट रूपसे कहा है—"धर्मपरायण महर्षियोंने अक्षर स्थान(मोक्ष)की इच्छा करते हुए धर्मार्थ ही आयुर्वेदको प्रकाशित किया है, अर्थ और कामके लिए नहीं। जो वैद्य न तो अर्थके लिए और न कामके लिए प्रत्युत प्राणियोंपर दयाकी भावनासे चिकित्सामें प्रवृत्त होता है, वह सबका अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ है (अथवा वह सर्वातिक्रमरूप मोक्षको प्राप्त करता है)।"[१] अर्थके लिए चिकित्साकर्मकी निन्दा करते हुए कहा है—"जो वैद्य जीविकाके लिए चिकित्साको बाजारू

ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्त्वं, संवृतायने।
शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा॥
शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।
योगं यया साधयते साङ्ख्यः सम्पद्यते यया॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥
लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति॥
पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥
नात्मनः करणाभावात् लिङ्गमप्युपलभ्यते।
स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते॥
विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥
एतत्तत्सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः॥—(शारीर० ५।१३-२४)

१. धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥
नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥
—(चिकित्सा० १।४।५७-५८)

सौदेकी तरह बेंचते हैं, वे वस्तुतः स्वर्णराशिको ठुकराकर धूलकी ढेरी अपनाते हैं।"[१]

कुछ लोग शङ्का करेंगे कि आयुर्वेदमें तो कामविज्ञानका भी विवेचन किया गया है। चरकसंहितामें चार पादोंके एक विस्तृत अध्यायमें रसायनोंका और उतने ही बड़े एक दूसरे अध्यायमें वाजीकरणयोगोंका सविस्तर वर्णन किया गया है। क्या इनका भी प्रयोजन मोक्षप्राप्ति है ? यह तो लोकप्रसिद्ध है कि रसायन और वाजीकरण योगोंका सेवन शारीरिक सामर्थ्य प्राप्त कर विषयोंका उपभोग करनेके लिए किया जाता है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि समग्र आयुर्वेदका पर्यवसान मोक्षमें होता है ? वस्तुतः ऐसी शङ्का वही लोग करते हैं जिन्होंने चरकसंहिताका आद्योपान्त सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन नहीं किया है। जो केवल विषयसूचीसे अध्यायोंके नाम ज्ञात करके अपनेको उस विषयका विद्वान् मानने लगे हैं। चरकसंहिताके प्रामाण्यपर ही हम इस बातको सिद्ध कर सकते हैं कि रसायन और वाजीकरण सेवनका उद्देश्य यथेच्छ विषयोपभोग न होकर मोक्षमार्गकी ओर अग्रसर होना ही है। प्राचीनकालमें ऋषि-मुनि रसायनोंका सेवन ब्रह्मप्राप्तिके लिए करते थे। ब्राह्मरसायनका उपदेश करनेके अनन्तर महर्षि आत्रेय कहते हैं—

"प्राचीनकालमें बालखिल्यादि वानप्रस्थियों तथा अन्य तपस्वियोंने इस रसायनका सेवन करके अपरिमित आयु प्राप्त की थी। उन्होंने जीर्ण शरीरका परित्याग कर नवयौवन पाया था। इसके सेवनसे वे तपोधन थकान तन्द्रा और (श्रमजन्य) श्वाससे रहित नीरोग होकर तथा मेधा स्मृति और बलसे युक्त होकर मनको एकाग्र करके अत्यन्त निष्ठाके साथ दीर्घकालतक ब्राह्मतप और ब्रह्मचर्यका आचरण करते थे।"[२]

यहाँपर ब्राह्मतप और ब्रह्मचर्यका अर्थ है 'ब्रह्मप्राप्तिके लिए किया जानेवाला साधन'। ब्रह्मचर्यका शुक्ररक्षण और इन्द्रियसंयमरूप रूढार्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यहाँपर वस्तुतः 'ब्रह्मप्राप्तिके लिए की जानेवाली चर्या' यह यौगिक अर्थ ही अधिक प्रकरणानुकूल है। आरम्भमें ब्रह्मचर्यका इसी अर्थमें प्रयोग होता था, परन्तु कालान्तरमें चूँकि ब्रह्मप्राप्तिके

१. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥

—(चिकित्सा० १।४।५६)

२. वैखानसा बालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः।
रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः।
वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः।
ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया॥

—(चिकित्सा० १।१।५४-५६)

लिए इन्द्रियसंयम करना अनिवार्य है, इसलिए इन्द्रियसंयमके अर्थमें इसका प्रयोग होने लगा। तदनन्तर इन्द्रियसंयममें भी चूँकि उपस्थेन्द्रियका संयम सबसे कठिन है और बिना इसके ब्रह्मप्राप्ति हो नहीं सकती, इसलिए ब्रह्मचर्यका प्रयोग उपस्थेन्द्रियके संयम और वीर्यरक्षणके अर्थमें होने लगा।[१] इनमेंसे चाहे जिस अर्थका ग्रहण किया जाय, हमारे उद्देश्यकी किसी प्रकार हानि नहीं होती है। आमलक रसायनके सेवनका उद्देश्य भी तपश्चरण ही निश्चित किया गया है। "इसके उपयोग से ऋषिगण पुनः यौवन प्राप्त कर लेते थे, सैकड़ों वर्ष जीवित रहते थे, तथा निर्विकार रहकर शरीर बुद्धि और इन्द्रियोंके बलसे युक्त होकर अत्यन्त निष्ठाके साथ (परब्रह्मकी प्राप्तिके लिए) तप करते थे।"[२] आगे चलकर रसायनप्रयोगका फल बताते हुए कहा है—"जो पुरुष रसायनका विधिपूर्वक सेवन करता है, वह न केवल इस लोकमें दीर्घ आयु प्राप्त करता है, अपितु परलोकमें भी वह देवर्षिनिषेवित शुभगतिको प्राप्त करता है तथा अक्षय ब्रह्मको प्राप्त होता है।"[३] वस्तुतः निर्बल मन बुद्धि और शरीरसे न तो तप ही किया जा सकता है और न उत्कृष्ट कोटिका ध्यान ही हो सकता है। इसलिए शरीर मन और बुद्धिको सबल बनानेके लिए रसायनादिका सेवन विहित किया गया है। मुण्डकोपनिषद् कहती है—'यह आत्मतत्त्व बलहीन मनुष्यके द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है।'[४] भगवान् शङ्कराचार्यने यहाँ पर 'बल' शब्दका अर्थ किया है 'आत्मनिष्ठाजनित वीर्य।' वस्तुतः शरीरेन्द्रियादिकी सबलता के बिना न तो आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है और न तज्जन्य सामर्थ्य। ब्रह्मप्राप्ति प्रयोजन होनेके कारण कुछ रसायनोंका नाम ही ब्राह्मरसायन रक्खा गया है।

आयुर्वेदमें बाजीकरणका उपदेश भी अन्धाधुन्ध विषयोपभोगके लिए नहीं किया गया है। चरकसंहितामें वाजीकरण सेवनके वे ही लोग अधिकारी माने गए हैं, जो आत्मवान् हैं, अर्थात् जिन्होंने अपने चित्तको भली प्रकार वशमें कर लिया है।[५] इससे दोषयुक्त चित्तवाले पुरुषोंके लिए वृष्यकरणका निषेध किया गया है, क्योंकि ऐसा पुरुष वाजीकरणके उपयोग से शुक्रादि धातुओंकी वृद्धि होनेपर अगम्यागमन भी कर सकता है।[६] वाजीकरणका

---

१. ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।—योगसूत्र (२।३०) पर व्यासभाष्य

२. अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुर्बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताश्चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तपः।
—(चिकित्सा० १।१।७५)

३. न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथैति चाक्षयम्॥
—(चिकित्सा० १।१।८०)

४. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। —मुण्डकोपनिषद् (३।२।४)

५. वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्। —(चिकित्सा० २।१।३)

६. आत्मवानित्यनेन दुरात्मनो वृष्यकरणं निषेधयति। स हि वृष्योपयोगादुपचितधातुः सन्नगम्यागमनमपि कुर्यात्। —चक्रपाणिः (चिकित्सा० २।१।३)

सेवन धर्म और अर्थकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। वस्तुतः वृष्यकरण पुत्रोत्पत्तिका हेतु है और उसके सेवनसे उत्पन्न हुआ पुत्र पिताके लिए धर्म और अर्थका सम्पादन करता है। इस प्रकार वृष्यकरणका प्रयोजन धर्म और अर्थकी प्राप्ति ही सिद्ध होता है।[1] इसके अतिरिक्त प्राचीनकालमें पुत्रोत्पादन स्वयम् एक धर्मकार्य माना जाता था, और पुत्रपौत्रादिकी वृद्धि होनेपर अर्थोपार्जन सुखसाध्य हो जाता था। फिर धनसे धर्म और धर्मसे सुखकी प्राप्ति तो लोकप्रसिद्ध है।[2] उस कालके चिकित्साग्रन्थोंमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी निरपत्य पुरुषकी निन्दा और बहुप्रजकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। भगवान् आत्रेय कहते हैं—

"जैसे छायारहित, एक डालीवाला, फलहीन और अनिष्ट गन्धवाला कोई एकाकी वृक्ष होता है, वैसे ही सन्तानहीन पुरुषको समझना चाहिए। अपत्यरहित पुरुष चित्रलिखित दीपकके सदृश, सूखे तालाबके सदृश तथा धातुके समान प्रतीत होनेवाले धातुभिन्न पदार्थ (जैसे रजतके समान प्रतीत होनेवाली शुक्ति) के सदृश होता है। उसे तो ऐसा समझना चाहिए जैसे किसी कारीगरने तिनकोंको जोड़कर पुरुषकी आकृति बना दी हो। जिस पुरुषके सन्तान नहीं, उसे प्रतिष्ठारहित, नग्न, शून्य, एक ही इन्द्रियवाला तथा निष्क्रिय जानना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सन्तानवाला पुरुष, बहुत मूर्तियोंवाला, बहुत मुखवाला, बहुत सङ्घवाला, बहुत क्रियाओंवाला, बहुत नेत्रोंवाला, बहुत ज्ञानवाला और बहुतसी आत्माओंवाला होता है। बहुत सन्तानवाले पुरुषका इस प्रकार बखान किया जाता है—यह मङ्गलकारक है, यह प्रशंसनीय है, यह धन्य है, यह वीर्यवान् है, यह बहुत शाखाओंवाला है। प्रीति, बल, सुख, जीविका, विस्तार, बड़ा कुल, यश, सुख देनेवाले स्वर्गादि लोक और तुष्टि—ये सब सन्तानपर आश्रित हैं। अतः सन्तानसे होनेवाले धर्मार्थादि गुणोंकी कामना करते हुए और कामसुखकी इच्छा करते हुए पुरुषको वाजीकरणका नित्य सेवन करना चाहिए।"[3]

---

१. तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च।
पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः॥—(चिकित्सा० २।१।३-४)
वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः सम्पादयतीत्यर्थः।—चक्रपाणिः

२. धनाद् धर्मं ततः सुखम्। —हितोपदेश (१।६)

३. अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः॥

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः।
निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः॥

अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते॥

बहुमूर्त्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः॥

जिस देशमें सन्तानका इतना महत्त्व गाया गया है, उसी देशमें आज परिवार-नियोजन, सन्ततिनिरोध और उसके कृत्रिम उपायों(Contraceptives and artificial appliances)पर आजके नेतागण बल दे रहे हैं। इसे युगधर्म समझकर अपनेको सन्तोष दे लेनेके अतिरिक्त और चारा ही क्या है ? जो भी हो. उस युगमें सन्तानोत्पादन धर्मकार्य माना जाता था, और उसीके लिए वाजीकरणादिका उपयोग विहित था। कामसुख भी अभीष्ट था, परन्तु उसे गौण स्थान दिया गया है। प्रधानता पुत्रप्राप्तिको ही दी गई थी। ध्यान देनेकी बात है कि कामसुखका सबसे अन्तमें चकारसे समुच्चय किया गया है। इसीसे इसकी गौणता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत कहती हैं—

"लोकमें मैथुन मांस और मद्यका सेवन करना स्वाभाविक है, उसके लिए अपूर्वविधिकी आवश्यकता नहीं है। इनमें तो प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए **विवाह यज्ञ और सुरापानके द्वारा क्रमशः मैथुन मांस और मद्यसे (परिसङ्ख्या विधिके द्वारा) निवृत्त कराना ही (शास्त्रको) अभीष्ट है।"**

"सुराका सूंघनामात्र ही उसके पानके स्थानमें विहित किया गया है। (यज्ञमें) पशुका आलभन (स्पर्श) ही विहित है, हिंसा नहीं। इसी प्रकार **मैथुन प्रजाके निमित्तसे विहित है, रति(कामसुख)के लिए नहीं।** ये अज्ञान-विमूढ लोग अपने इस विशुद्ध धर्मको नहीं पहचान पाते हैं।"[१]

इतना मन्थन करनेसे यह निष्कर्ष निकला कि जिन्हें लोग एकमात्र विषयोपभोगका साधन मानते हैं, वे रसायन और वृष्यकरणयोग भी मनुष्यको धर्म और मोक्षकी ओर ले जानेवाले हैं, तब अन्यके विषयमें कैमुतिकन्यायसे कुछ न कहना ही ठीक होगा।

मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः॥

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम्।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः॥

तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान्।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च॥

—(चिकित्सा० २।१।१६–२३)

१. लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥

—श्रीमद्भागवत (११।५।११, १३)

इसी प्रसङ्गमें मद्यपानके सम्बन्धमें चरकसंहिताकी क्या दृष्टि है, इसका सङ्क्षिप्त विवेचन कर लेना असङ्गत न होगा। भगवान् आत्रेय कहते हैं— "समस्त प्राणियोंके लिए इस लोकमें तथा परलोकमें जो कल्याण है, एवं मोक्षमें जो परम कल्याण है, वह सब मनकी स्थिरतापर अवलम्बित है। परन्तु मद्यपान करनेसे मनमें महान् क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। जैसे आँधीके वेगसे नदीके किनारेका वृक्ष क्षुभित हो जाता है।"[1] इसके अनन्तर मद्यपानमें अनेक अन्य दोष दिखाकर कहा है—"वस्तुतः ये सभी दोष मद्यमें तब होते हैं, जब अहितकर मद्यका अतिमात्रामें, विधिका परित्याग कर, पान किया जाय। किन्तु स्वभावसे मद्य अन्नके ही सदृश माना गया है। इसका युक्तिपूर्वक सेवन न करनेसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु युक्तिपूर्वक प्रयोग करनेसे अमृतके सदृश लाभकर होता है।"[2] "बहुत दुःखोंसे सताए हुए तथा शोकसे पीडित जीवोंके लिए युक्तिपूर्वक प्रयोगमें लाया गया मद्य विश्रामरूप है।"[3] इसके अतिरिक्त मद्यके दूसरे बहुतसे गुणोंका वर्णन करके अन्तमें कहा है—"मद्यका युक्तिपूर्वक सेवन करनेवाले मनुष्यके धर्म और अर्थकी किसी प्रकार क्षति नहीं होती है, वह सत्त्वगुणप्रधान हो जाता है, तथा मद्यके सभी यथोक्त गुणोंको प्राप्त करता है।"[4] मद तीन प्रकारका होता है, प्रथम मध्यम और उत्तम। इनमें चरककारने प्रथम मदका ही विधान किया है और उसीकी प्रशंसा की है। कहा है—"प्रथम मदमें मनुष्यका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो जाता है।"[5] "पूर्वमदमें ओजका विघात नहीं होता है, और हृदय एवं हृदयके आश्रित रहनेवाले मन बुद्धि आदि जागरूक हो जाते हैं।"[6]

---

१. प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥
मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्।
महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः॥ —(चिकि० २४।५२-५३)

२. सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः।
अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्॥
किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथामृतम्॥—(चिकि० २४।५८-५९)

३. बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम्॥
—(चिकित्सा० २४।६७)

४. मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते।
धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः॥
—(चिकित्सा० २४।७०)

५. सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे। —(चिकित्सा० २४।७१)

६. ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते। —(चिकित्सा० २४।३७)

इस प्रकरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधिपूर्वक मद्यका सेवन करनेसे चित्तमें सोया हुआ सत्त्वगुण जाग उठता है। समस्त धर्माचरणका भी यही उद्देश्य है कि मन विशुद्ध होकर सत्त्वगुणप्रधान हो जाय। विधिपूर्वक किया गया मद्यपान धर्माचरणके इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक बनता है। सम्भवतः इसीलिए कर्मकाण्डग्रन्थों द्वारा सौत्रामणी यज्ञमें सुरापानका विधान किया गया है। शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयिसंहिताकी माध्यन्दिनशाखामें उन्नीसवेंसे इक्कीसवें अध्यायपर्यन्त सौत्रामणीका प्रकरण है। विशेष जिज्ञासाकी शान्ति उक्तप्रकरणको देखकर की जा सकती है। इसी कारण चरककार भी घोषणा करते हैं कि विधिपूर्वक निषेवित मद्य धर्म और अर्थको पीडित नहीं करता है। इस प्रकार मद्यपान जैसा निन्दनीय समझा जानेवाला कर्म भी चरकसंहितामें ऐसी विधिसे विहित किया गया है कि वह मोक्षके साधनभूत धर्मका सहायक अङ्ग बन जाता है। आत्रेय भगवान् कहते हैं—"यह सुरा अमृत बनकर देवताओंको, स्वधा बनकर पितरोंको तथा सोम बनकर द्विजातियोंको उत्तम श्रेयसे युक्त करती है।"[१]

दर्शनसे सम्बन्ध

नैष्ठिकी चिकित्साके द्वारा ब्रह्मभावापत्तिरूप मोक्षको मानवजीवनका चरम लक्ष्य निर्धारित करनेवाले शास्त्रका दर्शन और अध्यात्मविद्यासे घनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यको इस शास्त्रका लक्ष्य माननेपर भी दर्शनसे इसका सम्बन्धविच्छेद नहीं किया जा सकता है। सङ्क्षेपसे इस तथ्यपर प्रकाश डाला जा रहा है।

"मन आत्मा और शरीरके संयोगके आश्रित सम्पूर्ण लोकका जीवन टिका हुआ है, जैसे तिपाईके तीन डण्डोंके संयोगके आश्रित घटकी स्थिति होती है। मनुष्यका जीवन आयु और कर्मफलादि सब कुछ इन तीनके संयोगपर ही अवलम्बित है। मन आत्मा और शरीरका संयोग ही पुमान् या पुरुष कहलाता है। यह पुरुष ही आयुर्वेदका अधिकरण है, अर्थात् इसीकी चिकित्सा की जाती है। इसी पुरुषका उपकार करनेके लिए यह शास्त्र लोकमें प्रकाशित किया गया है।"[२] आजकल एलोपैथी इत्यादि विधियोंसे जो चिकित्सा की जाती है, उसमें केवल शरीरकी रचना और प्रकृति इत्यादिका विचार किया जाता है। किन्तु आयुर्वेदके अनुसार केवल शरीरको

---

१. या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥
—(चिकित्सा० २४।७)

२. सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ —(सूत्र० १।४६-४७)

समझ लेनेसे चिकित्साकर्म शक्य नही है, शरीरका मन इन्द्रिय और आत्मा-से बड़ा गहरा सम्बन्ध है, इसलिए इनके स्वरूप और प्रवृत्तियोंको समझे विना चिकित्साकर्म कथमपि सम्भव नहीं है। अतः इनको समझनेके लिए दर्शनशास्त्रका आश्रय लेना अपरिहार्य है। शरीर इन्द्रिय मन और आत्माके संयोगको ही चरकमुनिने आयु और जीवनकी सञ्ज्ञा प्रदान की है।[1] इनमेंसे किसी एककी रक्षासे जीवन या आयुकी रक्षा नहीं हो सकती है। इन सबका साकल्येन परिरक्षण और आरोग्य ही मनुष्यके जीवनको सुखी और शान्त बना सकता है।

चरकसंहितामें मन और शरीरको रोगका अधिष्ठान माना गया है।[2] अधिष्ठानभेदसे इन दो प्रकारके रोगोंके तीन हेतु बताए गए हैं—

(१) कालका मिथ्यायोग अतियोग और अयोग
(२) बुद्धिका मिथ्यायोग अतियोग और अयोग
(३) इन्द्रियोंका मिथ्यायोग अतियोग और अयोग[3]

इन्हींको क्रमशः परिणाम प्रज्ञापराध और असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहा गया है।[4] इनमें प्रथमका कारण पूर्वकृत अधर्म है, द्वितीयका कारण बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश है, तथा तृतीयके कारण अविवेक लोभ काम और क्रोधादि हैं। अब विज्ञजन स्वयं देख सकते हैं कि विना दर्शनशास्त्रका आश्रय लिए हुए इन रोगोंके स्वरूप निदान और चिकित्साको कैसे समझा जा सकता है?

कालके मिथ्यायोगादि (परिणाम)को समझनेके लिए धर्माधर्मरूप कर्मका ज्ञान अपरिहार्य है, जो कर्ममीमांसाके अन्तर्गत आता है। भगवान् वासुदेवके अनुसार कर्मकी निगूढ रहस्यमय वीथियोंमें क्रान्तदर्शी मनीषी भी व्यामोहको प्राप्त होकर भटक जाते हैं, साधारण मानव किस गिनती मे है। कर्मकी गति बड़ी ही गहन है।[5] शास्त्रीय विवेचनके विना उसे समझना अशक्य है। इसीलिए चरकमुनिने कर्मसिद्धान्त और सद्वृत्तादिका निरूपण पदे-पदे बड़े विस्तारसे किया है।

बुद्धिके मिथ्यायोगादि (प्रज्ञापराध)को समझनेके लिए बुद्धि धृति और स्मृति इत्यादिको समझना आवश्यक है। ये अन्तःकरणके वृत्तिविशेष है।

---

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ —(सूत्र० १।४२)

२. शरीरं सत्त्वसञ्ज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः। —(सूत्र० १।५५)

३. कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। —(सूत्र० १।५४)

४. तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्। तद्यथा — असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। —(विमान० ६।६)

५. द्रष्टव्य—भगवद्गीता (४।१६, १७)।

अन्त:करणके लक्षण स्वरूप विषय व्यापार और भेदका प्रतिपादन दर्शनशास्त्रकी विषयवस्तु है। अतः रोगके निदान और चिकित्साके लिए दर्शनशास्त्र तथा तदन्तर्भूत मनोविज्ञानका अध्ययन अनिवार्य है।

इसी प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगके समुचित ज्ञानके लिए अविवेक लोभ काम और क्रोधादिका स्वरूप उत्पत्तिकारण और निवारणोपाय जानना परम आवश्यक है। इनके विना अहितकर विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग हो ही नहीं सकता है। अतः तज्जन्य रोगोंकी निवृत्तिके लिए इनके स्वरूपको समझकर इनका परित्याग करना आवश्यक है। और इसके लिए सदसद्विवेक तथा नित्यानित्यवस्तुविवेक अवश्यकरणीय है। क्या सत्य है और क्या अनृत है, क्या शाश्वत है और क्या क्षणभङ्गुर है, इसको ठीकसे जाने विना काम-क्रोधादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः सत्यानृतविवेचनपरायण अध्यात्मशास्त्रसे चिकित्साशास्त्रका अविनाभावसम्बन्ध है।

जो चिकित्साशास्त्र शारीरिक और मानसिक आरोग्यके साथ ही साथ दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्षको भी नैष्ठिकी चिकित्साके द्वारा सुसम्पाद्य मानकर अपनी क्षेत्रसीमामें समेट लेता है, वह चिकित्साशास्त्र वस्तुतः अङ्गी है, और दर्शनशास्त्र उसका अङ्ग है। दर्शन ही वह मेरुदण्ड है, जिसके आश्रित चिकित्साशास्त्रका सम्पूर्ण कलेवर टिका हुआ है। दर्शन ही वह आधारशिला है, जिसके ऊपर आयुर्वेदका विशाल प्रासाद विनिर्मित हुआ है। दर्शनके विना आयुर्वेदकी कल्पना वैसी ही है, जैसे प्राणके विना शरीर।

शारीरिक दोष वात पित्त और कफ हैं, ये शरीरको दूषित करते हैं। मानसिक दोष रजस् और तमस् हैं, ये दोनों मनको दूषित करते हैं। मन और शरीरके दूषित होनेपर रोग उत्पन्न होते हैं। इनके दूषित हुए विना कोई भी रोग नहीं उत्पन्न हो सकता है।[1] शरीरमें आग्नेय(पित्तज), सौम्य (कफज), और वायव्य(वातज) त्रिविध रोग उत्पन्न होते हैं, तथा मनमें राजस और तामस दो प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं।[2] शारीर रोग मानस रोगोंका और मानस रोग शारीर रोगोंका अनुवर्त्तन करते हैं। शरीरमें ज्वरादि रोग उत्पन्न होनेपर मनमें उत्साहहीनता और भय इत्यादिकी उत्पत्ति होती है, तथा मनमें कामादि विकार उत्पन्न होनेपर शरीरमें ज्वरादिकी उत्पत्ति होती है। रजस् और तमस्का तो परस्पर निश्चित सम्बन्ध है, विना रजस्के तमस्की

---

१. तत्र त्रयः शारीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणस्ते शरीरं दूषयन्ति। द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजश्च तमश्च, तौ सत्त्वं दूषयतः। ताभ्यां च सत्त्वशरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम्।

—(शारीर० ४।३५)

२. अतस्त्रिविधविकल्पा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्याग्नेयसौम्यवायव्याः। द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्च। —(निदान० १।४)

प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।[४] इन रोगोंमें वातादिजन्य शारीरिक रोग दैव-व्यपाश्रय तथा युक्तिव्यपाश्रय औषधियोंसे शान्त होते हैं, और रजस्तमोजन्य मानस रोग, ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (अध्यात्मज्ञान), धैर्य, स्मृति (तत्त्व-स्मृति) और समाधि(विषयोंसे मनको हटाकर आत्मामें एकाग्र करना)से दूर होते हैं। दर्शनशास्त्रके समुचित ज्ञानके विना क्या इन उपायोंको क्रियान्वित करना सम्भव है? दैवव्ययाश्रय औषधसे बलि मन्त्र मङ्गल इत्यादिका तथा सद्वृत्तका ग्रहण होता है, और युक्तिव्यपाश्रयसे दोषादिकी विवेचनापूर्वक यथावत् औषधका प्रयोग समझना चाहिए।

सम्पूर्ण ग्रन्थसे इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे सम्यक् चिकित्साकर्मके लिए दर्शनशास्त्रका ज्ञान अनिवार्य सिद्ध होता है। हमने इस शोधप्रवन्धमें चरकसंहिताके दर्शनका निरूपण करते समय स्थान-स्थानपर उसका चिकित्साशास्त्रपर क्या प्रभाव पड़ता है, इसको प्रदर्शित करनेका प्रयास किया है। अतः उसको यहाँपर दुहरानेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।



४. ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च। नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम्, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते। —(विमान० ६।८–९)

द्वितीय अध्याय

प्रमाण-निरूपण

भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी पद्धतिका अनुसरण करते हुए चरकसंहिताकारने अपने ग्रन्थमें प्रमाणोंका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहारका आधार प्रमाण ही हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा किसी अर्थका निश्चय करके ही प्रेक्षावान् पुरुष किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि अन्य शास्त्रोंके समान चिकित्साविज्ञान भी प्रमाणोंकी सुदृढ भूमिपर अवलम्बित हैं। रोगके लक्षणोंको समझना, उसके निदानको निश्चित करना और समुचित औषधोपचारके द्वारा रोगकी चिकित्सा करना इत्यादि कार्य सुनिश्चित प्रमाणोंकी पृष्ठभूमिमें ही सम्पन्न हो सकते हैं। भगवान् पुनर्वसुका कथन है—"अर्थको जाननेवाला पुरुष सभी परीक्षणीय विषयोंकी यथासम्भव प्रमाणोंके द्वारा सब प्रकारसे आलोचना करे, आलोचना करनेके अनन्तर व्याधितत्त्वका निश्चय करे, और उसके पश्चात् (रोगके साध्य होनेपर) उचित चिकित्साकार्य निश्चित करे। व्याधितत्त्व और चिकित्साकार्यका विशेषज्ञ कार्योंके यथायोग्य अनुष्ठानमें मोहको नहीं प्राप्त होता है, और मोहरहित होकर वह पुरुष अमोहसे उत्पन्न होनेवाले फलको प्राप्त करता है। जो तत्त्ववेत्ता चिकित्सक शास्त्र और शास्त्रसे संस्कृत हुए बुद्धिरूप दीपकको लेकर रोगीकी अन्तरात्मामें प्रवेश नहीं करता, वह रोगों-की चिकित्सा नहीं कर सकता है।"[१]

प्रमाणका लक्षण

इस विश्वमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है, उसको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—सत् और असत्।[२] विधिविषयक प्रमाणसे ज्ञातव्य भावरूप वस्तुको सत् कहते हैं, और निषेधविषयक प्रमाणसे ज्ञातव्य अभावरूप अवस्तुको असत् कहा जाता है। विचारशील शास्त्रवेत्ता पुरुषकी समस्त प्रवृत्तियाँ सत् और असत्का निर्णय करके ही होती है, अतः किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होनेके पूर्व यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि क्या सत् है और

---

१. सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्॥
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्॥
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥ —(विमान० ४।१२।१४)

२. द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। —(सूत्र० ११।१७)

क्या असत् है,[१] क्योंकि कार्यकी सफलता इसी सदसद्विवेकपर अवलम्बित है। जबतक सत् और असत्का विवेक नहीं होता है, तबतक सत्का ग्रहण और असत्का परित्याग नहीं किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति प्रमादवश सत्को असत् और असत्को सत् समझ बैठे, तो सफलताके स्थानपर उसे न केवल विफलता मिलेगी, अपितु सारी अनर्थ परम्पराएँ उठ खड़ी होंगी। भगवान् पुनर्वसुने असत्के ग्रहणको समस्त अहितोंमें प्रबलतम बताया है।[२] सत् और असत्का पृथक्करण किये विना न तो कोई शास्त्र बन सकता है, और न किसी विज्ञानमें ही सफलता प्राप्त हो सकती है। इसलिए सत् और असत्के निर्णयकी जिज्ञासा होनेपर कुछ ऐसे मापदण्ड अन्वेष्टव्य होते है, जिनके द्वारा समस्त वस्तुजातकी परीक्षा करके सत् और असत्का विवेक किया जा सके।

चरकसंहितामें 'जिज्ञासा'को 'परीक्षा'का पर्याय माना गया है।[३] वस्तुतः जिस अर्थकी जिज्ञासा होती है, उसीकी परीक्षा की जाती है। जिसके विषयमें कोई जिज्ञासा नहीं है, उसकी परीक्षाका प्रश्न ही नहीं उठता है। जिज्ञासा कारण है और परीक्षा कार्य। इस प्रकार सत् और असत्की जिज्ञासा होने-पर उसकी परीक्षा करनेके लिए किसी विशेषशास्त्रके द्वारा जो विशिष्ट मानदण्ड निर्धारित किए जाते हैं, उन्हींको शास्त्रीय भाषामें प्रमाण कहा जाता है। चरकसंहितामें प्रमाणका लक्षण नहीं दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरकमुनिको प्रमाणका वही लक्षण अभिमत है, जो उनके सम-कालीन अन्य दार्शनिकोंके द्वारा स्थापित किया गया था। विप्रतिपत्तिका अभाव ही इस मौनका मुख्य कारण प्रतीत होता है। न्यायशास्त्रमें आचार्य वात्स्यायन प्रमाणकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—"उपलब्धिके साधनको प्रमाण कहते हैं, ऐसा प्रमाणशब्दके निर्वचनके सामर्थ्यसे ज्ञात होता है। जिसके द्वारा प्रमा अर्थात् उपलब्धि अर्थात् यथार्थ अनुभव हो, उसको प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार प्रमाणशब्द करणके अर्थका बोध कराता है।"[४] प्रमाणकी इस परिभाषामें किसी भी शास्त्रका कोई मतभेद दृष्टिमें नहीं आता। अतः चरकको भी यही लक्षण स्वीकार्य रहा होगा, ऐसा अनुमान होता है।

इन्हीं प्रमाणोंके आधारपर चिकित्सकको रोगोंके लक्षण, निदान और औषध इत्यादिकी परीक्षा करनी होती है। "इस परीक्षाका प्रयोजन होता है—प्रतिपत्तिका ज्ञान। अर्थात् जिस विकारको जिस प्रकारके अनुष्ठानसे युक्त करना होता है, उस अनुष्ठानके ज्ञानको प्रतिपत्तिज्ञान कहते हैं।"[५]

---

१. **परीक्ष्यं सदसच्चैव।** —(सूत्र० ११।२६)

२. **असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्।** —(सूत्र० २५।४०)

३. **अथ जिज्ञासा—जिज्ञासा नाम परीक्षा।** —(विमानस्थान ८।४६)

४. **उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।** —(न्यायसूत्र १।१।३ पर वात्स्यायनभाष्य)

५. **परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिर्नाम यो यथा विकारः प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम्।** —(विमान० ८।१३६)

तात्पर्य यह है कि प्रमाणोंके द्वारा पहले रोगकी परीक्षा (diagnosis) करनी होती है, उसके बाद उसकी चिकित्सा वमनविरेचनादि क्रियाओं तथा औषधोपचारके द्वारा की जाती है।

प्रमाणोंकी सङ्ख्या

चरकसंहिताका आद्योपान्त आलोडन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणों-की संख्याके विषयमें सर्वत्र ऐकमत्य नहीं है। सूत्रस्थानमें चतुर्विध प्रमाणोंका परिगणन किया गया है। महर्षि आत्रेय कहते हैं—"उस सत् और असत्की परीक्षा आप्तोपदेश प्रत्यक्ष अनुमान और युक्तिके भेदसे चार प्रकारकी होती है।"[1] आगे चलकर वातकलाकलीय अध्यायमें राजर्षि वायोविदने प्रत्यक्ष और अनुमानके साथ उपमानका भी उल्लेख किया है।[2] यद्यपि **'उपमानैः'**के स्थानपर अधिकांश पुस्तकोंमें **'उपदेशैः'** पाठ भी मिलता है। यहाँपर यह शङ्काकी जा सकती है कि इससे पूर्वके ग्रन्थमें कहींपर भी उपमानका उल्लेख नहीं हुआ है, फिर यहाँपर अकस्मात् उपमान कहाँसे आ टपका। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने तो उपदेशवाला पाठ ही रक्खा था, परन्तु बादमें किसी प्रतिलिपिकर्त्ताने भ्रमवश उपमानका पाठ कर दिया। यह शङ्का बिलकुल समीचीन होती, यदि उपमानका इस स्थलके अतिरिक्त समग्र ग्रन्थमें अन्यत्र कहीं भी उल्लेख न होता। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आगे चलकर विमानस्थानमें 'औपम्य' अर्थात् उपमानका दो स्थलोंपर उल्लेख हुआ है।[3] और यह कुछ आवश्यक नहीं है कि पूर्वोक्तका ही उल्लेख किया जाय, वक्ष्यमाणका भी उल्लेख किया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेशके समान उपमानको न तो प्राधान्य दिया गया है, और न महत्ता। क्योंकि जहाँ कहीं भी प्रमाणोंका साकल्येन आकलन किया गया है, वहाँपर दो-तीन या अधिकसे अधिक चार सङ्ख्याका निर्देश किया गया है।

आगे चलकर महर्षि पुनर्वसुने विमानस्थानके त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय अध्यायमें प्रमाणोंकी संख्याका निर्देश इस प्रकार किया है—"किसी रोगविशेष-का विज्ञान तीन प्रकारका होता है, अर्थात् तीन प्रमाणोंके आधारपर किया जाता है—आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान।[4] यहाँपर युक्तिका अन्तर्भाव अनुमानमें कर दिया गया है, इसलिए उसका पृथक् उल्लेख नहीं हुआ है। किसी रोगका विज्ञान करनेमें कहींपर तीनों प्रमाणोंके द्वारा परीक्षा की जाती है, कहींपर दो प्रमाणोंके द्वारा और कहींपर केवल एक प्रमाणके द्वारा

---

१. **तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति।** —(सूत्र० ११।१७)

२. **तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपमानैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः।** —(सूत्र० १२।८)

३. द्रष्टव्य—(विमानस्थान ८।३३ तथा ८।४२)।

४. **त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्ष-मनुमानं चेति।** —(विमान० ४।३)—

उदाहरणार्थ—मन्दाग्निके विज्ञानमें प्रत्यक्षका अनिवार्य रूपसे कोई व्यापार नहीं है, उसका ज्ञान तो आप्तागम और अनुमानके द्वारा ही किया जाता है। इसी प्रकार यथासम्भव अन्यत्र भी समझना चाहिए।

आगे चलकर उसी अध्यायमें पुनः कहा गया है—"ज्ञानके साधनभूत इन त्रिविध प्रमाणोंके द्वारा सर्वप्रथम सम्पूर्ण रोगकी सब प्रकारसे परीक्षा करनेके अनन्तर ही 'इसको यह रोग है' इस प्रकारका निश्चय करना चाहिए। ऐसा करनेसे किसी प्रकारका दोष नहीं रहता है। ज्ञानके एक अंशसे (अर्थात् किसी एक प्रमाणसे) सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता है।"[1] अर्थात् रोगपरीक्षा करते समय केवल एक या दो प्रमाणोंके द्वारा पूर्णज्ञान नहीं हो सकता है। जब आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान इन सभी प्रमाणोंके द्वारा परीक्षा की जाती है, तब रोगविषयक पूर्ण और निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। इन त्रिविध प्रमाणोंमें सबसे पहले आप्तोपदेशके द्वारा व्याधिका बोध होता है, तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उसकी परीक्षा करनी उचित है।

प्रमाणसंख्याका उपसंहार करते हुए उसी अध्यायमें पुनः कहा गया है—"इसलिए ज्ञानवान् पुरुषोंके लिए दो प्रकारकी परीक्षा होती है—प्रत्यक्ष और अनुमान। (ज्ञानवान्का तात्पर्य है–शास्त्रज्ञानसे युक्त अर्थात् आप्तोपदेशवान्।) अथवा उपदेशको सम्मिलित करके तीन प्रकारकी परीक्षा होती है।"[2] इस अध्याय(त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय)के अन्तमें भी प्रमाणत्रैविध्यको सङ्ग्रह-श्लोकके द्वारा इस प्रकार उपनिबद्ध किया गया है–"विचक्षण पुरुष क्रमशः आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा व्याधियोंको समुचित रूपसे समझे।"[3] विमान-स्थानका रोगभिषग्जितीय अध्याय भी प्रमाणोंकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वाद करनेकी विधिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिन आवश्यक पारि-भाषिक शब्दोंकी सूची दी गई है, उनमें हेतु प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य औपम्य अर्थप्राप्ति तथा सम्भव, प्रमाणोंकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इनमें हेतु शब्दका व्याख्यान करते हुए तन्त्रकार कहते हैं—"उपलब्धिके कारण(साधन)को हेतु कहते हैं, और वह है— प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य और औपम्य। इन हेतुओंसे जो उपलब्ध होता है, वही तत्त्व होता है।"[4] इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—"यद्यपि हेतु शब्द

---

१. **त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकाल-मध्यवसानमदोषं भवति। नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते।**
—(विमान० ४।७)

२. **तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं चेति। त्रिविधा वा सहोपदेशेन।** —(विमान० ४।७)

३. **आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।**
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः॥ —(विमान० ४।११)

४. **अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्। तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति। एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते, तत्तत्त्वम्।** —(विमान० ८।३३)

अविनाभावमें लिङ्गका वाचक है, तथापि यहाँपर लिङ्गग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको ही यथोक्त हेतुका मूल होनेके कारण 'हेतु' शब्दसे कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।"[1] तात्पर्य यह है कि रोगके लिङ्ग अथवा हेतुका ग्रहण इन्हीं चार प्रमाणोंके द्वारा होता है। जैसे **'ज्वरितोऽयं तापाधिक्यात्'** यहाँपर 'तापाधिक्य' हेतु प्रत्यक्षसे गृहीत होता है। **'अयमातुरो मन्दाग्नित्वात्'** यहाँपर 'मन्दाग्नित्व' हेतु पाचनशक्तिके द्वारा अनुमेय है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

इस प्रकरणमें आप्तोपदेशको 'ऐतिह्य' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। युक्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव होता ही है। नवीनता केवल 'औपम्य' अर्थात् उपमानके उपस्थापनमें है। रोगोंका निर्णय करनेमें उपमानका क्या योगदान है, इसका विवेचन आगे किया जायगा। इस अध्यायमें प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य और औपम्यका विवेचन करनेके साथ-साथ अर्थप्राप्ति (अर्थापत्ति) प्रमाणका भी अन्यतन्त्रसंवादी व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है, जिसका आगे समुचित स्थानपर विवेचन किया जायगा।

औपम्य और अर्थप्राप्ति इत्यादि कुछ अतिरिक्त प्रमाणोंका उल्लेख करनेपर भी रोगभिषग्जितीयमें प्रमाण-प्रकरणका उपसंहार करते हुए प्रायः उसी पदावलीका प्रयोग किया गया है, जो त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयमें प्रयुक्त हुई है—

"ज्ञानवान् (अर्थात् आप्तोपदेशरूप शास्त्रीयज्ञानसे युक्त) पुरुषोंके लिए परीक्षा दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये दोनों और उपदेश परीक्षा हैं। इस प्रकार यह दो प्रकारकी परीक्षा होती है, अथवा उपदेशको लेकर तीन प्रकारकी होती है।"[2]

वस्तुतः चरककारको प्रमाणत्रयी या युक्तिको सम्मिलित करके प्रमाण-चतुष्टयी ही अभीष्ट है। तिस्रैषणीय अध्यायमें प्रमाणोंके चतुष्ट्वका प्रतिपादन करते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं—'यही (चार प्रकारकी) परीक्षा है, (इसके अतिरिक्त) अन्य परीक्षा नहीं है। इसके द्वारा समस्त सत् और असत् परीक्ष्य विषयोंकी परीक्षा की जाती है······।'[3] इसकी टीका करते हुए महामहोपाध्याय श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अन्य परीक्षा नहीं है, इस कथनके द्वारा शास्त्रकार अर्थापत्ति और असम्भव प्रभृति तन्त्रान्तर-सम्मत

---

१. **हेतुश्चाविनाभावलिङ्गवचनं यद्यपि, तथापीह लिङ्गप्रग्राहकाणि प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्येव यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाहेति बोद्धव्यम्।**

२. **द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।**

—(विमान० ८।८३)

३. **एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते।**
परीक्ष्यं सदसच्चैव······················॥ —(सूत्र० ११।२६)

प्रमाणोंका निषेध करते है।'[१] तात्पर्य यह है कि इन प्रमाणोंकी सहायताके विना भी चिकित्साकर्म सर्वथा शक्य है।

प्रमाणोंका क्रम

चरकसंहितामें प्रयुक्त प्रमाणोंका क्रम इस प्रकार है—(१) आप्तोपदेश, (२) प्रत्यक्ष, (३) अनुमान और (४) युक्ति। तिस्रैषणीय अध्यायमें प्रमाणोकी गणना इसी क्रमसे की गई है — "**तस्य चतुर्विधा परीक्षा — आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति।**"[२] इसी क्रमसे त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयमें भी प्रमाणोंका निर्देश किया गया है—"**त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति**"[३] यहाँपर युक्तिका अनुमानमे अन्तर्भाव मानकर पृथक् गणना नहीं की गई है। इसके वाद पुनः उपसंहारमें प्रमाणोंका यही क्रम दिया है।[४]

आप्तोपदेशकी प्रधानता

इन सभी प्रकरणोंमें प्रमाणोंका एकही क्रम है, और आप्तोपदेशको सर्वत्र प्राथमिकता दी गई है। केवल दो स्थल ऐसे हैं, जहाँपर आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि आप्तोपदेशको प्रत्यक्ष और अनुमानके वाद स्थान दिया है। वे स्थलहै—

'तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं चेति। त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' —(विमान० ४।७)

'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' —(विमान० ८।८३)

उभयत्र **'त्रिविधा वा सहोपदेशेन'** इस वाक्यांशके जोड़नेसे यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि उपदेशको अन्तिम तथा गौण स्थान दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रथम वाक्यमें ही **'ज्ञानवताम्'** इस पदके द्वारा यह स्पष्ट निर्देश हुआ है कि जो आप्तोपदेशरूप शास्त्रीयज्ञानसे युक्त है, वही प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा रोगादिकी परीक्षा करनेके लिए योग्य है। शास्त्रीय-ज्ञान तो वस्तुतः परीक्षाकी आत्मा है, प्राण है, उसके विना परीक्षा हो ही नहीं सकती है। आप्तोपदेश(शास्त्रीयज्ञान)को प्रमाणकोटिमें रखना उसका लाघव करना है। हाँ, यदि कोई उसको प्रमाणकोटिमें रखना ही चाहता है, तो उसके सन्तोषके लिए **'त्रिविधा वा सहोपदेशेन'** यह वाक्यांश तन्त्रकारने जोड़ दिया है।

---

१. **नास्त्यन्येतिवचनेनार्थापत्त्यसम्भवादीनामन्यतन्त्रसम्मतानां प्रमाणानां निषेधं करोति।** —चक्रपाणिः (सूत्र० ११।२६)

२. सूत्रस्थान ११।१७

३. विमानस्थान ४।३

४. विमानस्थान ४।११

रोगका निदान करनेमें और औषधोपचारके द्वारा चिकित्साकर्म करनेमें इन प्रमाणोंका इसी क्रमसे प्रयोग करना चाहिए। प्रयोगक्रमका निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं — "इस त्रिविध [1]ज्ञानसमूह(प्रमाणसमूह)में सर्वप्रथम आप्तोपदेशके द्वारा रोगादिका ज्ञान होता है, उसके अनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा परीक्षा करनी उचित है।"[2] अर्थात् आप्तोपदिष्ट लिङ्गादिकी प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा परीक्षा करके व्याधिविशेषका निश्चय करना चाहिए।

आप्तोपदेशकी प्रधानता और श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए आगे कहा है—"जिस वस्तुका पहले उपदेश ही नहीं हुआ है, उसका प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा परीक्षा करके बोध कोई कैसे करेगा ?"[3] तात्पर्य यह है कि किसी रोगके विशेषोंको समझना बड़ा ही कठिन है। उपदेशके विना उनको समझना अशक्य है। जो वैद्यकशास्त्रमें पारङ्गत हैं, वे लोग ही किसी व्याधिकी सूक्ष्म विशेषताओंको समझनेमें समर्थ होते हैं। इसलिए शास्त्रके द्वारा व्याधियोंके जिन हेतु लिङ्ग और चिकित्साप्रभृति विशेषोंका प्रतिपादन किया गया है, उनको प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उपलब्ध करके ही व्याधिविशेषका निश्चय किया जाता है। जो पुरुष उपदेशरहित है, और जिसका शास्त्रमें प्रवेश नहीं है, वह रोगके हेत्वादि विशेषोंको प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उपलब्ध करके भी 'इसे कौन सा रोग है' यह निश्चित नहीं कर सकता है। जिस प्रकार रत्नोंके विषयमें जो पुरुष अशिक्षित है वह किसी रत्नकी विशेषताओंको देखता हुआ भी 'यह कौन सा रत्न है' यह निश्चित नहीं कर सकता है। उसे रत्नविशेषके अवधारणमें आप्तोपदेशकी अपेक्षा है। इसी प्रकार रोगविशेषके अवधारणमें भी आप्तोपदेशकी अपेक्षा होती है। इस प्रकार चरकतंन्त्रमें प्रत्यक्ष और अनुमानकी अपेक्षा आप्तोपदेशका प्राधान्य स्थापित किया गया है।

'युक्ति' प्रमाणके सहित इन प्रमाणोंकी सङ्ख्या चार मानी गई है। इसलिए इसी चतुष्टयीमें आवश्यक क्रमका निर्णय किया गया। इसके अतिरिक्त अन्यतन्त्रसम्मत औपम्य और अर्थप्राप्तिप्रभृति जिन प्रमाणोंका इस संहितामें उल्लेख किया गया है, उनका कोई विशेष उपयोग या महत्त्व न होनेके कारण उनके क्रमको निर्धारित करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। रोगनिदान करनेमें जो थोड़ा सा उपयोग इन प्रमाणोंका है, वह विना क्रमके भी कार्यान्वित किया जा सकता है।

अब क्रमशः प्रमाणोंका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् प्रमाणम्। —(चक्रपाणिः विमान० ४।७)

२. त्रिविधे त्वस्मिञ्ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम्। ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। —(विमान० ४।७)

३. किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। —(विमान० ४।७)

आप्तका लक्षण

'तत्राप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्'[1] अर्थात् आप्तपुरुषोंका वचन या वाक्य आप्तोपदेश कहलाता है। दूसरेके प्रयोजनसे जो वचन कहे जाते हैं, उन्हें उपदेश कहते है।[2] अब प्रश्न यह है कि आप्तपुरुष किसको कहते हैं। तिस्रैषणीयमें आप्तका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"जो पुरुष अपने तप और ज्ञानके बलसे रजोगुण और तमोगुणसे निश्शेषतया मुक्त हैं, जिनका ज्ञान अतीत अनागत और वर्त्तमान तीनों कालको विषय करनेवाला है, (यथार्थका ग्रहण करनेके कारण) निर्मल अर्थात् निर्दोष है, और (किसी भी विषयमें शक्तिके कुण्ठित न होनेके कारण) अव्याहत अर्थात् निर्बाध है, वे लोग आप्त शिष्ट और विबुद्ध कहलाते हैं।"[3]

आप्त—रजोगुण और तमोगुणरूप दोषोंके विनाशको आप्ति कहते हैं। जो आप्तिसे युक्त हैं, उनको आप्त कहा जाता है। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन कहते हैं—"अर्थके साक्षात् अनुभवको आप्ति कहते हैं, और उस आप्तिके अनुसार बरतनेवालेको आप्त कहते हैं।"[4]

शिष्ट—चूँकि ये लोग समग्र संसारको, कार्यमें प्रवृत्त होनेके लिए, तथा अकार्यसे निवृत्त होनेके लिए, उपदेशके द्वारा शासित करते हैं, इसलिए इनको शिष्ट भी कहा जाता है।

विबुद्ध—जो बोद्धव्य है, उसको विशेषरूपसे जान लेनेके कारण ये लोग विबुद्ध भी कहलाते हैं। इस प्रकार आप्त शिष्ट और विबुद्ध इन तीन नामोंके द्वारा आप्तजन संसारमें प्रसिद्ध हैं।

"इन आप्तजनोंका वाक्य निश्चितरूपसे सत्य (यथार्थ) होता है। रजस् (और तमस्)से सर्वथा मुक्त वे आप्तपुरुष भला असत्य क्यों बोलेंगे?"[5] असत्य बोलनेके तीन कारण होते हैं—मिथ्याज्ञान राग और द्वेष। जो पुरुष रजस् और तमस्से सर्वथा मुक्त हैं, और सत्त्वगुणके उद्रेकके कारण जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, उनमें मिथ्याज्ञान राग और द्वेष ये तीनों कारण किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकते हैं। **'नीरजस्तमाः'** यह शब्द तमप्प्रत्ययान्त है। रजस्के दौर्बल्यका प्रकर्ष होनेपर तमस् भी स्वतः अपास्त हो जाता है। जो पुरुष सर्वथा नीरजस्क है, उसमें तमस् नहीं ठहर सकता है। जैसा कि आगे

---

१. विमानस्थान ४।४; तुलना कीजिए—**आप्तोपदेशः शब्दः।** —(न्यायसूत्र १।१।७)

२. **परप्रयोजनवचनमात्रवाच्युपदेशपदमित्यादि तात्पर्यं स्पष्टम्।**

३. **आप्तास्तावत्—रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।**
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते……। —(सूत्र० ११।१८–१९)

४. **साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः। तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः।** —(न्यायभाष्य १।१।७)

५. ………………**तेषां वाक्यमसंशयम्।**
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥ —(सूत्र० ११।१९)

चलकर ग्रन्थकारने स्वयं कहा है—"रजस् और तमस्का परस्पर नियत सम्बन्ध है, क्योंकि तमस् रजस्के विना नहीं प्रवृत्त होता है।"[१] इस प्रकार 'नीरजस्तमाः'में केवल रजोगुणका निषेध होनेपर भी रजोगुणके साहचर्यके बलसे तमोगुणका भी आक्षेप हो जाता है। टीकाकार योगीन्द्रनाथसेनको "...**वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा**" यह पाठ अभीष्ट है। ऐसा पाठ माननेपर रजस् और तमस् दोनोंका शब्दके द्वारा कथन हो जाता है।

आगे चलकर त्रिविध रोगविशेषविज्ञानीयमें आप्तका लक्षण इस प्रकार दिया गया है — "वितर्क(अनिश्चितज्ञान), स्मृति(स्मरणज्ञान), और विभाग (एकदेशीयज्ञान)के विरुद्ध जिन लोगोंका ज्ञान निश्चित अनुभवरूप और पूर्ण होता है, अथवा जो संशयरहित स्मृतिके द्वारा भावोंके सत् और असत् आदि विभागको जानते हैं, प्रीति(राग) और उपताप(द्वेष)से रहित होकर (जगत्के विषयोंको) देखनेका जिनका स्वभाव है, उनको आप्त कहते हैं।"[२]

तात्पर्य यह है कि जो यथार्थदर्शी है, और रागद्वेषादि दोषोंसे मुक्त है, उसे ही आप्त कहा जा सकता है। जिसका ज्ञान सांशयिक है, वह प्रतिपाद्य वस्तुके समस्त विशेषोंको न जाननेके कारण आप्त नहीं हो सकता है। स्मृतिज्ञान यद्यपि प्रमाणमूलक है, तथापि यह आवश्यक नही है कि स्मृतिज्ञानका विषय बननेवाला पदार्थ वर्त्तमानक्षणमें विद्यमान ही हो, इसलिए स्मृतिज्ञानको प्रमाण नही माना जा सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सम्यक् ज्ञानसे युक्त होनेपर भी लोग रागादिके वशीभूत होकर झूठ बोल देते हैं, इसलिए शास्त्रकारने आप्तपुरुषको 'निष्प्रीत्युपतापदर्शी' कहा है।

वस्तुतः ऐसा आप्त कोई ब्रह्मभूत पुरुष ही होता है। लौकिक पुरुष भी किसी-किसी अवस्थाविशेषमें आप्त माने जाते हैं। जिस विषयमें उनका ज्ञान संशयरहित अनुभवरूप और पूर्ण होता है, तथा अपना कोई प्रयोजन साध्य न होनेके कारण रागद्वेष भी नहीं होता है, उस विषयमें वे लौकिक पुरुष भी आप्त माने जाते हैं। न्यायभाष्यमें तो ऋषि और आर्यके समान ही म्लेच्छको भी उक्त लक्षण प्राप्त होनेपर आप्त माना गया है।[३] म्लेच्छ राह चलते पथिकोंका सर्वस्व अपहरण करके भी नगरका मार्ग पूछे जानेपर यथार्थ ही बतला देते है, क्योंकि इस विषयमें उन्हें कोई लोभ नहीं होता है। इसी कारण कुछ लोगोंने आप्तोंके दो भेद किये हैं—सर्वज्ञ और असर्वज्ञ।

आप्तोपदेशका लक्षण—"इस प्रकारके गुणोंसे युक्त होनेके कारण उन आप्त पुरुषोंके जो वचन होते हैं वे प्रमाण माने जाते हैं। मत्त (मद्यपान

---

१. **नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम्, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्त्तते।**
—(विमान० ६।९)

२. **आप्ता हि अवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च।**
—(विमान० ४।४)

३. **ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते इति॥**
—(न्यायभाष्य १।१।७)

किए हुए), उन्मत्त(उन्मादरोगसे ग्रस्त), मूर्ख, रागयुक्त, दुष्ट तथा ईषद्दुष्टके वचन प्रमाणरूप नहीं होते हैं। [अथवा गङ्गाधरसम्मत पाठके अनुसार मत्त उन्मत्त और मूर्ख वक्ताके दृष्ट(इहलोकसम्बन्धी) तथा अदृष्ट(परलोकसम्बन्धी) वचन प्रामाणिक नहीं होते हैं।]"[1] तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगोंके वचन अनिवार्य रूपसे अप्रमाण नहीं होते हैं। कभी-कभी ये लोग भी प्रामाणिक बात कह देते हैं, परन्तु इन लोगोंकी बात वस्तुतः घुणाक्षरन्यायसे ही प्रामाणिक होती है।

आप्तोपदेश चूँकि शब्दोंके माध्यमसे होता है, इसलिए इसको शब्दप्रमाण भी कहते हैं। शब्दका विवेचन करते हुए रोगभिषग्जितीयमें कहा गया है— "वर्णोंके समाम्नायको शब्द कहते हैं।[2] यह शब्द चार प्रकारका होता है—दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, सत्य और अनृत। इनमें दृष्टार्थ शब्दोंके उदाहरण ये हैं—(असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम इन) तीन हेतुओंसे दोष (वात पित्त और कफ) प्रकोपको प्राप्त होते हैं, छः उपक्रमों(बृंहण, लङ्घन स्नेहन रूक्षण स्वेदन और स्तम्भन)से शान्त होते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियोंके होनेपर ही शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है। इन वाक्योंका अर्थ प्रत्यक्ष किया जाता है, इसलिए ये **दृष्टार्थ** कहलाते हैं। अदृष्टार्थ शब्दोंके उदाहरण—जैसे पुनर्जन्म होता है; मोक्ष होता है। इन वाक्योंका अर्थ प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए इनको **अदृष्टार्थ** कहते हैं। सत्य उसे कहते हैं, जो यथार्थभूत हो। जैसे—आयुर्वेदके उपदेश हैं; साध्यरोगोंकी सिद्धिके उपाय हैं; कर्मोंके फल होते हैं। सत्यसे जो विपरीत होता है, उसे **अनृत** कहते हैं। जैसे आयुर्वेदके उपदेश नहीं हैं; कर्मफल नहीं होता है इत्यादि।"[3]

---

१. **तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनम् तत्प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति। ('मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तृदृष्टादृष्टवचनम्'** इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।) —(विमान० ४।४)

२. इस विषयमें कुछ लोग शङ्का करते हैं—यद्यपि पृथक् पृथक् वर्ण एक साथ स्थित हो सकते हैं, तथापि उनका कोई मेलक नहीं है, जिससे उनके द्वारा किसी शब्दकी प्रतीति हो। इसलिए वर्णोंसे शब्दकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस शङ्काका उत्तर यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण यद्यपि अनुभवके अनन्तर ही नष्ट हो जाता है, तथापि वह चित्तमें एक संस्कार छोड़ जाता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभवसे जनित संस्कारके सहित अन्त्यवर्णके अनुभवके बुद्ध्यारूढ होनेको ही समस्तवर्णोंका मेलक और शब्दनिष्पादक समझना चाहिए। अथवा सारे वर्णोंका अनुभव एक स्मृतिमें समारूढ होता है, इसलिए यह एक स्मृति ही उन वर्णोंकी मेलक है।

३. **अथ शब्दः। शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः—दृष्टार्थश्च, अदृष्टार्थश्च, सत्यश्चानृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थो नाम—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति, सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति। अदृष्टार्थः पुनः—अस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति। सत्यो नाम यथार्थभूतः—सन्त्यायुर्वेदाः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानां व्याधीनाम्, सन्त्यारम्भफलानीति। सत्यविपर्ययश्चानृतः।** —(विमानस्थानम् ८।३८)

इनमेंसे दृष्टार्थ अदृष्टार्थ और सत्य—ये तीन प्रकारके शब्द प्रमाणभूत होते हैं, परन्तु अनृत किसी भी दशामें प्रमाण नहीं बन सकता है ।

आप्तागमका स्वरूप—भारतीय परम्पराका अनुसरण करते हुए महर्षि पुनर्वसु आत्रेयने भी वेदोंकी अपौरुषेयताको स्वीकार करके वेदको आप्तशास्त्र के रूपमें मान्यता प्रदान की है । तिस्रैषणीयमें आप्तागमके स्वरूपका विवेचन इस प्रकार किया गया है—

"इन प्रमाणोंमें आप्तागम अर्थात् आप्तशास्त्र **'वेद'** है । इसके अतिरिक्त जो कोई दूसरे शास्त्रवाद वेदार्थसे अविरुद्ध अर्थवाले हैं, परीक्षकोंके द्वारा प्रणीत हैं, शिष्टजनोंके द्वारा अनुमोदित हैं, और लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं, उनको भी आप्तागम ही समझना चाहिए ।"[१] परवर्त्ती वाक्यके द्वारा आयुर्वेद स्मृतियाँ तथा वेदार्थका अनुसरण करनेवाले दूसरे शास्त्रग्रन्थोंका भी आप्तागमके अन्तर्गत सङ्कलन कर दिया गया है । रोगभिषग्जितीयमें ऐतिह्यप्रमाणका लक्षण देते हुए कहा है — "आप्त-पुरुषोंके उपदेशरूप जो वेदादि ग्रन्थ हैं, वे ही ऐतिह्य कहलाते है ।"[२] अतः चरकके अनुसार आप्तोपदेश और ऐतिह्य एक ही अर्थके वाचक होनेके कारण पर्याय हैं ।

चरकसंहिताके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीचक्रपाणिदत्तने सम्पूर्ण ग्रन्थके आधार-पर आप्तोपदेशरूप शब्दको दो प्रकारका माना है—परम आप्त ब्रह्मादिके द्वारा प्रणीत और लौकिक आप्त पुरुषोंके द्वारा प्रणीत । ऐतिह्य शब्द परमाप्तप्रणीतका वाचक है, और लौकिकाप्तप्रणीत शब्द शब्दप्रमाणके एक अंशके सदृश है, तथा 'सत्य' कोटिका होता है ।[३]

आप्तोपदेश (शास्त्रज्ञान) का आयुर्वेदमें महत्त्व — आयुर्वेदीय चिकित्सामें उपदेशप्रमाणका ही प्रमुखरूपसे उपयोग किया जाता है । दूसरे प्रमाणोंमें पटु होनेपर भी यदि कोई वैद्य आयुर्वेदके ग्रन्थोंका ठीक प्रकारसे अभ्यास नहीं करता है, तो वह चिकित्साकर्ममें सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है । इन्द्रका वज्र शिरपर गिरनेसे शायद मनुष्य बच जाय, परन्तु अज्ञ वैद्य द्वारा प्रयुक्त औषधसे रोगी नहीं बच सकता है ।[४] जिस प्रकार अन्धा मनुष्य देख

---

१. **तत्राप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः, स चाप्तागमः ।**
—(सूत्र० ११।२७)

२. **अथैतिह्यम्—ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः ।** —(विमानस्थानम् ८।४१)

३. **आप्तोपदेशशब्दस्तु द्विविधः—परमाप्तब्रह्मादिप्रणीतस्तथा लौकिकाप्त-प्रणीतश्च । ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽवरुद्धः लौकिकाप्तप्रणीतश्च शब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकारविहितो ज्ञेयः ।** —चक्रपाणिः (विमान० ८।२६)

४. **कुर्यान्निपातितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः ।
सशेषमातुरं कुर्यान्न त्वज्ञमतमौषधम् ॥** —(सूत्र० १।१२८)

न सकनेके कारण डरता हुआ हाथसे टटोल-टटोलकर चलता है, अथवा जैसे नाव वायुके सहारे छोड़ दी गई हो, उसी प्रकार अज्ञ(मूर्ख) वैद्य चिकित्सामें प्रवृत्त होता है।[1] सम्पूर्ण तन्त्रके एक भागको जाननेवाले और शास्त्रके विषयमें अल्पबल पुरुष शास्त्रके शब्दमात्रसे ऐसे भागते हैं, जैसे बतख पक्षी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारमात्रसे। कोई पशु अन्य पशुओंकी दुर्बलताके कारण उनके मध्य भेड़िएकी तरह गुर्राता है, परन्तु यदि उसकी कभी सचमुच भेड़िएसे भेंट हो जाय, तो उसका भेड़ियापन जाता रहता है, और वह अपनी स्वाभाविक पशुताको प्राप्त करता है। उसी प्रकार मूर्खमण्डलीमें बैठा हुआ कोई मूर्ख अपनी वाचालताके द्वारा अपने आपको 'मैं आप्त हूँ' यह सिद्ध करता है, परन्तु यदि कोई सचमुच आप्त पहुँच जाय, तो उसकी पोल खुल जाती है।[2]

उत्तमशास्त्रका लक्षण—सफल चिकित्सक बननेके लिये वैद्यको आप्तोपदेश-रूप शास्त्रका अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। "यदि मनुष्य भिषक् बननेकी इच्छा करे, तो उसे सर्वप्रथम शास्त्रकी ही परीक्षा करनी चाहिए। इस लोकमें चिकित्सकोंके विविध शास्त्र प्रचलित हैं। उनमेंसे जिस शास्त्रको वह सुमहान् और लब्धकीर्त्ति समझे, जो धीर पुरुषोंके द्वारा सेवित हो, जो अर्थबहुल हो अर्थात् जिसमें बहुतसे विषयोंका समावेश हुआ हो अथवा अल्प पदोंसे ही जो बहुत बड़ी बातें बता देता हो, जिसे आप्तजन आदरबुद्धिसे देखते हों, जो उत्कृष्ट मध्य और अल्प तीनों प्रकारकी शिष्यबुद्धियोंके लिए हितकर हो, जो पुनरुक्तिदोषसे रहित हो, ऋषिप्रणीत हो, जिसमें सूत्र और भाष्यका सङ्ग्रहक्रम सम्यक् प्रकारसे रचा हो, अर्थात् जिसमें विषयोंका सन्निवेश जहाँ और जितना होना चाहिए, वहाँ और उतना ही किया गया हो, जिसका आधार उत्तम हो, जिसमें ग्राम्यशब्द न हों, जिसके शब्द कठिनाईसे उच्चारण करने योग्य न हों, जिसके वाक्य सम्यग् अर्थ देते हों, जिसका अर्थ परिपाटीसे प्राप्त हुआ हो, जिसमें प्रधानता अर्थतत्त्वका निश्चय करानेमें हो, जो सङ्गतार्थ हो, जिसके प्रकरण सङ्कुल (मिश्रीभूत) न हों, जो तत्काल अर्थका बोध करानेवाला हो, जो प्रशस्तशास्त्रके लक्षणोंसे युक्त हो, और जिसमें उदाहरणोंके द्वारा विषय समझाया गया हो, उसी शास्त्रको अध्ययनके लिए चुनना चाहिए। इस प्रकारका शास्त्र निर्मल आदित्यके समान

---

१. पाणिचाराद्यथाचक्षुरज्ञानाद् भीतभीतवत्।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक्चरति कर्मसु॥
—(सूत्र० ९।१६)

२. शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनेव वर्त्तकाः॥
पशुः पशूनां दौर्बल्यात् कश्चिन्मध्ये वृकायते।
स सत्यं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः॥
तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः।
स्थापयत्याप्तमात्मानमाप्तं त्वासाद्य भिद्यते॥ —(सूत्र० ३०।७५-७७)

अज्ञानान्धकारको निरस्त कर सब कुछ प्रकाशित कर देता है ।''[१]

इस प्रकार शास्त्रका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है । चिकित्सकके लिए शास्त्रसे जो विषय ज्ञातव्य हैं, उनका त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयमें इस प्रकार विवरण प्रस्तुत किया गया है—

'(चिकित्साके विषयमें) बुद्धिमान् पुरुष यह उपदेश करते हैं—एक एक रोग इन इन हेतुओंसे प्रकुपित होता है, इन इन हेतुओंसे उत्पन्न होता है, इन इन हेतुओंसे उसका उत्थान होता है, यह उसका स्वभाव है, यह (शरीर या मन) उसका अधिष्ठान है, इस रोगमें ये ये वेदनाएँ होती हैं, ये ये उसके लक्षण हैं, इस रोगमें रोगीके शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इस इस प्रकारके हो जाते हैं, इस इस प्रकारके उपद्रव होते हैं, इस इस प्रकार रोगकी वृद्धि स्थिति और क्षय होते हैं, यह उसका उत्तरकालीन फल (साध्यता या असाध्यता) है, यह उसका नाम है, यह उसका योग(औषध) है । उस रोगका प्रतीकार करनेके लिए यह प्रवृत्ति(चिकित्सा) है, और यह निवृत्ति(परहेज) है—इतनी सारी बातें उपदेशके द्वारा जानी जाती हैं ।''[२]

आप्तोपदेशरूप शास्त्रका चिकित्साकर्ममें यही उपयोग है । इसके अभावमें अथवा आयुर्वेदशास्त्रका केवल पल्लवग्राहि पाण्डित्य होनेपर चिकित्साकर्म सर्वथा अशक्य है । उस स्थितिमें चिकित्सा करनेसे लाभके स्थानपर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है ।

प्रत्यक्ष

आप्तोपदेशके अनन्तर प्रत्यक्षप्रमाणका विवेचन क्रमप्राप्त है । चरकसंहितामें प्रत्यक्षका प्रमाणरूपसे कहींपर भी निरूपण नहीं किया गया है । जहाँ कहीं प्रत्यक्षका निरूपण मिलता है, वहाँ प्रमारूपमें ही मिलता है । प्रत्यक्षप्रमाका लक्षण समझ लेनेपर प्रत्यक्ष प्रमाणको भी समझा जा सकता है । वस्तुतः प्रमाका लक्षण करते समय यथार्थज्ञानरूप फल(साध्य)की निष्पत्ति साधन(करण)ज्ञानके विना नहीं बताई जा सकती है, अतः प्रमाके लक्षणमें

---

१. **भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके, तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनस्य पूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च तदभिप्रपद्येत शास्त्रम् । शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ।** —(विमान० ८।३)

२. **तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः — रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात् । तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथ वा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ।** —(विमान० ४।८)

प्रमाणका लक्षण कहींपर अन्तर्भूत होता है, और कहींपर अर्थतः आक्षिप्त होता है। प्रत्यक्षप्रमाका लक्षण चरकसंहितामें तीन स्थलोंपर किया गया है। कहींपर विस्तारसे और कहींपर सङ्क्षेप से। पहला लक्षण तिस्रैषणीयमें परलोक और पुनर्जन्मकी सत्ताको सिद्ध करनेके प्रसङ्गमें दिया गया है। इस प्रकरणमें परलोक और पुनर्जन्मको सिद्ध करनेके लिए चारों प्रमाणोंका विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस स्थलपर प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार है—

"आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थ(शब्दादि विषय)के सन्निकर्ष(सम्वन्ध)से जो निश्चयात्मक ज्ञान तत्काल उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते है।"[१] आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थ—इन चारोंके सन्निकर्षसे प्रत्यक्षप्रमा उत्पन्न होती है, इसका सङ्केत शारीरस्थानके कतिधापुरुषीय अध्यायमें भी **'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैकसन्निकर्षजाः'**[२] तथा **'बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा'**[३] इत्यादि वाक्यांशोंके द्वारा किया गया है। प्रत्यक्षके प्रस्तुत लक्षणमें **'व्यक्ता'**(निश्चयात्मिका) पदके द्वारा कालान्तरव्यभिचारिणी अयथार्थबुद्धि संशय और विपर्यय इत्यादिका निराकरण किया गया है। **'तदात्वे'**(तत्क्षण) पदके द्वारा प्रत्यक्षज्ञानके अनन्तर कुछ व्यवधानसे उत्पन्न होनेवाले अनुमानज्ञान और स्मृतिज्ञान-प्रभृतिका व्यवच्छेद किया गया है, क्योंकि प्रत्यक्षके समान आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे इनका भी जन्म होता है, परन्तु परम्परासे, जब कि प्रत्यक्षज्ञान तत्काल उत्पन्न होता है। इसलिए 'तदात्वे' शब्दका प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है।

यहाँपर निश्चयात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा गया है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाणका फल होनेसे प्रमारूप है। प्रमाण शब्द करणका वाचक है। अतः इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानका करणभूत (साधक) जो व्यापार है, उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहा जाना चाहिए। लोकमें प्रत्यक्षप्रमाणसे होनेवाला फलरूप ज्ञान भी 'प्रत्यक्ष' शब्दसे व्यवहृत होता है।

यहाँपर विवेचनीय है—जबकि न्यायसूत्रमें प्रत्यक्षप्रमाणके लक्षणमें **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्'** इस विशेषणके द्वारा केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्षको ही आवश्यक समझा गया है,[४] तो क्या कारण है कि यहाँपर आत्मादि-चतुष्टयके सन्निकर्षको उपस्थापित किया गया? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यहाँपर वस्तुतः प्रत्यक्षप्रमाके समस्त प्रयोजक कारणोंका परिगणन किया गया है, क्योंकि प्रमाणव्यापारके लिए सबसे पहले आत्मा मनसे संयुक्त होता है, फिर मन इन्द्रियके साथ संयुक्त होता है, तदनन्तर इन्द्रिय अर्थके साथ

---

१. **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते।**
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥ —(सूत्र० ११।२०)

२. शारीर० १।३३

३. शारीर० १।३४

४. **इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।** —(न्यायसूत्र १।१।४)

संयुक्त होती है ।[१] यह बात सत्य है कि आत्माका मनके साथ संयोग सभी प्रमाणोंमें एक समान होता है । इसलिए प्रत्यक्षका लक्षण करते समय उसका कथन करना कुछ अधिक समीचीन नहीं जान पड़ता है, केवल व्यावर्त्तक विशेषणोंका ही उल्लेख करना चाहिए, क्योंकि सजातीयों और विजातीयोंका व्यावर्त्तन करनेवाला लक्षण होता है ।[२] किन्तु आत्ममनःसंयोगके अनन्तर मनका इन्द्रियके साथ जो संयोग होता है, उसका न्यायसूत्रकारके द्वारा कथन न किया जाना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता है । वात्स्यायनने अपने भाष्यमें इस संयोगके अनुल्लेखका समर्थन करते हुए कहा है—"प्रत्यक्षज्ञानके भिन्न-भिन्न होनेपर भी इन्द्रियमनःसंयोग भिन्न नहीं होता है, इसलिए (सभी प्रत्यक्ष-ज्ञानोंमें) समान होनेके कारण नहीं कहा गया ।"[३] इस वाक्यका **वार्त्तिककारने** दो प्रकारसे व्याख्यान किया है—(१) जिस प्रकार इन्द्रियार्थसंयोग प्रत्यक्षका व्यावर्त्तक है, उसी प्रकार इन्द्रियमनस्संयोग भी उसका व्यावर्तक है, ऐसा विचार करके सूत्रकारने कोई एक व्यावर्त्तक बतला दिया । किसी एक व्यावर्त्तकके उल्लेखसे ही लक्षणके सम्पन्न हो जानेके कारण इसका दूसरा विशेषण व्यावर्त्तक होनेपर भी नहीं कहा गया । **'समानत्वात्'** पदके द्वारा यही अभिप्रेत है । (२) इन्द्रिय और अर्थका संयोग ही एक प्रत्यक्षसे दूसरे प्रत्यक्षका व्यावर्त्तन करता है, परन्तु इन्द्रिय और मनका संयोग तो प्रत्येक इन्द्रियसे होनेवाले सभी प्रत्यक्षोंमें समानरूपसे रहता है । अतएव सर्वप्रत्यक्षसाधारण होनेके कारण इन्द्रियमनःसंयोगका प्रत्यक्षके लक्षणमें उल्लेख नहीं किया गया है ।

इनमेंसे प्रथम व्याख्यान समीचीन नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि लक्षण-कारको यदि एकसे अधिक व्यावर्त्तकोंका ज्ञान है, तो उसे सभी ज्ञात व्याव-र्त्तकोंका कथन करना चाहिए, किसी एक व्यावर्त्तकके उल्लेखसे लक्षण सम्पन्न नहीं हो सकता है । दूसरा व्याख्यान भी उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्रियमनस्संयोग यद्यपि सामान्यरूपसे सर्वप्रत्यक्षसाधारण है, तथापि उसका विशिष्टरूप भिन्न भिन्न होता है । चाक्षुष प्रत्यक्षमें मनका चक्षु इन्द्रियसे सन्निकर्ष होता है, और स्पार्शन प्रत्यक्षमें त्वगिन्द्रियसे । अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञानमें इन्द्रियमनःसन्निकर्ष बदलता रहता है । इससे निष्कर्ष यह निकला कि चरकसंहितामें प्रत्यक्षका लक्षण अधिक तर्कसङ्गत और व्यापक है ।

प्रमाणोंका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर प्रत्यक्षका दूसरा लक्षण त्रिविध-रोगविशेषविज्ञानीयमें इस प्रकार दिया गया है—"प्रत्यक्ष उसे कहते हैं,

---

१. तुलना कीजिए—**आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।**
—(पाणिनीयशिक्षा ६)

२. **सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावर्त्तकं हि लक्षणम् ।**
तुलना कीजिए—**समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः ।**
—(साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ५)

३. **विद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति ।**
—(न्यायभाष्य १।१।४)

जो इन्द्रियों और मनके द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाता है।"[1]

यहाँपर 'स्वयम्' पदके द्वारा आत्माका ग्रहण किया गया है। प्रत्यक्षके इस छोटेसे लक्षणमें बाह्यप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके प्रत्यक्षोंका लक्षण प्रस्तुत कर दिया गया है। जब आत्माके द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे विना किसी व्यवधानके रूपादिका ग्रहण किया जाता है, तो जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे बाह्यप्रत्यक्ष कहते हैं, और जब मनके द्वारा विना किसी व्यवधानके सुखादिकी उपलब्धि होती है, तो उसे मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है।

आगे चलकर रोगभिषग्जितीयमें पुनः प्रत्यक्षका लक्षण प्रस्तुत किया गया है—"प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो मनके द्वारा तथा इन्द्रियोंके द्वारा साक्षात् उपलब्ध होता है। अथवा (पाठान्तरके अनुसार) प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जिसे मन और इन्द्रियके द्वारा आत्मा साक्षात् उपलब्ध करता है। इन दो प्रकारके प्रत्यक्षोंमें मनसे प्रत्यक्ष होनेवाले सुख दुःख इच्छा और द्वेष इत्यादि हैं, तथा इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होनेवाले शब्दस्पर्शादि हैं।"[2] प्रत्यक्षके इ लक्षणमं 'आत्म'शब्द मनका वाचक है, क्योंकि आत्मा तो सर्वप्रमाणसाधारण होनेके कारण प्रत्यक्षके लक्षणमें उपेक्षित हो सकता है, परन्तु मनका विभिन्न इन्द्रियोंसे विशिष्ट सन्निकर्ष अनिवार्य होनेके कारण मन किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। इसके अतिरिक्त 'स्वयम्' शब्द भी ध्यान देने योग्य है, इसका अर्थ यहाँपर साक्षात् करना चाहिए। इससे अनुमानका व्यावर्त्तन हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियव्यापार होनेपर भी अनुमानविज्ञान साक्षात्काररूप न होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं बन सकता है।

प्रत्यक्षके ये तीनों लक्षण परस्पर संवादी हैं। इनमें अन्तिम दो लक्षणोंकी तो पदावली भी कुछ हेरफेरके साथ एक दूसरेसे बिलकुल मेल खाती है। इन तीन लक्षणोंमें प्रथम लक्षण अधिक व्यापक और पूर्ण है, तथा इतर सङ्क्षिप्त हैं। इन तीनों लक्षणोंके एकत्रीकरणसे इन बातोंपर प्रकाश पड़ता है—

(१) प्रत्यक्षज्ञान आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है।

(२) प्रत्यक्षज्ञान निश्चयात्मक होता है। 'व्यक्ता' और 'उपलभ्यते' पद इसके पोषक हैं।

(३) प्रत्यक्षज्ञान विना किसी व्यवधानके तत्काल उत्पन्न होता है। 'तदात्वे' और 'स्वयम्' आदि पद इसके समर्थक हैं।

---

१. **प्रत्यक्षं तु खलु तत्, यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते।** —(विमान० ४।५)

२. **अथ प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्षं नाम तत् यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः। 'प्रत्यक्षं नाम तद् यदात्मा स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभते'** इति पाठान्तरम्। —(विमान० ८।३९)

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्यक्षप्रमाणका आयुर्वेदशास्त्र तथा तदाश्रित चिकित्साकर्ममें क्या उपयोग है ? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं—

"प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा रोगके तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखनेवाला वैद्य रोगीके शरीरमें रहनेवाले शब्द स्पर्श रूप और गन्ध—इन इन्द्रियार्थोंकी तद्ग्राहक इन्द्रियोंके द्वारा परीक्षा करे, परन्तु रोगीके शरीरगत रसकी परीक्षा प्रत्यक्षके द्वारा नहीं करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—अन्त्रकूजन (आँतोंमें शब्द होना), सन्धियो तथा उँगलियोंके पोरोंके जोड़ोंका चटकना, विशेष प्रकारके स्वर तथा अन्य भी जो कोई शब्द शरीरमें हों, जैसे—खाँसी, हिचकी, डकार, फेफड़ों और हृदयकी धड़कन इत्यादि, ऐसे सभी प्रकारके शब्दोंकी श्रोत्रके द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। शरीरका वर्ण, संस्थान (आकृति), परिमाण, छाया (कान्ति), शरीरकी स्वाभाविक और विकृत अवस्था, तथा इनके अतिरिक्त चक्षुका विषय बननेवाले जो कोई अन्य भाव हों—उन सबकी चक्षु इन्द्रियके द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। रोगीके शरीरमें रहनेवाला रस यद्यपि रसनेन्द्रियका विषय है, तथापि उसका ज्ञान अनुमानके द्वारा प्राप्त करना चाहिए। प्रत्यक्षके द्वारा उसका ज्ञान करना युक्त नहीं है। अतएव रोगीसे प्रश्न करके उसके मुखका रस कैसा है, यह जाने। रोगीके सम्पूर्ण शरीरमें विद्यमान प्राकृतिक और वैकारिक गन्धोंकी घ्राणेन्द्रिय-के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। रोगीके शरीरगत स्वाभाविक और वैकारिक स्पर्शकी हाथसे छूकर परीक्षा करे।"[1]

आयुर्वेदके शास्त्रीयज्ञानके आधारपर वैद्य प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा रोगीके शरीरगत भावोंकी परीक्षा करता है। इसलिए पहले आप्तोपदेश और उसके अनन्तर प्रत्यक्षका लक्षण किया गया। अब अनुमानप्रमाणका लक्षणो-पन्यासपूर्वक विवेचन किया जायेगा।

प्रत्यक्षैकप्रमाणताका खण्डन

वैद्यको रोगी तथा रोगके सम्बन्धमें जिन जिन बातोंका ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है, वे सभी बातें प्रत्यक्षके द्वारा नहीं जानी जा सकती हैं। प्रत्यक्षकी भी एक सीमा होती है, जिसके आगे उसका व्यापार

---

१. प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीर-गतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्। तद्यथा—अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुली-पर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत। वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत। रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादेवावगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्।··· गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत। स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तमिति प्रत्यक्षतः परीक्षणमुक्तम्।

—(विमान० ४।६)

कुण्ठित हो जाता है, और लाख चेष्टा करनेपर भी किसी दूसरे प्रमाणकी सहायताके विना कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता। परलोक और पुनर्जन्मप्रभृति अप्रत्यक्ष भावोंको प्रत्यक्षेतर प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध करनेके लिए आचार्य प्रत्यक्षप्रमाणके परिमित और सङ्कुचित क्षेत्रका वर्णन करते हैं—

"इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह ('परलोक और पुनर्जन्म नहीं होता है' इस प्रकारकी) नास्तिक्यबुद्धि(विपर्ययज्ञान) और विचिकित्सा (संशयज्ञान)का परित्याग कर दे। किसलिए? क्योंकि (परलोक और पुनर्जन्मके प्रत्यक्ष न होनेके कारण ही कुछ लोग इनकी सत्तामें विश्वास नहीं करते है, इसलिए उनको ध्यान देना चाहिए कि) प्रत्यक्ष बहुत थोड़ा है, और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसका ज्ञान आगम अनुमान और युक्तिके द्वारा होता है। (प्रत्यक्षव्यापारकी सीमित शक्तिको तो इतनेसे ही समझ लेना चाहिए कि) जिन इन्द्रियोंके द्वारा हमें प्रत्यक्षज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्षप्रमाणाग्राह्य हैं।"[१]

केवल प्रत्यक्षप्रमाणको स्वीकार करनेवालोंके मतमें इन्द्रियोंकी सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष हैं, और जब इन्द्रियाँ ही नहीं, तो प्रत्यक्षका प्राणभूत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असम्भव है। ऐसी स्थितिमें स्वयं प्रत्यक्षप्रमाणका ही मूलोच्छेद हो जाता है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष अव्य-भिचरित प्रमाका जनक होनेके कारण प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार आगम और अनुमानादि भी तथाभूत प्रमाके जनक होनेके कारण प्रमाण माने जाने चाहिए। इसलिए प्रत्यक्षका विषय न होनेके कारण ही पुनर्भवादिके नास्तित्वको निश्चित करना कदापि उचित नहीं है। प्रत्यक्षके द्वारा किसी वस्तुकी उपलब्धि न होनेके कारण उस वस्तुके अभावका निश्चय कर बैठना क्यों ठीक नहीं है, इसकी मीमांसा करते हुए महर्षि आत्रेयने जिन कारणोंसे किसी वस्तुकी प्रत्यक्षद्वारा उपलब्धि नहीं होती है, उन कारणोंका सङ्कलन इस प्रकार किया है—

"रूपके विद्यमान होनेपरभी (१) अत्यन्त सामीप्यके कारण, (२) अत्यन्त दूरीके कारण, (३) बीचमें किसी आवरणके आ जानेके कारण, (४) इन्द्रियोंकी दुर्बलताके कारण, (५) मनके अन्यत्र लगे होनेके कारण, (६) समान वस्तुमें मिल जानेके कारण, (७) दूसरेके द्वारा अभिभूत होनेके कारण तथा (८) अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण पदार्थोंकी प्रत्यक्षके द्वारा उपलब्धि नहीं होती है।"[२] जैसे (१) आँखोंमें लगाया हुआ काजल अत्यन्त समीपताके कारण नहीं

---

१. तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।

—(सूत्रस्थान ११।७)

२. सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात्करणदौर्बल्यान्मनोऽन-वस्थानात्समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।

—(सूत्र ११।८)

दिखाई पड़ता है। (२) दूर आकाशमें उड़ता हुआ पक्षी अत्यन्त दूर होनेके कारण प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता है। (३) दीवाल इत्यादिकी आड़में छिपी हुई अन्तःपुरकी राजदाराएँ आवरण अर्थात् व्यवधानके कारण नहीं देखी जा सकती हैं। (४) कामला आदिसे पीडित नेत्रोंवाले पुरुषको वस्तुकी श्वेतताका भान नहीं होता है। (५) किसी सुन्दरीके मुखचन्द्रको एकाग्रचित्तसे निहारनेवाला पुरुष समीपमें कहे गए वचनोंको नहीं सुन पाता है। (६) बादलोंसे गिरी हुई जलकी बूँदोंको सरोवरमें कोई नहीं पहचान सकता है। (७) मध्याह्नके समय सूर्यके तेजसे तारोंका तेज अभिभूत हो जानेके कारण उनका दर्शन नहीं किया जा सकता है। (८) परमाणु और कीटाणु (germs) इत्यादि इन्द्रियसन्निकृष्ट होनेपर भी और एकाग्रताके साथ देखे जानेपर भी अतिसूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिगत नहीं होते हैं। 'सौक्ष्म्यात्' के बाद आए हुए चकारसे 'अनभिव्यक्ति' आदि अनुक्त कारणोंका भी समुच्चय कर लेना चाहिए। जैसे — दुग्धावस्थामें अनभिव्यक्त दधि विद्यमान होनेपर भी प्रत्यक्षका विषय नहीं बन पाता है। "इसलिए यदि कोई कहे कि केवल प्रत्यक्षसे उपलब्ध होनेवाला वस्तुसमूह ही है, और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह विना परीक्षा किए हुए अर्थात् विना आगापीछा सोचे हुए ही ऐसा कहता है।"[१]

तात्पर्य यह है कि यदि किसी वस्तुकी प्रत्यक्षके द्वारा उपलब्धि न हो, तो इतनेमात्रसे उसके अभावका निश्चय नहीं कर लेना चाहिए। क्योंकि ऐसा करनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। फिर तो यदि कोई व्यक्ति कार्यवशात् घरसे बाहर गया हो, तो उसको न देखनेके कारण उसके अभावका निश्चय कर लेना चाहिए। परन्तु ऐसा निश्चय तो कोई नहीं करता है। काशी अयोध्याप्रभृति नगरोंको प्रत्यक्ष न देखनेपर भी लोग उनकी सत्तामें विश्वास करते हैं। इससे ऐसा भी तर्क नहीं करना चाहिए कि "प्रत्यक्षसे न उपलब्ध होनेवाले जिस किसी पदार्थके अस्तित्वकी कल्पना कर ली जाय," क्योंकि दृढतर प्रमाणोंके द्वारा निश्चित पदार्थका ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं होता है, तो यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष उसमे अयोग्य या असमर्थ है, परन्तु जो वस्तु सक्षम रसके समान किसी भी प्रमाणके द्वारा अवधारित नहीं है, उसके विषयमें प्रत्यक्षकी अयोग्यताका प्रश्न ही नहीं उठता है।

अनुमान

आप्तोपदेश और प्रत्यक्षके समान अनुमान प्रमाणका भी प्रसङ्गवशात् चरकसंहिताके तीन विभिन्न अध्यायोंमें लक्षण किया गया है। सबसे पहला

तुलना कीजिए—

अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥

—(साङ्ख्यकारिका ७)

१. **तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति नान्यदस्तीति।**—(सूत्र० ११।८)

लक्षण सूत्रस्थानके तिस्रैषणीय अध्यायमें आया है तथा इस स्थलपर उदाहरणोंके सहित उसका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है—

"प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक तीन प्रकारका तथा तीनों कालका सम्यग् ज्ञान (जिसके द्वारा) किया जाता है (उसे अनुमान कहते हैं)। (१) बुद्धिमान लोग परोक्ष अग्निका धूमसे वर्त्तमानमें (सामान्यतोदृष्ट) अनुमान करते हैं, (२) इसी प्रकार अतीत मैथुनका गर्भदर्शनसे निश्चय (शेषवत् अनुमान) करते हैं, (३) तथा इस लोकमें बीजसे तदनुरूप फलको उत्पन्न हुआ देखकर अर्थात् व्याप्तिज्ञानके द्वारा (जलकर्षणादि अन्य सहकारिकारणोंसे युक्त हुए) बीजसे अनागत फलका (पूर्ववत्)अनुमान करते हैं।"[१]

इस उद्धरणका विश्लेषण करनेसे अनुमानके सम्बन्धमें इन इन बातोंपर प्रकाश पड़ता है :—

(१) लक्षण—(अ) प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक ही अनुमानप्रमाणका व्यापार होता है। यहाँपर प्रत्यक्षका ग्रहण व्याप्तिग्राहक प्रमाणको उपलक्षित करानेके लिए हुआ है। वस्तुतः व्याप्तिग्रहणके विना अनुमान असम्भव है, चाहे व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षके द्वारा हुआ हो अथवा किसी अन्य प्रमाणके द्वारा। इसीलिए श्रीचक्रपाणिदत्तने 'प्रत्यक्षपूर्वम्'का अर्थ किया है—'व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वकम्'। जब एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ साहचर्य-सम्बन्ध कल्पित न होकर स्वाभाविक हो, तो उसे अविनाभावसम्बन्ध या व्याप्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ—रसोईमें प्रतिदिन उठनेवाले धूमका अग्निके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध साक्षात् उपलब्ध करके द्रष्टा धूम(व्याप्य)की अग्नि(व्यापक)के साथ व्याप्तिका निश्चय 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इस रूपमें करता है। इस व्याप्तिज्ञानके पश्चात् ही जब वह किसी पर्वत इत्यादिपर धूम उठता देखता है, तो उस व्याप्तिका स्मरण करके 'वहाँ अग्नि है' ऐसा अनुमान करता है। इसी प्रकार 'यज्ञादिकर्म करनेसे अपूर्वोत्पत्तिपूर्वक स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है' इस आशयके वाक्य शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर पौनःपुन्येन पढ़कर तथा सिद्ध योगियोंके मुखसे वार-वार सुनकर श्रोता आप्तोपदेश प्रमाणके द्वारा 'यत्र यत्र यागाद्याचरणं तत्र तत्रापूर्वोत्पत्तिपूर्वकं स्वर्गादिलाभः' इस व्याप्तिका ग्रहण करता है। फिर यदि कभी वह यज्ञादि करनेसे भाग्यवशात् स्वर्ग पहुँच जाय, तो वहाँपर प्राणियोंको स्वर्गका सुख भोगते देखकर व्याप्तिज्ञानका स्मरण करके 'इन लोगोंने अवश्य ही यज्ञादि शुभकर्मोंका

---

१. **प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।**
वह्निर्निगूढो धूमेन, मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं, बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ —(सूत्र० ११।२१-२२)

तुलना कीजिए—
अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।
—(न्यायसूत्र १।१।५)

अनुष्ठान किया होगा' ऐसा अनुमान करेगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष और शब्दप्रभृतिप्रमाणोंके द्वारा व्याप्तिका ग्रहण होनेपर और प्रत्यक्षके द्वारा लिङ्गका ग्रहण होनेपर ही अनुमानको अवकाश प्राप्त होता है।

(आ) 'अनुमीयते' पदके आगे 'येन तदनुमानम्' इतना और वाक्यशेषके रूपमें जोड़ लेना चाहिए। 'अनुमीयते'में 'अनु' और 'मीयते' ये दो पद हैं। इनमें 'अनु'का अर्थ है—'व्याप्तिग्रहणके अनन्तर' और 'मीयते येन'का अर्थ है—'जिसके द्वारा परोक्ष अर्थका सम्यग् रूपसे निश्चय किया जाता है' उसे अनुमानप्रमाण कहते हैं। इस प्रकार अनुमान शब्दका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी उसकी व्याप्तिज्ञानपूर्वकताका बोध कराता है।

(२) **वर्गीकरण और उदाहरण**—'त्रिविधम्' पदके द्वारा यहाँपर अनुमानके त्रैविध्यको तो स्वीकार किया गया है, परन्तु उन तीनों प्रकारोंका नाम क्या है, यह नहीं बताया गया। फिर भी आगे जो उदाहरण दिए गए हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों प्रकारके अनुमान न्यायदर्शनोक्त पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्टके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उदाहरण यहाँपर विपरीत क्रमसे दिए गए हैं। इनके प्रस्तुत उदाहरणोंके आधारपर इन तीनों प्रकारोंका सङ्क्षिप्त विवेचन कर लेना आवश्यक है।

(क) पूर्ववत्—जहाँपर कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है, उसे पूर्ववत् कहते हैं।[१] जैसे कि संसारमें लोग देखते हैं कि जब बीज, जलकर्षण भूमि उष्णता आदि सहकारिकारणोंसे युक्त होता है, तो उससे सदृश फलकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् आमका बीज बोनेपर आमके फल लगते हैं, और बबूलका बीज बोनेपर बबूलके फल। इस प्रकारका व्याप्तिसम्बन्ध देखकर बुद्धिमान् पुरुष बीजके द्वारा अनागत सदृश फलका अनुमान करते हैं। यद्यपि कारण कार्यका अतिक्रमण भी कर सकता है, क्योंकि यह अनिवार्य नहीं है कि बीजका अस्तित्व होनेपर फल लगें ही। फल लगना तो दूर, बोये जानेके पूर्व ही बीज नष्ट हो सकता है। तथापि दूसरे सहकारिकारणोंसे युक्त होनेपर बीज अवश्य फलित होता है, ऐसा ग्रन्थकारका अभिप्राय समझना चाहिए।

(ख) शेषवत्—जहाँपर कार्यसे कारणका अनुमान किया जाय, वहाँ शेषवत् होता है।[२] जैसे किसी स्त्रीके गर्भको देखकर मैथुनका अनुमान होता है। यह अनुमान भी गर्भ और मैथुनके व्याप्तिसम्बन्धका स्मरण करके ही होता है। वर्त्तमान युगमें कृत्रिम गर्भाधानका जबसे आविष्कार हुआ है, तबसे मैथुनके विना भी गर्भ सम्भव हो गया है। अतः इस युगमें पूर्वोक्त व्याप्ति नहीं बन सकती है।

---

१. द्रष्टव्य—**पूर्ववदिति । यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति ।** —न्यायभाष्य (१।१।५)

२. द्रष्टव्य—**शेषवत्तत् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते । पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति ।** —न्यायभाष्य (१।१।५)

(ग) सामान्यतोदृष्ट—जहाँपर कार्य और कारणसे भिन्न किसी सामान्य-लिङ्गके विशिष्ट दर्शनसे अनुमान किया जाता है, वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।[१] जैसे धूएँसे अग्निका अनुमान।

अनुमानप्रमाणके विषय अतीत अनागत और वर्त्तमान तीनों कालके हो सकते हैं, जबकि प्रत्यक्षप्रमाणका विषय केवल वर्त्तमानकालका ही हो सकता है। पूर्वोक्त तीनों उदाहरण कालकी दृष्टिसे भी विभक्त किए जा सकते हैं—

(क) अतीतका अनुमान—वर्त्तमान गर्भको देखकर अतीत मैथुनका अनुमान किया जाता है। (ख) अनागतका अनुमान—सहकारिकारिणयुक्त वर्त्तमान बीजसे अनागत फलका अनुमान किया जाता है। (ग) वर्त्तमानका अनुमान—वर्त्तमान क्षणसे सम्बद्ध धूमको देखकर वर्त्तमान अग्निका अनुमान करके लोग चिलम भरनेके लिए दौड़ पड़ते हैं।

'प्रत्यक्षपूर्वम्' और 'त्रिकालम्' ये दोनों पद अनुमानका प्रत्यक्षसे व्यवच्छेद करते हैं।

शेष दो स्थलोंपर जो अनुमानके लक्षण दिए गए हैं, वे परस्पर बिलकुल समान हैं। इसलिए उनकी व्याख्या एक साथ प्रस्तुत की जा रही है—"युक्तिकी अपेक्षा रखनेवाले तर्कको अनुमान कहते हैं।"[२]

चरकसंहितामें 'युक्ति'को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है और अनुमानका प्रकरण समाप्त होनेपर उसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। किन्तु यहाँपर युक्ति शब्दका प्रयोग अविनाभावसम्बन्ध अर्थात् व्याप्तिके लिए किया गया है, और तर्कका अर्थ है 'परोक्षज्ञान'। इसलिए सम्पूर्ण वाक्यका अर्थ हुआ — "व्याप्तिज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाला परोक्षवस्तुका ज्ञान अनुमान कहा जाता है।" जैसे धूम और अग्निके व्याप्तिसम्बन्धकी अपेक्षासे परोक्ष अग्निका धूमके द्वारा पर्वतादि पक्षमें अनुमान किया जाता है। अतः ये दोनों लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षणसे मेल खाते हैं। इनमें कोई वैचित्र्य नहीं है।

शास्त्रार्थमें जब अनुमानप्रमाणके द्वारा किसी अर्थकी सिद्धि की जाती है, तो उस वाक्यका पञ्चरूपोपपन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। इन पञ्चरूपोंको

१. द्रष्टव्य—**सामान्यतः सामान्येन कार्यकारणभिन्नेन लिङ्गेन विशिष्टं दृष्टं दर्शनं हेतुतया विद्यते यस्मिंस्तत्सामान्यतोदृष्टम्। यथा बलाकया सलिलानुमानम्।**—(१।१।५ न्यायभाष्ये भाष्यचन्द्रः)। **सामान्यतोदृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति।**—(न्यायभाष्य १।१।५)। **अकार्यकारणभूतानां च सामान्यतोदर्शनादनुमानम्**—चक्रपाणिः (सूत्र० ११।२१)।

२. **अनुमानं खल्वपि तर्को युक्त्यपेक्षः।** —(विमान० ४।६)
अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः। —(विमान० ८।१४)

न्यायदर्शनमें अनुमानवाक्यका अवयव कहा गया है।[१] चरकसंहितामें इन अवयवोंको सुविधाकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया गया है—

(१) **प्रतिज्ञा**—साध्यका (जिसे सिद्ध करना है उसका) कथन करना प्रतिज्ञा कहलाता है। जैसे—'पुरुष नित्य है।'[२]

(२) **स्थापना**—उस प्रतिज्ञाको ही हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमनके द्वारा प्रतिपक्षीके समक्ष स्थापित करना स्थापना कहलाता है। पहले प्रतिज्ञा की जाती है, उसके बाद उसकी स्थापना की जाती है। क्योंकि विना प्रतिज्ञा किए हुए स्थापना किस वस्तुकी की जायगी। जैसे—'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा है। हेतु — अकृतक होनेसे, अर्थात् उत्पत्तिधर्मा न होनेसे, अथवा कोई उसका बनानेवाला न होनेसे। दृष्टान्त—आकाश अकृतक है, अर्थात् कोई उसका बनानेवाला नहीं है, और वह नित्य है। उपनय—जिस प्रकार आकाश अकृतक है, उसी प्रकार पुरुष भी अकृतक है। निगमन—इसलिए पुरुष नित्य है।[३]

वस्तुतः प्रतिपक्षीके प्रति तो प्रतिज्ञा भी स्थापना ही होती है, क्योंकि पञ्चावयवोंके द्वारा ही अनुमान किया जाता है, चारके द्वारा नहीं। परन्तु यहाँपर शास्त्रकारने प्रतिज्ञाको स्थाप्य मानकर स्थापनासे पृथक् कर दिया है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिष्ठापना—विरोधी(पर)की प्रतिज्ञासे विपरीत अर्थ(साध्य)की स्थापना करना प्रतिष्ठापना कहलाता है। जैसे—'पुरुष अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है। हेतु—इन्द्रियग्राह्य होनेके कारण। दृष्टान्त—जैसे घट इन्द्रियग्राह्य है, और वह अनित्य है। उपनय—जैसा घट, वैसा पुरुष। निगमन—इसलिए पुरुष अनित्य है।[४] प्रतिष्ठापनामें 'प्रति' शब्द विपरीत अर्थका वाचक है। अनुमानके इन पाँचों अवयवोंका उल्लेख अर्थेदशमहामूलीय अध्यायमें शास्त्रके वाक्यार्थ-पूर्वक कथनके प्रसङ्गमें भी हुआ है।[५]

---

१. **प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।** —न्यायसूत्र (१।१।३२)

२. **अथ प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्, यथा नित्यः पुरुषः इति।** —(विमान० ८।३०)

तुलना कीजिए—**साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।** —न्यायसूत्र (१।१।३३)

३. **अथ स्थापना। स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना। किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति। यथा—नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञा। हेतुः—अकृतकत्वादिति। दृष्टान्तः—अकृतकमाकाशम्, तच्च नित्यम्। उपनयः—यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुषः। निगमनम्—तस्मान्नित्य इति।** —(विमान० ८।३१)

४. **अथ प्रतिष्ठापना। प्रतिष्ठापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञायाः विपरीतार्थ-स्थापना। यथा—अनित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञा। हेतुः—ऐन्द्रियकत्वादिति। दृष्टान्तः—घटः ऐन्द्रियकः, स चानित्यः। उपनयः—यथा घटस्तथा पुरुषः। निगमनम्—तस्मादनित्य इति।** —(विमान० ८।३२)

५. द्रष्टव्य—(सूत्र० ३०।१८)।

प्रतिज्ञाके पश्चात् क्रमशः हेत्वादि अवयवोंका इस प्रकार निरूपण किया गया है—

(क) हेतु—(व्यापक साध्यकी) उपलब्धि अर्थात् ज्ञानके (व्याप्य) कारण (साधन)को हेतु कहते हैं। यह हेतु प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य और उपमानके भेदसे चार प्रकारका होता है। इन हेतुओंसे जिसका ज्ञान होता है, वह (व्याप्तितत्त्वका निर्धारक होनेसे) 'तत्त्व' कहलाता है।[1]

प्रत्यक्षसे जिस हेतु(लिङ्ग)का ग्रहण हो, उसे प्रत्यक्षहेतु कहेंगे। जैसे— 'वह्निमान् पर्वतोऽयं धूमवत्त्वात'में धूम प्रत्यक्षहेतु है। अनुमानसे जिस हेतुका ग्रहण हो, कह अनुमेयहेतु कहलाता है। जैसे 'आतुरोऽयम्, मन्दाग्नित्वात्' यहाँ-पर मन्दाग्नित्व हेतुको प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है, प्रत्युत पाचनशक्तिके आधारपर उसका अनुमान किया जाता है। इसलिए मन्दाग्नित्व अनुमेयहेतु है। जिस हेतुका ग्रहण ऐतिह्य अर्थात् आप्तप्रमाणके द्वारा हो, उसे ऐतिह्यहेतु कहते हैं, तथा जिस हेतुका उपमानसे ग्रहण हो, उसे औपम्यहेतु कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिस हेतुका ज्ञान होता है, उसे ही तत्त्व कहते हैं।

(ख) दृष्टान्त—जिस अर्थके विषयमें मूर्खों(लौकिकों) और विद्वानों-(परीक्षकों)की बुद्धि एक समान हो, और जो वर्णनीय(साध्य) विषयका वर्णन (साधन) करता हो, उसे दृष्टान्त कहते हैं। जैसे—अग्नि उष्ण है, जल तरल है, पृथिवी स्थिर (कठोर) है, आदित्य प्रकाशक है। अथवा जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार साङ्ख्यके वचन भी प्रकाशक हैं।[2] जिस वस्तुके विषयमें मूर्खों और विद्वानोंमें किसी प्रकारका मतभेद न हो, जैसा बुद्धिमान् समझता है, वैसा ही मूर्ख भी समझता हो, उसीको दृष्टान्त या उदाहरण कहते हैं। जो वस्तु केवल पण्डितको ही ज्ञात हो, वह कभी दृष्टान्त नहीं बन सकती है। लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त भी जबतक प्रतिपाद्य पुरुषको हृदयङ्गम न करा दिया जाय, तबतक दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता है। दृष्टान्तमें साध्य वस्तुका साधर्म्य रहता है और उसी साधर्म्यके बलसे वह साध्यका साधन करता है। अग्नि इत्यादि लोकप्रसिद्ध होनेके कारण ही उदाहरणके रूप में दिए गए हैं।

---

१. **अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्, तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति, एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत्तत्त्वम्।** —(विमान० ८।३३)

तुलना कीजिए—**"उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" इति "तथा वैधर्म्यात्" इति च।** —न्यायसूत्र (१।१।३४–३५)

२. **अथ दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्, यो वर्ण्यं वर्णयति। यथा अग्निरुष्णो, द्रवमुदकं, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशकः इति। यथा वादित्यः प्रकाशकस्तथा साङ्ख्यवचनं प्रकाशकमिति।**— (विमान० ८।३४)

तुलना कीजिए—**"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।"** —न्यायसूत्र (१।१।२५)

तथा "साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्" इति "तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्" इति च। —न्यायसूत्र (१।१।३६-३७)

(ग) उपनय—साधन (दृष्टान्त)के सिद्धान्तसिद्ध धर्मका साध्य (पक्ष)में फिरसे कथन करना उपनय कहलाता है। जैसे—उसी प्रकार यह (पर्वत) भी धूमवान् है।[1] धूमका अग्निके साथ जो स्वाभाविक साहचर्य है, वह महानस (दृष्टान्त)का सिद्धान्तसिद्ध धर्म है, उस धर्मका साध्य पक्षमें 'तथा' शब्दके द्वारा (और वैधर्म्य होनेपर 'न तथा' शब्दके द्वारा) पुनः कथन करके साध्यका उपसंहार करना उपनय कहलाता है।

(घ) निगमन—हेतुके द्वारा सिद्ध किए गए साध्यधर्मका (अन्तमें) कथन करना निगमन कहा जाता है। जैसे—इसलिए (यह पर्वत) अग्निमान् है।[2] शब्दप्रयोगकी दृष्टिसे यह प्रतिज्ञाका 'तस्मात्' शब्दपूर्वक दोहराना मात्र होता है।

अनुमानका चिकित्साकर्ममें उपयोग

शरीरगत शब्द स्पर्श रूप और गन्धकी परीक्षा प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा की जा सकती है, किन्तु उसके शरीरगत रसकी परीक्षा रसनेन्द्रियके द्वारा कदापि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे रोगके कीटाणु परीक्षकके उदरमें प्रविष्ट हो जायँगे, और परीक्षक भी रोगग्रस्त हो जायगा। यदि संयोगसे रोगीका शरीर विषाक्त हो गया हो, तो परीक्षककी मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए रोगीके शरीरगत रसकी परीक्षा करते समय अनुमानका आश्रय लेना चाहिए, इस प्रयोजनको दृष्टिमें रखकर महर्षि आत्रेय कहते हैं—

"रोगीके शरीरका रस यद्यपि इन्द्रियग्राह्य है, तथापि उसका ज्ञान अनुमानसे ही प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि प्रत्यक्षसे उसका ग्रहण करना उचित नहीं है। अत एव रोगीसे प्रश्न करके उसके मुखका रस कैसा है, यह जाने। यदि रोगी के शरीरसे जुएँ अलग हट जाएँ, तो इससे उसके शरीरकी विरसताका अनुमान करना चाहिए, क्योंकि शरीरके रसरहित होनेपर जुएँ चले जाते हैं। इसी प्रकार यदि जुएँ इत्यादि न हटें, तो समझना चाहिए कि शरीर स्वाभाविक रससे युक्त है। मक्खियोंके समीप आनेसे मधुरताका अनुमान करना चाहिए। रक्तपित्तका सन्देह होनेपर निकलनेवाला रक्त 'धारिरक्त' (शरीरधारक शुद्धरक्त) है, या 'रक्तपित्त'—इसका निर्णय करनेके लिए उसे

---

1. **उपनयः सिद्धान्तोपपादितस्य साधनधर्मस्य साध्ये पुनः कथनम्। यथा—तथा चायं धूमवानिति।** —चक्रपाणिः (सूत्र० ३०।१८)

तुलना कीजिए—**उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।** —न्यायसूत्र (१।१।३८)

2. **निगमनं हेतुसाधितसाध्यधर्मकथनम्। यथा—तस्मादग्निमानिति।** —चक्रपाणिः (सूत्र० ३०।१८)

तुलना कीजिए—**हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।** —(न्यायसूत्र० १।१।३९)

कुत्ते और कौएके आगे डालें। यदि वे खा जायँ, तो वह शरीरधारक रक्त है, और यदि न खाएँ, तो रक्तपित्त है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। धारिरक्त पित्तसे दूषित न होनेके कारण रसयुक्त होता है, इसलिए कुत्ते इत्यादि उसे चाट लेते हैं, परन्तु पित्तसे दूषित रक्तपित्तको नहीं चाटते हैं। इसी प्रकार रोगीके शरीरगत अन्य रसोंका भी अनुमान करना चाहिए।"[१]

रसके अतिरिक्त रोगीके और कौन-कौनसे भाव अनुमानके द्वारा जाने जाते हैं, इसका वर्णन करते हुए चरकसंहितामें उन विभिन्न भावोंकी लम्बी माला इस प्रकार पिरोई गई है—

"इसी प्रकार पुनः अनुमानसे ज्ञात होनेवाले ये कुछ अन्य भाव भी हैं। यथा—(१) पाचनशक्तिके द्वारा अग्निका परीक्षण (अनुमान) करना चाहिए। (२) व्यायामशक्तिके द्वारा बलका, (३) शब्दादि विषयोंके ग्रहणसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंका, (४) अर्थका अव्यभिचरित रूपसे ग्रहण करनेके द्वारा मनका,[२] (५) व्यवसाय(प्रवृत्ति)के द्वारा विज्ञानका (यथा—यदि रोगी पेयजलको पीनेके लिए प्रवृत्त होता है, तो इससे अनुमान होता है कि उसे जलका ज्ञान हुआ है), (६) (नारी इत्यादिमें) आसक्तिसे (उसके कारणभूत) रजस्‌का, (७) अविज्ञानसे मोहका, (८) अभिद्रोह(परपीडार्था प्रवृत्ति)से क्रोधका, (९) दीनता(रोना आदि)से शोकका, (१०) आमोद(नृत्य गीत आदिके द्वारा उत्सव मनाने)से हर्षका, (११) तोष (मुखनेत्रादिकी प्रसन्नता)से प्रीतिका, (१२) विषादसे भयका, (१३) अविषादसे धैर्य(विपत्तिमें भी दीनताके न होने)का, (१४) उत्थान(क्रियारम्भ)के द्वारा अथवा उत्साहके द्वारा वीर्य(दुष्कर कार्योंसे भी मन न मोड़ने)का, (१५) विभ्रम(भ्रान्ति)के न होनेसे स्थिरबुद्धिका, (१६) अभिप्राय(अभ्यर्थना)से श्रद्धा(इच्छा)का, (१७) (ग्रन्थादिके) ग्रहण(धारणा)से मेधाका, (१८) नाम ग्रहण करनेसे सञ्ज्ञाका, (१९) स्मरणसे स्मृति(स्मरणके कारणभूत संस्कार)का, (२०) शरमानेसे लज्जाका, (२१) सतत अनुशीलन-(अभ्यास)से शील(वस्तुओंमें सहज राग)का, (२२) प्रतिषेध(व्यावृत्ति)से द्वेषका, (२३) अनुबन्ध(उत्तरकालीन फल)से छलका, (जैसे—पथ्य ग्रहण करनेके दिन ही यदि रोगी चोरीसे अपथ्य ग्रहण कर लेता है, तो उत्तरकालीन ज्वरादि-से उसकी चोरी पकड़ ली जाती है) (२४) मनकी अचञ्चलतासे धृतिका, (२५) आज्ञापालनके द्वारा वश्यताका, (२६—२९) कालविशेष, देशविशेष, उपशय-

---

१. रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादेवावगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्। यूका-पसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्। लोहितपित्त-सन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्ष-णाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्। एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत।

—(विमान० ४।९)

२. यदि इन्द्रियका अर्थसे संयोग होनेपर रोगी शब्दादि विषयोंका पृथक्-पृथक् ग्रहण कर लेता है, तो उससे इन्द्रियार्थग्राहक मनका अनुमान किया जाता है।

विशेष और वेदनाविशेषके द्वारा क्रमशः अवस्था, भक्ति(रुचि), सात्म्य(पथ्य) और व्याधिसमुत्थानका अनुमान करना चाहिए। जैसे—सोलह वर्ष आदि कालविशेषसे बाल्यादि अवस्थाका ज्ञान होता है। मध्यदेशादि देशविशेषसे गेहूँ और उर्द आदिमें रुचिका अनुमान होता है। चूँकि यह वस्तु इसके अनुकूल है, अतः यह इसके लिये सात्म्य है, ऐसा उपशयविशेषसे अनुमान होता है। इसी प्रकार चूँकि इसे सन्तापजन्य वेदना हो रही है, इसलिए इसको ज्वर हो गया है, ऐसा वेदनाविशेषसे अनुमान होता है। (३०) उपशय(सुखकर) और अनुपशय(दुःखकर)के द्वारा गूढ लक्षणोंवाले रोगका अनुमान करना चाहिए। अर्थात् जिस रोगके लक्षण स्पष्ट न हों, और हम उनसे निर्णय न कर सकें कि यह रोग किस दोषसे उत्पन्न हुआ है, तब उपशय और अनुपशयके द्वारा परीक्षा की जाती है। अर्थात् यह देखना होता है कि इसे कौन-कौन से भाव सुखकर लगते हैं और कौन-कौन से दुःखकर। इसी ज्ञानके द्वारा रोग-का निदान कर लिया जाता है। इससे यह भी फलित हुआ कि यदि व्याधिके लक्षण स्पष्ट हों, तो उन्हीं लक्षणोंसे व्याधिका निश्चय कर लेना चाहिए, उपशय और अनुपशयके द्वारा परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है। (३१) अपचार(अपथ्यसेवन)विशेषसे दोषोंकी मात्राविशेषका अनुमान करना चाहिए। अधिक अपचारसे अधिक दोष होते हैं, और स्वल्पसे कम। (३२) अरिष्ट लक्षणोंसे आयुके क्षयका ज्ञान होता है। इसकी व्याप्ति इस प्रकार है— 'उत्पन्न हुए अरिष्टका मृत्युके विना नाश नहीं होता है, और ऐसा कोई मृत्युप्रकार भी नहीं है, जिसके पूर्व अरिष्टलक्षण न होते हों।'[1] (३३) श्रेयस्कर मार्गपर चलनेसे शीघ्र होनेवाले कल्याणका, तथा (३४) द्वेषादि मनोविकारोंका अभाव होनेसे निर्मल चित्तका अनुमान करना चाहिए। यद्यपि ग्रहणीकी मृदुता और कठोरता, स्वप्नदर्शन, अभिप्राय (भोजनादिकी इच्छा), द्विष्ट विषय, अभिमत विषय, सुख और दुःखका ज्ञान अनुमानके द्वारा भी किया जा सकता है, तथापि अनुमानमें बुद्धिका व्यायाम अधिक होनेके कारण इन्हें रोगीसे प्रश्न करके ही आसानीसे समझ लेना चाहिए।"[2]

---

१. न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरस्सरम्॥ —(इन्द्रियस्थान २।५)

२. इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, मेधां ग्रहणेन, सञ्ज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेणेति। ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति।—(विमान० ४।१०)

इस प्रकारसे रोगके सम्बन्धमें सुनिश्चित निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए अनुमानप्रमाणका चिकित्साकर्ममें बहुत अधिक उपयोग किया जाता है। अनुमानसे काम लेनेवाले वैद्यका बुद्धिकौशल प्रमाणित होता है। रोगका निदान करनेमें और तदनुसार चिकित्साका अवधारण करनेमें अनुमानका बहुत बड़ा योगदान होता है। जो वैद्य अनुमानके द्वारा व्याधितत्त्वका निर्णय करनेमें जितना अधिक सफल होता है, लोकमें उसकी कीर्त्ति उतनी ही अधिक फैलती है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंको कण्ठाग्र कर लेना तथा प्रत्यक्ष लिङ्गोंके द्वारा निदान कर लेना तो सभी वैद्योंके लिए सुकर है, परन्तु अनुमानमें अव्याहत गति सबकी नहीं होती है। कोई विरले विचक्षणबुद्धि वैद्य ही अनुमानकुशल बन पाते हैं। रोगोंके प्रत्यक्षसे गृहीत होनेवाले लिङ्ग प्रायः कम ही होते हैं, इसलिए उनके अभावमें व्याधिका निर्धारण करनेके लिए भिषक् अनुमानका आश्रय ग्रहण करनेको बाध्य हो जाता है। किन्तु अनुमान करते समय प्रत्येक पदपर यह भय बना रहता है कि कहीं हेत्वाभास(fallacious reasoning)के प्रवेशसे अनुमानकी सारी प्रक्रिया ही चौपट न हो जाय। हेत्वाभास चुपके-चुपके इस प्रकार प्रवेश करता है कि अनुमाताको पता ही नहीं चलता है। उसके प्रवेशसे जब अनुमानजन्य निष्कर्ष गलत हो जाता है, तो न केवल चिकित्साकर्ममें विफलता मिलती है, प्रत्युत एक बहुमूल्य जीवनके बरबाद होनेकी भी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसलिए अनुमानकुशल वैद्य सदैव हेत्वाभासोंसे बचनेका प्रयास करते हैं। कुशल चिकित्सकके लिए हेत्वाभासोंका विशद ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए चरकतन्त्रमें हेत्वाभासोंका भी सम्यक् निरूपण किया गया है।

हेत्वाभास

"अब इसके अनन्तर अहेतु(हेत्वाभास)का वर्णन किया जायगा। असाधक हेतुको अहेतु कहते हैं, अर्थात् जो वस्तुतः हेतु न हो, परन्तु हेतुकी तरह भासता हो। यह तीन प्रकारका होता है—(१) प्रकरणसम; (२) संशयसम और (३) वर्ण्यसम।"[१]

चरकसंहिताके रोगभिषग्जितीय अध्यायमें इन तीन हेत्वाभासोंके अतिरिक्त तीन और (४) सव्यभिचार (५) विरुद्ध और (६) अतीतकाल भी निरूपित हुए हैं। वस्तुतः इन तीनोंका क्षेत्र हेत्वाभासोंसे अधिक व्यापक तथा स्वरूप कुछ पृथक् भी है, जैसा कि इनके प्रतिपादनोंके अन्तमें दिखाया जाएगा। इसलिए आचार्यने इन्हें पृथक् पढ़ा है। इनमें जिसे यहाँपर 'वर्ण्यसम' कहा गया है, उसे गौतमने 'साध्यसम' कहा है। वात्स्यायनभाष्यके अनुसार 'संशयसम'का 'सव्यभिचार'में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए न्यायमें हेत्वाभासोंकी सङ्ख्या पाँच ही है-(१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) प्रकरणसम (४) साध्यसम और (५) कालातीत।[२]

---

१. अथाहेतुः—अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसमश्चेति।
—(विमान० ८।५७)

२. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।
—(न्यायसूत्र० १।२।४)

चरकसंहितामें संशयसम और सव्यभिचारका पृथक् पृथक् निरूपण होनेके कारण कुल सङ्ख्या छः हो जाती है। हेत्वाभासोंका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

(१) **प्रकरणसम**—"प्रकरणसम नामका हेत्वाभास इस प्रकार वर्णित है — जैसे 'आत्मा शरीरसे भिन्न और नित्य है' यह पक्ष प्राप्त होनेपर कोई दूसरा कहे—'चूंकि आत्मा शरीरसे भिन्न है, इसलिए नित्य है। शरीर तो अनित्य है, इसलिए आत्मा इससे विरुद्धधर्मवाला (नित्य) होना चाहिए।' यह हेत्वाभास है, क्योंकि जो साध्यपक्ष है, वही साधक हेतु नहीं बन सकता है।"[१]

जिसको प्रकृत किया जाय अर्थात् साध्यरूपसे अधिकृत किया जाय, (प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते इति प्रकरणम्) इस व्युत्पत्तिके द्वारा प्रकरणका अर्थ है साध्यपक्ष। जो हेतु उस साध्यपक्षके समान हो, उसे प्रकरणसम कहते हैं। उक्त उदाहरणमें आत्माकी शरीरसे भिन्नता और नित्यता दोनों ही साध्य हैं। इसलिए आत्माकी नित्यताको सिद्ध करनेके लिए उसकी शरीरसे भिन्नताको हेतु नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि अभी वह स्वयम् असिद्ध है। पहले आत्मा किसी प्रकार नित्य सिद्ध हो जाय, तब अनित्य शरीरसे उसकी भिन्नता भी सिद्ध हो सकती है। दूसरी बात यह है कि चार्वाकमतमें शरीर ही चेतन और अनित्य है। उस मतके अनुयायियोंको समझानेके लिए उक्त हेतु कैसे दिया जा सकता है? उनके सामने तो पहले यही सिद्ध करना होगा कि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा नामक वस्तु भी है, तब भले ही आत्मवस्तुकी नित्यता सिद्ध की जाय। साध्यको साधन नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि वह असिद्ध होता है। न्यायदर्शनमें सत्प्रतिपक्षको प्रकरण-सम हेत्वाभास कहा गया है। जिस हेतुका प्रतिपक्षभूत, साध्यसे विपरीतको सिद्ध करनेवाला, तथा तुल्यबलवाला अन्य हेतु भी विद्यमान हो, उसको 'प्रकरणसम' या 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः।' यहाँपर 'नित्यधर्मानुपलब्धेः' इस हेतुका प्रतिपक्षभूत, शब्दकी अनित्यतारूप साध्यसे विपरीत नित्यताको सिद्ध करनेवाला 'अनित्य-धर्मानुपलब्धेः' यह हेतु भी हो सकता है। हम कह सकते हैं—शब्दो नित्यो-ऽनित्यधर्मानुपलब्धेः। अतः तुल्यबलवाले प्रतिपक्षभूत हेत्वन्तरके विद्यमान होनेसे इसे सत्प्रतिपक्ष कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। परन्तु इसका मूलनाम 'प्रकरणसम' इस अर्थको देनेमें सर्वथा अपर्याप्त है। न्यायभाष्यमें संशयका विषय बननेवाले अनिर्णीत पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरण कहा गया है, क्योंकि **'प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते वादिप्रतिवादिभ्यामिति प्रकरणम्'** इस व्युत्पत्तिसे प्रकरण शब्दका यही अर्थ निर्गलित होता है। उस प्रकरणके सम्बन्धमें चिन्ता

---

१. **तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुः, यथा—अन्यः शरीरादात्मा नित्यः इति पक्षे परो ब्रूयात्—'यस्मादन्यः शरीरादात्मा, तस्मान्नित्यः। शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः। नहि य एव पक्षः स एव हेतुः।** (विमान० ८।५७)

(विचार) करते समय जिस हेतुको लेकर प्रकरणकी चिन्ता प्रारम्भ हुई थी, उसी हेतुको निर्णय करनेके लिए उपस्थित करना 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है।[1] यह भाष्य **'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः'** इस न्यायसूत्र (१।२।७)के अक्षरोंका अनुसरण करता है।

अब विज्ञजन स्पष्ट देख सकते हैं कि नव्य नैयायिकोंके द्वारा दिये गये 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इत्यादि उदाहरण सूत्रभाष्योक्त लक्षणकी कसौटीपर सर्वथा खरे नहीं उतर पाते हैं। इसके विपरीत चरकसंहितामें प्रकरणसम हेत्वाभासका जो उदाहरण दिया गया है, वह न्यायसूत्रोक्त लक्षणके सर्वथा अनुरूप प्रतीत होता है, क्योंकि आत्माकी शरीरसे भिन्नता या अभिन्नतारूप जिस असिद्ध हेतुको लेकर आत्माकी नित्यता या अनित्यताका विचार प्रारम्भ किया गया था, शरीरसे भिन्नतारूप उसी असिद्ध हेतुको आत्माकी नित्यताका साधक नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा लगता है कि अक्षपादने जब न्यायसूत्र बनाया, तो उनकी दृष्टिमें चरकसंहिताका यह निदर्शन विद्यमान था। तभी तो चरकोक्त निदर्शनके अनुरूप ही उन्होंने सूत्ररचना की है। परन्तु उनके परवर्ती नैयायिकोंने परिष्कार करके उसे सत्प्रतिपक्षके रूपमें ढाल दिया है।

(२) **संशयसम**—"संशयसम नामक हेत्वाभास वहाँपर होता है, जहाँपर जो संशयका हेतु हो, उसे ही संशयके विनाशका हेतु मान लिया जाय। जैसे—'इस पुरुषने आयुर्वेदके एक अंशको कहा है, क्या यह चिकित्सक है अथवा नहीं है?' ऐसा संशय होनेपर कोई दूसरा कहे—'चूँकि इसने आयुर्वेदके एकदेशको कहा है, इसलिए यह चिकित्सक है।' इसमें जो संशयके विनाशका हेतु बतलाया है, वह संशयके हेतुसे कुछ भी विशेषता नहीं रखता है। इसलिए यह हेत्वाभास है, क्योंकि जो संशयका हेतु हो, वही संशयके विनाशका हेतु नहीं बन सकता है।"[2]

आयुर्वेदके एकदेशका कथन चिकित्सक और अचिकित्सक दोनोंका बोध करा सकता है, इसलिए यह संशय उत्पन्न करनेवाला हेतु है। कोई भी पुरुष शास्त्रका अभ्यास न होनेपर भी कहींसे सुनकर आयुर्वेदके एक

---

१. **विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ 'प्रकरणम्'। तस्य 'चिन्ता' विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणम्। सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्तः उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्तमानः 'प्रकरणसमो' निर्णयाय न प्रकल्पते।** —(न्यायभाष्य १।२।७)

२. **संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः, यथा—अयमायुर्वेदैकदेशमाह, किं न्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशये परो ब्रूयात्—यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयच्छेदहेतुं विशेषयति, एष चाहेतुः, नहि य एव संशयहेतुः, स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति।** —(विमान० ८।५७)

अंशका कथन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेदके एकदेशका कथन संशयहेतु होनेके कारण संशयके विनाशका हेतु नहीं बन सकता है।

न्यायभाष्यकारने 'संशयसम' हेत्वाभासका 'सव्यभिचार'में अन्तर्भाव माना है—"'जहाँपर संशयका कारण बननेवाला एक ही धर्म (संशयविनाशके) हेतुरूपसे ग्रहण किया जाय, वह 'संशयसम' नामक हेत्वाभास वस्तुतः सव्यभिचार ही है।"[१] ऐसा प्रतीत होता है कि संशयसमका सव्यभिचारमें अन्तर्भाव करते समय वात्स्यायनका लक्ष्य चरकमुनि ही रहे होंगे, क्योंकि तत्कालीन उपलब्ध साहित्यमें चरकसंहितासे अन्यत्र कहीं भी संशयसमका हमारी जानकारीमें उल्लेख नहीं मिलता है। इससे भी चरकमुनिका वात्स्यायनकी अपेक्षा पूर्ववर्त्तित्व सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, अक्षपादके द्वारा चरकोक्त छः हेत्वाभासोंका पाँचमें ही सीमित किया जाना भी उनकी अपेक्षा चरकके पूर्ववर्त्तित्वकी ओर सङ्केत करता है।

(३) **वर्ण्यसम**—"जो हेतु (और दृष्टान्त भी) (असिद्ध होनेके कारण) वर्ण्य(साध्य)के समान हो, उसे वर्ण्यसम (साध्यसम) कहते हैं। जैसे विपक्षी कहे, 'बुद्धि अनित्य है, स्पर्शरहित होनेके कारण, शब्दके समान।' यहाँपर शब्द(में स्पर्शराहित्य हेतुके द्वारा अनित्यता) वर्ण्य (साध्य) है, और बुद्धि भी वर्ण्य (साध्य) है। इसलिए दोनों (शब्द और बुद्धि) वर्ण्यों(साध्यों)में अविशिष्ट (समान) होनेके कारण स्पर्शराहित्य वर्ण्यसम नामक हेत्वाभास है।"[२] उक्त उदाहरणमें 'बुद्धि अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है। 'स्पर्शरहित होनेके कारण' यह हेतु है। 'शब्दके समान' यह दृष्टान्त है। अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शरहित होनेके कारण शब्द अनित्य है, उसी प्रकार स्पर्शरहित होनेके कारण बुद्धि भी अनित्य है। हेतु उदाहरणके साधर्म्यसे साध्यका साधन करता है, और उदाहरण उसे कहते हैं, जिसे मूर्ख और विद्वान् एक ही रूपसे समझते हों। यहाँ बुद्धि (पक्ष) और शब्द (उदाहरण) दोनोंमें ही अनित्यता साध्य है। साध्य कभी उदाहरण नहीं बन सकता है। इसलिए बुद्धि और शब्द दोनोंकी अनित्यता साध्य होनेके कारण तुल्य होनेपर, तथा दोनोंमें 'अस्पर्शत्व' हेतु समानरूपसे होनेके कारण, वर्ण्यसम हेत्वाभास है। न्यायसूत्रके अनुसार जो हेतु साध्य अर्थात् असिद्ध होनेके कारण साध्यके समान हो, वह 'साध्यसम' हेत्वाभास कहलाता है।[३] इसीको आगे चलकर नव्य नैयायिकोंने 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास कहा है, और इसके आश्रयासिद्ध स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध आदि अनेक भेदोपभेद किए हैं।

---

१. **यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयहेतुः सव्यभिचार एव इति।** —न्यायभाष्य (१।२।७)

२. **वर्ण्यसमो नामाहेतुः यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयादस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद् वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः।** —(विमान० ८।५७)

३. **साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।** —न्यायसूत्र (१।२।८)

(४) सव्यभिचार—"सव्यभिचार उसे कहते हैं, जिसमें व्यभिचरण अर्थात् एकनिष्ठताका अभाव हो, अर्थात् जो ऐकान्तिक न हो। जैसे—यह औषध इस रोगमें यौगिक होगी, अथवा नहीं होगी।"[1] यहाँपर यौगिकत्व और अयौगिकत्वमें किसी एकका निश्चय न होनेके कारण औषध अनैकान्तिक है। यदि यौगिक होती, तो एकत्र व्यवस्था होनेसे ऐकान्तिक होती, अथवा यदि अयौगिक होती, तो भी ऐकान्तिक होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, अतः अनैकान्तिक है। अनैकान्तिक या सव्यभिचार संशयका जनक होता है, स्वयं संशय नहीं होता है। अतः संशयके साथ इसकी एकताकी शङ्का नहीं करनी चाहिए।

सव्यभिचारका यहाँपर वस्तुतः हेत्वाभासके रूपमें निरूपण नहीं किया गया है। किसी भी अनैकान्तिक वाक्यके लिए सव्यभिचार शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। यह बात चरकके प्रस्तुत उदाहरणसे ही प्रमाणित है। इसका प्रयोग वाक्यपरक होनेसे अधिक व्यापक है। इसलिए अनैकान्तिक हेतुभी सव्यभिचार ही कहा जायगा। न्यायसूत्रमें भी अनैकान्तिक हेतुको 'सव्यभिचार' कहा गया है।[2]

(५) विरुद्ध—"जो (वाक्य तथा हेतु) दृष्टान्त सिद्धान्त और समय-(convention)से विरुद्ध हो, उसे विरुद्ध कहते हैं। इनमें दृष्टान्त और सिद्धान्तका पहले वर्णन किया जा चुका है।[3] समय तीन प्रकारका होता है— (१) आयुर्वैदिक समय, (२) याज्ञिक समय, और (३) मोक्षशास्त्रिक समय।

आयुर्वैदिकसमयका उदाहरण — भेषज (treatment) चतुष्पाद है, अर्थात् आतुर भिषक् परिचारक और द्रव्य इन चार पैरोंसे चलता है।

याज्ञिकसमयका उदाहरण—(देवताविशेषको देय) पशु आलम्भन (स्पर्शरूप संस्कार)के विषय होने चाहिए।

मोक्षशास्त्रिकसमयका उदाहरण—समस्त प्राणियोंकी (कायिकी वाचनिकी और मानसिकी) हिंसासे दूर रहना, अर्थात् सबको अभयदान देनेका व्रत।

इन त्रिविध समयोंके होते हुए उस-उस समयके विपरीत बोला जाता हुआ (वाक्य या हेतु) विरुद्ध कहलाता है।"[4]

---

१. **अथ सव्यभिचारम्। सव्यभिचारं नाम यद् व्यभिचरणम्। यथा—भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथ वा नेति।** —(विमान० ८।४५)

२. **अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।** —न्यायसूत्र (१।२।५)

३. **दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्।** —(विमान० ८।३४)
सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः। —(विमान० ८।३७)

४. **अथ विरुद्धम्। विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्, तत्र पूर्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ। समयः पुनस्त्रिधा भवत्यायुर्वैदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिकसमय इति। तत्रायुर्वैदिकसमयः — चतुष्पादं भेषजमिति; याज्ञिकसमयः—आलभ्याः पशव इति; सर्वभूतेष्वहिंसेति मोक्षशास्त्रिकसमयः। तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति इति।** —(विमान० ८।५४)

दृष्टान्तविरुद्धका उदाहरण—यथा, जिस प्रकार शीतल जल तापक है, उसी प्रकार ज्वर भी।[1]

सिद्धान्तविरुद्धका उदाहरण—यथा, वैद्य कहता है कि भेषज साध्य-रोगको हरनेमें समर्थ नहीं है।[2]

समयविरुद्धका उदाहरण—यद्यपि आयुर्वेदमें 'भेषज चतुष्पाद है' यह सिद्धान्त ही माना जाता है, तथापि 'चतुष्पाद' सञ्ज्ञा समयके द्वारा बनी है। इसी प्रकार याज्ञिकोंके मतमें 'आलभ्य' सञ्ज्ञा समयकृत है। यदि आयुर्वेद यज्ञ और मोक्षशास्त्रियोंके अपने अपने समयसे विपरीत वाक्य कोई कहता है, तो उसका वह वाक्य 'समयविरुद्ध' कहलाता है। जैसे यदि कोई कहे—'भेषज चतुष्पाद नहीं है', तो यह आयुर्वैदिकसमयविरुद्ध होगा। यदि कोई कहे—'यज्ञमें पशुओंका आलम्भन नहीं करना चाहिए', तो यह याज्ञिकसमयविरुद्ध होगा। इसी प्रकार यदि कोई वक्ता कहे—'सब प्राणियोंकी हिंसा करनी चाहिए', तो यह मोक्षशास्त्रिकसमयविरुद्ध होगा।

यहाँपर विरुद्धका वाक्यदोषके रूपमें निरूपण किया गया है, केवल हेतुदोषके रूपमें नहीं। अक्षपादने विरुद्धकी गणना हेतुदोषोंमें की है, और उन्होंने विरुद्धका जो लक्षण दिया है, वह वस्तुतः केवल अभ्युपगसिद्धान्त-विरुद्धका है।[3] यहाँपर तो विरुद्धका सामान्यरूपसे लक्षण किया गया है। फलतः यह अधिक व्यापक है, और इसमें 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभासका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

(६) अतीतकाल—"जिसे पूर्व कहा जाना चाहिए, उसे यदि पश्चात् कहा जाय, तो वह अतीतकाल कहा जाता है। जैसे—पहले निगमन कहकर फिर प्रतिज्ञा कही जाय, अथवा पहले उदाहरण देकर बादमें हेतुका कथन किया जाय। वह काल(उचित अवसर)के व्यतीत हो जानेके कारण अग्राह्य हो जाता है। अथवा यदि कोई (शास्त्रार्थमें) प्रतिपक्षीको पहले निग्रहप्राप्त होने-पर निगृहीत न करके, बादमें जब वह दूसरा पक्ष ग्रहण कर ले, तब निगृहीत करता है, तो (उचित) कालके अतीत हो जानेके कारण उस पुरुषका वह निग्रहवचन निग्रह करनेमें असमर्थ होता है।"[4]

---

१. **दृष्टान्तविरुद्धं यथा शीतं जलं तापकं तथा ज्वरोऽपीति।**
—चक्रपाणिः (विमान० ८।५४)

२. **सिद्धान्तविरुद्धं यथा वैद्यो ब्रूते न च भेषजं रोगहरमिति।**
—चक्रपाणिः (विमान० ८।५४)

३. **सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।** —न्यायसूत्र (१।२।६)

४. **अथातीतकालम्। अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यम्, तत्पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति। पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य पक्षान्तरितं परिगृह्य पश्चान्निगृहीते तत्तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति।**
—(विमान ८।५८)

तुलना कीजिए—"**कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।**"—न्यायसूत्र० (१।२।९)

यहाँपर 'अतीतकाल'का लक्षण दो प्रकारसे किया गया है। प्रथम विकल्पके अनुसार पञ्चरूपोपपन्न अनुमानवाक्यके अवयवोंका विपर्यासपूर्वक कथन करना अतीतकाल है। और दूसरे विकल्पके अनुसार प्रतिपक्षीके निग्रहप्राप्त होनेपर चूक जाना और पक्षान्तरका आश्रय ग्रहण करनेपर निगृहीत करना उचितकालका अतिक्रमण करनेके कारण 'कालातीत' कहलाता है। अतीतकालका लक्षण भी यहाँपर हेत्वाभासतक ही सीमित न करके सामान्य (व्यापक) रूपसे निबद्ध किया गया है। इसी कारण इस व्यापक लक्षणमें अक्षपादोक्त कालातीत हेत्वाभासका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

वस्तुतः कालातीतकी जो व्याख्या चरकतन्त्रमें प्रथम विकल्पके रूपमें प्रस्तुत की गई है, वह गौतम तथा वात्स्यायनको इष्ट नहीं है। यह व्याख्या बौद्धनैयायिकोंके मतानुसार की गई है, और वात्स्यायनने न्यायभाष्यमें इसका खण्डन किया है।[1] यहाँपर जो व्याख्या प्रस्तुत है, वह वस्तुतः न्यायसूत्रमें 'अप्राप्तकाल' नामका निग्रहस्थान है।[2]

इस प्रकार आचार्यने इन छः हेत्वाभासोंका निरूपण किया है। दूसरे भिषग्जनोंके साथ शास्त्रार्थ करते समय स्वयं तो इन हेत्वाभासोंसे बचनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु प्रतिपक्षीके तर्कमें प्रयुक्त हेत्वाभासोंको पकड़नेके लिए सतर्क रहना चाहिए। जैसे ही देखे कि प्रतिपक्षी हेत्वाभासका अवलम्बन कर रहा है, वैसे ही उससे उपालम्भ करना चाहिए। आचार्यने उपालम्भका लक्षण इस प्रकार किया है—

"(प्रतिपक्षीके द्वारा प्रयुक्त) हेतुके दोषोंका कथन करना उपालम्भ कहलाता है। जैसी कि इसके पूर्व असाधक हेतुरूप हेत्वाभासोंकी व्याख्याकी गई है।"[3]

---

१. **अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः। कस्मात्? 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥' इत्येतद्वचनाद् विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथा वैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति।**

—न्यायभाष्य (१।२।९)

२. **अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।** —(न्यायसूत्र ५।२।११)
प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः। तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति।

—(न्यायभाष्य ५।२।११)

३. **अथोपालम्भः। उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम्, यथा पूर्वमहेतवो हेत्वाभासाः व्याख्याताः।** —(विमान० ८।५९)

इसी प्रकार जब विपक्षीके द्वारा उपालम्भ किया जाय, तो अपने द्वारा प्रयुक्त हेतुके दोषोंका परिहार कर देना चाहिए। परिहारका लक्षण इस प्रकार है—

"उसी दोषकथनका निराकरण करना परिहार कहलाता है। जैसे—आत्माके शरीरमें स्थित होनेपर प्रतिसन्धान और स्मरण आदि जीवलिङ्ग सर्वदा उपलब्ध होते हैं, और आत्माके शरीरसे निकल जानेपर नहीं उपलब्ध होते हैं। इसलिए आत्मा शरीरसे भिन्न और नित्य है।"[1]

प्रकरणसम हेत्वाभासका जो उदाहरण दिया गया था, उसीका परिहार यहाँपर उदाहरणरूपसे प्रस्तुत किया गया है। जीवितशरीरमें चेतनत्व आदिकी उपलब्धि होती है, और मृतशरीरमें नहीं, इसलिए चैतन्यका प्रतियोगी शरीरसे भिन्न कोई दूसरा ही होना चाहिए, जिसके निकल जानेसे शरीर मृत और नेतनाहीन हो जाता है। इसलिए आत्माकी शरीरसे भिन्नता सिद्ध हुई। शरीरसे भिन्न होनेके कारण पूर्वव्याख्यात शरीरविधर्मितासे नित्यत्व भी सिद्ध हो जाता है।[2]

युक्ति

युक्तिप्रमाण दूसरे शास्त्रोंमें प्रसिद्ध नहीं है, परन्तु चरकमुनिने इसको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है। युक्तिप्रमाणको मान्यता देना चरकसंहिताकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः इस ग्रन्थमें किसी एक शास्त्रविशेष-का अवलम्बन नहीं किया गया है, प्रत्युत चिकित्साकर्ममें उपयोगी तथा अपने सिद्धान्तके अनुकूल आवश्यक तत्त्व सभी शास्त्रोंसे लेकर उसी प्रकार सङ्गृहीत किए गए हैं, जिस प्रकार मधुमक्षिका विभिन्न पुष्पोंसे उपयोगी मधुको ग्रहण कर एकत्रित करती है। इसी कारण यह शास्त्र मधुके ही समान सरस उपयोगी और दोषनाशक है। चूंकि युक्तिके बलपर ही रोगोंका प्रतीकार किया जाता है, इसलिये आयुर्वेदमें युक्तिको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें मान्यता देना अपरिहार्य है।

युक्तिप्रमाणके अन्य शास्त्रोंमें प्रसिद्ध न होनेके कारण आचार्यने पहले उसके उदाहरण दिए हैं, और बादमें लक्षण प्रस्तुत किया है, क्योंकि उदा-हरणोंका ज्ञान हो जानेपर लक्षण सरलतासे समझा जा सकता है।

"जल, जोती हुई भूमि, बीज और ऋतु(उपयुक्त काल)के संयोगसे शस्य-की उत्पत्ति होती है—इस प्रकारका जो ज्ञान है, उसे युक्ति कहते हैं। छः

---

१. अथ परिहारः। परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणम्। यथा—नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते, तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति। —(विमान० ८।६०)

२. तुलना कीजिए—'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।

—(न्यायकारिकावली प्रत्यक्षखण्ड ४८)

धातुओं(पञ्चमहाभूत और आत्मा)के संयोगसे गर्भकी उत्पत्ति होती है[१]—यह भी उसी प्रकार युक्ति है। मथ्य(अधःस्थित काष्ठ), मन्थन(रगड़नेकी क्रिया) अथवा मन्थक(रगड़नेवाला पुरुष), और मन्थान(ऊर्ध्वस्थित काष्ठ, जिससे नीचेकी काष्ठ रगड़ी जाती है)के संयोगसे अग्नि उत्पन्न होती है (यह भी युक्ति है)। इसी प्रकार गुणसम्पन्न चतुष्पाद(रोगी वैद्य औषध और परिचारक—चिकित्साके इन चार पादों)के युक्तिपूर्वक प्रयोगसे व्याधिका विनाश होता है।"[२]

इस प्रकार युक्ति प्रमाणके अनेक निदर्शन देकर उसका लक्षण प्रस्तुत किया गया है—"अनेक उपपत्तियोंके योगसे समझे जानेवाले अर्थोंको जो बुद्धि विषय करती है, उस(ऊहलक्षणा बुद्धि)को युक्ति कहते हैं। अर्थात् 'इसको इस प्रकारसे होना चाहिए' ऐसी ऊहाका युक्ति शब्दसे कथन किया जाता है। वर्त्तमान अतीत और अनागतको विषय करनेके कारण यह युक्ति त्रिकाल-विषया होती है, और इसके द्वारा त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) सिद्ध किया जाता है।"[३]

युक्ति वस्तुतः प्रमाणोंकी सहायक होती है, स्वयं प्रमाण नहीं होती है। चक्रपाणिने भी अपनी टीकामें कहा है—'किसी वस्तुका निर्णय करनेमें युक्तिके परमार्थतः अप्रमाण होनेपर भी प्रमाणोंकी सहायिकाके रूपमें व्यापृत होनेके कारण, तथा ऊहरूपा युक्तिके द्वारा ही प्रायः लोगोंका व्यवहार होनेके कारण, यहाँपर उसे प्रमाण कहा गया है। इसी कारण दूसरे स्थलोंपर युक्तिको छोड़कर केवल तीन ही प्रमाण दिखाए गए हैं।'[४]

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो "पानी, जुती हुई भूमि, बीज और ऋतु इत्यादि अनेक कारणोंसे संयोगसे भविष्यमें होनेवाले शस्यका ज्ञान होता है" यह जो युक्तिका पहला उदाहरण दिया गया है, वह अनुमानसे भिन्न नहीं है। अनुमानके प्रकरणमें भी 'बीजात् फलमनागतम्'में यही उदाहरण दिया गया है। अतः युक्तिका अनुमानसे भेद करना दुष्कर है।

---

१. द्रष्टव्य—**खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।** —(शारीर० १।१६)
तथा—**पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः। स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः।** —(शारीर० ४।६)

२. **जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात्सस्यसम्भवः।**
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिबर्हणी॥ —(सूत्र० ११।२३-२४)

३. **बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।**
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥ —(सूत्र० ११।२५)

४. **सा च परमार्थतोऽप्रमाणभूतापि वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात् तथा तयैव ऊहरूपया प्रायो लोकानां व्यवहारादिह प्रमाणत्वेनोक्ता। अत एव प्रदेशान्तरे युक्तिं विना यथोक्तं प्रमाणत्रयं दर्शयिष्यति।**
—चक्रपाणिः (सूत्र० ११।२५)

युक्ति प्रमाणका प्रत्याख्यान करते हुए तत्त्वसङ्ग्रहकार शान्तरक्षित और उनके व्याख्याता कमलशीलने पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्षकी स्थापना इस प्रकार की है—

"इसके होनेपर वह वस्तु निश्चितरूपसे होती है, और इसके न होनेपर नहीं होती है, अतः इस(कारण)से वह (कार्य) होता है—यह युक्ति कहलाती है। चरकमुनिने इसको प्रमाणान्तरके रूपमें ही स्वीकार किया है। इसका अनुमानमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसमें दृष्टान्त नहीं होता है।"[१]

शान्तरक्षितके द्वारा उत्थापित इस पूर्वपक्षकी कमलशीलने इस प्रकार व्याख्या की है—"तद्भावभाविता(किसी वस्तुके होनेपर किसी वस्तुका होना)के द्वारा जो कारणसे कार्यकी प्रतीति होती है, उसे युक्ति कहते हैं। सविकल्प (विचारात्मक) होनेके कारण इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं, और दृष्टान्त न होनेके कारण अनुमान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि दृष्टान्त दिया भी जाय, तो उसमें भी तद्भावभावितासे तत्कार्यताकी प्रतिपत्ति होगी, और उसके लिए दूसरा दृष्टान्त खोजना पड़ेगा, इसी प्रकार उसके लिए तीसरा। ऐसी स्थितिमें अनवस्था हो जायगी। इसलिए युक्ति स्वतन्त्र प्रमाण है।"[२]

इस प्रकार पूर्वपक्षकी उत्थापना करके शान्तरक्षितने उसे इस प्रकार दूषित किया है—"चूँकि युक्तिमें साध्य और साधनमें भेद नहीं होता है, इसलिए कार्यकारणभावका ज्ञान युक्तिप्रमाणके द्वारा होता है, यह कथन सङ्गत नहीं हैं। और यदि कार्यकारणभावके व्यवहारको साध्य माना जाय, तथा (मूढके प्रति) उस व्यवहारयोग्यताका प्रसाधन किया जाय, तब तो सङ्केतकालमें ज्ञात होनेवाला (घटादि) पदार्थ दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित होगा (और सदृष्टान्त होनेसे युक्तिका अनुमानसे अभेद सिद्ध होगा)।"[३]

युक्तिमें साध्य और साधनमें कोई भेद नहीं होता है। प्रस्तुत लक्षणमें 'तद्भावभाविता' हेतु(साधन) है, और 'कार्यकारणभाव' साध्य है। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं उपलब्ध होता है, क्योंकि 'गुरु' और 'तात'के समान

---

१. अस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च।
तस्मादतो भवत्येतद्युक्तिरेषा भिधीयते॥
प्रमाणान्तरमेवेयमित्याह चरको मुनिः।
नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते॥—तत्त्वसङ्ग्रह (१६६२-१६६३)

२. तद्भावभावित्वेन या तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्तिः। इदं च सविकल्पत्वान्न प्रत्यक्षं, नाप्यनुमानं दृष्टान्ताभावात्। तथाहि—दृष्टान्तेऽप्यत एव तद्भावभावित्वात्तत्कार्यताप्रतिपत्तिः, तत्रापि दृष्टान्तोऽन्योऽन्वेषणीयः, तत्राप्यपर इत्यनवस्था स्यात्। तस्मात्प्रमाणान्तरं युक्तिः।
—तत्त्वसङ्ग्रहव्याख्या (१६६२-१६६३)

३. कार्यकारणभावस्य प्रतिपत्तिर्न सङ्गता।
तस्मादस्यां न भेदोऽस्ति साध्यसाधनयोर्यतः॥
तद्भावव्यवहारे तु योग्यतायाः प्रसाधने।
सङ्केतकालविज्ञातो विद्यतेऽर्थो निदर्शनम्॥—तत्त्वसङ्ग्रह (१६६६, १६६८)

अथवा 'तरु' और 'पादप'के समान ये दोनों एक दूसरेके पर्याय हैं। यदि यह माना जाय कि यहाँपर कार्यकारणताको सिद्ध नहीं करना है, प्रत्युत कार्य-कारणभावसे होनेवाले व्यवहारको सिद्ध करना है। व्यवहारका तात्पर्य यह है कि किन्हीं दो वस्तुओं(जैसे षड्धातुसंयोग और गर्भ)में (१) यह (षड्धातु-संयोग) कारण है, और यह (गर्भ) कार्य है, इस प्रकारके ज्ञानकी योग्यताका होना, (२) इस कारणसे वह कार्य बनता है, इस प्रकार कथन (अभिधान) किए जानेकी योग्यताका होना, तथा (३) चूँकि इस कारणसे वह कार्य बनता है, इसलिए उस कार्यकी निष्पत्तिके लिए इस कारणविशेषको लेकर प्रवृत्त करानेकी योग्यताका होना। इस प्रकार ज्ञान अभिधान और प्रवृत्तिकी योग्यता ही व्यवहारयोग्यता कहलाती है। जिन वस्तुओंके व्यापारके अनन्तर जिस वस्तुकी नियमितरूपसे उपलब्धि होती है, वह वस्तु उन वस्तुओंका कार्य है, इस प्रकार व्यवहृत किए जानेके योग्य होती है। जैसे कि सङ्केतकालमें अनुभवका विषय बननेवाले घटादि पदार्थ कुलालादिके व्यापारके अनन्तर नियत रूपसे उपलब्ध होते हैं, तथा तालु आदिके व्यापारके अनन्तर शब्द नियमित रूपसे उपलब्ध होते हैं। जब इस व्यवहारयोग्यताको किसी मूढके प्रति सिद्ध किया जाता है, तो ये घटादि पदार्थ निदर्शन(दृष्टान्त)के रूपमें प्रस्तुत किए जाते हैं। उस स्थितिमें सदृष्टान्त होनेके कारण युक्ति अनुमानमें अन्तर्भूत हो जायगी।

इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकोंने भी युक्तिको स्वतन्त्र प्रमाण माननेसे इनकार किया है। चरकसंहितामें भी केवल एक स्थल(तिस्रैषणीय)को छोड़कर सर्वत्र प्रमाणत्रयको ही स्वीकार करनेसे यही बात सिद्ध होती है कि चरक-मुनिका युक्तिप्रमाणको मान्यता देनेमें कोई विशेष आग्रह नहीं है। साथ ही किसी शास्त्रविशेषका अनुसरण करनेमें भी उनका कोई अभिनिवेश नहीं है। इस चिकित्साशास्त्रका प्रणयन करते समय केवल यह लक्ष्य उनके चित्तमें सर्वोपरि रहा कि यह शास्त्र अधिकसे अधिक उपयोगी और व्यापक हो, अर्थात् अधिकसे अधिक रोगोंके लक्षण निदान और चिकित्साका निर्णय करनेमें सहायक हो। युक्तिको प्रमाण भले ही न माना जाय अथवा अनुमानमें ही उसका अन्तर्भाव क्यों न कर दिया जाय, तथापि निदान और भेषजका निश्चय करानेमें युक्तिका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। उदाहरणार्थ किसी अप्रसिद्ध रोगविशेषका निवारण करनेके लिए औषधकी अपेक्षा होनेपर कुछ विशेष द्रव्य सङ्ग्रहणीय होते हैं। उस समय चिकित्सक युक्तिका आश्रय लेता है। अमुक द्रव्यका अमुक द्रव्यसे योग होनेपर अमुक प्रभाव उत्पन्न होगा, और यदि उसमें अमुक द्रव्य मिला दिया जाय, तो उसके प्रभावमें इतना अतिशय या इतनी न्यूनता हो जायगी। इस प्रकार युक्तिके बलपर विमर्श करके चिकित्सक अपेक्षितार्थकी सिद्धिके लिए नाना द्रव्योंके योगसे औषधनिर्माणमें प्रवृत्त होता है। तदनन्तर रोगीको उस औषधका सेवन करानेसे यदि कुछ लाभ प्रत्यक्ष होता है, तो उसकी युक्ति सफल समझी जाती है। इस प्रकार युक्ति प्रत्यक्ष प्रमाणकी अनुग्राहिका (उपकर्त्री) सिद्ध होती है। युक्तिके आधारपर औषध बनाते समय युक्तिके ही द्वारा इस बातका भी ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उन द्रव्योंके परस्पर संयोगका प्रभाव घातक न हो जाय। अनुभव इस बातका

साक्षी है कि प्रत्येक चिकित्सकको पदे पदे युक्तिका अवलम्बन करना पड़ता है। सर्वत्र प्रमाणोंकी उपलब्धि असम्भव है। प्रमाणोंके अभावमें युक्ति ही अन्धेकी लाठी बनती है। उसीके बलपर मार्ग टटोल टटोलकर चिकित्सकको आगे बढ़ना होता है। अन्यथा पचास प्रतिशत रोगियोंके सामने उसे चिकित्सा करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ेगी। इसलिए चरकमुनिने चिकित्सा-कर्मकी प्रणालीको दृष्टिमें रखकर ही युक्तिको प्रमाणत्वेन स्वीकार किया है।

औपम्य (उपमान)

विमानस्थानके रोगभिषग्जितीयाध्यायमें प्रत्यक्ष अनुमान और ऐतिह्यका सङ्क्षेपसे आकलन करनेके अनन्तर उपमानके भी लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। लक्षण इस प्रकार है—"किसी (प्रसिद्ध या ज्ञात) वस्तुके द्वारा किसी अन्य (अप्रसिद्ध या अज्ञात) वस्तुको सादृश्यके आधारपर प्रकाशित करनेके साधनको उपमान कहते हैं।"[1]

गौतमन्यायसूत्रमें भी उपमानलक्षणको इसी प्रकार सूत्रित किया गया है—**"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्"**(१।१।६) अर्थात् सुविदित वस्तुके साधर्म्यके द्वारा साध्य (ज्ञातव्य) वस्तुका ज्ञान करानेके साधनको उपमान कहते हैं।[2] वार्त्तिककार **'प्रसिद्धसाधर्म्यात्'**में बहुव्रीहि समास मानते हैं—**'प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य तस्मात्'**, परन्तु भाष्योक्त तत्पुरुष भी उनको अनभिमत नहीं है। परिशुद्धिकारके मतसे यहाँपर कर्मधारय भी अभीष्ट है, क्योंकि साधर्म्यका प्रसिद्ध होना आवश्यक है।

न्यायदर्शनमें उपमानका फल **'सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति'** बताया गया है। जङ्गलमें घूमते हुए किसी पशुविशेषमें **'यथा गौरेवं गवयः'** इस वाक्यका स्मरण करके गौके सादृश्यको लक्षित कर द्रष्टा 'यह पशु गवय (नीलगाय) है' ऐसा निश्चय करता है। उक्त वाक्यको सुननेके पूर्व भी उसने अनेक वार नीलगाय देखी होगी, और जङ्गलसे आनेवाले लोगोंके मुँहसे नीलगायका नाम भी बीसों वार सुना होगा। परन्तु नाम(सञ्ज्ञा) और नामी(सञ्ज्ञी)के पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान उक्त सादृश्यज्ञानके अभावमें सर्वथा असम्भव ही रहा। जब किसी वृद्धने उक्तसादृश्यका उपदेश दिया, तो गवय(आकृति)को देखते ही उसने गवय शब्दको उससे सम्बद्ध कर दिया। इस प्रकार सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञीके सम्बन्धका ज्ञान ही उपमानप्रमाणका फल है। इसीलिए न्याय-दर्शनमें सादृश्य सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धके कारणरूपसे उपादेय होता है।

किन्तु कुमारिलभट्टके सिद्धान्तके अनुसार सादृश्य ही उपमानप्रमाणका प्रतिपाद्य (प्रमेय) है। मीमांसाश्लोकवार्त्तिकमें उपमानविषयक नैयायिकमतका

---

१. **अथौपम्यम्—औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्।**

—(विमान० ८।४२)

२. **प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्।**

—न्यायभाष्य (१।१।६)

खण्डन करनेके पश्चात् सादृश्यको वास्तविक धर्म स्वीकार करके उसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

"इस(सादृश्य)का वस्तुत्व सिद्ध हो जानेपर, (दो सदृश वस्तुओंमेंसे) किसी एकमें या दोनोंमें सादृश्यका चक्षुसे सम्बन्ध होनेपर उसका दर्शन होता है, अतः उसकी प्रत्यक्षता(प्रत्यक्षविषयता)का निवारण (निषेध) नहीं किया जाता है। सामान्यकी भाँति सादृश्य भी प्रत्येक वस्तुमें पूर्ण रूपसे रहता है। इसलिए प्रतियोगीके दिखाई न पड़नेपर भी सादृश्य उपपन्न होता है। यद्यपि प्रस्तुत उदाहरणमें गौकी स्मृतिके अनन्तर ही सादृश्यका भान होता है, तथापि चक्षु-सन्निकर्षके गवयस्थ होनेके कारण (गवयगत) सादृश्य ही नयनगोचर होता है। इसी कारण जिस वस्तु(गौ)का स्मरण किया जाता है, वह सादृश्यसे विशिष्ट होकर उपमानका प्रमेय (सादृश्यविशिष्ट गौ) बनती है; अथवा उस वस्तु(गौ)से विशिष्ट सादृश्य ही उपमानका प्रमेय बनता है। यद्यपि सादृश्यका प्रत्यक्षसे बोध होता है, और गौकी स्मृति होती है, तथापि 'सादृश्यविशिष्ट गौ' अथवा 'गोविशिष्ट सादृश्य'की किसी दूसरे प्रमाणसे सिद्धि न होनेके कारण उपमानका प्रामाण्य सिद्ध होता है।"[१]

इसलिए भाट्टमतके अनुसार सादृश्यकी प्रतिपत्ति ही उपमानका प्रयोजन सिद्ध होता है। कुमारिलभट्टका आविर्भाव ईसाकी आठवीं शताब्दीमें हुआ था, अतः उनके द्वारा सादृश्यकी प्रतिपत्तिरूप जो प्रयोजन उपमानका निर्धारित किया गया है, वह परवर्त्तीकालका चिन्तन है। चरक और गौतमके समयमें सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धकी प्रतिपत्तिको ही उपमानप्रमाणका प्रयोजन समझा जाता था। आगे दिए गए उदाहरणोंसे यह बात प्रमाणित होती है।

उपमानका लक्षण करनेके अनन्तर उसको प्रदर्शित करनेके लिए तीन उदाहरण दिए गए हैं—"दण्डसे दण्डक रोगका, धनुष्से धनुःस्तम्भन रोगका और बाण चलानेवाले धनुर्धरसे आरोग्य प्रदान करनेवाले चिकित्सकका (औपम्यके द्वारा) ज्ञान होता है।"[२] तात्पर्य यह है, जैसे आयुर्वेदके किसी

---

१. वस्तुत्वे सति चास्यैवं सम्बद्धस्य च चक्षुषा।
द्वयोरेकत्र वा दृष्टे प्रत्यक्षत्वं न वार्यते॥
सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तस्मात् तदुपपद्यते॥
तत्र यद्यपि गां स्मृत्वा तज्ज्ञानमुपजायते।
सन्निधेर्गवयस्थत्वाद् भवेदिन्द्रियगोचरः॥
तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता॥
—मीमांसाश्लोकवार्त्तिके (१।१।५) उपमानपरिच्छेदे (३४—३८)

२. यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यदस्येति।
—(विमान० ८।४२)

विद्यार्थीको दण्डकरोगके लक्षणादिका ज्ञान नहीं है। उसने अपने आचार्यसे सुना—"दण्डके समान जिसकी देह अकड़ गई हो, उसे दण्डक रोगसे पीडित समझना चाहिए।"[1] तदनन्तर वह एक ऐसे रोगीको देखता है, जिसका शरीर सचमुच कुम्हारके दण्डके समान स्तब्ध है। तब वह पूर्वश्रुत आचार्योपदेशका स्मरण करके समझ जाता है कि यह व्यक्ति दण्डकरोगसे पीडित है। इसी प्रकार धनुःस्तम्भ रोग भी औपम्यके द्वारा जाना जाता है। "जो रोग शरीरको धनुषके समान झुका देता है, उसका नाम धनुःस्तम्भ है।"[2]

तीसरे उदाहरणमें बाण चलानेवाले धनुर्धर तथा आरोग्यदाता वैद्यके साधर्म्यका प्रतिपादन किया गया है। इस साधर्म्यका सूत्रस्थानके महाचतुष्पाद अध्यायमें कुछ विस्तारके साथ वर्णन हुआ है—'जिस प्रकार योग(ज्या और बाणके सम्बन्ध)को जाननेवाला और नित्य अभ्यास करनेवाला धनुर्धर, जब थोड़ी दूरपर स्थित, किसी बड़ी आकृतिवाली वस्तुपर, धनुष लेकर बाण फेंकता है, तो चूकता नहीं है, और लक्ष्यवेधरूप इष्टकार्यका सम्पादन कर लेता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ वैद्यके गुणोंसे सम्पन्न तथा चिकित्साके उपकरणोंको रखनेवाला वैद्य जब चिकित्साकर्मका समुचित विचार करके किसी साध्य रोगकी चिकित्सा करना प्रारम्भ करता है, तो विना चूके हुए रोगीको आरोग्यसम्पन्न कर ही देता है।"[3]

पहले दो उदाहरणोंकी अपेक्षा इस उदाहरणमें कुछ विलक्षणता है। दण्डके समान अकड़े हुए शरीरवालेको देखकर तो समझा जा सकता है कि यह दण्डकरोगसे पीडित है। इस ज्ञानमें पूर्वोपदेशकी स्मृति अनिवार्य है। परन्तु रोगीको रोगरहित करनेवाले वैद्यको देखकर 'यह आरोग्यदाता वैद्य है' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेमें किसी पूर्वोपदेशकी स्मृति अपेक्षित नहीं है। उस समय सादृश्यविशिष्ट धनुर्धरकी स्मृतिके बिल्कुल न होनेपर भी सभी उसे आरोग्यदाता वैद्य ही समझते हैं।

ऐसा लगता है कि इस उदाहरणको देते समय ग्रन्थकारकी दृष्टि औपम्यप्रमाणसे हटकर औपम्य (उपमा) अलङ्कारकी ओर चली गई। जैसे लोकमें यह आवश्यक नहीं है कि किसी सुन्दरीका मुख देखकर सादृश्यके आधारपर चन्द्रमा या कमलकी स्मृति अवश्य ही हो, अथवा उनके सादृश्यका स्मरण करके ही 'यह सुन्दरीका मुख है' ऐसा ज्ञान हो, प्रत्युत इस सादृश्यके विना भी मुखको मुख ही समझा जाता है। सादृश्य तो काव्यको अलङ्कृत करनेके लिए

---

१. दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः। —(चिकित्सास्थान २८।५२)

२. 'धनुर्वन्नमयेद् गात्रं स धनुःस्तम्भसञ्ज्ञितः।'—श्रीजयदेवविद्यालङ्कारके द्वारा उद्धृत परन्तु मूलस्रोतका पता नहीं चला।

३. यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यम्, तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण। —(सूत्रस्थान १०।५)

है। उसी प्रकार आरोग्यदाता वैद्यको देखकर न तो धानुष्ककी स्मृति होना आवश्यक है, और न 'यह आरोग्यदाता वैद्य है' इस ज्ञानके लिए धानुष्कका सादृश्य देखना ही अपेक्षित है, प्रत्युत इस सादृश्यज्ञानके विना भी उसके स्वरूपका बोध हो जाता है। धानुष्कके साथ उसका सादृश्य तो अलङ्कारमात्र है। अतः यह उदाहरण शुद्ध उपमा अलङ्कारका जान पड़ता है। शेष दो उदाहरण उपमानप्रमाणको ही प्रदर्शित करते हैं। ये दोनों उदाहरण वात्स्यायन-भाष्यमें दिए गए उदाहरणोंसे मेल खाते हैं।

भाष्यकार वात्स्यायनने 'यथा गौस्तथा गवयः'इस अतिप्रसिद्ध उदाहरणके अतिरिक्त जो दो उदाहरण दिए हैं, वे यद्यपि सामान्यरूपसे सभी लोगोंके लिए उपयोगी हो सकते हैं, तथापि आयुर्वेदज्ञोंके लिए विशेषरूपसे उपयोगी हैं। वे उदाहरण हैं—"जैसा मुद्ग होता है, वैसी ही मुद्गपर्णी होती है; जैसा माष होता है, वैसी ही माषपर्णी होती है—इस प्रकार उपमानका प्रयोग होनेपर उसी उपमानके बलपर सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धकी प्रतिपत्ति करता हुआ मनुष्य उस ओषधिको चिकित्साके लिए ले आता है।"[1]

ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य वात्स्यायन आयुर्वेदमें रुचि रखते थे। और अपने पूर्ववर्त्ती आयुर्वैदिक साहित्य विशेषरूपसे चरकसंहिता और उसमें आए हुए दार्शनिकतत्त्वोंसे अत्यधिक प्रभावित थे। इससे एक बात और लक्षित होती है कि उपमानका प्रयोग रोग और औषधकी समुचित पहचानके लिए खूब किया जाता था। आयुर्वेदके क्षेत्रमें उपमानका योगदान सराहनीय है। परन्तु आश्चर्य है कि चरकमुनिने चार मुख्य प्रमाणोंमें उपमानको कोई स्थान नहीं दिया है। सत्य तो यह है कि उन्होंने जो चार मुख्य प्रमाण गिनाए हैं, उपमान उनमेंसे किसीका स्थान नहीं ले सकता है। उनके पश्चात् ही उपमानको स्थान दिया जा सकता है। सम्भवतः उपमानको मुख्य प्रमाणोंमें न गिननेका कारण यह भी हो सकता है कि अन्य प्रमाणोंके समान उपमानका प्रामाण्य सर्वथा निश्चित हो, ऐसा नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि गए मुद्गपर्णी लेने, और ले आए उसीसे मेल खानेवाली कोई दूसरी घास। अतः उपमानसे काम लेनेपर भी उसे मुख्य प्रमाणोंमें स्थान नहीं दिया गया है।

अर्थप्राप्ति (अर्थापत्ति)

विमानस्थानके रोगभिषग्जितीय अध्यायमें औपम्यप्रमाणके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करनेके पश्चात् अर्थप्राप्ति(अर्थापत्ति)नामक प्रमाणका निरूपण किया गया है। इसका लक्षण इन शब्दोंमें बताया गया है—

---

१. **यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाहरति।**

—वात्स्यायनभाष्य (१।१।६)

"जहाँपर किसी एक अर्थके कथनसे दूसरे अनुक्त अर्थकी भी सिद्धि हो, वहाँ अर्थप्राप्ति (अर्थापत्ति) होती है।"[१]

अर्थापत्तिप्रमाण नैयायिकोंको मान्य नहीं है। इसे मीमांसक (प्राभाकर और भाट्ट) तथा अद्वैतवेदान्ती मानते हैं। वेदान्तपरिभाषामें इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"उपपाद्यके ज्ञानसे उपादककी कल्पना करनेको अर्थापत्ति कहते हैं।"[२] इसके अनुसार उपपाद्यका ज्ञान करण (प्रमाण) है और उपपादकका ज्ञान फल(प्रमा) है। जिस कारणके विना जिस कार्य(फल)के सिद्ध होनेकी सम्भावना न हो, उस कारणको उपपादक और उस कार्यको उपपाद्य कहते हैं। जैसे—दिनमें भोजन न करनेवाले देवदत्तके स्थूल होनेकी सम्भावना रात्रिमें भोजन करनेके विना नहीं हो सकती है। यहाँपर स्थूलता उपपाद्य है, और रात्रिभोजन उपपादक है। अर्थापत्ति शब्दसे प्रमा और प्रमाण दोनोंका बोध होता है। **"अर्थस्य (रात्रिभोजनरूपस्य) आपत्तिः (कल्पना)"** इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष माननेसे रात्रिभोजनरूप उपपादककी कल्पना (अथवा ज्ञान) अर्थापत्तिप्रमा है, और **"अर्थस्य (रात्रिभोजनरूपस्य) आपत्तिः (कल्पना) यस्मात् तत् (पीनत्वम्)"** इस प्रकार बहुव्रीहिसमास माननेपर रात्रिभोजनरूप उपपादककी कल्पना जिस पीनत्वरूप करणसे होती है, वह अर्थापत्तिप्रमाण है।

शाबरभाष्यमें अर्थापत्तिका लक्षण इस प्रकार है—"देखी हुई अथवा सुनी हुई वस्तु (जिस अर्थके विना) किसी अन्य प्रकारसे नहीं सिद्ध हो सकती है, उस अर्थकी कल्पनाको अर्थापत्ति कहते हैं।"[३] मीमांसाश्लोकवार्त्तिकमें इसी भाष्यवाक्यके अर्थका ही स्पष्टीकरण किया गया है—"जहाँपर प्रत्यक्षादि छः प्रमाणोंसे ज्ञात होनेवाला कोई (पीनत्वादि) अर्थ जिस(रात्रिभोजनादि)के विना किसी अन्य प्रकारसे उपपन्न नहीं हो सकता है, उस अदृष्ट (रात्रि-भोजनादि)की कल्पनाको अर्थापत्ति कहा गया है।"[४]

अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—(१) दृष्टार्थापत्ति, और (२) श्रुतार्थापत्ति। (१) चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किए गए विषयके अनुपपन्न होनेपर उपपादक अर्थकी कल्पनाको **दृष्टार्थापत्ति** कहते हैं। जैसे दिनमें भोजन

---

१. **अथार्थप्राप्तिः। अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यापि सिद्धिः।**

—(विमान० ८।४८)

२. **तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः।**

—(वेदान्तपरिभाषा, अर्थापत्तिपरिच्छेदः)

३. **अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।**

—शाबरभाष्य (१।१।५)

४. **प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।**
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥

—श्लोकवार्त्तिके (१।१।५) अर्थापत्तिपरिच्छेदे (श्लोक १)

न करनेवाले देवदत्तकी शारीरिक पुष्टता रात्रिभोजनके विना अनुपपन्न है, अतः रात्रिभोजनकी कल्पना दृष्टार्थापत्ति है। (२) **श्रुतार्थापत्ति** वहाँ होती है, जहाँ सुने हुए वाक्यमें स्वार्थकी अनुपपत्ति होनेके कारण अर्थान्तरकी कल्पना की जाय। जैसे—'जीवित चैत्र घरमें नहीं है' इस वाक्यको सुननेके अनन्तर 'घरसे बाहर होगा' इस अर्थकी कल्पना होती है।

चरकसंहितामें प्रस्तुत अर्थप्राप्तिका लक्षण शाबरभाष्य श्लोकवार्तिक और वेदान्तपरिभाषाके अर्थापत्तिके लक्षणसे मेल खाता है। चरकोक्त 'उक्त अर्थ' उपपाद्य है, और 'अनुक्त अर्थ' उपपादक है। अतः 'उपपाद्यके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना करना' अथवा 'उक्त अर्थसे अनुक्त अर्थकी सिद्धि होना' एक ही बात है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है—'उक्तेन' शब्दके प्रयोगसे यहाँपर शास्त्रकारको श्रुतार्थापत्ति ही अभीष्ट जान पड़ती है। दृष्टार्थापत्तिको इसीके सादृश्यसे समझ लेना चाहिए। यहाँपर अर्थप्राप्तिके जो उदाहरण दिए गए हैं, वे भी श्रुतार्थापत्तिके ही हैं। यथा—

'यह रोग सन्तर्पणसे साध्य नहीं है' (वैद्यके द्वारा) ऐसा कहे जानेपर 'यह अपतर्पणसे साध्य है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार 'इस(रोगी)को दिनमें भोजन नहीं करना चाहिए' ऐसा कहे जानेपर 'इसको रात्रिमें भोजन करना चाहिए' इस अर्थकी प्राप्ति होती है।'[1]

अब प्रश्न यह है कि चरकसंहितामें अर्थप्राप्तिकी गणना मुख्य प्रमाणोंमें क्यों नहीं की गई है? उत्तर स्पष्ट है—इस प्रमाणसे जिस उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य अर्थोंसे भी उपपाद्यकी सिद्धि हो सकती है, अतः अर्थापत्तिका प्रामाण्य सन्दिग्ध और अनिश्चित है। इसी कारण कुछ दर्शनोंने इसे प्रमाण माननेसे सर्वथा इनकार कर दिया है। लोकप्रसिद्ध उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' में देवदत्तके पीनत्वकी सिद्धिके लिए रात्रिभोजनरूप अर्थकी कल्पना की जाती है। परन्तु उसका पीनत्व दूसरे कारणोंसे भी उपपन्न हो सकता है। योगसूत्रके अनुसार कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूखप्यासकी निवृत्ति हो जाती है।[2] इसलिए इस योगसिद्धिके प्राप्त होनेपर देवदत्तको मोटा रहनेके लिए न दिवाभोजनकी आवश्यकता होगी, और न रात्रिभोजनकी। किसी देवताके वरदानसे भी वह भोजनके विना मोटा रह सकता है। वर्तमानकालमें तो वैज्ञानिकोंके द्वारा ऐसी ऐसी टिकियाँ (pills) बनानेका प्रयास किया जा रहा है, जो केवल एक वार सेवन करनेसे सप्ताहों महीनों और वर्षोंतक विना शक्तिह्रासके शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करतीं रहेंगी। इस प्रयासमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिल चुकी है। सूईके माध्यमसे अनेक प्रकारके खाद्य पदार्थ शरीरान्तर्गत प्रणालियोंके भीतर अनायास ही प्रविष्ट कराये जाने लगे हैं। विटामिन्स और ग्लूकोज़ इत्यादिके इञ्जेक्शन इसके प्रमाण हैं। ऐसी स्थितिमें देवदत्तको मोटा

---

१. यथा—नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः निशि भोक्तव्यमिति।
—(विमान० ८।४८)

२. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। —(योगसूत्र ३।३०)

रहनेके लिए रात्रिभोजन अनिवार्य नहीं रहेगा। इसलिए अर्थप्राप्तिका निस्सन्दिग्ध प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है।

जहाँपर 'जीवित चैत्र घरमें नहीं है, अतः बाहर होगा' इत्यादि उदाहरणोंमें निर्दोष अर्थापत्ति प्राप्त होती है, वहाँपर उसका अनुमानमें अन्तर्भाव मानना चाहिए। जो रोग अपतर्पणसे भी साध्य नहीं है, उसके प्रति 'यह सन्तर्पण साध्य नहीं है' यह कथन ही नहीं होना चाहिए, अतः यह अर्थापत्ति नहीं हुई। जो रोग न सन्तर्पणसाध्य है, और न अपतर्पणसाध्य, उसे तो 'असाध्य' ही कहना चाहिए। अनुमानमें इसका अन्तर्भाव करनेके लिए इसको इस रूपमें कहना होगा—"यह रोग अपतर्पणसाध्य है, सन्तर्पणसाध्य न होनेके कारण, जो जो सन्तर्पणसाध्य नहीं है, वह वह अपतर्पणसाध्य है, जैसे प्रमेह, चूँकि यह सन्तर्पणसाध्य नहीं है, अतः अपतर्पणसाध्य है।"

सम्भव

'सम्भव' नामक प्रमाण पौराणिकोंको मान्य है। चरकसंहितामें अर्थापत्तिका निरूपण करनेके अनन्तर 'सम्भव'का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"जो (कार्य) जिस(कारण)से उत्पन्न होता है, वह (कारण) उस(कार्य)का 'सम्भव' होता है। जैसे—छः धातुएँ (पञ्चमहाभूत और चेतना) गर्भका सम्भव (उत्पत्तिकारण) हैं। अहित(अपथ्य) व्याधिका सम्भव है, और हित(पथ्य) आरोग्यका सम्भव है।"[१]

कार्य उत्पन्न होनेके पूर्व अपने कारणमें अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहता है, क्योंकि सत्कार्यवादियोंके मतानुसार कारणमें उसके सभी कार्य समाविष्ट रहते हैं। यदि ऐसा न हो, तो कारणसे कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है। इस नियमके अनुसार कारणभूत षड्धातुओंमें कार्यरूप गर्भ उत्पन्न (अभिव्यक्त) होनेके पूर्व भी विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कुपथ्यमें व्याधि और पथ्यमें आरोग्य रहता है, और कालान्तरमें अभिव्यक्त होता है।

यहाँपर 'सम्भव' शब्दको 'कारण'के पर्यायरूपसे रक्खा गया है। षड्धातु अपथ्य और पथ्य अपने अपने कार्योंके सम्भव (कारण) हैं। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'सम्भव'का प्रमाणरूपसे उपस्थापन करना ग्रन्थकारको अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत **'सम्भवति विद्यते कार्यम् अस्मिन्निति सम्भवः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार कार्यका कारणसे अभेदसम्बन्ध प्रदर्शित करना ही यहाँपर अभिप्रेत है।

ग्रन्थान्तरोंमें सम्भवप्रमाणके जो लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं, उनके साथ उक्त लक्षण और उदाहरण मेल खाते हैं। साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीमें वाचस्पतिमिश्रने 'खारी नामक बड़े परिमाणमें द्रोण आढक और प्रस्थादि

---

१. सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति, स तस्य सम्भवः। यथा—षड्धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितम्, हितमारोग्यस्येति। (—विमान० ८।४९)

अल्पपरिमाणोंकी विद्यमानताके ज्ञान'[1]को सम्भवप्रमा कहा है। यद्यपि बड़े परिमाणमें छोटे परिमाणोंका अन्तर्भाव सम्भव है, तथापि उनमें कारणकार्य-भावका होना आवश्यक नहीं है। जबकि चरकसंहितामें कारणकार्यभावका निर्देश करनेके लिए ही सम्भवका निरूपण किया गया है। यदि इसको प्रमाण माना भी जाय, तो भी अनुमानमें अन्तर्भाव होनेके कारण मुख्य प्रमाणोंमें इसकी गणना नहीं की जा सकती है। जहाँपर एक अर्थसे दूसरे अर्थकी अविनाभावसे प्रतीति हो, वहाँपर अनुमान होता है। गर्भसे षड्धातुओंकी, रोगसे अपथ्यकी और आरोग्यसे पथ्यकी प्रतीति अविनाभावसे होती है। इसलिए यहाँपर अनुमान मानना ही उचित है। साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीकारने भी इसका अनुमानमें ही अन्तर्भाव माना है।[2]



१. सम्भवस्तु यथा खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः। —(साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी ५)

२. स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्यां द्रोणादिसत्त्व-मवगमयति। —(साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी ५)

तृतीय अध्याय

शास्त्रार्थ करनेकी विधि

आयुर्वेदके विद्वान्‌को अपने ज्ञानका आयाम विस्तृत करनेके लिए तथा भिषक्छद्मचरोंकी बाढ़को रोकनेके लिए शास्त्रार्थका अभ्यास करना चाहिए। श्रेष्ठ भावोंका निरूपण करते समय आचार्यने ज्ञानके साधनोंमें शास्त्रानुसार तर्क करनेको सर्वश्रेष्ठ बताया है।[1] असत्‌का परित्याग करके सत्‌को ग्रहण करना ही मनुष्यजीवनका चरमलक्ष्य है। इसके विपरीत यदि मनुष्य असत्‌को ग्रहण करके उसीमें रमा रहे, तो इससे बढ़कर उसका अहित करनेवाली कोई दूसरी बात नहीं हो सकती है।[2] इसलिए मनुष्यको अपनी बुद्धिका विकास करके विवेकिनी प्रज्ञाके द्वारा असत्‌का परित्याग और सत्‌का ग्रहण करना चाहिए। एक ही शास्त्रको जाननेवाले विद्वानोंका उस शास्त्रके विषयमें जो परस्पर सम्भाषण होता है, उसे बुद्धि बढ़ानेवाले भावोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[3] इसलिए जो पुरुष उत्तमकोटिका भिषक् बनना चाहता है, उसे परिश्रमपूर्वक शास्त्रका अभ्यास करके शास्त्रार्थ करनेकी योग्यता अर्जित करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि बहुतसे अल्पश्रुत लोग वैद्यका वेष बनाकर, भैषज्यकर्मके लिए जिस योग्यताकी अपेक्षा है उसके विना ही, लोगोंकी चिकित्सा करते हुए घूमते हैं, और अपने ज्ञानकी झूठी डींग मारकर साधारण जनोंपर अपनी योग्यताकी धाक जमानेके लिए सच्चे और योग्य वैद्योंकी निन्दा करनेसे भी नहीं चूकते हैं। इस प्रकारके धूर्त वैद्य जनताका उपकार करनेकी अपेक्षा अपकार ही अधिक करते हैं। उनकी चिकित्सासे आरोग्यलाभके स्थानपर अधिकांश रोगी प्रायः अकालमें ही कालकवलित होते हुए देखे जाते हैं। इस अनाचारको रोकनेके लिए योग्य और ईमानदार वैद्योंका कर्त्तव्य है कि जहाँ कहीं इन धूर्तोंको अपनी ठगविद्याका प्रसार करते हुए देखें, वहाँ पहुँचकर दस भले आदमियोंके बीच उस धूर्तको शास्त्रार्थ करनेके लिए ललकारें, और शास्त्रार्थमें खींचकर सबके सामने उसकी योग्यताकी पोल खोल दें। तभी इन यमदूतोंसे जनताके स्वास्थ्यकी रक्षा हो सकती है। इसके लिए वैद्यमें ठोस और परिपक्व ज्ञानके साथ ही साथ शास्त्रार्थ करनेकी क्षमता भी होनी चाहिए। चरकमुनिने इसीलिए ज्ञानवर्धन और धूर्तनिग्रह इस उभयविध लक्ष्यको दृष्टिमें रखकर श्लोकस्थानके रोगभिषग्जितीयनामक अध्यायमें शास्त्रार्थ करनेकी विधि और शास्त्रार्थमें प्रयुक्त होनेवाली पदावलीका विस्तारसे निरूपण तथा विश्लेषण किया है।

१. **शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानाम्।** —(सूत्र० २५।४०)
२. **असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्।** —(सूत्र० २५।४०)
३. **तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम्।** —(सूत्र० २५।४०)

जो लोग एक ही शास्त्रका अभ्यास करनेवाले हैं, उनका उसी शास्त्रके विषयमें जो परस्पर सम्भाषण या शास्त्रार्थ होता है, उसको चरकसंहितामें **तद्विद्यसम्भाषा** कहा गया है। तद्विद्यसम्भाषाकी प्रशंसा करते हुए आचार्य कहते हैं—"एक भिषक्‌को दूसरे भिषक्‌के साथ सम्भाषा (शास्त्रार्थ) करनी चाहिए। तद्विद्यसम्भाषा ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तत्परता और स्पर्द्धा उत्पन्न करती है। सभाचातुर्य भी प्रदान करती है। वाक्शक्तिका भी आधान करती है। यशको और अधिक चमकाती है। पूर्वश्रवणमें यदि कोई सन्देह रह गया हो, तो पुनः श्रवण करनेसे तद्विषयक सन्देहका निवारण कर देती है। जिसे अपने शास्त्रज्ञानमें कोई सन्देह नहीं है, उसमें उसका दृढ निश्चय उत्पन्न कराती है। जो पहले कभी नहीं सुनी गई हैं, ऐसी भी कुछ बातोंको सुननेके लिए सुलभ कर देती है। आचार्य प्रसन्न होकर अपने सेवापरायण श्रद्धालु शिष्यको जिस गोपनीय और महत्त्वपूर्ण अर्थसमूहका क्रमशः उपदेश देता है, उस अर्थको वह शिष्य, परस्पर शास्त्रार्थ करते समय, विजयकी अभिलाषासे युक्त होकर हर्षातिरेकके कारण सम्पिण्डित रूपमें (एकबारगी) कह डालता है। इसलिए कुशलजन तद्विद्यसम्भाषाकी प्रशंसा करते हैं।"[1]

चरकके मतानुसार तद्विद्यसम्भाषा दो प्रकारकी होती है—**सन्धायसम्भाषा** और **विगृह्यसम्भाषा**। इनमें सन्धायसम्भाषा अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिए, विजय अथवा पराजयकी भावनासे रहित होकर की जाती है। इसके विपरीत विगृह्यसम्भाषा विजयाभिलाषासे प्रेरित होकर, दूसरे पक्षको नीचा दिखानेके लिए और उसकी अयोग्यताकी पोल खोलनेके लिए, तथा स्वयं यश तथा लोकप्रियता अर्जित करनेके लिए की जाती है।

शास्त्रार्थकी इन दोनों विधियोंको यथार्थरूपसे समझनेके लिए, तथा शास्त्रार्थ करनेकी क्षमता प्राप्त करनेके लिए, शास्त्रार्थमें जिन पारिभाषिक पदोंका प्रायः प्रयोग किया जाता है, सबसे पहले उनके शास्त्रीय स्वरूपको लक्षणोदाहरणपूर्वक समझ लेना अनिवार्य है। इसी उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर आचार्यने इस पारिभाषिक पदावलीका परिगणन किया है। वाद(शास्त्रार्थ)के मार्गको जाननेके लिए चिकित्सकोंको इन पदोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है—वाद द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय प्रतिज्ञा स्थापना प्रतिष्ठापना हेतु दृष्टान्त उपनय निगमन उत्तर सिद्धान्त शब्द प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य औपम्य संशय प्रयोजन सव्यभिचार जिज्ञासा व्यवसाय अर्थप्राप्ति सम्भव अनुयोज्य अननुयोज्य अनुयोग प्रत्यनुयोग वाक्यदोष वाक्यप्रशंसा छल अहेतु अतीतकाल उपालम्भ परिहार प्रतिज्ञाहानि अभ्यनुज्ञा हेत्वन्तर अर्थान्तर और निग्रह-

---

१. भिषक् भिषजा सह सम्भाषेत। तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्त्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् श्रुतसंशयमपकर्षति, श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्त्तयति, अश्रुतमपि च कञ्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति, यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत् परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्। तस्मात्तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। —(विमान० ८।१५)

स्थान।[1] चौआलीस पदोंकी इस सूचीमें द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवायका विस्तृत निरूपण **पदार्थ-मीमांसा** नामक अध्यायमें किया जायगा। प्रतिज्ञा स्थापना प्रतिष्ठापना हेतु दृष्टान्त उपनय निगमन शब्द प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य औपम्य सव्यभिचार जिज्ञासा अर्थप्राप्ति सम्भव अहेतु अतीतकाल उपालम्भ तथा परिहारका समुचित निरूपण **प्रमाण-निरूपण**में यथास्थान किया जा चुका है। अब केवल अवशिष्ट अठारह पारिभाषिक शब्दोंका निरूपण करना हमें अभीष्ट है।

वाद—"वाद उसे कहते हैं, जिसमें एक वादी दूसरे वादीके साथ भिड़न्त करके शास्त्रपूर्वक कथनोपकथन करता है। यह वाद सङ्क्षेपसे दो प्रकारका होता है—जल्प और वितण्डा। इनमेंसे अपने अपने पक्षका आश्रय लेकर दो वादियोंका वचन-प्रतिवचन जल्प होता है, और वितण्डा जल्पके विपरीत होती है। जैसे 'पुनर्जन्म होता है' यह एक वादीका पक्ष है, और 'पुनर्जन्म नहीं होता है' यह दूसरेका पक्ष है। वे दोनों हेतुओंके द्वारा विपक्षका खण्डन करते हुए अपने-अपने पक्षकी स्थापना करते हैं, यह जल्प है। इसके विपरीत केवल दूसरेके पक्षमें दोष निकालना (और स्वयं किसी पक्षकी स्थापना न करना) वितण्डा है।"[2]

पहले जो तद्विद्यसम्भाषाके दो भेद बताए गए हैं, उनमें विगृह्यसम्भाषाको ही यहाँपर 'वाद' शब्दके द्वारा कहा गया है। तर्कभाषामें जो वादका लक्षण दिया गया है—"**तत्त्वबुभुत्स्वोः कथा वादः**" अर्थात् दो तत्त्वजिज्ञासुओंके परस्पर सम्भाषणको वाद कहते हैं, इस लक्षणका संवाद चरकोक्त सन्धाय-सम्भाषासे होता है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँपर जल्प और वितण्डाको वादका ही भेद माना गया है, जबकि न्यायभाष्यमें वाद जल्प और वितण्डा—इन तीनोंको **'कथा'** कहकर समान स्थान दिया गया है।[3] न्यायसूत्रके अनुसार "वाद उसे कहते हैं, जिसमें किसी एक विषयको लेकर पक्ष और प्रतिपक्षका ग्रहण किया जाता है, प्रमाणों और तर्कोंके द्वारा पक्षका साधन और प्रतिपक्षका प्रतिषेध किया जाता है, जिसमें (विरुद्ध नामक निग्रह-स्थानका प्रयोग करनेकी अनुमति होनेके कारण) सिद्धान्तके विरुद्ध कोई बात नहीं कही जाती है, और जिसके वाक्य पञ्चावयवसम्पन्न होते हैं।"[4] भाष्यकार

---

१. द्रष्टव्य —(विमान० ८।२७)

२. **तत्र वादो नाम स यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति। स च द्विविधः सङ्ग्रहेण—जल्पो वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्प-विपर्ययो वितण्डा। यथा—एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य। तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः, परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव।** —(विमान० ८।२८)

३. **तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति।**

—वात्स्यायनभाष्य (१।२।१)

४. **प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः।** —न्यायसूत्र (१।२।१)

वात्स्यायनके अनुसार "उस वाक्यसमूहका नाम वाद है, जिसका प्रयोग अपने अपने पक्षकी सिद्धिके लिए दो वक्ताओंके द्वारा किया जाता है, और जिसका अवसान किसी एक पक्षके निर्णयमें होता है।"[1] स्पष्ट है कि न्यायके आचार्यों-के द्वारा जो ये विश्लेषणात्मक लक्षण प्रस्तुत किए गये हैं, वे परवर्त्ती कालके चिन्तनका परिणाम प्रतीत होते हैं। चरकोक्त लक्षण सरल है, और आपात-दृष्टिसे किया गया है। निश्चय ही इसकी रचना न्यायसूत्रके पूर्व हुई होगी। इसी प्रकार जल्प और वितण्डाके जो लक्षण न्यायसूत्रमें दिए गए हैं, उनमें चरकोक्त लक्षणसे विरोध न होनेपर भी विश्लेषणात्मक चिन्तन अधिक मुखर हो उठा है। देखिए "जल्पमें वही सब बातें होती हैं, जो वादमें होती हैं, किन्तु विशेषता यह होती है कि प्रमाण और तर्कके अतिरिक्त इसमें छल जाति और निग्रहस्थानोंके द्वारा भी स्वपक्षकी स्थापना और परपक्षका प्रतिषेध किया जाता है।"[2] "वही जल्प वितण्डा बन जाता है, जब वह प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन होता है, अर्थात् वैतण्डिक अपने पक्षकी स्थापना नहीं करता है, प्रत्युत दूसरेके पक्षका खण्डन करनेमें ही प्रवृत्त होता है।"[3] चरकमुनिने वाद शब्दका प्रयोग सामान्य रूपसे शास्त्रार्थके लिए किया है, इसीलिए जल्प और वितण्डाको उन्होंने वादके भेदोंके रूपमें प्रस्तुत किया है। वादके विगृह्यसम्भाषारूप होनेके कारण, और वादियोंकी विजिगीषापूर्वक प्रवृत्ति होनेके कारण, इसमें छल जाति और निग्रहस्थानोंका प्रयोग अर्थतः उपलब्ध होता है। इसी प्रकार वितण्डामें भी वैतण्डिकका परपक्षदूषणरूप पक्ष तो रहता ही है, किन्तु वह अपने किसी मतकी स्थापना नहीं करता है। इस प्रकार चरकोक्त लक्षणोंका न्यायशास्त्रोक्त लक्षणोंसे किसी प्रकार विरोध नहीं है।

उत्तर—"हेतुका साधर्म्यके द्वारा उपदेश दिए जानेपर वैधर्म्यका कथन करना, और वैधर्म्यके द्वारा उपदेश दिए जानेपर साधर्म्यका कथन करना उत्तर (अर्थात् जातिरूप उत्तर या उत्तराभास) है। उदाहरणार्थ—'व्याधियाँ अपने कारणके समान धर्मवाली होती हैं; जैसे—शीतक रोग (शीतजन्य रोग) हिम तथा शीतल वायुके संस्पर्शरूप अपने हेतुओंके समान धर्मवाला है', ऐसा कहनेवालेके प्रति यदि प्रतिवादी कहे—'व्याधियाँ अपने कारणके विपरीत धर्म-वाली होती हैं, जैसे शरीरके अवयवोंका दाह उष्णता सड़ना और पकना इत्यादि जो व्याधियाँ हैं, ये हिम तथा शीतल वायुके संस्पर्शरूप अपने हेतुओंसे विरुद्ध धर्मवाली हैं।' यह तथा इसका उलटा (अर्थात् व्याधियोंके हेतुवैधर्म्यका

---

१. **वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः।**

—वात्स्यायनभाष्य (१।१।१)

२. **यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।**

—न्यायसूत्र (१।२।२)

३. **स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।** —न्यायसूत्र (१।२।३)

कथन किए जानेपर उनके हेतुसाधर्म्यका प्रतिपादन करना) उत्तर कहलाता है।"[1]

इसीको न्यायदर्शनमें जाति कहा गया है। अक्षपादके अनुसार वादीके द्वारा हेतुका कथन किए जानेपर प्रतिवादीके द्वारा साधर्म्य और वैधर्म्यकी सहायतासे उस हेतुका प्रतिषेध किया जाना जाति है।[2] उदाहरणके साधर्म्यसे साध्यको सिद्ध करनेवाले हेतुका उदाहरणके वैधर्म्यसे प्रतिषेध करना, और उदाहरणके वैधर्म्यसे साध्यको सिद्ध करने वाले हेतुका उदाहरणके साधर्म्यसे प्रतिषेध करना जाति है। विरोधी भावसे उत्पन्न होनेवाला अर्थ जाति है।[3]

साधर्म्य या वैधर्म्यके द्वारा किसी अर्थका स्थापन या प्रतिषेध करना कोई दोष नहीं है। दोष तब उत्पन्न होता है, जब व्याप्तिनिरपेक्ष होकर ऐसा किया जाता है। व्याप्तिनिरपेक्ष होकर साधर्म्य या वैधर्म्यके द्वारा किसी अर्थका प्रतिषेध करना प्रायः गलत होता है। इसीलिए नव्य नैयायिकोंके अनुसार जो उत्तर असत् होता है, उसे जाति कहते हैं।[4] जो उत्तर किसी पक्षको दूषित करनेमें असमर्थ हो, अथवा अपना ही व्याघात करनेवाला हो, उसे असत् समझना चाहिए।

सिद्धान्त—"अनेक प्रकारसे परीक्षा करके और हेतुओंसे सिद्ध करके परीक्षकोंके द्वारा जो निर्णय स्थापित किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते।"[5] सिद्धान्तके इस लक्षणमें न्यायसूत्रोक्त 'निर्णय'को भी अन्तर्भावित कर लिया गया है। "वादी और प्रतिवादीके द्वारा (साधनोपालम्भपूर्वक) विचार करके अर्थका निश्चय किया जाना निर्णय कहलाता है।"[6] न्यायसूत्रमें सिद्धान्तका लक्षण दिया गया है—तन्त्र(प्रमाण)से सिद्ध होने वाले अर्थोंकी इत्थम्भाव-व्यवस्था अर्थात् 'ये ऐसे ही हैं' इस प्रकारका निश्चय सिद्धान्त कहलाता है।[7]

---

१. उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ वैधर्म्यवचनं, वैधर्म्योपदिष्टे वा साधर्म्यवचनम्। यथा 'हेतुसधर्माणो विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुभिः साधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शाः' इति ब्रुवतः परो ब्रूयात् 'हेतुविधर्माणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथप्रपचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति। एतत्सविपर्ययमुत्तरम्। —(विमान० ८।३६)

२. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। —न्यायसूत्र(१।२।१८)

३. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति। —वात्स्यायनभाष्य (१।२।१८)

४. असदुत्तरं जातिः। —तर्कभाषा

५. सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः, स सिद्धान्तः। —(विमान० ८।३७)

६. विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। —न्यायसूत्र (१।१।४१)

७. तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः। —न्यायसूत्र (१।१।२६)

इस लक्षणसे चरकोक्त लक्षणका ऐकमत्य है। सिद्धान्त चार प्रकारका होता है—सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त और अभ्युपगम-सिद्धान्त।

(१) **सर्वतन्त्रसिद्धान्त**—"सर्वतन्त्रसिद्धान्त उसे कहते हैं, जो तत्तद्विषयक सभी शास्त्रोंमें समान रूपसे प्रसिद्ध होता है। जैसे—रोगोंके कारण होते हैं, रोग होते हैं, और साध्य रोगोंकी सिद्धिके उपाय भी होते हैं।"[१] ये तथ्य आयुर्वेदके सभी ग्रन्थोंमें मान्य हैं, अतः सिद्धान्तकोटिको प्राप्त हुए हैं। न्यायसूत्रमें भी कहा गया है—"सभी शास्त्रोंका अविरोधी जो अर्थ अपने शास्त्रमें ग्रहण किया जाता है, वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहलाता है।"[२]

(२) **प्रतितन्त्रसिद्धान्त**—"प्रतितन्त्रसिद्धान्त उसे कहते हैं, जो अलग-अलग प्रत्येक शास्त्रमें अपना-अपना प्रसिद्ध होता है। जैसे—अन्यत्र आठ रस हैं, किन्तु इस शास्त्रमें छः ही माने गए हैं। जैसे—इस शास्त्रमें पाँच इन्द्रियाँ हैं, किन्तु अन्यत्र छः मानी गई हैं। जैसे—अन्यत्र सभी रोग वातादिजन्य माने गए हैं, किन्तु इस शास्त्रमें सभी रोग वातादिजन्य तथा भूतजन्य माने गए हैं।"[३] न्यायसूत्रमें भी प्रतितन्त्रसिद्धान्तका यही लक्षण किया गया है—"जो समान तन्त्र(शास्त्र)में प्रसिद्ध हो, किन्तु दूसरे शास्त्रोंमें असिद्ध हो, उसे प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहते हैं।"[४]

(३) **अधिकरणसिद्धान्त**—"किसी प्रधान अधिकरण(अभिधेय)के प्रस्तुत किए जानेपर जो अन्य अप्रधान बातें साक्षात् कही न जानेपर भी अधिकृत हो जाती हैं, उन्हें अधिकरणसिद्धान्त कहा जाता है। जैसे—'जीवन्मुक्त पुरुष निःस्पृह होनेके कारण आनुबन्धिक कर्म (जन्मान्तरमें फल देनेवाले कर्म) नहीं करता है', इस अधिकरणके प्रस्तुत होनेपर कर्मफल मोक्ष पुरुष और प्रेत्यभाव-का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है।"[५] यहाँपर अधिकरणके बलसे ही कर्म-फलादि सिद्धान्त रूपसे स्वीकृत हो जाते हैं। यदि कर्मका फल न होता, तो

---

१. तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धम्, यथा—सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्याना-मिति। —(विमान० ८।३७)

२. सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।—न्यायसूत्र (१।१।२८)

३. प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिंस्तन्त्रे एकैकस्मिन् तत्तत् प्रसिद्धम्। यथान्यत्राष्टौ रसाः, षडत्र। पञ्चेन्द्रियाणि यथात्र, अन्यत्र षडिन्द्रियाणि। वातादिकृताः सर्वे विकारा यथान्यत्र, अत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः। —(विमान० ८।३७)

४. समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।—न्यायसूत्र (१।१।२९)

५. अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधि-करणानि भवन्ति। यथा—न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते निःस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति। —(विमान० ८।३७)

मुमुक्षु भी कर्मसे विरत न होते, क्योंकि फलप्राप्तिसे उद्विग्न होकर ही ये लोग कर्म नहीं करते हैं। यदि मोक्ष न होता, तो 'यह मुक्त है' यह कथन ही न सम्भव होता। इसी प्रकार यदि पुरुष न होता, तो किसका बन्ध और किसका मोक्ष होता, और यदि जन्मान्तर न होता, तो कर्मका आनुबन्धिक होना असिद्ध हो जाता। इस प्रकार मुक्त पुरुषके द्वारा आनुबन्धिक कर्मके निषेधका कथन होनेसे कर्मफल मोक्ष पुरुष और प्रेत्यभावका अस्तित्व सिद्ध होता है। न्यायसूत्रमें भी अधिकरणसिद्धान्तका यही लक्षण दिया गया है—"जिस अर्थकी सिद्धि होनेपर दूसरे आनुषङ्गिक अर्थोंकी भी सिद्धि हो जाती है, वह अधिकरणसिद्धान्त कहलाता है।"[१]

(४) **अभ्युपगमसिद्धान्त**—"परस्पर वाद करते समय भिषग्जन जब किसी ऐसे अर्थको स्वीकार कर लेते हैं, जो असिद्ध है, अर्थात् जिसकी न तो (प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा) परीक्षा की गई है, न (आप्तजनोंके द्वारा) उपदेश दिया गया है, और न हेतुओंसे प्रमाणित किया गया है, तो उसे अभ्युपगमसिद्धान्त कहा जाता है। जैसे—द्रव्यको प्रधान मानकर हम अपनी बात कहेंगे; गुणको प्रधान मानकर हम अपनी बात कहेंगे; अथवा कर्मको प्रधान मानकर हम अपनी बात कहेंगे; इत्यादिको अभ्युपगमसिद्धान्त समझना चाहिए।"[२] अक्षपादने भी इसका स्वरूप लगभग ऐसा ही प्रस्तुत किया है—"किसी अपरीक्षित अर्थको पहले स्वीकार कर लेना, फिर उसकी विशेष परीक्षा करना, अभ्युपगमसिद्धान्त कहलाता है।"[३]

संशय—"सन्देहके लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण सन्दिग्ध अर्थोंके विषयमें निश्चयका न होना ही संशय है। जैसे—आयुष्मान् पुरुषके लक्षणोंसे युक्त तथा इन लक्षणोंसे रहित, जिनकी चिकित्सा की जा रही है और जिनकी चिकित्सा नहीं की जा रही है, दोनों प्रकारके पुरुष, शीघ्र मरते हुए भी देखे जाते हैं और चिरकालतक जीवित रहते हुए भी देखे जाते हैं। इन दोनों बातोंके देखे जानेसे संशय होता है कि अकालमृत्यु होती है अथवा नहीं होती है।"[४] जब कोई अर्थ सन्देहके लक्षणोंसे युक्त होता है तो उसके विषयमें

---

१. **यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः।** —न्यायसूत्र (१।१।३०)

२. **अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम सः यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः। तद्यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणाः प्रधाना इति कृत्वा वक्ष्यामः, कर्म प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिः।** —(विमान० ८।३७)

३. **अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।** न्यायसूत्र—(१।१।३१)

४. **संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणोपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः—किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति।** —(विमान० ८।४३)

किसी निश्चयपर पहुँचना कठिन होता है। न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें किसी पदार्थकी सन्देहयोग्यता पाँच हेतुओंसे बताई गई है। संशयका लक्षण प्रस्तुत करते हुए अक्षपाद कहते हैं—"समान धर्मोंकी उपलब्धि होनेसे, अनेक धर्मोंकी उपलब्धि होनेसे, विप्रतिपत्तिसे, उपलब्धिकी अव्यवस्थासे, तथा अनुपलब्धिकी अव्यवस्थासे विशेषकी अपेक्षा रखनेवाला (अर्थात् भेदक धर्मको जाननेकी इच्छासे प्रवृत्त होनेवाला) विमर्श 'संशय' कहलाता है।"[१] जब एक ही पदार्थमें स्थाणु और पुरुष दोनोंके समान धर्म उपलब्ध होते है, तब 'यह पुरुष है या स्थाणु है' इस प्रकारका सन्देह उत्पन्न होता है। जब एक ही शब्दमें समानजातीय तथा असमानजातीय द्रव्य गुण और कर्ममें पाये जानेवाले अनेक धर्म उपलब्ध होते हैं, तो सन्देह होता है कि शब्द द्रव्य है, या गुण है, या कर्म है। जब एक ही आत्माके विषयमें 'आत्मा है' यह एक मत उपलब्ध होता है, और 'आत्मा नहीं है' यह दूसरा मत उपलब्ध होता है, तो इस विप्रतिपत्तिके कारण आत्माके विषयमें संशय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जब तालाबमें सत्य जलकी उपलब्धि होती है, और मृगमरीचिकामें मिथ्या जलकी उपलब्धि होती है, तो उपलब्धिकी इस अव्यवस्थासे संशय उत्पन्न होता है कि 'सत्की उपलब्धि होती है अथवा असत्की।' जब वृक्षके मूल और शाखादिमें विद्यमान जलकी उपलब्धि नही होती हैं, और अनुत्पन्न तथा विनष्ट जलकी भी उपलब्धि नहीं होती है, तो अनुपलब्धिकी इस अव्यवस्थासे संशय होता है कि 'अनुपलब्धि सत्की होती है अथवा असत्की।'

इसलिए जब किसी अर्थमें सन्देहके इन पञ्चविध हेतुओंकी उपलब्धि हो, तो संशयका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। संशय उभयकोटिक होता है। दो विरुद्ध कोटियोंका अवगाहन करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है। चरकके पूर्वोक्त उदाहरणमें दीर्घायुके लक्षणोंसे सम्पन्न किन्तु चिकित्साहीन पुरुषकी शीघ्र मृत्युको देखकर तथा दीर्घायुर्लक्षणसम्पन्न और चिकित्सायुक्त पुरुषके चिरजीवनको देखकर 'अकालमृत्यु होती है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। क़िन्तु इसके विपरीत देखकर अर्थात् दीर्घायुर्लक्षणसम्पन्न और चिकित्सायुक्त पुरुषकी शीघ्रमृत्यु तथा दीर्घायुर्लक्षणसम्पन्न और चिकित्साहीन पुरुषके चिरजीवनको देखकर 'अकालमें मृत्यु नहीं होती है' इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो विरुद्ध कोटियोंको स्पर्श करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है।

प्रयोजन—"जिसके लिए कर्म प्रारम्भ किए जाते हैं, वह प्रयोजन है। उदाहरणार्थ—यदि अकालमृत्यु होती है, तो मैं आयुकी वृद्धि करनेवाले उपायोंसे अपना उपचार करूँगा, और जो भाव आयुके लिए अहितकर हैं, उनसे बचूंगा। अकालमृत्यु मुझे कैसे दबोच सकती है।"[२] इस उदाहरणमें

---

१. **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।** —न्यायसूत्र (१।१।२३)

२. **प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः; यथा—यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति।** —(विमान० ८।४४)

अकालमृत्युसे बचना ही वक्ताका प्रयोजन है। उसी प्रयोजनको दृष्टिमें रखकर आयुष्य भावोंका सेवन करनेकी और अनायुष्य भावोंसे बचनेकी बात कही गई है। न्यायसूत्र भी प्रयोजनके इसी लक्षणका अनुवाद करता है—"मनुष्य जिस (प्राप्तव्य या त्याज्य) अर्थको अधिकृत (निश्चित) करके प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन कहलाता है।"[१]

व्यवसाय—"निश्चयको ही व्यवसाय कहते हैं। जैसे—यह रोग वातिक (वातजन्य) ही है, और इस रोगकी यही औषध है।"[२] यहाँपर दो प्रकारका व्यवसाय कहा गया है — रोगके वातिक होनेका और किसी औषधकी यौगिकताका।

अनुयोग—"किसी शास्त्रके विद्वानोंका उसी शास्त्रके विद्वानोंके साथ परस्पर ज्ञान विज्ञान वचन और प्रतिवचनकी परीक्षा करनेके लिए, सम्पूर्ण शास्त्रमें अथवा उस शास्त्रके किसी एक भागमें, जो प्रश्न अथवा प्रश्नका एक भाग उठाया जाता है, उसे अनुयोग कहते हैं। जैसे—किसी के द्वारा 'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा किए जानेपर, दूसरेके द्वारा 'इसका क्या हेतु है' यह पूछा जाना ही अनुयोग है।"[३]

प्रत्यनुयोग—"किसीके द्वारा अनुयोग किए जानेपर उलट कर उसीके प्रति अनुयोग करना प्रत्यनुयोग कहलाता है, अर्थात् प्रश्नका उत्तर प्रश्नसे ही देना प्रत्यनुयोग है। जैसे—आपके द्वारा किए गए इस अनुयोगका क्या हेतु है?"[४] शास्त्रार्थके समय अनुयोग और प्रत्यनुयोगका खुलकर प्रयोग किया जाता है।

वाक्य—शास्त्रार्थमें वाक्य दो प्रकारके होते हैं—अनुयोज्य और अननुयोज्य।

(१) **अनुयोज्य**—"जो वाक्य वाक्यदोषोंसे युक्त होता है, वह अनुयोज्य कहलाता है। अर्थात् दोषयुक्त होनेके कारण जिस वाक्यका प्रयोग किए जाने-

---

१. **यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्।**

—न्यायसूत्र (१।१।२४)

२. **व्यवसायो नाम निश्चयः; यथा—वातिक एवायं व्याधिः, इदमेवास्य भेषजं चेति।** —(विमान० (८।४७

३. **अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते। यथा—नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत्परः को हेतुरित्याह, सोऽनुयोगः।**

—(विमान० ८।५२)

४. **प्रत्यनुयोगो नाम अनुयोगस्यानुयोगः। यथा—अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति।** —(विमान० ८।५३)

पर प्रतिपक्षीके द्वारा प्रश्न उठाया जा सकता है, वह वाक्य अनुयोज्य कहलाता है। अथवा सामान्य रूपसे कहे गए अर्थके विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिए जो वाक्य कहा जाता है, वह भी अनुयोज्य कहलाता है। जैसे—'यह व्याधि संशोधनसाध्य है' ऐसा कहे जानेपर 'क्या यह वमनसाध्य है अथवा विरेचनसाध्य है?' इस प्रकार अनुयोग किया जाता है।"[१] इस प्रकार अनुयोज्य वाक्य दो प्रकारके होते हैं। पहले वे जो दोषयुक्त होते हैं, और दूसरे वे जो सामान्यरूपसे किसी बात के कहे जानेपर विशेषज्ञानके लिए प्रयुक्त होते हैं।

(२) **अननुयोज्य**—"अनुयोज्यसे विपरीत लक्षणवाले वाक्यको अननुयोज्य कहा जाता है। जैसे—यह रोग असाध्य है।"[२] तात्पर्य यह है कि जो वाक्य वाक्यदोषोंसे रहित होता है, उस पर प्रश्न नहीं बन सकता है; अतः उसे अननुयोज्य कहा जाता है। साथ ही उस वाक्यको भी अननुयोज्य समझना चाहिए जिसमें बात ऐसे ढंगसे कही गई हो कि विशेष जानकारीके लिए कोई प्रश्न बन ही न सकता हो। 'यह रोग असाध्य है' इस वाक्यका प्रयोग किए जानेपर कोई भी विशेष प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। अतः यह वाक्य अननुयोज्य है। शास्त्रार्थमें अननुयोज्य वाक्य प्रशंसनीय कहा जाता है।

वाक्यदोष—"यह वाक्य इस अर्थमें **न्यून** है, यह वाक्य इस अर्थमें **अधिक** है, यह वाक्य **अनर्थक** है, यह वाक्य **अपार्थक** है, और यह वाक्य **विरुद्ध** है—ये (न्यूनता इत्यादि सभी) वाक्यदोष हैं। इन दोषोंके विना वाक्यके प्रकृत (प्रतिज्ञात) अर्थका विनाश नहीं होता है।"[३] वाक्यदोषकी इस परिभाषासे छल और हेत्वाभास भी वाक्यदोषोंसे दूषित सिद्ध होते हैं। महर्षि गौतमने इन वाक्यदोषोंकी गणना निग्रहस्थानके अन्तर्गत की है।

(१) **न्यून**—"जो वाक्य प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन—इन पाँचमेंसे किसी एकसे भी न्यून होता है, वह वाक्य न्यून कहलाता है। अथवा जिस साध्यको सिद्ध करनेके लिए बहुत से हेतु शास्त्रमें बताए गए हों, उसे यदि एक ही हेतुके द्वारा सिद्ध किया जाय, तो उसे भी न्यून कहा जायगा।"[४] जैसे पुरुषकी नित्यताको सिद्ध करनेके लिए उसका अनादि होना, अकृतक होना, और निर्विकार होना—ये तीन हेतु बताए गए हैं। इनमें यदि

---

१. अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तत्। सामान्यतो व्याहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदप्यनुयोज्यम्। यथा — संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनसाध्योऽयं किं वा विरेचनसाध्य इत्यनुयुज्यते। —(विमान० ८।५०)

२. अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेण; यथा—अयमसाध्यः। —(विमान० ८।५१)

३. वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनमधिकमनर्थकमपार्थकं विरुद्धं चेति। एतानि ह्यन्तरेण न प्रकृतोऽर्थः प्रणश्येत्। —(विमान० ८।५४)

४. तत्र न्यूनं प्रतिज्ञाहेतूदाहरण[illegible]नामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति। यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन साध्यते हेतुना तच्च न्यूनम्। —(विमान० ८।५४)

सभी हेतुओंके कथनकी प्रतिज्ञा करके एक ही हेतुका कथन किया जाय, तो प्रतिज्ञात अर्थके न्यून होनेके कारण उसका वक्तव्य न्यून कहा जायगा। न्याय-सूत्रमें कहा गया है—"जो प्रयोग प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंमेंसे किसी एक अवयवसे भी हीन होता है, वह न्यून नामक निग्रहस्थान कहलाता है।"[१]

(२) **अधिक**—"जो वाक्य न्यूनसे विपरीत होता है, वह अधिक कहलाता है। अथवा आयुर्वेदविषयक वार्त्तालापके मध्य बृहस्पति उशना (शुक्राचार्य) या अन्य किसीके शास्त्रकी कोई बात विना किसी सम्बन्धके कही जाय, अथवा सम्बन्ध होनेपर भी दो वार कही जाय, तो पुनरुक्त दोषसे युक्त होनेके कारण उसे भी अधिक ही कहते हैं। यह पुनरुक्त दोष दो प्रकारका होता है—अर्थपुनरुक्त और शब्दपुनरुक्त। अर्थपुनरुक्तमें एक ही अर्थके बोधक अनेक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे—भेषज औषध और साधन। शब्द-पुनरुक्तमें एक ही शब्दका अनेक वार प्रयोग होता है, जैसे—भेषज भेषज।"[२] आचार्यने यहाँपर अधिक नामक दोष तीन प्रकारका बताया है। पहला वह, जहाँ पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग करते समय केवल एक ही हेतुके कथनसे साध्यकी सिद्धि हो जाती हो, वहाँ विना किसी आवश्यकताके एकसे अधिक हेतुओंका कथन करना वाक्यको अधिकत्वदोषसे दूषित करता है। दूसरा वह, जहाँ आयुर्वेदका विषय प्रक्रान्त होनेपर किसी अन्य शास्त्रकी बात विना किसी प्रसङ्गके छेड़ दी जाय। तीसरा वह, जहाँ प्रासङ्गिक बातको भी एकसे अधिक वार कहा जाय। स्पष्ट है कि आचार्यने अर्थान्तर और पुनरुक्त दोषका अन्त-र्भाव अधिकमें ही कर दिया है, जबकि आचार्य गौतमने अधिक अर्थान्तर और पुनरुक्तका अलग-अलग परिगणन किया है। देखिए—"जब आवश्यकतासे अधिक हेतुओं और उदाहरणोंको प्रदर्शित किया जाय, तो अधिक नामक निग्रहस्थान होता है।"[३] तथा "प्रकृत अर्थसे असम्बद्ध अर्थका कथन करना अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान है।"[४] और "अनुवादको छोड़कर अन्य स्थलोंपर शब्द या अर्थका पुनर्वचन पुनरुक्त कहलाता है।"[५] इन न्यायोक्त निग्रहस्थानोंका चरकोक्त वाक्यदोषोंसे पूर्णतया संवाद है।

(३) **अनर्थक**—"जो वचन कखगघङ इत्यादि पञ्चवर्गोंके समान अक्षरोंका समूहमात्र हो, और उससे किसी अर्थका बोध न होता हो, वह अनर्थक कहलाता

---

१. **हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।** —न्यायसूत्र (५।२।१२)

२. **अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतम्। यद्वायुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते। यद्वा प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते, तत्पुनरुक्तदोषत्वादधिकम्। तच्च पुनरुक्तं द्विविधम्—अर्थपुनरुक्तं शब्दपुन-रुक्तं च। तत्रार्थपुनरुक्तं नाम यथा—भेषजमौषधं साधनमिति। शब्दपुनरुक्तं पुनर्भेषजं भेषजमिति।** —(विमान० ८।५४)

३. **हेतूदाहरणाधिकमधिकम्।** —न्यायसूत्र (५।२।१३)

४. **प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्।** —न्यायसूत्र (५।२।७)

५. **शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।** —न्यायसूत्र (५।२।१४)

है।"[१] ऐसे वाक्यका अभिधेय अर्थ समझमें नहीं आता है। न्यायदर्शनमें भी इसका यही स्वरूप बताया गया है।[२]

(४) **अपार्थक**—"जिस वाक्यके पदोंके सार्थक होनेपर भी उनका अर्थ एक दूसरेसे सम्बद्ध न हो, वह अपार्थक कहलाता है। जैसे—चक्र नक्र वंश वज्र निशाकर।"[३] इस उदाहरणमें प्रत्येक पद प्रसिद्ध अर्थका बोधक है। किन्तु उन अर्थोंका परस्पर कोई सम्बन्ध न होनेके कारण वाक्यरूपसे किसी अर्थका बोध नहीं हो पा रहा है। महर्षि अक्षपाद करते हैं—"(पदोंमें या वाक्योंमे) पौर्वापर्य सम्बन्ध न होनेके कारण जहाँपर पदार्थ या वाक्यार्थ परस्पर असम्बद्ध होते हैं, वह अपार्थक नामका निग्रहस्थान है।"[४]

(५) **विरुद्ध**—"जो वाक्य दृष्टान्त सिद्धान्त और समय(convention)से विरुद्ध हो, वह विरुद्ध कहलाता है।"[५] चरकमुनिने इसकी गणना वाक्य-दोषोंमें की है, किन्तु न्यायदर्शनमें इसे हेत्वाभास माना गया है, और हेत्वा-भासोंका निग्रहस्थानमें अन्तर्भाव होनेके कारण इसे निग्रहस्थान भी माना जा सकता है। चरकका विरुद्धविषयक उपस्थापन हेत्वाभासोंसे बहुत मेल खाता है, इसलिए हमने इसका निरूपण हेत्वाभासके प्रकरणमें पृष्ठ सं० ७७ पर किया है। वहीं देखना चाहिए। चरकसंहितामें इन वाक्यदोषोंकी गणना निग्रह-स्थानोंमें भी की गई है।

वाक्यप्रशंसा—"जो वाक्य न तो किसी अवयवसे न्यून हो और न अधिक हो, अर्थवान् हो, अपार्थक न हो, विरुद्ध भी न हो, और जिसके पदोंका अर्थ (परस्पर सम्बद्ध होनेके कारण) समझमें आता हो ऐसा वाक्य अननुयोज्य होता है, अर्थात् उसपर कोई उँगली नहीं उठा सकता है, और उसकी प्रशंसा की जाती है।"[६]

छल—"जो वचन दूसरेको छलनेके लिए कहा जाय, जिसका वस्तुतः कुछ अर्थ न हो, किन्तु प्रतीत ऐसा हो कि इसका कुछ अर्थ है, और जो केवल वाग्जालमात्र हो, वह छल कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है—वाक्छल और सामान्यच्छल।"[७] वक्ताके अभिप्रेत अर्थसे भिन्न अर्थान्तरकी कल्पना करके

---

१. अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते। —(विमान० ८।५४)

२. वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्। —न्यायसूत्र (५।२।८)

३. अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकम्। यथा चक्रनक्रवंश-वज्रनिशाकरा इति। —(विमान० ८।५४)

४. पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्। —न्यायसूत्र (५।२।१०)

५. विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्। —(विमान० ८।५४)

६. वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनमनधिकमर्थवदनपार्थकमविरुद्ध-मधिगतपदार्थं चेति यत्तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते।—(विमान० ८।५५)

७. छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव। तद् द्विविधम्—वाक्छलं सामान्यच्छलं च। —(विमान० ८।५६)

उसकी बातको काटनेके लिए छलका प्रयोग किया जाता है। जैसा कि न्याय-सूत्रमें कहा गया है—"वक्ताके अभिमत अर्थके विपरीत अर्थकी कल्पना करके उसकी बातको काट देना छल कहलाता है।"[१] न्यायदर्शनमें छल तीन प्रकारका माना गया है—वाक्छल सामान्यच्छल और उपचारच्छल।[२] किन्तु चरकमुनिने उपचारच्छलका वाक्छलमें अन्तर्भाव करके दो ही भेद माने हैं।

(१) **वाक्छल**—"वाक्छल उसे कहते हैं, जैसे कोई कहे—'यह भिषक् नवतन्त्र है', इसपर भिषक् कहे—'मैं नवतन्त्र नहीं हूँ प्रत्युत एकतन्त्र हूँ।' तब वह कहे—'मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम्हारा नौ तन्त्रों(शास्त्रों)पर अधिकार है, अपितु मेरे कथनका अभिप्राय यह है कि तन्त्र तुम्हारा नवाभ्यस्त है (अर्थात् तुमने तन्त्रका नया-नया अभ्यास किया है)', इसपर भिषक् पुनः कहे—'मैंने केवल नौ ही वार तन्त्रका अभ्यास नहीं किया है, अपितु अनेक वार किया है।' भिषक्का यह कथन वाक्छल है।"[३] इस उदाहरणमें जब वैद्यने कहा कि मैं नवतन्त्र नहीं हूँ किन्तु एकतन्त्र हूँ, तो उसने प्रथम वार छल किया, और जब दुबारा यह कहा कि मैंने केवल नौ वार ही नहीं प्रत्युत अनेक वार तन्त्रका अभ्यास किया है, तो उसने दूसरी वार छल किया। वाक्छलका यह उदाहरण न्यायसूत्रोक्त वाक्छलके लक्षणकी कसौटीपर खरा उतरता है। न्यायसूत्रमें कहा गया है—"सामान्य शब्दोंके द्वारा कहे गए अर्थमें वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल कहलाता है।"[४]

(२) **सामान्यच्छल**—"सामान्यच्छल उसे कहते हैं, जैसे 'औषध रोगको शान्त करनेके लिए होती है' ऐसा कहे जानेपर कोई दूसरा कहे—'क्या कहा आपने, सत् सत्को शान्त करनेके लिए होता है? रोग भी सत् है, और औषध भी सत् है। यदि सत् सत्का प्रशमन करता है, तो कासरोग भी सत् है और क्षयरोग भी सत् है, अतः सत्की समानता होनेके कारण तुम्हारे मतमें कास रोग क्षयरोगका प्रशमन कर देगा।' यह कथन सामान्यच्छल है।"[५] यह

---

१. **वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।** —न्यायसूत्र (१।२।१०)

२. **तत् त्रिविधम्—वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति।** —(न्यायसूत्र (१।२।११)

३. **तत्र वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयात्—नवतन्त्रोऽयं भिषगिति। अथ भिषग् ब्रूयात्—नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात्—नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति। भिषग् ब्रूयात्—न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधाभ्यस्तं मया तन्त्रमिति, एतद्वाक्छलम्।** —(विमान० ८।५६)

४. **अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।** —न्यायसूत्र (१।२।१२)

५. **सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्—सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह, सन् हि रोगः सदौषधम्। यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति, तत्र सन् हि कासः सन् क्षयः, सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यतीति, एतत्सामान्यच्छलम्।** —(विमान० ८।५६)

सामान्यच्छलका उदाहरण भी न्यायसूत्रोक्त छललक्षणकी कसौटीपर खरा उतरता है। देखिए—"जो अर्थ सम्भव है, उसमें अतिसामान्यकी योजना करके असम्भव अर्थकी कल्पना करना सामान्यच्छल कहलाता है।"[१] औषधके द्वारा रोगका शान्त होना सम्भव है, किन्तु उसमें सत्तारूप अतिसामान्यकी योजना करके सत् कासरोगके द्वारा सत् क्षयरोगके प्रशमनकी जो असम्भव कल्पना की गई है, वह सामान्यच्छलमात्र है। वस्तुतः छलपूर्वक कही गई बातमें कोई दम नहीं होता है।

निग्रहस्थान—"पराजयप्राप्तिको निग्रहस्थान कहा जाता है। विज्ञानवत परिषद्में किसी वाक्यको तीन वार कहनेपर भी न समझ पाना, अथवा अननुयोज्य(अनुयोग न करने योग्य)का अनुयोग करना, और अनुयोज्यका अनुयोग न करना—ये सब निग्रहस्थान हैं। इनके अतिरिक्त प्रतिज्ञाहानि अभ्यनुज्ञा कालातीतवचन हेत्वाभास न्यून अतिरिक्त व्यर्थ अपार्थक पुनरुक्त विरुद्ध हेत्वन्तर और अर्थान्तर भी निग्रहस्थान होते हैं।"[२] शास्त्रार्थमें जिस बातको लेकर किसी पक्षकी पराजय होती है, उसे निग्रहस्थान कहा जाता है। वात्स्यायनने भी अपने न्यायभाष्यमें पराजयप्राप्तिको निग्रहस्थान कहा है,[३] इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकारको भी यही लक्षण अभिमत है। किन्तु उन्होंने जो सूत्र लिखा है, वह निग्रहस्थानके अंशमात्रकी व्याख्या करता है, साकल्येन निरूपण नहीं करता है। देखिए—"विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते हैं।"[४] विपरीत ज्ञानको विप्रतिपत्ति कहा जाता है, और बिलकुल ही न समझ पानेको अप्रतिपत्ति कहा जाता है। इस लक्षणमें निग्रहस्थानके दो प्रकार बताए गए हैं, किन्तु निग्रहस्थान इतने ही नहीं हैं, और भी बहुत से हैं। इसीलिए भाष्यकारको कहना पड़ा—विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिमें समास न होनेके कारण ये दो ही निग्रहस्थान नहीं हैं, प्रत्युत और भी हैं।[५] सूत्रकार भी अगले सूत्रमें कहते हैं—"अनेक विकल्प होनेके कारण जाति और निग्रहस्थानका बहुत्व सिद्ध होता है।"[६]

चरकमुनिने यहाँपर जिस निग्रहस्थानको **त्रिरभिहितस्यापरिज्ञानम्** कहा है, न्यायसूत्रमें उसे **अविज्ञातार्थ** और **अज्ञान** नामका निग्रहस्थान कहा गया है।

---

१. **सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्।** —न्यायसूत्र (१।२।१३)

२. **निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः। तच्च त्रिरभिहितस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञाकालातीतवचनमहेतवो न्यूनमतिरिक्तं व्यर्थमपार्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं च निग्रहस्थानम्।** —(विमान० ८।६५)

३. **निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः।** —न्यायभाष्य (१।२।१९)

४. **विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।** —न्यायसूत्र (१।२।१९)

५. **असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति।** —न्यायभाष्य (१।२।१९)

६. **तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्।** —न्यायसूत्र (१।२।२०)

इनका लक्षण इस प्रकार है—"जो वाक्य परिषद् और प्रतिवादीके द्वारा तीन वार कहे जानेपर भी किसी वादीकी समझमें न आए, तो वह उसका 'अविज्ञातार्थं' नामक निग्रहस्थान होता है।"[१] और "(परिषद् तथा प्रतिवादीको जिस वाक्यका अर्थ विज्ञात है, उसका तीन वार कथन किए जानेपर भी) विज्ञान न होना अज्ञान नामक निग्रहस्थान है।"[२] चरकमुनिने जिस निग्रहस्थानको **अननुयोज्यस्यानुयोगः** कहा है, गौतमने उसे **निरनुयोज्यानुयोगः** कहा है, और उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—"निग्रहस्थानकी प्राप्ति न होनेपर भी किसीको निगृहीत करना निरनुयोज्यानुयोग नामका निग्रहस्थान है।"[३] इसी प्रकार चरकमुनिने जिसे **'अनुयोज्यस्य चाननुयोगः'** कहा है, उसे अक्षपादने **'पर्यनुयोज्योपेक्षणम्'** कहकर उसका लक्षण इस प्रकार किया है—"जो वादी निग्रहस्थानको प्राप्त हो गया है, उसको निगृहीत न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण नामका निग्रहस्थान है।"[४] स्पष्ट है कि ये लक्षण चरकोक्त पदावलीकी व्याख्यामात्र हैं।

इसके अनन्तर चरकमुनिने प्रतिज्ञाहानि इत्यादि जिन बारह निग्रह-स्थानोंको गिनाया है, उनमें न्यून अतिरिक्त व्यर्थ अपार्थक पुनरुक्त और विरुद्धका निरूपण वाक्यदोषोंके रूपमें पहले किया जा चुका है। कालातीत-वचन और अहेतुओं(हेत्वाभासों)का निरूपण उसके भी पहले **प्रमाणनिरूपण** नामक अध्यायमें विस्तारसे किया जा चुका है। अवशिष्ट प्रतिज्ञाहानि अभ्यनुज्ञा हेत्वन्तर और अर्थान्तर—इन चार निग्रहस्थानोंका निरूपण यहाँपर करना आवश्यक है।

(१) **प्रतिज्ञाहानि**—"प्रतिपक्षीके द्वारा पर्यनुयोग किए जानेपर, वादीके द्वारा अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञाका जो परित्याग है, वह प्रतिज्ञाहानि नामका निग्रहस्थान है। जैसे—पहले 'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा करके यदि पर्यनुयोग किए जानेपर कहता है कि 'पुरुष अनित्य है' तो यह प्रतिज्ञाहानि नामका निग्रहस्थान है।"[५] न्यायसूत्रमें भी प्रतिज्ञाहानिका यही लक्षण है—"प्रति-वादीके द्वारा उपस्थापित दृष्टान्तके धर्मको स्वपक्षके दृष्टान्तमें स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि नामका निग्रहस्थान है।"[६]

---

१. **परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्।** —न्यायसूत्र (५।२।९)

२. **अविज्ञातं चाज्ञानम्।** —न्यायसूत्र (५।२।१८)

३. **अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः।** —न्यायसूत्र (५।२।२३)

४. **निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।** —न्यायसूत्र (५।२।२२)

५. **प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वपरिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति। यथा–प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति पर्यनुयुक्तस्त्वाह अनित्य इति।** —(विमान० ८।६१)

६. **प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।** —न्यायसूत्र (५।२।२)

(२) **अभ्यनुज्ञा**—"इष्ट और अनिष्ट दोनोंको स्वीकार कर लेना अभ्यनुज्ञा नामका निग्रहस्थान है।"[१] परपक्षका दोष इष्ट होता है, और स्वपक्षका दोष अनिष्ट होता है, इन दोनोंको स्वीकार कर लेना अभ्यनुज्ञा है। प्रतिपक्षीके द्वारा उद्भावित दोषको अपने पक्षमें स्वीकार करके उसका परिहार न करते हुए प्रतिपक्षपर भी उसी दोषका आरोप करना, कि आपके पक्षमें भी यही दोष है—इसीको अभ्यनुज्ञा कहते हैं। जैसे किसीने कहा—'तुम चोर हो', तो अपने ऊपर किए गए इस आरोपका खण्डन न करके, अर्थतः उसे स्वीकार करके, उलटकर यह कहना 'तुम भी चोर हो', यही अभ्यनुज्ञा है। न्यायसूत्रमें इसीको मतानुज्ञा कहा गया है—"प्रतिवादीके द्वारा उठाए गए दोषको अपने पक्षमें स्वीकार करके (अर्थात् उसका निषेध न करके) दूसरेके पक्षमें भी उसी दोषका प्रसङ्ग दिखाना मतानुज्ञा है।"[२]

(३) **हेत्वन्तर**—"जहाँपर प्रकृति(आरोग्य)का हेतु कहा जाना अपेक्षित हो, किन्तु कहा जाय विकृति(रोग)का हेतु, वहाँपर हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान होता है।"[३] न्यायदर्शनमें हेत्वन्तरका जो लक्षण दिया गया है, वह इससे भिन्न है। "सामान्य रूपसे कहे गए हेतुका विपक्षीके द्वारा प्रतिषेध किए जानेपर, उस हेतुमें कुछ और विशेषण जोड़कर प्रस्तुत करनेकी इच्छा करना हेत्वन्तर नामका निग्रहस्थान है।"[४]

(४) **अर्थान्तर**—"जहाँपर वक्तव्य हो कुछ और, पर कह दिया जाय कुछ और, वहाँ अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान होता है। जैसे—ज्वरका लक्षण वक्तव्य होनेपर प्रमेहका लक्षण कह देना।"[५] महर्षि गौतमने भी इसका समर्थन किया है—"प्रकृत अर्थसे असम्बद्ध अर्थका कथन करना अर्थान्तर-नामक निग्रहस्थान है।"[६]

शास्त्रार्थ करनेकी इच्छा रखनेवाले वैद्यको सर्वप्रथम शास्त्रार्थमें प्रयुक्त होनेवाले इन पारिभाषिक पदोंका समुचित ज्ञान प्राप्त करके इनका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इनके समुचित ज्ञान और अभ्याससे ही शास्त्रार्थकी पद्धतिका ज्ञान होता है। इस प्रकार शास्त्रज्ञानरूपी कवच और वाक्चातुर्यरूपी ढाल-तलवारसे सुसज्जित होकर ही अपने प्रतिद्वन्द्वीको शास्त्रार्थरूपी समराङ्गणमें उतरनेके लिए ललकारना चाहिए। विजयश्री ऐसे ही वादीका

---

१. **अभ्यनुज्ञा नाम सा य इष्टानिष्टाभ्युपगमः।** —(विमान० ८।६२)

२. **स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।** —(न्यायसूत्र (५।२।२१)

३. **हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद् विकृतिहेतुमाह।** —(विमान० ८।६३)

४. **अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।** —न्यायसूत्र (५।२।६)

५. **अर्थान्तरं नामैकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह। यथा—ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेह-लक्षणमाह।** —(विमान० ८।६४)

६. **प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्।** —न्यायसूत्र (५।२।७)

वरण करती है, अन्यथा पराजयका कलङ्क माथे लगता है। पहले तद्विद्य-सम्भाषाके जो दो प्रकार बताए गए है, उनमें सन्धायसम्भाषामें विजय या पराजयका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है, क्योंकि सन्धायसम्भाषा सदा श्रेष्ठ पुरुषके साथ विश्रब्ध भावसे ज्ञानवर्धनके उद्देश्यसे की जाती है। किन्तु विगृह्यसम्भाषामें दोनों वादी एक दूसरेको नीचा दिखानेके लिए कटिवद्ध होकर भिड़ते हैं। उसमें होनेवाली विजय या पराजयका प्रभाव लोकव्यापी होता है, अतः उसके लिए विशेष तैयारीकी अपेक्षा होती है। अब इन दोनों प्रकारकी सम्भाषाओंका निरूपण चरकमुनिके अनुसार किया जा रहा है—

सन्धायसम्भाषा

"जो पुरुष ज्ञान-विज्ञान तथा वचन-प्रतिवचनकी शक्तिसे युक्त हो, क्रोध-रहित हो, जिसकी विद्या अनुपस्कृत (निर्दोष अथवा अलङ्करणरहित) हो, जो असूया (अर्थात् दूसरेके गुणोंमें दोषारोपण) न करता हो, जो अनुनय किए जाने योग्य हो, स्वयं भी अनुनयकुशल हो, क्लेशसहिष्णु हो, और प्रिय वचन बोलनेवाला हो, ऐसे सज्जन और विद्वान् पुरुषके साथ सन्धायसम्भाषाका विधान किया जाता है। ऐसे पुरुषके साथ विश्रब्ध भावसे सम्भाषण करना चाहिए, और विश्रब्ध होकर ही प्रश्न पूछना चाहिए। उसके द्वारा विश्रब्ध-भावसे प्रश्न किए जानेपर अर्थको स्पष्ट रूपसे समझाकर कहना चाहिए। निगृहीत होनेके भयसे उद्विग्न नहीं होना चाहिए। उसको निगृहीत करके हर्षित नहीं होना चाहिए। और न दूसरोंके आगे अपनी विजयकी डींग मारनी चाहिए। मोहके कारण एकान्तग्राही नहीं बनना चाहिए, अर्थात् अपने युक्ति-विरुद्ध और असत् पक्षपर अड़े नहीं रहना चाहिए। जिस बातका ज्ञान न हो, उसे नहीं कहना चाहिए। सम्यक् अनुनयके द्वारा (विनम्र निवेदनके द्वारा, न कि छल और जातिका प्रयोग करनेके द्वारा) उसे अपने पक्षके अनुकूल बनाना चाहिए, किन्तु अनुनय करनेमें सावधान रहना चाहिए। यह अनुलोम-सम्भाषा या सन्धायसम्भाषा करनेकी विधि है।"[१]

इससे सिद्ध होता है कि अनुलोमसम्भाषारूप वादमें हेत्वाभास अपसिद्धान्त न्यून और अधिक इत्यादि जो निग्रहस्थान सम्भव होते हैं, उनके द्वारा भी प्रतिवादीका या तो निग्रह ही नहीं करना चाहिए, या निग्रह करके भी हर्षित नहीं होना चाहिए। जल्प और वितण्डामें प्रयुक्त होनेवाले निग्रहस्थान तो यहाँपर सर्वथा वर्जित हैं। अनुनयका कथन होनेसे छल और जातिका प्रयोग

---

१. तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धायसम्भाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विश्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि च विश्रब्धः, पृच्छते चास्मै विश्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत्, सम्यक् चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात्। इत्यनुलोमसम्भाषाविधिः। —(विमान० ८।१७)

भी वर्जित सिद्ध होता है। अन्यत्र भी कहा गया है—"अल्पश्रुत होनेपर भी सदाचारका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ वैद्यको कभी भी विगृह्यसम्भाषा नहीं करनी चाहिए।"[१]

विगृह्यसम्भाषाके पात्र

जिन लोगोंसे सन्धायसम्भाषा करनेका विधान किया गया है, उनसे विपरीत गुणवाले लोगोंके साथ विगृह्यसम्भाषा करनी चाहिए। अर्थात् जो लोग ज्ञान-विज्ञानमें तथा प्रश्नोत्तरविधिमें अशक्त हैं, जो जल्दी ही क्रोधित हो जाते हैं, जिनकी विद्या दोषपूर्ण है, जो गुणोंमें भी दोपारोपण करनेवाले हैं, जिनका अनुनय करना (मनाना) बड़ा ही कठिन है तथा जिनको अनुनय करनेकी कला नहीं आती है, जो कष्टसहिष्णु नहीं हैं और अप्रियभाषी हैं, ऐसे लोगोंसे अवसर आनेपर विगृह्यसम्भाषा करनी ही उचित है। चरकमुनि कहते हैं—"जिस प्रकार वर्तक (बत्तख या बटेर) नामक पक्षियोंका असम्भावित रूपसे उड़ना मनमें संक्षोभ पैदा कर देता है (अर्थात् चौंका देता है), उसी प्रकार चिकित्साक्षेत्रमें आयुर्वेदका पल्लवग्राहि पाण्डित्य रखनेवाले भिषक्-छद्मचरोंके उत्पात अर्थात् उनकी लम्बी चौड़ी किन्तु झूठी डींगें लोगोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती हैं। इसलिए ऐसे धूर्तोको शास्त्रार्थमें खींचकर उनकी परीक्षा करनेके लिए जल्पके आरम्भमें ही आठ प्रश्न पूछना चाहिए[२], क्योंकि शास्त्रवेत्ता ही उन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ होते हैं। इसके विपरीत सम्पूर्ण शास्त्रके केवल एक भागको जाननेवाले लोग शास्त्रके शब्दमात्रसे ऐसे भागते हैं, जैसे बत्तख पक्षी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारमात्रसे। कोई पशु अन्य पशुओंकी दुर्बलताके कारण उनके मध्य भेड़िएकी तरह गुर्राता है, परन्तु यदि कभी उसकी सचमुच भेड़िएसे भेंट हो जाय, तो उसका भेड़ियापन जाता रहता है, और वह अपनी स्वाभाविक पशुताको प्राप्त होता है। उसी प्रकार मूर्खोंके मध्यमें बैठा हुआ कोई मूर्ख अपनी वाचालताके द्वारा अपने आपको आप्त सिद्ध करता है, किन्तु वास्तविक आप्तसे मुठभेड़ होनेपर उसकी पोल खुल जाती है। जिस प्रकार अपनेको भेंड़के समान प्रदर्शित करनेके लिए अपने ऊपर ऊन लपेटे हुए नेवला कुछ बोल नहीं सकता है, क्योंकि बोलनेसे असलियत खुल जानेका डर है। जैसे दोगला मनुष्य अपने विषयमें कुछ बोल नहीं सकता है, उसी प्रकार शास्त्रके सम्यग् ज्ञानसे रहित बुद्धिहीन और मूर्ख पुरुष जल्प होनेपर भला क्या बोल पायेगा। अहङ्कारसे दूर रहकर तत्त्वज्ञानको प्रकाशित करनेके लिए, अल्पश्रुत अज्ञ किन्तु वावदूक और झगड़ालू लोगोंको कभी भी सहन नहीं करना चाहिए। जो प्राणियोंपर अत्यन्त करुणा करनेवाले हैं और दूसरोंको तत्त्वज्ञान देनेमें दयासे भरे हुए हैं, उनकी बुद्धि असद्वादको रोकनेमें तत्पर होती है। असत्पक्षका अवलम्बन

---

१. सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद् भिषगल्पश्रुतैरपि। —सूत्र० (३०।७९)

२. द्रष्टव्यम्—'अथ भिषगादित एव भिषजा प्रष्टव्योऽष्टविधं भवति, तद्यथा—तन्त्रं, तन्त्रार्थान्, स्थानानि, स्थानार्थान्, अध्यायान्, अध्यायार्थान्, प्रश्नान्, प्रश्नार्थांश्चेति। —(सूत्र० ३०।३०)

करनेवाले अपनी रक्षाके लिए समयाभाव (इस समय मुझे बोलनेकी फुरसत नहीं है), कष्ट (इस समय मेरे शिरमें पीड़ा हो रही है), दम्भ (आयुर्वेदके ग्रन्थों और वैद्योंके उपयोगी पात्रोंका प्रदर्शन) तथा कठोरशब्दोंके प्रयोग इत्यादि साधनोंका सहारा लेते हैं। अपने शास्त्रका सम्यग् ज्ञान न रखनेके कारण ये लोग अनाप्त होते हैं, और प्रायः आत्मश्लाघापूर्वक दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं। शास्त्रोंको दूषित करनेवाले ऐसे लोगोंको कालपाशके समान समझकर उनका निग्रह और परित्याग करना चाहिए, तथा शान्ति ज्ञान और विज्ञानसे परिपूर्ण श्रेष्ठ वैद्योंका सेवन करना चाहिए।"[१] धूर्त भिषक्-छद्मचरोंका विगृह्यसम्भाषापूर्वक निग्रह करनेसे वैद्य न केवल जनसमुदायका कल्याण करता है, प्रत्युत अपनेको भी श्रेयसे संयुक्त करता है। ऐसे विद्वान् वैद्यकी कीर्त्ति संसारमें प्रचारके विना ही फैल जाती है।

विगृह्यसम्भाषाकी विधि

विगृह्यसम्भाषामें जल्प करनेसे पूर्व जल्पकके गुणदोषोंकी, प्रतिवादीके साथ अपनी प्रतिभा तथा अन्य गुणोंकी तुलना करके अपनी विशेषताकी, और परिषद्-(सभा)की विशेषताओंकी सम्यक् प्रकारसे परीक्षा कर लेनी चाहिए, क्योंकि सम्यक् प्रकारसे की गई परीक्षा बुद्धिमान् पुरुषको कब कार्यमें प्रवृत्त होना चाहिए और कब निवृत्त होना चाहिए, इसके उचित अवसरका बोध करा देती है। इसलिए कुशल जन परीक्षाकी प्रशंसा करते हैं। परावरभेदकी परीक्षा करते समय अपने प्रतिद्वन्द्वी जल्पकके श्रेयस्कर और दोषयुक्त गुणोंकी समुचित रूपसे परीक्षा करनी चाहिए। जैसे—श्रुत (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (शास्त्रार्थज्ञान), धारण (शास्त्र और उसके अर्थको याद रखना), प्रतिभा और वाक्शक्ति—इन गुणोंको श्रेयस्कर समझना चाहिए। जल्दी क्रोधित हो जाना, वैदुष्यमें निर्मलता न होना, भीरुता, धारणाशक्ति और एकाग्रताका अभाव—इनको दोष समझना चाहिए। इन दोनों प्रकारके गुणोंको प्रतिवादीमें और अपनेमें गुरुता और लघुताकी दृष्टिसे तौल लेना चाहिए।[२] तात्पर्य यह है कि प्रतिद्वन्द्वी किन-किन गुणोंमें मुझसे बढ़कर है और किन-किन गुणोंमें मुझसे न्यून है, तथा मैं किन गुणोंमें उससे बढ़कर हूँ और किन गुणोंमें न्यून हूँ—इस बातको खूब अच्छी तरह निष्पक्ष भावसे तुलना करके समझ लेना चाहिए। श्रेयस्कर गुणोंकी मुझमें अधिकता है या प्रतिवादीमें, तथा मुझमें दोष अधिक हैं या प्रतिवादीमें, इस बातकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए।

"विगृह्यसम्भाषामें प्रतिवादी तीन प्रकारका होता है—प्रवर (श्रेष्ठ), प्रत्यवर (हीन), और सम (वादीके समान गुणोंवाला)। यह तीन प्रकारका भेद गुणोंकी न्यूनता या अधिकताके आधारपर किया जाता है, न कि कुल शील और धर्म इत्यादि सभी बातोंकी अपेक्षासे।"[३]

---

१. द्रष्टव्य—(सूत्र० ३०।७३—७८, ८१—८४)।

२. द्रष्टव्य—(विमान० ८।१८)।

३. तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते—प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुणविनिक्षेपतः, न त्वेव कार्त्स्न्येन। —(विमान० ८।१९)

"परिषद् दो प्रकारकी होती है—ज्ञानवती परिषद् और मूढ परिषद् । यह दो प्रकारकी परिषद् ही अन्य कारणविभागसे तीन प्रकारकी मानी जाती है—सुहृत्परिषद्, उदासीनपरिषद्, और प्रतिनिविष्टपरिषद् ।"[1] इन तीन भेदोंसे ज्ञानवती परिषद् भी तीन प्रकारकी हो जाती है, और मूढ परिषद् भी तीन प्रकारकी हो जाती है । इस प्रकार परिषद्के छः भेद बन जाते हैं—(१) ज्ञानवती सुहृत्परिषद् (२) ज्ञानवती उदासीनपरिषद् (३) ज्ञानवती प्रतिनिविष्टपरिषद् (४) मूढ सुहृत्परिषद् (५) मूढ उदासीनपरिषद् और (६) मूढ प्रतिनिविष्टपरिषद् । जिस सभाके सदस्य अपने मित्र होते है, वह सभा सुहृत्परिषद् कहलाती है । जिस सभाके सदस्य वादी और प्रतिवादीमें से न तो किसीके मित्र हों और न किसीके शत्रु हों, वह सभा उदासीनपरिषद् कहलाती है । और जिस सभाके सदस्य अपने विरोधी हों, वह सभा प्रतिनिविष्टपरिषद् कहलाती है ।

"इनमेंसे प्रतिनिविष्टपरिषद्में किसीके भी साथ किसी भी प्रकारसे जल्प करनेका विधान नहीं है, चाहे वह परिषद् ज्ञान-विज्ञान तथा वचन-प्रतिवचनकी शक्तिसे सम्पन्न लोगोंकी हो, और चाहे मूढ पुरुषोंकी हो । (अर्थात् प्रतिनिविष्टपरिषद्में कदापि शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिए ।) मूढ जनोंसे भरी हुई सुहृत्परिषद् अथवा उदासीनपरिषद्में ज्ञान-विज्ञान तथा वचन-प्रतिवचनकी शक्तिके विना भी अप्रसिद्ध तथा महाजनविद्विष्ट प्रतिद्वन्द्वीके साथ जल्प किया जा सकता है । ऐसे प्रतिद्वन्द्वीके साथ जल्प करते समय, टेढ़े तथा लम्बे सूत्रोंसे भरे हुए लम्बे-लम्बे वाक्योंमें बोलना चाहिए, और अत्यन्त हर्षपूर्वक वार-वार उसका उपहास करते हुए, तथा परिषद्को आकार-चेष्टाओंके द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करते हुए, प्रतिवादीको बोलनेका अवकाश ही नहीं देना चाहिए । कठोर तथा दुर्बोध शब्दोंका प्रयोग करते हुए उससे कहना चाहिए—'अब तुमसे नहीं बोला जाता है,' अथवा 'तुम्हारी प्रतिज्ञा फिर हीन हो गई ।' उसके द्वारा पुनः आह्वान किए जानेपर उसे उत्तर देना चाहिए—'अभी एक वर्षतक और शिक्षा प्राप्त करो, लगता है तुमने गुरुके समीप रहकर विद्याध्ययन नहीं किया है ।' अथवा 'अभी तुम्हारे लिए इतना ही काफी है ।' जो प्रतिवादी एक वार भी पराजित हो जाता है, उसे पराजित ही कहा जाता है । उसके साथ किसी भी प्रकार दुबारा शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिए । कुछ लोग कहते हैं कि अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके साथ भी इसी प्रकार विगृह्यसम्भाषा करनी चाहिए, किन्तु कुशल जन अपनेसे श्रेष्ठके साथ विग्रहपूर्वक सम्भाषण करनेकी प्रशंसा नहीं करते हैं ।"[2]

---

१. **परिषत्तु खलु द्विविधा, ज्ञानवती मूढपरिषच्च । सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन—सुहृत्परिषत्, उदासीनपरिषत्, प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति ।** —(विमान० ८।२०)

२. **तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां मूढायां वा न कथञ्चित् केनचित् सह जल्पो विधीयते । मूढायां तु सुहृत्परिषद्युदासीनायां वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तीरन्तरेणाप्यदीप्तयशसा**

इसके अनन्तर अपनेसे हीन तथा अपने तुल्य प्रतिवादीके साथ किस प्रकार जल्प करना चाहिए, इसकी विधि बताई गई है। अपनेसे हीन तथा अपने समान समझे जानेवाले प्रतिवादीके साथ विग्रहपूर्वक जल्प करनेवालेको, या तो सुहृत्परिषद्में, अथवा अवधान श्रवण ज्ञान-विज्ञान उपधारण और वचन-प्रतिवचनकी शक्तिसे सम्पन्न उदासीनपरिषद्में, अपनी बात कहनी चाहिए। और कहते समय ध्यानपूर्वक प्रतिवादीके सद्गुणों और दोषोंके बलकी समीक्षा करनी चाहिए। सम्यक् प्रकारसे समीक्षा करके, जिस क्षेत्रमें उसे अपनेसे श्रेष्ठ समझे, उस क्षेत्रमें उसके साथ जल्पको बचाना चाहिए। किन्तु परिषद्के सामने यह बात प्रकट न होने पाए। अर्थात् अनभीष्ट विषयमें जल्पको ऐसी चतुरतासे टाल देना चाहिए कि सभामें कोई यह न जान पाए कि ये महाशय इस विषयपर बोलनेमें असमर्थ हैं। तथा जिस विषयमें प्रतिवादीको अपनी अपेक्षा हीन समझे, उसी विषयमें उसको खीचकर तुरन्त निगृहीत कर देना चाहिए।[१] अपनेसे हीन पुरुषोंका शीघ्र निग्रह करनेमें ये उपाय काममें आते हैं—"श्रुतहीन(शास्त्रज्ञानरहित)को लम्बे-लम्बे सूत्रोंका पाठ करके अभिभूत कर लेना चाहिए। विज्ञानहीन(अर्थज्ञानरहित)को कठिन शब्दोंवाले वाक्योंके द्वारा; जो वाक्योंको स्मरण रखनेकी शक्तिसे रहित हो, उसे टेढ़े-मेढ़े और लम्बे-लम्बे सूत्रोंसे भरे हुए विशालकाय वाक्योंके द्वारा; प्रतिभाहीनको अनेकार्थवाची श्लिष्ट वचनोंके द्वारा; वाक्शक्तिसे हीन प्रतिवादीको उसके द्वारा आधा वाक्य बोले जानेपर ही अवशिष्ट भागको पूरा कर देनेके द्वारा; जो सभापाण्डित्यमें विशारद नहीं है उसे लज्जित करनेके द्वारा; क्रोधी स्वभाववालेको परेशान करनेके द्वारा; भीरु स्वभाववालेको भय दिखानेके द्वारा; और असावधानको नियमन करनेके द्वारा अर्थात् प्रकृत विषयकी ओर वार-वार ध्यान खींचनेके द्वारा निगृहीत करना चाहिए। इस प्रकार इन उपायोंसे अपनी अपेक्षा हीन प्रतिद्वन्द्वीको शीघ्र ही पराजित कर देना चाहिए।"[२]

महाजनविद्विष्टेनापि सह जल्पो विधीयते। तद्विधेन च सह कथयता आविद्ध-दीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्। अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं निरूपयता च परिषदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः, कष्टशब्दं च ब्रुवता वक्तव्यो 'नोच्यते' अथवा 'पुनर्हीना ते प्रतिज्ञा' इति। पुनश्चाहूय-मानः प्रतिवक्तव्यः—'परिसंवत्सरो भवान् शिक्षस्व, तावत्, न त्वया गुरुरुपासितो नूनम्', अथवा 'पर्याप्तमेतावत्ते'। सकृदपि हि परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहुरिति, नास्य योगः कर्त्तव्यः कथञ्चित्। अप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके; न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः। —(विमान० ८।२०)

१. द्रष्टव्य—(विमान० ८।२१)।

२. **श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचने-नैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्द्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपह्नेपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेनेति। एवमेतैरुपायैः परमवरमभिभवेच्छीघ्रम्।**—(विमान० ८।२१)

इन उपायोंसे प्रतिद्वन्द्वीका निग्रह करते समय सावधान रहना चाहिए कि कहीं शास्त्रार्थ झगड़ेका रूप न धारण कर ले। प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि पराजित होनेवालेके मनमें द्रोहभाव उत्पन्न हो जाता है। फिर उसके लिए कुछ भी कह डालना या कर डालना असम्भव नहीं रह जाता है। आचार्यका वचन है—"दूसरोंके साथ विगृह्यसम्भाषा करते समय प्रत्येक बात युक्तिपूर्वक कहनी चाहिए, और प्रतिवादीकी युक्तिसङ्गत बातका निषेध नहीं करना चाहिए, क्योंकि विगृह्यसम्भाषा कुछ लोगोंमें तीव्र द्रोहबुद्धि उत्पन्न कर देती है। जब मनुष्य क्रुद्ध हो जाता है, तो उसके लिए कुछ भी अकार्य या अवाच्य नहीं रह जाता है। इसलिए कुशल जन सत्पुरुषोंकी सभामें कलहको अच्छा नहीं समझते हैं।"[१]

विगृह्यसम्भाषारूप शास्त्रार्थमें विजय प्राप्त करनेके लिए वादीको क्या चाल चलनी चाहिए, इसपर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं—"शास्त्रार्थ प्रारम्भ करनेके पूर्व ही ऐसा प्रयास करना चाहिए कि परिषद्के साथ सन्धि करके, जो प्रकरण अपना खूब अभ्यस्त हो, अथवा जो प्रतिवादीके लिए अत्यन्त कठिन हो, उसी प्रकरणको परिषद्के द्वारा वादार्थ रखवाना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके, तो प्रतिवादीने जो पक्ष ग्रहण किया है, उस पक्षकी ओरसे परिषद्को अत्यधिक विमुख कर देनेका प्रयास करना चाहिए। उदाहरणार्थ—यदि प्रतिवादीने परलोक और कर्मफलादिके नास्तित्वका पक्ष ग्रहण किया है, तो इस पक्षके स्वाभाविक रूपसे लोकविद्विष्ट होनेके कारण, स्वपक्षको सिद्ध करनेके लिए कुछ भी थोड़ा सा कह देना पर्याप्त हो जाता है, और परिषद्को अपने अनुकूल कर देता है। परिषद्को अपनी ओर मिला लेनेपर प्रतिवादीसे कहना चाहिए कि हम कुछ नहीं कह सकते हैं, यह तुम्हारी परिषद् ही जैसा चाहेगी, और जैसा इसका अभिप्राय होगा, उसीके अनुसार वाद और वाद-मर्यादाका यथोचित निर्णय करेगी, ऐसा कहकर चुप होकर बैठ जाना चाहिए।"[२] परिषद् तो पहलेसे ही मिली हुई है, वह वादीके अनुकूल ही सारा कार्य करेगी और प्रतिवादी उल्लू बन जायगा।

वादमर्यादाका लक्षण

वादमर्यादाकी स्थापना परिषद्के द्वारा की जाती है। "वादमर्यादाका लक्षण यह है—यह वाच्य है अर्थात् कहे जा सकने योग्य है, यह अवाच्य है

---

१. विगृह्य कथयेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत्।
विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत्॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम्॥ —(विमान० ८।२२-२३)

२. प्रागेव तावदिदं कर्त्तुं यतेत—सन्धाय परिषदायनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशितव्यं यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात्। पक्षमथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत्। परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम्, एषैव ते परिषद्यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत। —(विमान० ८।२५)

अर्थात् इसको नहीं कहा जा सकता है, तथा ऐसा होनेपर पराजित समझा जायगा।"[१] इस प्रकार कथनीय अकथनीय और पराजयकी सीमाओंको निर्धारित करना ही वादमर्यादा है।

शास्त्रार्थके दाँव-पेंच

यदि कोई भिषक् या अभिषक् किसी भिषक्से इस प्रकार प्रश्न करे—जो चिकित्सक वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन और शिरोविरेचनका प्रयोग करना चाहता है, उसे कितने प्रकारकी परीक्षाओंके द्वारा कितने प्रकारसे परीक्षा करनी होती है? परीक्ष्य विषयोंमें क्या-क्या विशेषता होती है? परीक्षा किस प्रकारसे करनी चाहिए? परीक्षाका प्रयोजन क्या है? वमनादि कर्मोंकी कहाँ-कहाँ प्रवृत्ति होती है, और कहाँ-कहाँ निवृत्ति होती है? प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंके अनुकूल लक्षणोका एकत्र संयोग होनेपर निश्चयपूर्वक क्या करणीय होता है? और कौन कौनसे भेषज-द्रव्य वमनादिके लिए उपयोगमें आते हैं?[२]

उसके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर यदि वैद्य उस प्रश्नकर्त्ताको उल्लू बनाना चाहे, तो उससे कहना चाहिए—परीक्षा बहुत प्रकारकी होती है, और परीक्ष्य विषयोंके भेद भी बहुत प्रकारके होते हैं। आप अनेक विधियोंमेंसे किस विधिभेदके अनुरोधसे विभाजित होनेवाली परीक्षाके द्वारा, किस विधि-भेदसे विभाजित होनेवाले परीक्ष्य विषयोंकी भेदसङ्ख्याको पूछ रहे हैं? किसी अन्य विधिभेदके अनुरोधसे अनेक भेदोंमें विभक्त होनेवाली परीक्षाके द्वारा, किसी अन्य विधिभेदके अनुरोधसे विभक्त होनेवाले परीक्ष्य विषयोंके सम्बन्धमें, जो बात इस समय आपको सुनना अभीष्ट है, उसे यदि मैं किसी दूसरे प्रकारके परीक्षाविधिभेदके द्वारा किसी दूसरे ही विधिभेदके अनुरोधसे परीक्ष्य विषयोंका विभाजन करके किसी अन्य प्रकार से कहूँगा, तो आपकी इच्छा पूरी न कर पाऊँगा।[३] तात्पर्य यह है कि जिस बातको आप अन्य प्रकारसे सुनना चाहते हैं, उसे यदि मैं अन्य प्रकारसे कहूँ, तो आपकी इच्छा पूरी न होगी। मैं किसी एक प्रकारकी परीक्षाके द्वारा किसी एक प्रकारसे परीक्ष्य विषयका विभाजन करके उसकी भेदसङ्ख्या बताऊँ, और आप किसी दूसरे प्रकारकी परीक्षाके द्वारा किसी दूसरे प्रकारसे परीक्ष्यका विभाजन करके उसकी भेदसङ्ख्या जानना चाहते हों, तो आपकी इच्छा भी पूरी नहीं होगी और मेरा परिश्रम भी निष्फल होगा। मैं तो जितने भी परीक्षाके प्रकारभेद हैं, और जितने भी प्रकारभेदोंसे परीक्ष्य विषयोंका वर्गीकरण किया जाता है, उन सभीको जानता हूँ। आप उनमेंसे जिस प्रकारभेदको जानना चाहते हों, उसे विशेषरूपसे

---

१. तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं भवति—इदं वाच्यम्, इदमवाच्यम्, एवं सति पराजितो भवतीति। —(विमान० ८।२६)

२. द्रष्टव्य—(विमान० ८।८०)।

३. द्रष्टव्य—(विमान० ८।८१)

कहें। इस प्रकार अपने वाग्जालके द्वारा वक्ता प्रश्नकर्त्तापर अपनी विद्वत्ताकी धाक जमा देता है। फिर वह चकराकर प्रश्न करना ही छोड़ देता है।

किन्तु यदि प्रश्नकर्त्ता आपके इस प्रतिप्रश्नका भी सोच-विचारकर उत्तर दे, तो क्या करना चाहिए? इसका समाधान महर्षिने इस प्रकार किया है—"आपके इस प्रतिप्रश्नका जो भी उत्तर उसके द्वारा दिया जाय, उसकी समीक्षा करके विगृह्यसम्भाषामें उत्तर देनेकी जो विधि पहले बताई जा चुकी है, उसको ठीकसे समझकर उत्तर देना चाहिए। किन्तु यदि वह ठीक बात कहे, और उसका विचार सन्धायसम्भाषा करनेका हो, तो उसे मोहित करने(उल्लू बनाने)का विचार छोड़ देना चाहिए, और ऐसा समझना चाहिए कि अब इसको यथार्थ बात बतानेका समय आ गया है। फिर उससे सारी बात यथार्थरूपमें ही कहनी चाहिए।"[1]

वादका आदर्शरूप

चिकित्सकोंके मध्यमें होनेवाला वाद आयुर्वेदमें ही होना चाहिए, अन्य शास्त्रोंमें नहीं। क्योंकि आयुर्वेदविषयक वादसे ही चिकित्साके विषयमें सम्यग् ज्ञान प्राप्त होता है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें प्रायः सभी अधिकरणोंमें वाक्य और प्रतिवाक्यके विस्तार तथा पूरी युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। उन सभी युक्तियों-पर सम्यग् रूपसे पुनः पुनः विचार करके ही सारे वाक्य बोलना चाहिए। ऐसे वाक्योंका प्रयोग नहीं करना चाहिए, जो अप्रासङ्गिक हों, शास्त्रसे समर्थित न हों, जिनकी परीक्षा न की गई हो, जो वक्ताके मन्तव्यको सिद्ध करनेमें असमर्थ हों, जिनका अर्थ स्पष्ट न हो, और जो अव्यापक अर्थात् एकाङ्गी हों। वादमें सब बात कारणनिर्देशपूर्वक (युक्तिसङ्गत) ही बोलना चाहिए। वादके समानरूपवाले सभी जल्प और वितण्डाप्रभृति जब युक्तिसङ्गत और सुस्पष्ट होते हैं, तो उत्कृष्ट बुद्धिवर्धक होनेके कारण चिकित्साकर्मकी सफलता-में कारण बनते हैं, क्योंकि उपघातसे रहित निर्मल बुद्धि सब कामोंमें सफलता प्रदान करती है।[2]

सम्भाषा या वादकी चिकित्साकर्ममें यही उपयोगिता है कि परस्पर सम्भाषा करनेसे वैद्योंकी बुद्धिमें निखार आता है, प्रज्ञा निर्मल हो जाती है,

---

१. स यदुत्तरं ब्रूयात्तत्समीक्ष्योत्तरं वाच्यं स्याद्यथोक्तं च प्रतिवचनविधिमवेक्ष्य। सम्यग् यदि तु ब्रूयात्, न चैनं मोहयितुमिच्छेत्, प्राप्तं तु वचनकालं मन्येत, काममस्मै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन। —(विमान० ८।८२)

२. वादस्तु खलु भिषजां प्रवर्त्तमानो वर्तेतायुर्वेद एव नान्यत्र। अत्र हि वाक्य-प्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयः सर्वाधिकरणेषु। ताः सर्वाः समवेक्ष्या-वेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमव्यापकं वा। सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्। हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहाः चिकित्सिते कारणभूताः प्रशस्तबुद्धिवर्द्धकत्वात्, सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावह-त्यनुपहता बुद्धिः। —(विमान० ८।६७)

सन्दिग्ध विषय भी सुस्पष्ट भासित होने लगते हैं, और युक्तिपूर्वक विचार करनेकी क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे वैद्यको चिकित्साकर्ममें सफलता प्राप्त होती है। अतः वैद्योंका यह कर्त्तव्य है कि अपनी प्रज्ञाको विशद बनानेके लिए शास्त्रार्थका आयोजन करें। स्वयं भी शास्त्रार्थ करें और दूसरोंके शास्त्रार्थका ध्यानपूर्वक श्रवण करें। इससे अत्यन्त लाभ होता है।

अन्तमें इस अध्यायमें शास्त्रार्थविषयक जिस ज्ञानका सन्निवेश किया गया है, उसके अत्यधिक उपयोगी और लाभकारक होनेके कारण हम उसकी प्रशंसामें चरकमुनिके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर कह सकते हैं—"प्रतिवादीके अभिमत सिद्धान्त और युक्तियोंका निराकरण करनेवाली तथा अनेकविध हेतुओंसे परिपुष्ट इस शास्त्रार्थविषयक बुद्धि(ज्ञान)को जाननेवाला पुरुष न तो प्रतिवादीके वचनोंका अवमर्दन (खण्डन) करनेमें लड़खड़ाता है, और न ही प्रतिवादीके वचनोंके द्वारा उसका अवमर्दन किया जा सकता है।"[१]



१. इमां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान् परमतवादसूदनीम्।
न सज्जते परवचनावमर्दने न शक्यते परवचनैश्च मर्दितुम्॥
—(विमान० ८।१५९)

चतुर्थ अध्याय

कारणनिरूपण और सृष्टिसिद्धान्त

भारतीय दार्शनिक चिन्तनके इतिहासमें कारण और कार्यके अविच्छेद्य सम्बन्धकी मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। हमारा सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय, विशेष-रूपसे उपनिषद्वाङ्मय, सृष्टिके कारणभूत तत्त्वमें विश्वास रखता है। इस चिन्तनप्रणालीमें कारणके विना किसी कार्यकी कल्पना नहीं की जा सकती है। भारतीय दर्शनके प्रायः प्रत्येक प्रस्थानमें कारण तथा कार्यके स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्धपर सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। इस विषयमें प्रायः सभीका ऐकमत्य है कि कार्यकी उत्पत्ति कारणके विना नहीं हो सकती है। चरकमुनि भी इसके अपवाद नहीं हैं। दार्शनिक क्षेत्रमें वे उसी आस्तिक परम्पराके समर्थक हैं, जो वैदिक साहित्यकी निधि है, और जो रामायण-महाभारतादि आर्षपरम्पराके ग्रन्थोंमें पल्लवित और पुष्पित हुई है।

कारण और कार्यका अपरिहार्य सम्बन्ध

जो भावरूप पदार्थ नित्य होता है, उसका कोई कारण नहीं होता है। किन्तु जो भावरूप पदार्थ अनित्य होते हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अथवा इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है—कारणरहित भावरूप पदार्थ नित्य होता है, और हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाला भावरूप पदार्थ अनित्य होता है।[१] केवल आत्मा ही एक ऐसा पदार्थ है, जो नित्य होनेके कारण हेतुरहित है। आत्माके अतिरिक्त विश्वके समस्त पदार्थ अनित्य और सहेतुक हैं। अतएव लोकमें सर्वत्र कारणकार्यसम्बन्धका ही साम्राज्य देखनेमें आता है। बीजके विना अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है,[२] और न अङ्कुरके विना बीजकी ही उत्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार बीज और अङ्कुरमेंसे प्रत्येक अपने कारणके साथ अनिवार्य रूपसे बँधा हुआ है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणसे प्रतिबद्ध हैं। कारण और कार्य, ये दोनों ही शब्द आपेक्षिक हैं। कोई भी पदार्थ अपने कार्योंकी अपेक्षासे कारण कहा जाता है, और अपने कारणकी अपेक्षासे कार्य कहा जाता है। इससे इन दोनोंका अविनाभाव सिद्ध होता है। चरकमुनि इसी

---

१. **सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा।** —(शारीर० १।५९)

तथा—**सदकारणवन्नित्यम्।** —वैशेषिकसूत्र (४।१।१)

२. **नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्।** —(सूत्र० ११।३२; तथा शारीर० ३।१५)

सिद्धान्तके पोषक हैं। उनके मतानुसार कोई भी भावपदार्थ कारणके विना अस्तित्वलाभ नहीं कर सकता है।[१]

सूत्रस्थानके यज्जःपुरुषीयनामक अध्यायमें भरद्वाजने भावपदार्थोंकी सहेतुकतापर आक्षेप करते हुए स्वभावसे ही समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि राशिपुरुष और उसके रोगोंकी उत्पत्तिका कारण स्वभाव है। जैसे खर होना पृथ्वीका स्वभाव है, द्रवरूप होना जलका स्वभाव है, गतिशील होना वायुका स्वभाव है और उष्ण होना अग्निका स्वभाव है।[२] स्वभावके अतिरिक्त इनका कोई अन्य हेतु नहीं है। स्वभावको लेकर किसी प्रकारका प्रश्न भी नहीं उठाया जा सकता है, अर्थात् पृथ्वी खर क्यों है, जल द्रव क्यों है, वायु निरन्तर गतिशील क्यों है तथा अग्नि उष्ण क्यों है, इस प्रकारका प्रश्न किसी समझदार व्यक्तिके द्वारा नहीं उठाया जा सकता है। उसी प्रकार भावपदार्थ क्यों उत्पन्न होते हैं, यह प्रश्न नहीं बन सकता है। उत्पन्न होना सभी पदार्थोंका स्वभाव है, स्वभावके अतिरिक्त उनकी उत्पत्तिका कोई दूसरा हेतु नहीं है।

पदार्थोंकी उत्पत्तिको स्वभावहेतुक मानना अहेतुक माननेके बराबर है। काङ्क्षायनने भरद्वाजके इस पक्षका निषेध करते हुए कहा है—यदि स्वभावसे ही समस्त भावपदार्थोंकी सिद्धि और असिद्धि होती हो, तो कृषि वाणिज्य और यज्ञादि किसी भी कर्मका कोई फल नहीं होना चाहिए।[३] सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान निष्प्रयोजन हो जायगा, क्योंकि सभी पदार्थोंके स्वभावहेतुक होनेके कारण धान्यादिकी उत्पत्ति स्वतः हो जायगी। किन्तु लोकमें किसी फलकी प्राप्ति स्वभावसे ही होती हुई नहीं देखी जाती है, प्रत्युत उसके पीछे कर्मादि अनेक हेतुओंकी शृङ्खला लगी रहती है। इसलिए स्वभावको किसी भावका हेतु नहीं माना जा सकता है। जहाँपर किसी भावका कोई भी हेतु लक्षित न हो, वहाँ पर अदृष्ट हेतुकी कल्पना करनी पड़ती है, क्योंकि दृष्टसे अदृष्टका अनुमान किया जाता है। चरकमुनि कहते हैं—"जगत्के समस्त पदार्थ सङ्क्षेपमें दो प्रकारके हैं, प्रकृति और विकृति। इन दोनोंकी स्थिति हेतुके अधीन है। हेतुका अभाव होनेपर इनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।"[४] इस प्रकार चरकसंहितामें कारण और कार्यके अविनाभावका सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

---

१. न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः। —(शारीर० १।५८)

२. भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्तानां यथैव हि॥ —(सूत्र० २५।२१)

३. काङ्क्षायनस्तु नेत्याह न ह्यारम्भफलं भवेत्।
भवेत् स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा॥ —(सूत्र० २५।२२)

४. विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः।
तद्धेतुवशगं हेतोरभावान्न प्रवर्त्तते॥ —(विमान० ८।४५)

पदार्थोंके विनाशकी अहेतुकता

कारण और कार्यके इस अविनाभावके सन्दर्भमें एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि चरकमुनिने समस्त भावपदार्थोंकी उत्पत्तिका हेतु तो स्वीकार किया है, किन्तु उनके विनाशहेतुका प्रतिषेध किया है। इस विषयमें उनका क्षणभङ्गवादी बौद्धोंके साथ ऐकमत्य प्रतीत होता है। क्षणभङ्गवादके अनुसार भी चिकित्सासे रोगोंका प्रशमन हो सकता है, इस तथ्यको प्रदर्शित करनेके लिए उन्होंने विनाशकी अहेतुकताका प्रतिपादन किया है। उनका कथन है—"शरीरगत धातुएँ हेतुओंकी विषमतासे विषम हो जाती हैं, और हेतुओंकी समतासे समभावको प्राप्त होती हैं, किन्तु सम और विषम दोनों प्रकारकी धातुओंका विनाश सदा स्वभावसे ही होता है"[१] अर्थात् धातुओंके विनाशमें किसी कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। वे एक क्षणके अनन्तर स्वयं ही उपरत हो जाती हैं। उत्पन्न होते ही उनका विनाश हो जाता है। इस तथ्यके आधारभूत सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करनेके लिए वे आगे कहते हैं— "भावपदार्थोंकी प्रवृत्ति(उत्पत्ति)का हेतु तो होता है, किन्तु उनके निरोध-(विनाश)का कोई कारण नहीं है।"[२] जिस प्रकार दीपककी ज्योति उत्पन्न होनेमें तो तेल बत्ती और अग्निसंयोगादि कारणोंकी अपेक्षा रखती है, किन्तु विनाश, जिसका अर्थ है दूसरे क्षणमें न रहना, वह तो सहजसिद्ध है, उसमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। उसी प्रकार जगत्के समस्त उत्पत्तिधर्मा भावपदार्थ उत्पन्न होनेमें तो कारणकी अपेक्षा रखते हैं, किन्तु उनका विनाश सहजसिद्ध और कारणनिरपेक्ष होता है। जो वस्तु स्वाभाविक है, उसमें कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। जैसे लोहेकी तलवार स्वभावतः लौहमय होती है, उसके लौहमय होनेमें किसी कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। जैसे अग्निकी स्वाभाविक उष्णताको किसी कारणकी अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार पदार्थोंके स्वाभाविक विनाशको भी किसी कारणकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार समस्त भावोंका विनाश स्वाभाविक होनेसे विषम धातुओंका विनाश भी स्वाभाविक ही होता है, किसी कारणसे नहीं। इसलिए धातुवैषम्यके विनाशमें चिकित्सा अकिञ्चित्कर है। किन्तु कुछ लोग धातुवैषम्यादि भावोंके विनाशका भी हेतु मानते हैं, और वह हेतु है—उसके उत्पादक हेतुका न रहना, अर्थात् हेतुका अभाव हो जाना।[३] इस पक्षमें यद्यपि शब्दतः कार्योंके विनाशको स्वाभाविक नहीं कहा गया है, तथापि हेतुपरम्परा के क्षणिक होनेसे उनके कार्योंका भी स्वभावतः क्षणिक होना सिद्ध होता है, क्योंकि इस पक्षमें कार्यके विनाशका हेतु है उसके कारणका विनाश, जो कार्यसे नित्य सन्निहित है। इसलिए अर्थतः इस पक्षमें भी कार्यका विनाश स्वाभाविक सिद्ध होता है। उसके विनाशके लिए चिकित्सादि किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है।

---

१. जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा॥ —(सूत्र० १६।२७)

२. प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्। —(सूत्र १६।२८)

३. केचित् तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्त्तनम्। —(सूत्र० १६।२८)

यही बात प्रकारान्तरसे कतिधापुरुषीयमें भी कही गई है—"कोई भी भाव (सहकारी कारणोंकी सहायताके विना)अकेला ही किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है, और कोई भी (उत्पत्तिधर्मा) भाव कारणके विना अस्तित्व नहीं प्राप्त करता है। भावोंका स्वभाव शीघ्र गमन करनेका है, इसलिए उनका अभाव अर्थात् विनाश भी शीघ्रगामिताके स्वभावका अतिक्रमण नहीं करता है।"[1] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार काल निरन्तर गमनशील है, उसी प्रकार कालकी सीमामें आबद्ध प्रत्येक भावपदार्थ निरन्तर गतिशील है। कालकी सबसे छोटी इकाई निमेष (पलक झपकानेमें लगनेवाला समय) अथवा क्षण है। जिस प्रकार पूर्वक्षण उत्तरक्षणतक नहीं ठहर सकता है, प्रत्युत उत्तरक्षणके पूर्व ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पूर्वक्षणविशिष्ट भाव भी उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है, उत्तरक्षणतक नहीं ठहर सकता है। भावोंका यह विनाश उनके शीघ्रगामी स्वभावके कारण होता है. जिससे कोई भी भाव एक क्षणसे अधिक नहीं टिक पाता है। एक क्षणके अनन्तर प्रत्येक भावका विनाश अवश्यम्भावी होनेसे स्वाभाविक सिद्ध होता है। इस प्रकार भावकी उत्पत्तिको सहेतुक माननेपर भी उसका अभाव या विनाश अहेतुक ही माना जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भावोंके विनाशकारणका ज्ञान क्यों नहीं होता है? शशविषाणके समान अभावरूप होनेके कारण, अथवा जमीनके भीतर गड़ी हुई कीलके समान विद्यमान होनेपर भी ज्ञानके अयोग्य होनेके कारण? इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं—"शशशृङ्गके समान अभाव होनेसे ही भावोंके विनाशकारणका ज्ञान नहीं होता है। जिस प्रकार निरन्तर गतिशील कालके विनाशकारणका अभाव होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता है।"[2] अभिप्राय यह है कि वस्तुओंके विनाशका हेतु इसीलिए प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि वह होता ही नहीं है। उसकी अप्रतीति ज्ञानके अयोग्य होनेके कारण नहीं है, प्रत्युत अभावके कारण है। जिस प्रकार नित्यगतिशील काल विनश्वर होनेके कारण अपने विनाशके लिए किसी हेतुकी अपेक्षा नही करता है, उसी प्रकार जगत्के समस्त भाव विनश्वर स्वभाववाले होनेके कारण अपने विनाशमें हेत्वन्तरकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। किसी वस्तुका जो भाव किसी दूसरे हेतुकी अपेक्षासे होता है, वह भाव उसका अवश्यम्भावी नहीं होता है, जैसे कपड़ेका पीलापन। यदि विनाशको भी किसी हेतुकी अपेक्षा होती, तो विनाश अवश्यम्भावी नहीं होता। चूँकि विनाश अवश्यम्भावी है, इसलिए उसे किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

इस प्रकरणका उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं—"शीघ्रगामी (अस्थिर) होनेके कारण कोई भी भाव जैसे ही उत्पन्न होता है; वैसे ही विनष्ट हो जाता है। (इससे भावोंकी क्षणिकता सिद्ध होती है।) अथवा कोई भी

---

१. न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः।
शीघ्रगत्वात्स्वभावात् त्वभावो न व्यतिवर्त्तते॥ —(शारीर० १।५८)

२. न नाशकारणाभावात् भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्॥ —(सूत्र० १६।३२)

भाव जिस रूपमें उत्पन्न होता है, उसी रूपमें विनष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि भावके विनाशमें न तो कोई हेतु होता है, और न उस भावका अन्यथा किया जाना ही सम्भव होता है।"[1] यहाँपर आचार्यने दो बातोंपर प्रकाश डाला है—शीघ्रगामी होनेके कारण सभी भावोंका क्षणिक होना, और इसी हेतुसे सभी भावोंका असंस्कार्य होना। संसारके समस्त भावपदार्थ शीघ्रगामी और अस्थिर होनेके कारण उत्पन्नमात्र होते ही निरुद्ध हो जाते हैं। एक क्षणसे अधिक उनकी स्थिति नहीं होती है। अन्यत्र भी कहा गया है—"भावोंके विनाशमें काल निमेषकालसे भी शीघ्रतर होता है, अर्थात् पलक भांजनेमें जितना समय लगता है, भावोंका विनाश उसकी अपेक्षा भी अधिक शीघ्र हो जाता है। और जो भाव एक वार नष्ट हो गया, उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती है।"[2] इस प्रकार चरकमुनिने भावोंके क्षणविध्वंसित्वका प्रतिपादन किया है। उनका यह सिद्धान्त क्षणभङ्गवादी बौद्धोंके सिद्धान्तसे मेल खाता है। किन्तु दोनों सिद्धान्तोंमें पर्याप्त अन्तर भी है। जहाँ क्षणभङ्ग-वादी बौद्ध सभी भावपदार्थोंके साथ विज्ञानकी भी क्षणिकताका प्रतिपादन करते हैं, वहाँ महर्षि चरक अन्य भावोंकी क्षणिकताको स्वीकार करनेपर भी चैतन्य-स्वरूप आत्माको नित्य और अविनाशी मानते हैं। आत्माके प्रकरणमें इसका विस्तारसे निरूपण किया जायगा।

चूंकि सभी पदार्थ अस्थिर होनेके कारण क्षणिक हैं, इसलिए उनमें किसी संस्कारका आधान भी नहीं किया जा सकता है। जो वस्तु जिस रूपमें उत्पन्न होती है, उसी रूपमें अविलम्ब नष्ट हो जाती है। संस्कारके द्वारा उसका अन्यथाकरण सम्भव नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विषम धातुओंमें चिकित्साके द्वारा समताके संस्कारका आधान नहीं किया जा सकता है।

शङ्का—यदि सभी भावोंके समान व्याधिका विनाश भी विना किसी कारणके स्वभावतः होता है, और अस्थिर होनेके कारण विषम धातुओंमें चिकित्साके द्वारा समताके संस्कारका आधान नहीं किया जा सकता है, तो फिर चिकित्साका क्या प्रयोजन है? वैद्य चिकित्साके द्वारा क्या सिद्ध करना चाहता है?

समाधान—जिन क्रियाओंके द्वारा शरीरमें सम धातुओंकी उत्पत्ति होती है, वही क्रियाएँ रोगोंकी चिकित्सा कहलाती हैं। चिकित्साके द्वारा सम-धातुओंको उत्पन्न करना ही वैद्यका साध्य कर्म है।[3] चिकित्साके विषयमें

---

१. शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया॥ —(सूत्र० १६।३३)

२. निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः.................. ॥ —(शारीर० १।५०)

३. याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥ —(सूत्र० १६।३४)

वस्तुतः सिद्धान्त इस प्रकार है—यद्यपि शरीरमें उत्पन्न होनेवाली विषम धातुएँ क्षणिक होनेके कारण विना किसी हेतुके स्वयं विनष्ट हो जाती हैं, तथापि विनष्ट होते समय वे अपने सदृश विषम धातुओंको ही जन्म देती हैं, तथा वे अन्य विपम धातुओंको। इस प्रकार इस अनर्थपरम्पराका उच्छेद तबतक नहीं होता है, जब तक समधातुसन्तानको उत्पन्न करनेवाले हेतुका उपयोग नहीं किया जाता है। जब धातुसाम्यके हेतुका प्रयोग किया जाता है, तो वह वैपम्यपरम्परामें गिरकर भी समधातुसन्तानको ही उत्पन्न करता है। जैसे घटके परमाणु निरन्तर सदृश घटपरमाणुसन्तानको ही उत्पन्न करते हैं, किन्तु मुद्गरका प्रहार कर देनेसे विसदृश कपालपरमाणुसन्तानकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है, और घटपरमाणुसन्तानकी उत्पत्ति वन्द हो जाती है।

विषम धातुओंकी उत्पत्तिके हेतु हैं—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम। जबतक शरीर और मनमें इन हेतुओंकी उपलब्धि होती रहती हैं, तवतक उसका कार्यभूत धातुवैषम्य क्षणिक होनेपर भी प्रवृत्त होता रहता है, क्योंकि कारणके होनेपर कार्यका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। यद्यपि उत्पन्न हुआ धातुवैषम्य क्षणिक होनेके कारण तत्काल नष्ट हो जाता है, तथापि हेतुओंकी उपलब्धि होनेसे प्रतिक्षण नया-नया धातुवैषम्य उत्पन्न होता रहता है, और इस प्रकार विषमधातुसन्तानपरम्परा अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होती रहती है। जव धातुवैषम्यके कारणोंको युक्तिपूर्वक हटाकर धातुसाम्यके हेतुओंका सेवन प्रारम्भ किया जाता है, तो स्वहेतुकी निवृत्ति हो जानेसे धातुवैषम्य भी निवृत्त हो जाता है। अर्थात् पूर्ववर्त्ती धातुवैषम्य तो स्वतः निवृत्त हो जाता है, और कारणाभावसे नया धातुवैषम्य पैदा ही नहीं होता है। उधर दूसरी ओर जव धातुसाम्यजनक हेतु शरीर और मनको प्राप्त होते हैं, तो कारणकी उपलब्धि होनेसे उसका कार्यभूत धातुसाम्य अवश्य ही उत्पन्न होता है, जो हेतुकी निरन्तरोपलब्धि होनेसे अनुवर्त्तित होता रहता है। इसीको चिकित्सा कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि रोगकी निवृत्ति चिकित्सा-से न होकर हेतुओंकी निवृत्ति होनेपर स्वतः हो जाती है, और चिकित्सासे समधातुओंकी उत्पत्ति होने लगती है, जैसा कि महर्षि चरक कहते हैं—"किस प्रकारसे शरीरमें धातुओंकी विषमता न उत्पन्न होने पाये, और सम-धातुओंकी ही सन्तानपरम्परा चलती रहे, इसी उद्देश्यसे चिकित्सारूप क्रिया की जाती है। वैषम्य उत्पन्न करनेवाले हेतुओंका परित्याग करनेसे और साम्य स्थापित करनेवाले हेतुओंका सेवन करनेसे विषमधातुसन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती है, और समधातुएँ उत्पन्न होने लगती हैं। चूंकि चिकित्सक साम्यजनक हेतुओंके द्वारा शरीरगत धातुओंको सम बनाता है, इसलिए वह शरीर सुख और आयुका दाता कहा जाता है।"[1]

---

१. कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
   समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥
   त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
   विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः॥
   समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्धातून् सञ्जनयेत् समान्।
   चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम्॥ —(सूत्र० १६।३५-३७)

निदान

चिकित्साशास्त्रमें कारणकार्यसम्बन्धका निरूपण केवल दो दृष्टियोंसे उपलब्ध होता है। एक तो रोग और आरोग्यके कारणोंपर विचार करनेके प्रसङ्गमें, और दूसरे सृष्टिके कारणपर विचार करनेके प्रसङ्गमें। इनमें सृष्टि-कारणमीमांसा हम आगे करेंगे। पहले रोगविषयक कारणमीमांसा प्रस्तुत की जा रही है।

चरकमुनिने कारणके पर्य्यायरूपसे इन शब्दोंको गिनाया है—हेतु, निमित्त, आयतन, कर्त्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान।[1] यद्यपि हेत्वादि शब्दोंका प्रयोग अन्य अर्थोंमें भी होता है, तथापि इस प्रकरणमें उत्पत्तिकारणके अर्थमें ही इनका प्रयोग किया गया है। शास्त्रमें व्यवहार करनेके लिए यहाँपर हेत्वादि पर्यायोंका प्रचुर सङ्ख्यामें कथन किया गया है। किन्तु कारणके इतने ही पर्याय नहीं हैं, इनके अतिरिक्त योनि, मूल, मुख और प्रकृति इत्यादि दूसरे भी बहुत से पर्याय हैं, जिन्हें ग्रन्थविस्तारके भयसे नहीं कहा गया है।

कारणके इन पर्य्यायोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आयुर्वेदजगत्में सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'निदान' है। इसका प्रयोग रोगके हेतुओंके लिए भी होता है, और रोगका निश्चय करानेवाले लिङ्गों तथा लक्षणोंके लिए भी होता है। टीकाकार **गदाधर**के अनुसार जिसके द्वारा व्याधिका निर्देश किया जाता है, वह निदान है।[2] आचार्य **जेज्जट**के अनुसार जिसके द्वारा व्याधिका निश्चयपूर्वक प्रतिपादन किया जा सके, उसे निदान कहते हैं।[3] **भट्टार-हरिचन्द्र**ने भी इसका यही निर्वचन किया है—'नि' शब्द निश्चयके अर्थमें होता है। वररुचिके उपसर्गसूत्रमें भी 'नि'का निश्चय और निषेधके अर्थमें प्रयोग बताया गया है। लोकमें भी जब यह कहा जाता है कि आज मैं तुम्हारा निदान करूँगा, तो उसका अर्थ होता है कि मैं तुम्हारे रोगका निश्चय करूँगा। 'नि' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातुमें करणके अर्थमें ल्युट्प्रत्यय लगकर निदान शब्द बनता है। इससे सिद्ध होता है कि व्याधिका निश्चय करना ही निदान है। आगे कहे जानेवाले निदानादिपञ्चकका यह सामान्य लक्षण है।[4] गङ्गाधरका कथन है कि द्रव्य गुण और कर्मका जो उत्पादक है,

---

१. इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। —(निदान० १।३)

२. निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्।

३. निश्चित्य दीयते,प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्।

४. नि शब्दो निश्चये। तथा च वररुचेरुपसर्गसूत्रम्—नि निश्चयनिषेधयोरिति। लोकेऽप्यद्य ते निदानं करिष्यामीत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते। निदानमिति करणे ल्युट्, तेन व्याधिनिश्चयकरणं निदानमिति निदानादि-पञ्चकसामान्यलक्षणम्।

वही हेतु और निमित्त इत्यादि शब्दोंके द्वारा कहा जाता है।[1] **योगीन्द्रका** कहना है कि जो द्रव्य गुण और कर्म दोषोंको प्रकुपित करनेके द्वारा रोगोंकी उत्पत्तिका हेतु बनता है, उसे आयुर्वेदमें निदान कहा जाता है।[2] जैसा कि कहा गया है—जो बाह्य निमित्त धातुओंमें विषमता उत्पन्न करके अथवा साक्षात् रोगकारक बनता है, उसे निदान कहते हैं।[3] **बङ्गसेनका** कथन है—जिस आहार-विहारके द्वारा रोगोंकी उत्पत्ति होती है, और दोषोंका क्षय तथा वृद्धि होती है, वह निदान कहलाता है।[4] **वृद्धवाग्भटके** अनुसार रोगका निदान है वायु इत्यादिका प्रकोप, और उसका निदान है अहितकर आहार-विहारका सेवन, तथा निदानके पर्याय हैं—हेतु निमित्त आयतन कारक कर्त्ता कारण प्रत्यय समुत्थान मूल और योनि।[5] अष्टाङ्गसङ्ग्रहके व्याख्याता इन्दु भी इसी मतका समर्थन करते हैं—निदान कारण है। ज्वरादिके निदान हैं वातादि, और वातादिका निदान है निषिद्ध आचरण। ये दोनों ही रोग-विशेषका निर्धारण करनेमें हेतु हैं। हेतु इत्यादि इसके पर्याय हैं।[6] चरक-संहिताके टीकाकार **योगीन्द्रनाथसेन** निदानपदकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—जिस प्रकार कुम्हार चक्र और दण्ड इत्यादि घटके निमित्तकारण हैं और जिस प्रकार मिट्टी घटका समवायिकारण है, उसी प्रकार व्याधिके निषिद्धाचरणादिरूप निमित्तकारणको तथा कुपित वातादिरूप समवायिकारणको निदान समझना चाहिए। 'शरीरके भीतर कुपित होनेवाले मल सभी रोगोंके निदान हैं' वाग्भटके इस कथनसे कुपित वातादिको विकारोंकी प्रकृति अर्थात् मूलकारण कहा जाता है। यहाँ चरकसंहितामें निदान शब्द आदिकारणका वाचक है। 'निदानं त्वादिकारणम्' इस कोषसे रोगोंका आरम्भक आदिकारण निदान होता है, जैसे बीज अङ्कुरका आदिकारण है।[7] सुश्रुतसंहितामें रोगके हेतु और

---

१. द्रव्यगुणकर्मणामुत्पत्तिसम्पादको हेतुर्निमित्तमित्यादिशब्दैरभिधेयः।

२. यद् द्रव्यगुणकर्मरूपं दोषप्रकोपणद्वारेण व्याध्युत्पत्तेर्निमित्तं भवति तदिह निदानमिति परिभाष्यते।

३. बाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्त्तितम्।
विधाय धातुवैषम्यं साक्षाद्वा रोगकारि तत्॥

४. येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्।
क्षयो वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते॥

५. तत्र निदानं वाय्वादिप्रकोपः। तस्य पुनरहिताहारविहारसेवा। निदानपर्यायास्तु हेतुर्निमित्तमायतनं कारकः कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं मूलं योनिरिरिति।

६. निदानं कारणम्। ज्वरादीनां वातादयो वातादीनां प्रतिषिद्धानुष्ठानम्। तदुभयमपि रोगविशेषावच्छेदे हेतुः। हेत्वादीन्यस्य पर्य्यायाः।

७. निदानं व्याधेर्निमित्तकारणं घटस्य कुलालचक्रदण्डादय इव। व्याधेः समवायिकारणं तु कुपितवातादयो मृदिव घटस्य। ते हि विकारप्रकृतय उच्यन्ते, "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" इति वाग्भटात्। इह तु निदानशब्द आदिकारणवचनः। 'निदानं त्वादिकारणम्' इति कोषात् आदिकारणमारम्भकं यथा बीजमङ्कुरस्य।

लक्षणको निदान कहा गया है ।[1]

निदानपञ्चक

निदान पूर्वरूप लिङ्ग उपशय और सम्प्राप्ति—इन पाँच उपायोंसे रोगकी उपलब्धि अर्थात् पहचान होती है ।[2] चिकित्सा करनेके पूर्व रोगका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है । रोगको ठीकसे समझे विना चिकित्सा करनेसे यदृच्छासे भले ही सफलता मिल जाय, नहीं तो विना समझे रोगकी चिकित्सा करना और अँधेरेमें तीर चलाना बराबर है । इसलिए वैद्यका कर्त्तव्य है कि सबसे पहले रोगकी पहचान करनेका प्रयत्न करे, और पहचान लेनेके बाद ही चिकित्साकर्म प्रारम्भ करे । ऐसा करनेसे उसे पुण्य यश और समृद्धिकी प्राप्ति होती है, अन्यथा अपयश ही हाथ लगता है । रोगकी समुचित पहचानके लिए पूर्वोक्त निदानपञ्चककी आवश्यकता होती है । इनमेंसे प्रत्येक रोगका ज्ञान कराता है । कभी-कभी एक या दो से ही रोगका ज्ञान हो जाता है, और कभी-कभी पाँचो मिलकर रोगका ज्ञान कराते हैं ।

(१) **निदान**—निदान कारणको कहते हैं । इसकी व्याख्या की जा चुकी है । रोगके सभी सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट कारण निदान कहलाते हैं । रोगोंके सन्निकृष्ट कारण हैं वातादि, और विप्रकृष्ट कारण हैं अर्थोंके अतियोगादि । ज्वरका सबसे विप्रकृष्ट कारण है रुद्रका कोप[3] और रक्तपित्तका सबसे सन्निकृष्ट कारण है ज्वरसन्ताप । इनके अतिरिक्त सभी व्याधियोंका सामान्यरूपसे सर्वाधिक विप्रकृष्ट कारण अधर्माचरण बताया गया है ।[4] ये सभी कारण रोगके निदान कहे जाते हैं ।

(२) **पूर्वरूप**—रोगकी उत्पत्तिके पूर्व जो लक्षण शरीरादिमें आविर्भूत होते हैं, वे पूर्वरूप कहलाते हैं ।[5] स्थानविशेषके आश्रित रहनेवाले दोष कुपित होकर भावी व्याधिका बोध करानेवाले जिन लिङ्गोंको उत्पन्न करते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है ।[6] यहाँपर इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जो व्याधि उत्पन्न न होनेके कारण अभी अविद्यमान है, उसका लक्षण कैसे उद्भूत हो जायगा, क्योंकि जैसे मेघदर्शनसे भावी वृष्टिका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार पूर्वरूपोंको देखकर भावी व्याधिका अनुमान किया जाता है । योगीन्द्रनाथसेनका कथन है—निदानोंसे प्रकुपित

---

१. **हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि ।** —सुश्रुत० (सूत्र० ३।१४)

२. **तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितः ।** —(निदान० १।६)

३ **ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः ।** —(निदान० १।४०)

४. **प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत् ।** —(विमान० ३।२८)

५. **पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः ।** —(निदान० १।८)

६. **स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम् ।**
लिङ्गं कुर्वन्ति यद् दोषाः पूर्वरूपं तदुच्यते ॥

—(चक्रपाणिके द्वारा उद्धृत)

हुए वायु इत्यादि शरीरमें स्थानविशेषका आश्रय लेकर जिस समय रोगारम्भ करनेमें प्रवृत्त होते हैं, उस अवस्थामें उस रोगशिशुका लक्षण पूर्वरूप कहलाता है।

(३) **लिङ्ग**—जब शरीरमें रोग प्रादुर्भूत हो जाता है, उस समय उस प्रादुर्भूत रोगके लक्षण लिङ्ग कहलाते हैं।[1] जो उत्पन्न हुए रोगके स्वरूपका तथा वातादि और आमपक्वादि विशेषणोंसे विशिष्ट व्याधिका बोध कराता है, वह लिङ्ग होता है। प्रत्येक व्याधिका लिङ्ग प्रतिनियत होता है, जैसे ज्वरका लिङ्ग है सन्ताप, और अतीसारका लिङ्ग है मलका अतिसरण। इस प्रकार विशिष्ट व्याधिका बोध करानेवाले आमज्वर पक्वज्वर और जीर्णज्वरके लक्षण भी लिङ्ग शब्दसे ग्रहण किए जाते हैं। इसी प्रकार रोगके असाध्यतादि अवस्थाओंको प्राप्त होनेपर जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं, वे भी रोगकी अवस्था विशेषके बोधक होनेसे लिङ्ग कहलाते हैं। मृत्युके पूर्व जो रिष्टलक्षण आविर्भूत होते हैं, वे मृत्युके पूर्वरूप माने जाते हैं, लिङ्ग नहीं। पूर्वरूप और लिङ्गका अन्तर यह है कि रोगके प्रादुर्भावके पूर्व जो लक्षण शरीरादिमें उपलब्ध होते हैं वे पूर्वरूप कहलाते हैं; तथा रोगके प्रादुर्भूत हो जानेपर जो लक्षण शरीरादिमें उपलब्ध होते हैं, वे लिङ्ग कहलाते हैं। जैसे ज्वर आनेके पूर्व अङ्गमर्द, जमुहाई आँखोंमें जलन तथा भोजनके प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है, ये ज्वरके पूर्वरूप हैं। तथा ज्वर चढ़ आनेपर जो तापाधिक्यादिकी उपलब्धि होती है, वह ज्वरका लिङ्ग है। इसलिए मृत्युके पूर्व जो रिष्टलक्षण उपलब्ध होते हैं, उन्हें मृत्युका पूर्वरूप ही समझना चाहिए। निदानादि भी यद्यपि उत्पन्न व्याधिके गमक होते हैं, तथापि उनके लक्षणका पृथक् निर्देश होनेके कारण इस प्रकरणमें उन्हें लिङ्ग शब्दसे नहीं कहा जाता है। प्रस्तुत प्रकरणमें लिङ्ग आकृति लक्षण चिह्न संस्थान व्यञ्जन और रूप एक ही अर्थके वाचक होनेसे पर्य्याय हैं।[2]

(४) **उपशय**—उपशयका अर्थ है—सुखका अनुबन्ध तथा सुखकर भावोंका अनुबन्ध। अनुबन्धका अर्थ है—प्रवाहरूपसे लगातार सम्बन्ध। अर्थात् सुखका प्रवाहरूपसे निरन्तर सम्बन्ध उपशय कहलाता है। जब कोई रोग गूढलिङ्ग वाला होता है, तो उस रोगका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए इस उपायका प्रयोग किया जाता है, जैसा कि कहा गया है—गूढलिङ्गोंवाले रोगकी उपशय और अनुपशयके द्वारा परीक्षा करनी चाहिए।[3] "हेतुविपरीत व्याधिविपरीत तथा हेतुव्याधिविपरीत, और हेतुविपरीतार्थकारी व्याधिविपरीतार्थकारी तथा हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी, औषध आहार और विहारका जो उपयोग सुखकर होता है, वह उपशय कहलाता है।"[4] औषध आहार और विहार—ये तीन

---

१. **प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्।** —(निदान० १।८)
२. **तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यस्मिन्नर्थेऽनर्थान्तरम्।** —(निदान० १।८)
३. **गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत।** —(विमान० ४।१०)
४. **उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः।** —(निदान० १।१०)

हेतुविपरीतादि भेदसे छः-छः प्रकारके होते हैं। शीतजन्य रोगकी जो उष्ण चिकित्सा की जाती है, जैसे शीतकफज्वरमें सोंठ इत्यादि गर्म औषधको देना, इसे हेतुविपरीत औषध कहा जाता है। हेतुविपरीत आहार उसे कहते हैं, जैसे श्रम और वायुसे उत्पन्न होनेवाले ज्वरमें मांसरस और भातका सेवन करना। हेतुविपरीत विहारका उदाहरण है, जैसे दिवास्वप्नसे उत्पन्न होनेवाले कफ-रोगमें रातको जागना। इसी प्रकार व्याधिविपरीत तथा हेतुव्याधिविपरीत औषध आहार और विहारको समझना चाहिए। विपरीतार्थकारी औषधाहार-विहार उसे कहते हैं, जो हेतु या व्याधिके समान धर्मवाला होनेपर भी रोगको शान्त कर देता है। जैसे पित्तप्रधान शोथमें पित्तकर गरम पुल्टिसका बाँधना हेतुविपरीतार्थकारी औषध है। छर्दि(उल्टी)में वमनकारक मदनफलको देना व्याधिविपरीतार्थकारी औषध है। और अग्निसे जल जानेपर अगुरु इत्यादि उष्णवीर्य औषधका लेप करना हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध है। इसी प्रकार आहार और विहारको भी समझ लेना चाहिए। जब किसी रोगके लिङ्ग सुस्पष्ट प्रतीत नहीं होते हैं, तो पूर्वोक्त औषधाहारविहारका सेवन करानेसे रोगका निश्चय किया जाता है। जैसे सोंठ इत्यादि उष्ण औषधका सेवन करानेसे यदि रोगीको आराम मिले, तो उसे शीतकफज्वरसे पीडित समझना चाहिए। यदि दशमूलका सेवन करानेसे रोगीको सुख मिले, तो वात-शोथका निश्चय करना चाहिए, क्योंकि दशमूल वात और शोथ दोनोंका हरण करनेवाला है। इस प्रकार उपशयसे रोगका ज्ञान होता है।

(५) सम्प्राप्ति—रोगकी सम्प्राप्ति, जाति (उत्पत्ति), और आगति (आ पहुँचना) एकार्थवाची हैं।[१] रोगका प्राप्त होना, उत्पन्न होना या आ पहुँचना एक ही बात है। यद्यपि रोगकी सम्प्राप्तिके अनन्तर ही लिङ्गोंका प्रादुर्भाव होनेसे सबसे अन्तमें लिङ्गोंका कथन करना चाहिए था, तथापि रोगज्ञानके प्रति सम्प्राप्तिका सबसे कम योगदान होनेके कारण अन्तमें उसीका कथन किया गया है। यद्यपि सम्प्राप्ति निदान इत्यादिके समान रोगका ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं होती है, तथापि रोगकी उत्पत्तिके विना उसका कोई भी लक्षण सम्भव न होनेसे उत्पत्तिको भी व्याधिज्ञानका उपाय कहा जाता है। कुछ लोग इस बातको नहीं मानते हैं, क्योंकि सम्प्राप्तिसे रोगकी किसी विशेषताका ज्ञान नहीं होता है, और ऐसा कोई नियम नहीं है कि उत्पन्न होनेपर ही व्याधिकी उपलब्धि हो, क्योंकि निदान और पूर्वरूपके द्वारा अनुत्पन्न व्याधिका भी भावित्वेन ज्ञान हो जाता है। इसलिए चक्रपाणिका कहना है कि सम्प्राप्तिसे यहाँपर रोगोत्पादक दोषोंके व्यापारविशेषसे युक्त रोगोत्पत्तिको ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् सम्प्राप्तिका अर्थ केवल रोगोत्पत्ति ही नहीं है, अपितु उसमें रोगजनक दोषोंके व्यापारविशेषको भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। इसी प्रकार रोगकी आगतिका अर्थ है—रोगके उत्पादक हेतुओंका रोगजननपर्यन्त गमन करना। इस प्रकार सम्प्राप्ति भी रोगविशेषका ज्ञान कराती है।

---

१. सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः।

—(निदान० १।११)

कारण और कार्यका वर्गीकरण

चरकमुनिने कारणको तीन प्रकारका माना है—कारण (निमित्तकारण), करण (सहकारिकारण), और कार्ययोनि (उपादानकारण)। इसी प्रकार कार्यको भी उत्तरोत्तरभाविताके आधारपर तीन प्रकारका माना है—कार्य, फल और अनुबन्ध। कारणव्यापारके अनन्तर कार्यकी उत्पत्ति होती है, कार्योत्पत्तिके अनन्तर फलोत्पत्ति होती है, और फलोत्पत्तिके अनन्तर उसका अनुबन्ध होता है। इस प्रकार ये तीनों क्रमशः उत्तरोत्तरभावी कार्य हैं।

(१) **कारण**—कारण उसे कहते हैं, जो किसी कार्यको करता है। वही हेतु होता है और वही कर्त्ता होता है।[1] यहाँपर 'करोति' क्रियासे कर्त्ताका स्वातन्त्र्य विवक्षित है। इसीको शास्त्रान्तरोंमें **निमित्तकारण** कहा गया है। आयुर्वेदके प्रतिपाद्य चिकित्साकर्ममें धातुसाम्यरूप कार्यकी प्राप्तिका कारण भिषक् माना जाता है।[2] भिषक् उसे कहते हैं, जो चिकित्सा करता है, जो आयुर्वेदशास्त्रके अर्थको समझता है और उसका प्रयोग करनेमें कुशल है, जो आयुको सब प्रकारसे यथावत् जानता है, अर्थात् आयुको स्वलक्षण हिताहित सुखासुख और प्रमाणाप्रमाणकी दृष्टिसे जानता है, और आयुष्य तथा अनायुष्य द्रव्यगुणकर्मको भी जानता है। ऐसा वैद्य जब रोगीकी सभी धातुओंमें समता स्थापित करनेकी इच्छा करे, तो सर्वप्रथम उसे अपनी ही परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि गुणी जनोंके मध्य गुणोंसे ही कार्यमें सफलता मिलती है। उसे विचार करना चाहिए कि मैं इस धातुसाम्यरूप कार्यका सम्पादन करनेमें समर्थ हूँ अथवा नहीं हूँ। जिन गुणोंसे युक्त होकर भिषक् धातुओंको सम बनानेमें समर्थ होता है, वे गुण इस प्रकार हैं—शास्त्रज्ञानकी निर्मलता, चिकित्साकर्मका भूयस्त्वेन दर्शन, दक्षता, पवित्रता, शस्त्रोपचार इत्यादिमें अपने हाथपर अधिकार होना (हाथका सधा होना), उपकरणोंसे सम्पन्न होना, सभी इन्द्रियोंसे युक्त होना, रोगकी प्रकृतिको समझनेकी योग्यता होना, और प्रतिपत्तिका ज्ञान होना, अर्थात् जिस रोगकी जैसी चिकित्सा होनी चाहिए उसका ज्ञान होना।[3] इन गुणोंसे युक्त होनेपर भिषक् आपत्कालके उपस्थित होनेपर भी घबराता नहीं है, और तुरन्त अपने कर्त्तव्यका निश्चय करके क्रिया करनेमें जुट जाता है।

---

१. **तत्र कारणं नाम तद्यत्करोति, स एव हेतुः स कर्त्ता।**—(विमान० ८।६९)

२. **इह कार्यप्राप्तेः कारणं भिषक्** —(विमान० ८।८४)

३. **भिषङ् नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत्। स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत, गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्। कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति। तत्रेमे भिषग्गुणाः यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति, तद्यथा—पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता चेति।** —(विमान० ८।८६)

(२) **करण**—कार्यका सम्पादन करनेके लिए प्रयत्न करते हुए कर्त्ताके लिए जो वस्तुएँ उपकरण अर्थात् साधन बनती हैं, उन्हें करण कहा जाता है।[१] कर्त्ताके द्वारा सम्पाद्य कार्यमें जो अन्य कारण सन्निहित होकर कर्त्ताके सहकारीके रूपमें व्यापार करते हैं, उन्हें करण समझना चाहिए। इनको सहकारिकारण भी कहा जा सकता है। जैसे लकड़ी काटनेके लिए प्रयास करते हुए देवदत्तके लिए कुल्हाड़ी उपकरण या साधन बनती है, इसलिए कुल्हाड़ीको करण या सहकारिकारण कहा जा सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि कार्यनिष्पत्तिके लिए जो अन्य कारणोंको प्रेरित करता है, उस कर्त्ताको यहाँपर 'कारण' शब्दके द्वारा कहा गया है, और जिन कारणोंका व्यापार कर्त्ताके अधीन है तथा जो कार्यनिष्पत्तिमें साधकतम बनते हैं, उन्हें इस प्रकरणमें 'करण' शब्दके द्वारा कहा गया है। वस्तुतः मुख्य कर्तृत्व तो उसीका होता है, जो बुद्धि और प्रयत्नसे युक्त होनेके कारण दूसरे कारणोंका प्रेरक बनता है। अचेतनके लिए किया जानेवाला कर्तृव्यपदेश गौण होता है।

जिस प्रकार कर्त्ताके विना करणोंका व्यापारयुक्त होना असम्भव है, उसी प्रकार करणोंके विना अकेला कर्त्ता भी कुछ करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है, यह बात चरकमुनिके "कोई भी (कारणरूप) भाव सहकारिकारणोंकी सहायताके बिना अकेला ही कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है, और कोई भी (कार्यरूप) भाव कारणोंके विना अस्तित्वलाभ नहीं कर सकता है"[२] इस कथनसे प्रमाणित होती है।

आयुर्वेदमें धातुसाम्यरूप कार्यकी प्राप्तिमें भेषजको करण माना जाता है। भेषज उसे कहते हैं, जो धातुओंमें साम्य स्थापित करनेके लिए प्रयास करते हुए वैद्यके उपकरणभावको प्राप्त हो, अर्थात् वैद्य जिन पदार्थोंको साधन बनाकर धातुसाम्यको स्थापित करनेमें समर्थ होता है, वे पदार्थ भेषज कहलाते हैं। आश्रयभेदसे यह भेषज दो प्रकारकी होती है—दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय। मन्त्र ओषधि मणि मङ्गल बलि उपहार होम नियम प्रायश्चित्त उपवास स्वस्त्ययन और देवमन्दिरमें जाना इत्यादि दैवव्यपाश्रय भेषज हैं। संशोधन उपशमन और प्रत्यक्षफल देनेवाली चेष्टाएँ युक्तिव्यपाश्रय भेषज हैं।[३] तिस्रैषणीयमें दैवव्यपाश्रय युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजयके भेदसे तीन

---

१. **करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्पते कर्त्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य।** —(विमान० ८।७०)

२. **न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः।** —(शारीर० १।५८)

३. **करणं पुनर्भेषजम्। भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य। तद् द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्—दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयम्—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि; युक्तिव्यपाश्रयम्—संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः।** —(विमान० ८।८७)

प्रकारकी औषधियाँ बताई गई हैं।[१] जो मणिमन्त्रादि दैव अर्थात् अदृष्टको उत्पन्न करनेके द्वारा व्याधिका प्रतीकार करते हैं, उनको दैवव्यपाश्रय औषध कहा जाता है। अथवा दैव शब्दसे देवताओंका भी ग्रहण किया जा सकता है। देवताओंका आश्रय लेकर जो औषध रोगीका उपकार करती है वह दैवव्यपाश्रय औषध है। मन्त्र इत्यादि देवताओंके प्रभावसे ही व्याधिका विनाश करनेमें समर्थ होते हैं। बलि और उपहार इत्यादिसे प्रसन्न होकर देवगण अपने प्रभावसे रोगोंका निवारण कर देते हैं। रोगका अत्यन्त शीघ्र विनाश कर देनेके कारण दैवव्यपाश्रयको तीन प्रकारकी औषधियोंमें सर्वप्रथम कहा गया है। आहारद्रव्य और औषधद्रव्योंकी युक्तिपूर्वक की जानेवाली जो योजना व्याधिविनाशिनी होती है, उसे युक्तिव्यपाश्रय भेषज कहा जाता है।[२] अहितकर अर्थोंसे मनका निग्रह करना सत्त्वावजय औषध है।[३] वस्तुतः सत्त्वावजयका दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रयमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। सत्त्वावजयका अर्थ है मनोविजय या मनोनिग्रह। यह मनोनिग्रह जब दृष्टफलके द्वारा उपकारक बनता है तब इसका अन्तर्भाव युक्तिव्यपाश्रयमें होता है। और जब अदृष्टफलके द्वारा उपकारक बनता है तब इसका अन्तर्भाव दैवव्यपाश्रयमें होता है। इसीलिए युक्तिव्यपाश्रयकी व्याख्या करते समय महर्षिने **'चेष्टाश्च दृष्टफलाः'** कहा है। यहाँपर चेष्टा शब्दसे लक्षणाके द्वारा सत्त्वावजयरूप मनश्चेष्टा भी ग्राह्य है। इस प्रकार सत्त्वावजयका अन्तर्भाव हो जानेसे रोगभिषग्जितीयमें भेषजके द्वैविध्यका ही कथन किया गया है। "यह भेषज स्वरूपभेदसे भी दो ही प्रकारकी होती है—द्रव्यरूप और अद्रव्यरूप। इनमें जो भेषज अद्रव्यरूप है, वह उपायसे व्याप्त है, अर्थात् उपायरूप है। भय दिखाना, विस्मित कर देना, भुला देना, क्षुब्ध कर देना, हर्ष उत्पन्न करना, झिड़की देना, हिंसा करना, बाँधना, सोना और शरीरके अङ्गोंका संवाहन (मर्दन) करना इत्यादि अमूर्त्त भावविशेष उपाय कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त यथोक्त सिद्धिके उपायभूत परिचारक इत्यादि भी उपायसे व्याप्त हैं। जो भेषज द्रव्यरूप है, उसका वमनादि कर्मोंमें योग होता है, और उसकी परीक्षा इस प्रकार होती है—यह औषध प्रकृतिसे ऐसी है, ऐसे गुणोंवाली है, ऐसे प्रभाववाली है, इस देशमें और इस ऋतुमें उत्पन्न हुई है, इस प्रकारसे ग्रहणकी गई हैं, इस प्रकारसे रक्खी गई है, इस प्रकारसे तैयार की गई है, तथा इस मात्रासे युक्त होनेपर इस रोगमें इस प्रकारके पुरुषके इतने दोषको खींच लेती है अथवा शान्त कर देती है। अन्य भी जो इस प्रकारकी औषध थी, वह भी इन विशेषताओंसे युक्त थी।"[४]

---

१. **त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजयश्च।** —(सूत्र० ११।५४)

२. **युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना।** —(सूत्र० ११।५४)

३. **सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः।** —(सूत्र० ११।५४)

४. **एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधम्—द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं च। तत्र यदद्रव्यभूतं, तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारणक्षोभणहर्षणभर्त्सनबन्धस्वप्नसंवाहनादिरमूर्त्तो भावविशेषः, यथोक्ताः**

(३) **कार्ययोनि**—उसे कहते हैं, जो विकृत होती हुई अर्थात् अवस्थान्तरको प्राप्त होती हुई कार्यरूप हो जाती है।[१] जैसे घटकी कार्ययोनि है मृत्तिका, क्योंकि मृत्तिका ही अवस्थान्तरकी प्राप्तिसे घट बन जाती है। योनि शब्दका अर्थ है—समवायिकारण या उपादानकारण। अतः किसी भी कार्यके समवायिकारणको कार्ययोनि कहा जाता है। चिकित्साशास्त्रमें धातुसाम्यरूप कार्यकी कार्ययोनि है, धातुओंकी विषमता। क्योंकि विषम धातुएँ ही अवस्थान्तरको प्राप्त होती हुई सम धातुएँ बन जाती हैं। धातुवैषम्यका लक्षण है—रोगोंका आगमन। उसकी परीक्षाविधि इस प्रकार है—रोगके कारणभूत वातादि दोषोंकी न्यूनता या अधिकताके लिङ्गविशेषोंका पर्यवेक्षण करना, तथा रोगकी साध्यता असाध्यता मृदुता अथवा दारुणताका बोध करानेवाले लिङ्गविशेषोंका पर्यवेक्षण करना।[२] सूत्रस्थानके महाचतुष्पाद नामक अध्यायमें साध्यासाध्यादिके लक्षण कहे गए हैं।

(४) **कार्य**—कार्य उसे कहते हैं, जिसकी निष्पत्तिके उद्देश्यसे कर्त्ता प्रवृत्त होता है।[३] चिकित्साकर्ममें भिषक् धातुसाम्यकी स्थापनाको अपना लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त होता है। इसलिए "आयुर्वेदमे धातुसाम्यको कार्य माना जाता है, और उसका लक्षण है रोगकी शान्ति। उसकी परीक्षा इन लक्षणोंसे की जाती है—रोगका चला जाना, स्वर और वर्णका स्वाभाविक रूपमें आ जाना, शरीरका पुष्ट हो जाना, बलमें वृद्धि होना, भोजनके लिए अभिलाषा उत्पन्न होना, भोजनके समयके प्रति रुचि या आकर्षण होना, खाए हुए आहारका समयसे अच्छी तरह पच जाना, समयसे नींद आना, विकारसूचक स्वप्नोंका न दिखाई देना, सुखपूर्वक जाग जाना, वात मूत्र पुरीष और शुक्रका सुखपूर्वक निकलना, सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त होना, तथा मन बुद्धि और इन्द्रियोंका सर्वथा व्यापत्तिरहित (नीरोग) होना।"[४]

सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता इति। यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति। तस्यापीयं परीक्षा—इदमेवं प्रकृत्या एवंगुणमेवंप्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन्नृतावेवंगृहीतमेवंनिहितमेवमुपस्कृतमनया मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवंविधस्य पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा, यदन्यदपि चैवंविधं भेषजमभूत्तच्चानेन विशेषेण युक्तमिति। —(विमान० ८।८७)

१. कार्ययोनिस्तु सा, या विक्रियमाणा कार्यत्वमेवापद्यते।—(विमान० ८।७१)

२. कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, तस्य लक्षणं विकारागमः। परीक्षा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्यमृदुदारुणलिङ्गविशेषावेक्षणमिति। —(विमान० ८।८८)

३. कार्यं तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय प्रवर्तते कर्त्ता।—(विमान० ८।७२)

४. कार्यं धातुसाम्यम्। तस्य लक्षणं विकारोपशमः। परीक्षा त्वस्य रुगपगमनं, स्वरवर्णयोगः, शरीरोपचयो, बलवृद्धिः, अभ्यवहार्याभिलाषो, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणं, निद्रालाभो यथाकालं, वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं, सुखेन च प्रतिबोधनं वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिश्च, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति। —(विमान० ८।८९)

(५) **कार्यफल**—कार्यफल उसे कहते हैं जिस प्रयोजनसे कार्यकी निष्पत्ति अभीष्ट होती है।[1] धातुसाम्यरूप कार्यकी निष्पत्ति सुख पानेके प्रयोजनसे कर्त्ताको अभीष्ट होती है। इसलिए आयुर्वेदमें धातुसाम्यरूप कार्यका फल है, सुखकी प्राप्ति, और उसका लक्षण है, मन बुद्धि इन्द्रिय और शरीरकी तुष्टि (प्रसन्नता)।[2]

(६) **अनुबन्ध**—जो शुभ या अशुभ भाव कार्यके उत्तरकालमें (अर्थात् कार्यनिष्पत्तिके पश्चात्)कार्यसे उत्पन्न होकर कर्त्तासे अवश्य सम्बद्ध होता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं।[3] शुभ कार्यका अनुबन्ध शुभ होता है, और अशुभ कार्यका अनुबन्ध अशुभ होता है। चूंकि धातुसाम्यरूप कार्यके उत्तरकालमें उससे उत्पन्न होनेवाली आयुकी वृद्धि अवश्य ही होती है; इसलिए आयुर्वेदमें धातुसाम्यरूप कार्यका अनुबन्ध निश्चित रूपसे आयुको माना गया है, और आयुका लक्षण है, प्राणोंके साथ संयोग।[4] प्राणादिके आत्मलिङ्ग होनेके कारण और आत्माका मनसे नित्य संयोग होनेके कारण, आत्मा और मनका शरीरसे संयोग होना ही आयु है।

चूंकि कार्यसे कार्यफल और अनुबन्ध दोनों ही उत्पन्न होते हैं, अतः कुछ लोगोंको शङ्का हो सकती है कि इन दोनोंमें भेद किस आधारपर किया गया है। इसका उत्तर यह है कि कार्यसे जो फल उसी समय उत्पन्न होता है, उसे कार्यफल कहा जाता है। जैसे कुम्भकारको घट बनानेसे जो उसके मूल्यकी प्राप्ति होती है, वह तात्कालिक होनेके कारण कार्यफल कहलाती है। और कार्यसे जो फल उसकी उत्पत्तिके पश्चात् भविष्यमें मिलता है, वह अनुबन्ध कहलाता है। जैसे घटनिर्माणके अनन्तर उससे प्राप्त हुए मूल्यके द्वारा अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करना घटनिष्पत्तिका अनुबन्ध है। इसी प्रकार धातु-साम्यरूप कार्यका कार्यफल है सुखकी प्राप्ति, और अनुबन्ध है आयु।

सत्कार्यवादका सिद्धान्त

कार्ययोनि(समवायिकरण)की व्याख्या करते हुए चरकमुनिने कहा है कि जो वस्तु विकृत(परिणत) होती हुई कार्यरूपताको प्राप्त हो जाती है, उसे

---

१. कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते।
—(विमान० ८।७३)

२. कार्यफलं सुखावाप्तिः, तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः।
—(विमान० ८।९०)

३. अनुबन्धस्तु खलु सः यः कर्त्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो वा भावः। —(विमान० ८।७४)

४. अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सह संयोगः।
—(विमान० ८।९१)

कार्ययोनि अथवा समवायिकारण कहा जाता है।[१] जैसे मृत्तिका विकृत होती हुई घटरूपताको प्राप्त हो जाती है, अतः घटकी कार्ययोनि या समवायिकारण मृत्तिका है। इससे सिद्ध होता है कि समवायिकारण ही विकार या परिणामको प्राप्त होता हुआ अवस्थान्तर या रूपान्तरकी प्राप्तिसे कार्यरूप हो जाता है। घट मृत्तिकाका परिणामजन्य रूपान्तर है, और पट तन्तुओंका परिणामजन्य रूपान्तर है। इसी प्रकार दधि दुग्धका परिणामजन्य रूपान्तर है। अतः सिद्ध होता है कि घट पट और दधि अपनी उत्पत्तिके पूर्व क्रमशः मृत्तिका तन्तु और दुग्धके रूपमें विद्यमान थे। चूंकि घट मृत्तिकासे ही उत्पन्न होता है, तन्तुओंसे या दुग्धसे नहीं उत्पन्न हो सकता है, अतः उत्पत्तिके पूर्व घटका मृत्तिकामें विद्यमान होना सिद्ध होता है। उत्पत्तिके पूर्व घट मृत्तिकामें विद्यमान होनेपर भी अनभिव्यक्त था, कारणव्यापारसे अनभिव्यक्त घट उत्पन्न होकर अभिव्यक्त हो जाता है। इससे सत्कार्यवादकी सिद्धि होती है। चरकमुनि कहते हैं—"सत् पदार्थका केवल अवस्थान्तरको प्राप्त होना ही उसका जन्म कहलाता है।"[२] इससे सिद्ध होता है कि कारण ही विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होकर उन उन अवस्थाओंमें कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। "जिस प्रकार पहलेसे विद्यमान शुक्र शोणित और जीव संयोग होनेसे पूर्व गर्भभावको नहीं प्राप्त होते हैं, परस्पर संयोग होनेसे उनका गर्भत्व निष्पन्न होता है (अर्थात् शुक्र शोणित और जीव सत् होनेपर भी संयोगरूप अवस्थान्तरको प्राप्त होकर गर्भके रूपमें जन्म लेते हैं)। जिस प्रकार पुरुष विद्यमान होनेपर भी सन्तानकी उत्पत्तिके पूर्व पिता नहीं बन सकता है, सन्तानसे उसके पितृत्वका जन्म होता है, उसी प्रकार गर्भ विद्यमान होनेपर भी उस उस अवस्थामें पहुँचनेपर उस अवस्थामें उत्पन्न और पहुँचनेसे पहले उस अवस्थामें अनुत्पन्न कहलाता है।"[३] शङ्कराचार्य कहते हैं—"इसलिए क्षीरादि द्रव्य ही दध्यादिके रूपमें स्थित होते हुए कार्यसञ्ज्ञा प्राप्त करते हैं। कार्य कारणसे भिन्न है, यह बात सौ वर्षमें भी नहीं निश्चित की जा सकती है।"[४]

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—(१) कार्यका उत्पत्तिके पूर्व सत् होना, और (२) कार्यका कारणसे अभिन्न होना। चूंकि कारणकी अवस्थान्तरप्राप्ति ही कार्यका जन्म है, अतः कार्यका उत्पत्तिके पूर्व विद्यमान होना और कारणसे

---

१. कार्ययोनिस्तु सा, या विक्रियमाणा कार्यत्वमेवापद्यते। —(विमान० ८।७१)

२. सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते। —(शारीर० ३।१४)

३. यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगाद् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद् भवति, यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति, तच्चापत्याद्भवति, तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वं चोच्यते। —(शारीर० ३।१४)

४. तस्मात् क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत् कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्।

—ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।१।१८)

अभिन्न होना सिद्ध होता है। गर्भ उत्पन्न होनेके पूर्व शुक्र शोणित और जीवके रूपमें विद्यमान था, और उत्पन्न होनेके पश्चात् भी शुक्र शोणित और जीवसे अभिन्न रहता है। अतः सत्कार्यवाद और कार्यकारणकी एकताका सिद्धान्त पर्यवसित होता है।

रोगभिषग्जितीयमें सम्भवकी व्याख्या करते हुए महर्षि चरक कहते हैं—जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उसका सम्भव होता है। जैसे षड्धातुएँ गर्भकी सम्भव हैं, अहित रोगका सम्भव है, और हित आरोग्यका सम्भव है।[१] **'सम्भवति विद्यतेऽस्मिन्निति सम्भवः'** इस व्युत्पत्तिसे सिद्ध होता है कि कार्य जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसमें उत्पत्तिसे पूर्व विद्यमान रहता है। इसीलिए उस कारणकी सम्भव सञ्ज्ञा होती है। सत्कार्यवादमें कारण सदैव कार्ययुक्त माना जाता है, इसलिए जबतक कार्य अव्यक्त रहता है तब तक उसकी 'कारण' सञ्ज्ञा रहती है, तथा कार्यकी अभिव्यक्ति होनेपर उसकी 'कार्य' सञ्ज्ञा हो जाती है। घटकी अभिव्यक्तिके पूर्व जो मृत्तिका कहलाती है, वही घटकी अभिव्यक्ति होनेपर घट कहलाने लगती है। वस्तुमें कोई विशेष अन्तर नहीं उत्पन्न होता है। गर्भ उत्पन्न होनेके पहले भी षडधातुओंमें अवश्य रहता है, अन्यथा षड्धातुओंसे उसकी उत्पत्ति असम्भव होती। गर्भकी अभिव्यक्तिके पूर्व जो षड्धातुएँ थीं, वे ही गर्भकी अभिव्यक्तिके अनन्तर गर्भ कहलाने लगती हैं। इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व गर्भ षड्धातुओंमें, व्याधि अहितसेवनमें, और आरोग्य हितसेवनमें अनभिव्यक्त रूपसे अवश्य ही रहता है, उत्तरकालमें उसकी अभिव्यक्ति होती है।

सत्कार्यवादका यह सिद्धान्त साङ्ख्यदर्शन और वेदान्तदर्शनमें मान्य है। न्याय-वैशेषिक इसे नहीं मानता है। कार्य और कारणकी जिस एकताका निरूपण चरकमुनिने किया है, वेदान्तदर्शनमें उसका पल्लवन **'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'**[२] इत्यादि सूत्रोंके द्वारा किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि अद्वैतवेदान्तमें कार्यको कारणका विवर्त्त माना गया है, और चरकसंहितामें उसे कारणका परिणाम या विकार माना गया है। **'कार्ययोनिस्तु सा, या विक्रियमाणा कार्यत्वमेवापद्यते'** इत्यादि वाक्योंसे यह बात प्रमाणित होती है। कारणके अवस्थान्तरगमनका कथन होनेसे भी इसका समर्थन होता है। इस दृष्टिसे चरकका यह सिद्धान्त साङ्ख्यदर्शनके अधिक निकट सिद्ध होता है।

सृष्टिसिद्धान्त

शारीरस्थानके कतिधापुरुषीयनामक प्रथमाध्यायमें सृष्टिप्रक्रियाका सङ्क्षेपसे निरूपण किया गया है, जिसका अवलोकन करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरकमुनिको साङ्ख्यदर्शनकी सृष्टिप्रक्रिया अभीष्ट है। किन्तु उनका

---

१. **सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति, स तस्य सम्भवः। यथा—षड् धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं, हितमारोग्यस्येति।** —(विमान० ८।४६)

२. ब्रह्मसूत्र (२।१।१४)।

साङ्ख्य ईश्वरकृष्णका निरीश्वर साङ्ख्य नहीं है, अपितु वह प्राचीनसाङ्ख्य है, जो वैदिकदर्शनका अभिन्न अङ्ग है, जिसकी उपलब्धि हमें उपनिषदोंमें होती है, और जो आगे चलकर महाभारत और श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थोंमें पल्लवित और पुष्पित हुआ है। इसलिए नाम्ना साङ्ख्य होनेपर भी यह दर्शन औपनिषद दर्शनका अभिन्न अङ्ग है। चरकसंहितामें प्राचीन साङ्ख्य और औपनिषद दर्शन-का श्लाघ्य सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। प्रस्तुत सृष्टिप्रक्रियाके निरूपण-प्रसङ्गमें यह बात सुस्पष्ट हो जायगी।

चरकसंहितामें जगत्की उत्पत्ति अव्यक्तसे मानी गई है। साङ्ख्यदर्शनमें भी अव्यक्त प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति मानी गई है।[1] किन्तु साङ्ख्यदर्शनका अव्यक्त जहाँ अचेतन है, वहाँ चरकमुनिने अव्यक्त शब्दसे चेतन आत्माको ग्रहण किया है। देखिए—"क्षेत्रज्ञ शाश्वत विभु और अव्यय आत्मा ही अव्यक्त है, और उससे भिन्न जो महत्तत्त्व इत्यादि हैं, वे सब व्यक्त हैं। व्यक्त और अव्यक्तका दूसरा भेद यह है कि जिसका इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जाता है, वह इन्द्रियग्राह्य पदार्थ व्यक्त कहलाता है, और अव्यक्त इससे भिन्न होता है, वह अतीन्द्रिय और लिङ्गग्राह्य (अनुमानग्राह्य) होता है।"[2] महाभारतमें भी आत्माको अव्यक्त कहा गया है।[3] वस्तुतः साङ्ख्यदर्शनमें जिस त्रिगुणात्मिका अव्यक्त-नाम्नी मूलप्रकृतिको जगत्कारण कहा गया है, चरकसंहितामें उसे परमात्मासे अभिन्न मानकर तथा अव्यक्त शक्तिके रूपमें उसका परमात्मामें अन्तर्भाव करके परमात्माको ही अव्यक्तसञ्ज्ञा प्रदान की गई है, और उसीसे जगत्की उत्पत्ति बताई गई है। चौबीस धातुओंवाले राशिपुरुषका जो निरूपण चरक-संहितामें उपलब्ध होता है, उससे भी मूलप्रकृति और आत्माका अभेद सिद्ध होता है। देखिए—"यह राशिपुरुष धातुभेदसे चौबीस धातुओंवाला भी माना गया है। मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ, और आठ धातुओंवाली प्रकृति—ये चौबीस धातुएँ हैं।"[4] इनमें मन इन्द्रिय और अर्थको विकार कहा गया है, तथा आठ धातुओंको भूतप्रकृति कहा गया है। इनका परिगणन इस प्रकार है—"तन्मात्र कहे जानेवाले आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत, बुद्धि, अव्यक्त और आठवाँ अहङ्कार—ये समस्त भूतोंकी प्रकृतियाँ कही गई हैं। और विकार सोलह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, और मनके सहित पाँच अर्थ

---

१. कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
—साङ्ख्यकारिका (१६)

२. अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥—शारीर० (१।६१-६२)

३. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । —गीता (२।२५)
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । —गीता (८।२१)

४. पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ —(शारीर० १।१७)

(स्थूलभूत)—इनको विकार कहा जाता है।"[१] इस प्रकार अष्टधातुकी प्रकृतिमें अव्यक्तसे मूलप्रकृति और आत्माको एकत्वेन ग्रहण किया गया है, अन्यथा दोनोंको पृथक्-पृथक् माननेपर साङ्ख्यके समान यहाँ भी पचीस धातुएँ हो जायँगी। चूँकि राशिपुरुषमें चैतन्यात्मा भी गृहीत है, अतः मूलप्रकृतिसे उसका अभेद माननेपर ही चौबीस धातुएँ हो सकेंगी। साङ्ख्यदर्शनमें पुरुषको सम्मिलित करके पचीस तत्त्व गिनाए गये हैं—"मूलप्रकृति किसीका विकार (कार्य) नहीं है, महदादि सात तत्त्व (महत् अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ) कारण और कार्य दोनों ही हैं। सोलह तत्त्वों (मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच भूतों)का समुदाय तो केवल कार्य ही है, तथा पुरुष न कारण है और न कार्य ही।"[२] चतुर्विंशतिधातुक पुरुषकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं—"यद्यपि साङ्ख्यदर्शनमें यह पुरुष पचीस तत्त्वोंवाला कहा गया है, तथापि यहाँ चरकसंहितामें आचार्य प्रकृतिव्यतिरिक्त उदासीन पुरुषको अव्यक्तत्वरूप साधर्म्यके कारण अव्यक्त प्रकृतिमें ही प्रक्षिप्त करके अव्यक्त शब्दसे ग्रहण करते हैं।"[३]

इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि चरकमुनि अव्यक्त प्रकृतिको अव्यक्त पुरुषसे अभिन्न मानते हैं। अद्वैतवेदान्तमें भी अव्याकृत प्रकृति या मायाशक्तिको परमेश्वरसे अभिन्न उसकी उपाधिके रूपमें स्वीकार किया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्से भी इसका समर्थन प्राप्त होता है—"मायाको प्रकृति और महेश्वरको उसका स्वामी समझना चाहिए।"[४] श्रीमद्भागवतमें कपिल-भगवान् अपनी माता देवहूतीसे कहते हैं—"उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास लीलाविलासपूर्वक आई हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको स्वेच्छासे स्वीकार कर लिया।"[५] इस प्रकार चरकमुनिका जगत्कारणताविषयक यह सिद्धान्त वैदिक परम्पराके ग्रन्थोंके अनुरूप सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें प्रकृति-की स्वतन्त्रकारणताको नहीं स्वीकार किया गया है।

---

१. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सञ्ज्ञिताः॥
—(शारीर० १।६३–६४)

२. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ —साङ्ख्यकारिका (३)

३. यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुषः साङ्ख्यैरुच्यते, तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति। —चक्रपाणिः (शारीर० १।१७)

४. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। —श्वेता० (४।१०)

५. स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥ —श्रीमद्भागवत (३।२६।४)

सृष्टिप्रक्रिया

महाप्रलयके अनन्तर जिस क्रमसे सृष्टि होती है, उसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—"अव्यक्तसे सर्वप्रथम बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे 'मैं हूँ' इस प्रकारका अभिमान उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है, और अहङ्कारसे उसके पश्चात् आकाशादि सूक्ष्मभूत (और सोलह विकार) यथाक्रम उत्पन्न होते हैं।"[१] साङ्ख्यदर्शनमें भी उत्पत्तिका यही क्रम बताया गया है—"प्रकृतिसे महत्तत्त्व या बुद्धि, महत्से अहङ्कार, और अहङ्कारसे पाँच तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वोंका समुदाय उत्पन्न होता है। सोलहमें पाँच तन्मात्रोंसे पाँच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।"[२]

इस प्रकार उस अव्यक्तसञ्ज्ञक आत्मासे जब बुद्धिसे लेकर स्थूलभूतपर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं, तो उन सबके साथ आत्माका सम्बन्ध हो जाता है, और इन चौबीसतत्त्वोंका राशिरूप पुरुष सर्वाङ्गसम्पन्न होकर उत्पन्न हुआ, ऐसा कथन किया जाता है।[३] तात्पर्य यह है कि जब यह पुरुष अपने कार्योंसे सम्बद्ध होकर अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको प्राप्त होता है, तो वही उसका जन्म कहलाता है। जन्मके अनन्तर यह राशिरूप पुरुष शरीरेन्द्रिय तथा मनोबुद्ध्यादि भावोंकी सहायतासे संसारके विषयोंका भोग करनेमें प्रवृत्त होता है। भोगके लिए बुद्ध्यादि भावोंका उपादान उसे अनिवार्य रूपसे अभीष्ट होता है।

इस प्रकार अव्यक्तसे बुद्ध्यादिकी सृष्टिका प्रदर्शन करके चरकमुनिने प्रलयकालमें इन सभी भावोंका उसी अव्यक्तमें विलीन होना बताया है। "प्रलयकालमें यह पुरुष, अपने भोगके लिए अभीष्ट बुद्ध्यादि समस्त भावोंसे वियुक्त हो जाता है। अर्थात् प्रलयकालमें ये सभी भाव अपने कारणभूत अव्यक्त आत्मामें विलीन होकर तिरोहित हो जाते हैं, और अकेला अव्यक्त आत्मा रह जाता है। इस प्रकार यह पुरुष अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको, और व्यक्तावस्थासे अव्यक्तावस्थाको प्राप्त होता रहता है।"[४] अभिप्राय यह है कि पुरुषकी अव्यक्तावस्थाका ही नाम प्रलय है, और सृष्टि उसकी व्यक्तावस्था है। अथवा कुछ विद्वानोंके मतानुसार यहाँपर सृष्टि और प्रलयसे पुरुषका जन्म और मरण अभिप्रेत है। पुरुषके जन्मके लिए बुद्ध्यादिकी सृष्टि अपेक्षित है, और उसके मरणके लिए बुद्ध्यादि भावोंका वियोग अपेक्षित है।

---

१. जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते।
परं खादान्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥ —(शारीर० १।६६)

२. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
—साङ्ख्यकारिका (२२)

३. ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते। —(शारीर० १।६७)

४. पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते।
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः॥ —(शारीर० १।६७-६८)

पुरुषका जन्म उसकी व्यक्तावस्था है, और मरण उसकी अव्यक्तावस्था है। जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय, और व्यक्ति-अव्यक्तिकी यह शृङ्खला अविराम गतिसे निरन्तर आवर्त्तित हो रही है। गीतामें भी इसी प्रकारका भाव व्यक्त किया गया है—"सृष्टिसञ्ज्ञक दिनके आनेपर उस अव्यक्तसे सम्पूर्ण व्यक्तियाँ आविर्भूत हो जाती हैं, और प्रलयसञ्ज्ञक रात्रिके आनेपर वे समस्त व्यक्तियाँ उसी अव्यक्तसञ्ज्ञक आत्मामें विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार यह स्थावरजङ्गमात्मक भूतसमुदाय विवश होकर दिनके आनेपर वार-वार उत्पन्न होता है और रात्रिके आगमनपर वार-वार विलीन हो जाता है।"[1] तथा "ये समस्त प्राणी उत्पत्तिके पूर्व अव्यक्त होते हैं और निधनके पश्चात् भी अव्यक्त हो जाते हैं। केवल मध्यमें कुछ समयके लिए व्यक्त होते हैं। ऐसे प्राणियोंके लिए शोक करनेसे क्या लाभ है?"[2] अन्यत्र भी कहा गया है—"यह प्राणी अदर्शनसे आ टपका था, और पुनः अदर्शनको चला गया है। न तो वह तुम्हारा है और न तुम उसके हो। व्यर्थ रोने-धोनेसे क्या लाभ?"[3]

चरकसंहितामें अव्यक्त और अक्षर इत्यादि नामोंसे कहे जानेवाले चैतन्यरूप आत्मासे ही जगत्की उत्पत्ति मानी गई है, इसका सुस्पष्ट प्रमाण हमें महर्षिके इस वाक्यसे प्राप्त होता है—"जिस प्रकार प्रलयके समाप्त होनेपर अक्षरस्वरूप परमात्मा प्राणियोंकी सृष्टि करनेके लिए सिसृक्षारूप सङ्कल्पसे युक्त होकर सत्त्वकी सहायता से सर्वप्रथम आकाशकी रचना करता है, उसके अनन्तर क्रमसे अधिक अभिव्यक्त गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंकी रचना करता है; उसी प्रकार माताकी कुक्षिमें शरीर ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त हुआ आत्मा पहले आकाशको ही ग्रहण करता है, उसके अनन्तर क्रमशः व्यक्ततर गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंको ग्रहण करता है।"[4] चरकमुनिका यह सृष्टिविषयक सिद्धान्त उपनिषदोंमें प्रतिपादित सृष्टिसिद्धान्तका अनुवादमात्र है। जिस प्रकार उपनिषदोंमें आत्मा या ब्रह्मसे ईक्षणपूर्वक सृष्टिव्यापारका वर्णन हुआ है, उसी प्रकार चरकतन्त्रमें परमात्माके सिसृक्षारूप सङ्कल्पसे आकाशादिकी रचनाका निरूपण किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्

---

१. अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
   रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥
   भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
   रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ —गीता (८।१८-१९)

२. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
   अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ —गीता (२।२८)

३. अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
   नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥—महाभारत (स्त्रीपर्व २।१३)

४. यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः। —(शारीर० ४।८)

कहती है—"उस सत्सञ्ज्ञक आत्माने ईक्षण (सङ्कल्प) किया कि मैं अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ।"[१] ऐतरेयमें भी कहा गया है—"उस आत्माने ईक्षण किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ।"[२] प्रश्नोपनिषद् भी ईक्षणपूर्वक सृष्टिका प्रतिपादन करती है—"उसने ईक्षण किया और प्राणोंको उत्पन्न कर दिया।"[३] ईक्षणके अतिरिक्त महाभूतोंकी उत्पत्तिका चरकोक्त क्रम भी उपनिषत्प्रोक्त क्रमका अनुवर्त्तन करता है। तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मानन्द-वल्लीमें कहा गया है—"उस (वेदोंमें ब्रह्मरूपसे प्रसिद्ध) इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई।"[४] इसके अतिरिक्त प्रश्नोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद्में महा-भूतोंका जिन नामोंसे और जिस क्रमसे निर्देश किया गया है,[५] चरकसंहिताके इन्द्रियोपक्रमणीयनामक अध्यायमें उसका अक्षरशः अनुकरण किया गया है।[६] इस प्रकार चेतन आत्मासे ईक्षणपूर्वक जगत्की उत्पत्तिका उपनिषत्प्रतिपादित सिद्धान्त ही चरकमुनिका अभिमत सिद्धान्त सिद्ध होता है।

चरकमुनिके इस सिद्धान्तपर एक आक्षेप यह उठाया जा सकता है कि उन्होंने शारीरस्थानके कतिधापुरुषीयमें अव्यक्त आत्मासे बुद्धि, बुद्धिसे अहङ्कार, और अहङ्कारसे आकाशादि तन्मात्रभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम प्रदर्शित किया है, और यहाँपर महतीगर्भावक्रान्तिमें अक्षरभूत आत्मासे सीधे महाभूतों-की उत्पत्ति प्रदर्शित की है। इस प्रकार उनके ग्रन्थमें पूर्वापरविरोध होनेके कारण उनका वचन कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि विभिन्न उपनिषदोंमें भी सृष्टिके प्रकरणमें पारस्परिक मतभेद पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता है। अतः उसका जो समाधान आचार्योंने प्रस्तुत किया है, उसकी सहायता लेकर हम यहाँ भी प्रस्तुत समस्याका समाधान कर सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में सत्तत्त्वसे क्रमशः तेज जल और अन्नकी उत्पत्ति कही गई है, जबकि तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मासे क्रमशः आकाश वायु अग्नि जल और पृथिवीका उत्पन्न होना बताया गया है, और प्रश्नोपनिषद्में आत्मासे क्रमशः प्राण श्रद्धा आकाश वायु तेज जल पृथिवी इन्द्रियाँ मन अन्न वीर्य तप मन्त्र कर्म लोक और नाम — इन सोलह कलाओंकी उत्पत्ति बताई गई है।[७] बृहदारण्यकोपनिषद्में आत्मासे सभी प्राणों, सभी लोकों,

१. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। —छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३)

२. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। —ऐतरेयोपनिषद् (१।१।१)

३. स ईक्षाञ्चक्रे। स प्राणमसृजत्। —प्रश्नोपनिषद् (६।३)

४. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। —तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१)

५. द्रष्टव्यम्—खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। —मुण्डकोपनिषद् (२।१।३)

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी। —प्रश्नोपनिषद् (६।४)

६. पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति। —(सूत्र० ८।६)

७. स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च। —प्रश्नोपनिषद् (६।४)

सभी देवों, और सभी भूतोंकी उत्पत्ति कही गई है।[१] मुण्डकोपनिषद्‌में उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार वर्णित हुआ है—आत्मासे प्राण, मन, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल, और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।[२] इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले कार्योंकी सङ्ख्या और उनके उत्पत्तिक्रमके विषयमें उपनिषदोंमें ऐकमत्य नहीं प्रतीत होता है। शङ्कराचार्यने छान्दोग्योपनिषद्‌के भाष्यमें इस अनैकमत्यका समाधान करते हुए कहा है कि जहाँपर **'तत्तेजोऽसृजत'**के द्वारा तेजकी सृष्टिको प्राथम्य दिया गया है, वहाँपर ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि आकाश और वायुकी सृष्टिके अनन्तर उस सत्‌ने तेजकी सृष्टि की। अथवा ऐसा विचार करना चाहिए कि यहाँपर सृष्टिका क्रम विवक्षित नहीं है, प्रत्युत मृदादिके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण विश्व सत्‌का कार्य होनेके कारण सत्‌से अभिन्न है, इस प्रकार सत्‌की एकता और अद्वितीयता ही यहाँपर विवक्षित है।[३] अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें भी उन्होंने इसी मतका प्रतिपादन किया है—"यदि कहो उत्पत्त्यादिके बोधक श्रुतिवाक्य भी अनन्यार्थक हैं, अर्थात् अन्यार्थपरक न होकर स्वार्थ-परक हैं, और इसलिए भिन्न-भिन्न अर्थोंका बोध करानेके कारण उनमें मतभेद है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन श्रुतियोंका तात्पर्य एकत्वका प्रतिपादन करनेमें है, (न कि सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण करनेमें)। मृत्तिकादिके दृष्टान्तोंसे एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्मके सत्यत्व और कार्यसमूहके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्त्यादिके निरूपणमें तात्पर्य नहीं रख सकता है।"[४]

चरकसंहिताके सृष्टिविषयक प्रस्तुत मतभेदका समाधान भी इसी प्रकार किया जा सकता है। महतीगर्भावक्रान्तिमें जहाँ अक्षरात्मासे आकाशादिकी उत्पत्तिका कथन उपलब्ध होता है, वहाँपर ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि अव्यक्त आत्मासे क्रमशः बुद्धि और अहङ्कारकी सृष्टि होनेके अनन्तर आकाशादिकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि इस प्रकरणका तात्पर्य सृष्टिप्रक्रियाका निरूपण करनेमें नहीं है, प्रत्युत आतिवाहिक शरीरसे युक्त आत्मा माताके

---

१. **एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।** —बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।२०)

२. **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।**
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ —मुण्डको० (२।१।३)

३. **आकाशवायुसर्गानन्तरं तत्सत्तेजोऽसृजतेति कल्पनोपपत्तेः। अथ वाविवक्षित इह सृष्टिक्रमः। सत्कार्यमिदं सर्वमतः सदेकमेवाद्वितीयमित्येतद्विवक्षितं मृदादिदृष्टान्तात्।** —छान्दोग्योपनिषद् शाङ्करभाष्य (६।२।३)

४. **उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेन्न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति।**
—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (४।३।१४)

गर्भाशयमें पहुँचकर किस क्रमसे आकाशादिभूतोंको ग्रहण करता है, इसके लिए दृष्टान्तकी अपेक्षा होनेपर अक्षरात्माके द्वारा आकाशादिके सर्जनका कथन किया गया है। ऐसी व्याख्या करनेसे कतिधापुरुषीयोक्त सृष्टिक्रमके साथ विरोधका परिहार हो जानेसे सृष्टिप्रक्रिया उसी रूपमें पर्यवसित होती है।

चरकसंहितामें यद्यपि परमाणुओंके स्वरूप तथा उनके संयोग और विभागका भी उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि वैशेषिकशास्त्रके समान यहाँ परमाणुकारण-वाद कदापि विवक्षित नहीं है। शरीरके अवयवोंका निरूपण करते हुए कहा गया है—परमाणुओंके भेदसे शरीरके अवयवोंकी सङ्ख्या अनन्त हो जाती है, क्योंकि गङ्गाके वालुका-कणोंके समान परमाणुओंकी सङ्ख्या बहुत अधिक है, साथ ही वे अत्यन्त सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते हैं। उन परमाणुओंके संयोग और विभागका कारण है—वायु और कर्मका स्वभाव।[१] इससे सिद्ध होता है कि चरकमुनिके मतानुसार वायुके परमाणु नहीं होते हैं। यदि वायुके भी परमाणु माने जायँ, तो उनका प्रेरक कौन बनेगा? इसलिए पृथ्वी जल और अग्निके ही परमाणु होते हैं, तथा वायु उनका प्रेरक बनता है। किन्तु अकेला वायु उनको प्रेरित करनेमें समर्थ नहीं है, प्रत्युत कर्मस्वभावसे युक्त होकर ही वह उनको प्रेरित करता है। जब वायु संयोजनस्वभाववाले कर्मसे युक्त होता है, तो परमाणुओंमें संयोग उत्पन्न करता हुआ शरीरकी रचना कर देता है। और जब वियोजनस्वभाववाले कर्मसे युक्त होता है, तो परमाणुओंमें विभाग करता हुआ शरीरका विनाश कर देता है। इस प्रकार पृथ्वी जल और अग्निका परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाता है। किन्तु ये परमाणु वैशेषिकके परमाणुओंके समान नित्य नहीं हैं, अपितु अपने कारणमें विलीन होनेके द्वारा इनका भी विनाश हो जाता है। पृथ्वीके परमाणुओंका विलय जलमें होता है, जलके परमाणुओंका विलय अग्निमें होता है, और अग्निके परमाणु अपने कारणभूत वायुमें विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार वाय्वादि अपने कारणभूत आकाशादिमें परमकारणपर्यन्त विलीन होते हैं। इस प्रकार परमाणुओंकी उत्पत्ति और विलय स्वीकार करनेसे तथा अव्यक्त और अक्षर आत्मासे जगत्-की सृष्टिका प्रतिपादन करनेसे चरकसंहिताको परमाणुकारणता स्वीकार्य नहीं है।

इस प्रकार चरकमुनिने चिकित्साशास्त्रके प्रयोजनको दृष्टिमें रखते हुए विभिन्न दर्शनोंसे उपयोगी अंशोंको सङ्गृहीत किया है। इस सृष्टिनिरूपणमें ही देखिए, उन्होंने वेदान्त साङ्ख्य और वैशेषिकशास्त्रके वस्तुभूत ग्राह्य अंशोंको स्वीकार किया है। चिकित्साशास्त्रका प्रयोजन और वस्तुस्थिति—इन्हीं दो आधारोंको लेकर उन्होंने इस संहितामें दार्शनिक तत्त्वोंका समावेश किया है। वस्तुस्थितिका कहीं अतिक्रमण न हो जाय, इसका उन्होंने पूरा-पूरा ध्यान

---

१. **शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसङ्ख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्या-दतीन्द्रियत्वाच्च। तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च।**

—(शारीर० ७।१७)

रक्खा है। अन्य दर्शनशास्त्र तो अपनी-अपनी मान्यताओंसे दुराग्रहपूर्वक चिपके हुए हैं। अपने सिद्धान्तकी रक्षा करनेमें उन्हें अन्यशास्त्रोंकी यथार्थ मान्यताओंका प्रत्याख्यान करनेमें भी रत्ती भर हिचक नहीं है। किन्तु चरकमुनिको एक ऐसे शास्त्रकी रचना करनी थी, जो यथार्थकी आधारशिलापर खड़ा है, जिसमें यथार्थसे सुईकी नोकके बराबर भी इधर उधर हटनेसे अवाञ्छित परिस्थितियोंका सामना करना पड़ सकता है, इसलिए उन्होने स्वशास्त्रोपयोगी दार्शनिक तत्त्वोंका सङ्कलन करनेमें अपनी दृष्टिको यथाशक्ति यथार्थ(वास्तविकता)पर ही केन्द्रित रखनेकी चेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने साङ्ख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त और बौद्धादि परस्पर विरोधी दर्शनोंसे भी वस्तुभूत तत्त्वोंका उपादान किया है। उनका आदर्शवाक्य (**Motto**) है—"इसलिए यथार्थ दर्शन ही साधु (उचित) होता है।"[१] यह उन्होंने धन्वन्तरिके मतका अनुवाद किया है।



१. तस्माद्यथाभूतदर्शनं साधु। —(शारीर० ६।२१)

पञ्चम अध्याय

पदार्थ-मीमांसा

चरकसंहिता अपनी चिकित्साप्रणालीके आधारभूत दार्शनिक तत्त्वोंका निरूपण करनेमें किसी विशेष दार्शनिक पद्धतिका अन्धानुकरण नहीं करती है। भारतीय दर्शनोंमें परस्पर पर्याप्त मतभेद है। उनमें साम्यकी अपेक्षा वैषम्यकी ही मात्रा अधिक है। वस्तुतः इसी वैषम्यके कारण दर्शनोंका बहुत्व है। सत्यका यथार्थ दर्शन करनेके लिए नाना दृष्टियोंसे प्रयास किया गया है। उसीके परिणामस्वरूप नानाविध दर्शनोंका आविर्भाव हुआ। चरकसंहिताका मुख्य उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यकी रक्षा एवं रोगोंकी निवृत्ति है। अतः इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए जिन-जिन विषयोंका साहाय्य अपेक्षित है, उन उन विषयोंका इस शास्त्रमें समावेश करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। चूंकि यथार्थका आधार लेकर ही चिकित्साकर्म शक्य है। अतः उस यथार्थका निरूपण करनेके लिए यथार्थका ही आधार लेकर ग्रन्थकारने विविध दर्शनशास्त्रोंसे अपेक्षणीय उपयोगी सामग्रीको सङ्कलित कर इस ग्रन्थमें स्थान दिया है। किसी विशेष दर्शनपद्धतिमें आग्रह न रखकर, केवल इस बातका ध्यान रखते हुए कि कहीं वस्तुस्थितिका अतिक्रमण न हो जाय, उन्होंने इस ग्रन्थमें न केवल न्याय-वैशेषिक और साङ्ख्ययोग, प्रत्युत परस्पर अत्यन्त विरोधी वेदान्त और बौद्धदर्शनसे भी उपयोगी तत्त्वोंको सङ्गृहीत किया है। परन्तु इन दार्शनिक मतोंका नाम ग्रन्थमें कहींपर भी नहीं लिया गया है। अपने शास्त्रका प्रतिपादन करते समय स्वाभाविकरूपसे स्वशास्त्रोपयोगी दार्शनिक तत्वोंका भी निरूपण करते चले गए हैं। कहीं भी ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि चिकित्साशास्त्रसे भिन्न किसी विजातीय शास्त्रको बलपूर्वक समाविष्ट करनेकी चेष्टा की गई है। दर्शनशास्त्र तो उसका अभिन्न अङ्ग है, आत्मा है। उसके विना चिकित्साशास्त्र निर्जीव शरीरके सदृश हो जायगा। इन्हीं कारणोंसे चरकसंहितामें निरूपित दर्शनको न्याय या साङ्ख्यादिके नामसे न पुकार कर **'चरकसंहिताका दर्शन'** इस नामसे ही अभिहित करना चाहिए। सभी दर्शनोंसे विलक्षण विभिन्न दार्शनिक मतोंका एक अपूर्व नूतन सम्मेलन हमें इस ग्रन्थमें दृष्टिगोचर होता है। इसलिए किसी विशेष दर्शनके नामसे इसे अभिहित करना उचित भी नहीं है।

षट्पदार्थोंका उद्देश और क्रम

औषधद्रव्योंके गुणों और कर्मोंको समझकर सामान्य और विशेषके आधारपर ही चिकित्साकर्म सम्भव हो सकता है, अतः द्रव्य गुण कर्म सामान्य

और विशेषका निरूपण करनेवाले वैशेषिकदर्शनसे ही इस ग्रन्थका श्रीगणेश होता है। महर्षि भरद्वाजसे लोककल्याणकारी आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके अनन्तर "उन महर्षियोंने ज्ञानरूपी चक्षुओंसे सामान्य विशेष गुण द्रव्य कर्म और समवायका दर्शन किया, और इनको समझकर आयुर्वेदोक्त विधि-(अपथ्यत्याग और पथ्यग्रहण)का आश्रय लेकर परम सुख और दीर्घजीवनको प्राप्त किया।"[१]

यहाँपर सामान्य और विशेषका पूर्वग्रहण इसलिए किया गया है कि ये दोनों द्रव्य गुण और कर्ममें अन्वित होते है, तथा चिकित्साकर्ममें इन्हीं दोनों-की प्रधानता है। इसी क्रमसे आगे चलकर इन षट् पदार्थोंका निरूपण भी किया गया है। गुण और कर्मके मध्यमें द्रव्यका पाठ देहलीदीपन्यायसे दोनोंका आश्रय होनेके कारण किया गया है। वस्तुतः द्रव्य और कर्मका निर्देश करनेके पूर्व गुणोंका ग्रहण इसलिए किया गया है, क्योंकि आयुर्वेदमें प्रायः सर्वत्र रसादि गुणोंकी ही क्रियाकारिता प्रदर्शित की गई है। इसके अतिरिक्त सभी प्राणियोंके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जो उनका जीवन है, वह जीवन भी संयोगरूप एक गुण है।[२]

सामान्य और विशेषका धर्मनिर्देश

इस प्रकार इन षट्पदार्थोंका उद्देश (नामग्रहण) करनेके पश्चात् प्रथम अध्यायमें ही इनका क्रमशः स्वशास्त्रोपयोगी धर्मनिर्देश और लक्षण प्रस्तुत किया गया है। सामान्य और विशेषके परस्पर सापेक्ष होनेके कारण इन दोनोंका निर्देश और लक्षण एक साथ ही कर दिया है। सामान्य और विशेषका आयुर्वेदोपयोगी धर्मनिर्देश इस प्रकार है—**"सामान्य प्रत्येक अवस्थामें समस्त भावपदार्थों(द्रव्य गुण और कर्म)की वृद्धि(आधिक्य)का कारण होता है। और विशेष सभी अवस्थाओंमें समस्त भावपदार्थोंके ह्रास(अपचय या न्यूनता)-का कारण होता है।"**[३]

इस वाक्यको चिकित्साकर्मका मूलमन्त्र समझना चाहिए। शरीरमें रहने-वाली वात पित्त और कफ इन तीन धातुओंको साम्यावस्थामें रखना ही आयुर्वेदका प्रयोजन है।[४] जो धातु किसी कारणसे क्षीण हो जाय उसको उचित औषधादिके द्वारा बढ़ा देना चाहिए, और जो धातु अपनी उचित मात्रासे बढ़कर अधिक हो जाय, उसको घटाना चाहिए। भगवान् आत्रेयका

---

१. **महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।**
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्॥—(सूत्र० १।२८—२९)

२. द्रष्टव्य—(सूत्र० १।४६)।

३. **सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।**
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ —(सूत्र० १।४४)

४. **धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।** —(सूत्र० १।५३)

कहना है—"हम (वैद्य लोग) न्यून धातुओंकी पूर्त्ति करते हैं, और बढ़ी हुई धातुओंको क्षीण करते हैं।"[१] वैद्यका यह प्रमुख कार्य सामान्य और विशेषका ज्ञान हुए विना किसी प्रकार सम्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि क्षीणताको प्राप्त होनेवाली धातुकी पूर्ति करनेके लिए तत्समान द्रव्यादिका सेवन कराना होता है, और स्वमात्रासे अधिक बढ़ी हुई धातुको क्षीण करनेके लिए तद्विरुद्ध द्रव्यादिका प्रयोग कराया जाता है। आयुर्वेदका यह नियम है कि धातुओंके समानगुणवाले द्रव्य और आहार-विहारका निरन्तर सेवन करना धातुओंकी वृद्धिका कारण होता है, तथा किसी धातुको प्रकुपित करनेवाले हेतुओंके विरोधी द्रव्यादिका सेवन उस धातुके शमनका कारण होता है।[२] इस बातकी पुष्टि अनेक स्थलोंपर पौनःपुन्येन की गई है। देखिए—'गुरु पदार्थोंका सेवन करनेसे गुरु धातुओंकी वृद्धि होती है और लघु धातुओंका ह्रास होता है।'[३] 'शरीरगत (रसरक्तादि) धातुएँ समानगुणवाले अथवा समानगुण-बहुल आहार-विहारका नियमितरूपसे सेवन करनेसे वृद्धिको प्राप्त होती हैं और विरुद्धगुणवाले अथवा विरुद्धगुणबहुल आहार-विहारका अभ्यास करनेसे ह्रासको प्राप्त होती हैं।'[४]

आगे चलकर पुनः कहा गया है—"उन धातुगुणोंमें जो गुरु हैं, वे गुरु आहार-विहार और उसके गुणोंका अभ्यास करनेसे आप्यायित होते हैं, तथा लघु ह्रासको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो धातुगुण लघु हैं, वे लघु आहार-विहार तथा उसके गुणोंका अभ्यास करनेसे आप्यायित होते हैं, और गुरु ह्रासको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सभी धातुगुणोंका सामान्यसे योग होनेपर वृद्धि, तथा विपर्ययसे ह्रास होता है। यही कारण है कि मांसके सेवनसे अन्य शरीरधातुओंकी अपेक्षा मांसकी अधिक वृद्धि होती है। इसी प्रकार लोहितसे लोहितकी, मेदसे मेदकी, वसासे वसाकी, तरुणास्थि (कोमल अस्थि) से अस्थिकी, मज्जासे मज्जाकी, शुक्रसे शुक्रकी, तथा आमगर्भ(अण्डे)से गर्भकी अधिक वृद्धि होती है।"[५] जिस वैद्यको यह ज्ञान नहीं है कि कौन सा द्रव्य

---

१. **न्यूनान् धातून पूरयाम. व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः।** —(सूत्र १०।६)

२. **समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति।**

प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति। —(सूत्र० १२।५-६)

तुलना कीजिए—**वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।**

—वाग्भट (सूत्र० अध्याय १)

समानैः सर्वभावानां वृद्धिर्हानिर्विपर्ययात्। —(जतूकर्ण)

३. **गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्।**—(सूत्र० ३०।२७)

४. **धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः।** (शारीर० ६।६)

५. **तेषु ये गुरवः, ते गुरुभिराहारविहारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति। लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातु-**

किस धातुके समान है और किस धातुके विरुद्ध है, वह चिकित्साकर्मके योग्य नहीं माना जा सकता है। इसलिए चिकित्सामें सफलता पानेके लिए सामान्य और विशेषका ज्ञान अपरिहार्य है।

उदाहरणार्थ—राजयक्ष्मामें मांसके अत्यन्त क्षीण हो जानेपर रोगीको मांसभक्षी पशु-पक्षियोंका मास खिलानेका विधान किया गया है—**'दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः'** (चिकित्सा० ८।१४६)। मांसकी वृद्धिमें मांसभक्षण सबसे अधिक सहायक होता है। क्योंकि मनुष्यमांस और खाद्यमांसमें मांसत्व-सामान्य है, और सामान्य वृद्धिका कारण होता है। कहा गया है—'शरीरकी वृद्धिमें मांससे बढ़कर सहायक और कोई खाद्यपदार्थ नहीं है।'[1] चूंकि बकरेके मांसमें मनुष्यशरीरकी धातुओंके साथ अत्यधिक समता है, इसीलिए प्रायः अजमांसभक्षण ही प्रचलित है। अजमांसके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा है—'मनुष्यशरीरकी मांसादि धातुओंसे साम्य होनेके कारण (बकरेका मांस) अनभिष्यन्दी अर्थात् स्रोतोंको गीला न करनेवाला तथा बृंहण होता है।'[2] इस प्रकार सामान्य वृद्धिकर होता है।

इसी प्रकार विशेष ह्रासका कारण होता है। जब शरीरको कोई व्याधि आक्रान्त कर लेती है, तो विरोधी गुणद्रव्यादिका सेवन करनेके द्वारा उस व्याधिका प्रतीकार किया जाता है। महर्षि आत्रेय कहते हैं—"इन इन बातोंको हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रोगके विपरीत गुणवाली औषधसे हम रोगीका उपचार करते हैं। क्षीण पुरुषको अक्षीण अर्थात् बृंहण औषधसे तर्पित करते हैं। कृश और बलहीन व्यक्तिका सन्तर्पण करते हैं तथा मोटे और चरबीवाले व्यक्तिका अपतर्पण करते हैं। गर्मीसे सताए हुए व्यक्तिका शीतल द्रव्योंसे उपचार करते हैं, और सर्दीसे जकड़े हुए व्यक्तिका उष्ण द्रव्योंसे उपचार करते हैं। अपने परिमाणसे घटी हुई धातुओंकी पूर्त्ति करते हैं, और अपने परिमाणसे बढ़ी हुई धातुओंका ह्रास करते हैं। व्याधियोंका उनके कारणसे विरुद्ध प्रभाववाले द्रव्यादिसे उपचार करते हुए सम्यक् प्रकृति (धातुओंकी साम्यावस्था)में स्थापित करते हैं। ऐसा करनेसे ही हम वैद्योंके लिए यह औषधवर्ग अभीष्टतम हो जाता है।"[3]

गुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्य्ययाद्ध्रासः। तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः। तथा लोहितं लोहितेनैव। मेदो मेदसा। वसा वसया। अस्थि तरुणास्थ्ना। मज्जा मज्ज्ञा। शुक्रं शुक्रेण। गर्भस्त्वामगर्भेण। —(शारीर० ६।१०)

१. **शरीरबृंहणे नान्यत्खाद्यं मांसाद्विशिष्यते।** —(सूत्र० २७।८७)

२. **शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम्।** (सूत्र० २७।६२)

३. **इदञ्चेदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनातुरमुपचरामः। क्षामक्षामेण। कृशं च दुर्बलमाप्याययामः। स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः। शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः शीताभिभूतमुष्णेन। न्यूनान् धातून् पूरयामः। व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः। व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः। तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति।**—(सूत्र० १०।६)

विमानस्थानमें द्रव्योंके प्रभावका वर्णन इस प्रकार किया गया है—"तैल घृत और मधु क्रमशः वात पित्त और कफको शान्त करनेवाले द्रव्य हैं। इनमें तैल स्निग्ध उष्ण और गुरु होनेके कारण निरन्तर प्रयोग किए जानेपर वातको जीत लेता है, क्योंकि वात रूक्ष शीतल और लघु होनेके कारण तैलके गुणोंसे विपरीत गुणोंवाला होता है। विरुद्ध गुणवाले द्रव्योंका संयोग होनेपर अधिक मात्रावाला स्वल्प मात्रावालेको जीत लेता है, अतः नियमित रूपसे सेवन किए जानेपर तैल वातपर विजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार घृत पित्तको जीत लेता है, क्योंकि घृतमें माधुर्य शैत्य और मन्दवीर्यता होती है, जबकि पित्त अमधुर(कटु तथा अम्ल) उष्ण और तीक्ष्ण होता है। मधु श्लेष्माको जीतता है, क्योंकि मधु रूक्ष तीक्ष्ण और कषाय होता है, तथा श्लेष्मा स्निग्ध मन्द और मधुर होता है। इनके अतिरिक्त और भी जो द्रव्य इसी प्रकार वात पित्त और कफसे गुणोंकी दृष्टिसे विरुद्ध हैं, वे भी सेवन किए जानेपर इन्हें जीत लेते हैं।"[1]

सामान्यकी वृद्धिकारणता और विशेषकी ह्रासकारणताको सिद्ध करनेके लिए एक और उदाहरण दिया जा रहा है। वातकलाकलीय अध्यायमें वातको रूक्ष लघु शीत दारुण खर और विशद—इन गुणोंवाला बताया गया है।[2] इन गुणोंसे विपरीत गुणवाले जो द्रव्य हैं, अर्थात् जो द्रव्य स्निग्ध गुरु उष्ण मृदु श्लक्ष्ण और पिच्छिल हैं, उनके सेवनसे प्रकुपित वायु शान्त हो जाता है। कहा गया है—"वातको कुपित करनेवाले द्रव्य और कर्म शरीरको निश्चित रूपसे रूक्ष लघु शीत दारुण खर विशद और सुषिर (छिद्रयुक्त) बना देते हैं। इस प्रकारके शरीरमें आश्रय पाकर वायु वृद्धिको प्राप्त होता हुआ प्रकुपित हो जाता है। परन्तु वातको शान्त करनेवाले द्रव्य और कर्म शरीरको स्निग्ध गुरु उष्ण मृदु श्लक्ष्ण पिच्छिल तथा घन बनाते हैं। ऐसे शरीरमें सञ्चार करता हुआ वायु आश्रयको न पाकर शान्त हो जाता है।"[3] सूत्रस्थानमें भी कहा

---

१ द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः। तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्मप्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति। तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति। विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाल्पमवजीयते। तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति माधुर्याच्छैत्यान्मन्दवीर्यत्वाच्च। पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। मधु च श्लेष्माणं जयति रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात्कषायत्वाच्च। श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च। यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात् तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम्॥

—(निदान० १।१३—१७)

२. रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति।—(सूत्रस्थान १२।४)

३. वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाप्यायमानः प्रकोपमापद्यते। वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णमृदुश्लक्ष्णपिच्छिलघनकराणि शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते। —(सूत्र० १२।७)

गया है कि वायु रूक्ष शीत लघु सूक्ष्म चल विशद और खर स्वभाववाला है। इन गुणोंसे विपरीत गुणवाले जो द्रव्य हैं, अर्थात् जो द्रव्य स्निग्ध उष्ण गुरु स्थूल स्थिर पिच्छिल तथा श्लक्ष्ण हैं, उनसे प्रकुपित हुआ वायु शान्त हो जाता है।[१] इससे यह सिद्ध हुआ कि समान द्रव्य गुण और कर्मके योगसे धातुओंकी वृद्धि और विपरीतके योगसे ह्रास होता है।

यहाँपर एक बात ध्यान देने योग्य है। सामान्य और विशेष स्वयं किसीकी वृद्धि अथवा ह्रासके कारण नहीं होते हैं, प्रत्युत सामान्य और विशेषसे युक्त द्रव्यादि ही वृद्धि और ह्रासके कारण होते हैं। यहाँपर जो सामान्य और विशेषको वृद्धि तथा ह्रासका कारण बताया गया है, वह सामान्यवत् और विशेषवत् द्रव्योंसे सम्बद्ध होनेके कारण। सामान्य जातिरूप होनेसे वृद्धिमें कारण नहीं बन सकता है। यदि जातिरूप सामान्य वृद्धिका कारण बनता, तो शरीरगत रसादि धातुओंका रसत्वादि सामान्यसे नित्यसम्बन्ध होनेके कारण रसादिबहुल भोज्य पदार्थोंके सेवनके विना ही उन धातुओंकी निरन्तर वृद्धि होती रहती। परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए यहाँपर सामान्यको वृद्धि-कारण(भोज्यद्रव्यों)का लक्षण होनेसे वृद्धिकारण कहा गया है। वैशेषिक-दर्शनमें कहा गया है—सामान्य विशेष और समवाय ये तीन न किसीके कार्य होते हैं, और न किसीके कारण (प्रशस्तपादभाष्य)।

'प्रवृत्तिरुभयस्य तु' इस श्लोकांशकी व्याख्या दो प्रकारसे की जा सकती है। प्रथमतः यह प्रश्न उठता है—'क्या सामान्य और विशेष विना सम्बद्ध हुए धातुओंकी वृद्धि और ह्रासके कारण बन सकते हैं?' इसका निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—सामान्य और विशेष इन दोनोंकी (उभयस्य) प्रवृत्ति अर्थात् शरीरसे सम्बन्ध ही धातुओंकी वृद्धि और ह्रासका कारण होता है। अर्थात् सामान्यवान् और विशेषवान् पदार्थोंका शरीरसे विना सम्बन्ध हुए सामान्य और विशेष अपना कार्य नहीं कर सकते हैं। अथवा प्रवृत्ति शब्दका अर्थ है—धातुओंकी उचित प्रवृत्ति अर्थात् धातुसाम्यरूपा प्रवृत्ति। 'कार्या' पदका अध्याहार करके सामान्य और विशेषकी धातुसाम्यरूपा प्रवृत्ति करनी चाहिए—यह वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। शरीरमें जबतक रसादि और वातादि धातुएँ समभावसे रहती हैं, तबतक शरीर नीरोग और स्वस्थ समझा जाता है।[२] 'समभाव'से आरोग्यके लिए अपेक्षित धातुओंके उचित परिमाण-को ही ग्रहण किया जाता है, उनके आयतन या भारकी तुल्यताको नहीं। जब केवल समान द्रव्योंका उपयोग करनेसे धातुवृद्धिके कारण धातुओंमें विष-मता आ जाती है, अथवा केवल विशिष्ट द्रव्योंका सेवन करनेसे धातुक्षयके कारण धातुवैषम्य हो जाता है, तब धातुओंमें पुनः साम्य स्थापित करनेके लिए सामान्य और विशेषका युगपत् उचित उपयोग किया जाता है। इसीको चिकित्सा कहते हैं—'धातुओंमें विकृति अर्थात् वैषम्य उपस्थित होनेपर धातु-

---

१. **रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।**
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥ —(सूत्र० १।५९)

२. **विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।** —(सूत्र० ९।४)

साम्यके लिए वैद्यादि चतुष्पाद (वैद्य औषधद्रव्य परिचारक और रोगी) की जो प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है, उसे चिकित्सा कहते हैं।'[१] सामान्य और विशेष चिकित्साकर्मके अपरिहार्य प्राणभूत अङ्ग हैं। इनके विना चिकित्सा असम्भव है।

सामान्य और विशेषका लक्षण

सामान्य और विशेषके आयुर्वेदोपयोगी धर्मोंका निर्देश करनेके अनन्तर इन दोनोंका लक्षण प्रस्तुत किया गया है—"सामान्य एकत्वबुद्धिको उत्पन्न करता है, किन्तु विशेष पृथक्त्वबुद्धिका जनक बनता है। समानरूपवाले एक जैसे अर्थोंका होना ही सामान्य है, और इससे विपरीत होना ही विशेष है।"[२] विभिन्न देशों और विभिन्न कालोंमें रहनेवाली गवादि अनेक व्यक्तियोंमें **'अयं गौरयं गौः'** इस प्रकारकी जो एकत्वबुद्धि उत्पन्न होती है, उसका कारण उन व्यक्तियोंमें रहनेवाला गोत्वरूप सामान्य ही है। विभिन्न व्यक्योंमें जबतक कोई अभिन्न एकरूप सामान्य विद्यमान न हो, तबतक उनमें निर्भ्रान्त एकाकार बुद्धि हो ही नहीं सकती है। यह **द्रव्यसामान्य**का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार जहाँपर **'अयं शुक्लोऽयं शुक्लः'**में जो शुक्लगुणका सादृश्य होनेके कारण एकरूपा बुद्धि उत्पन्न होती है, उसका हेतु उनमें रहनेवाला शुक्लत्व-रूप **गुणसामान्य** है। इसी प्रकार पाचकत्वादि **क्रियासामान्य**को भी समझ लेना चाहिए। एक रसोइएमें जो पाचनरूप क्रिया है, दूसरे रसोइएमें यद्यपि वही क्रिया नहीं है, तथापि उसी जातिकी क्रिया होनेसे क्रियासामान्य ही एकत्वबुद्धि का जनक बनता है। इसके विपरीत विशेष पृथक्त्वबुद्धिको उत्पन्न करनेवाला होता है, अर्थात् 'यह वस्तु उससे भिन्न है' ऐसा ज्ञान उन वस्तुओंमें रहनेवाले विशेषके ही कारण होता है। उदाहरणार्थ एक गोव्यक्तिमें रहने-वाला जो गोत्व दूसरी गोव्यक्तिकी अपेक्षासे एकत्वबुद्धिका जनक होनेके कारण सामान्य कहलाता है, वही गोत्व अश्वादि अन्य पशुओंकी अपेक्षासे भिन्नत्व-बुद्धिका जनक होनेके कारण अश्वादिके प्रति विशेष कहलाता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि भोज्य मांसमें रहनेवाला जो मांसत्व शरीरगत मांसके समान होनेसे उसकी वृद्धिका कारण बनता है, वही मांसत्व वातके प्रति विशेषरूप होनेके कारण उसके ह्रासका कारण बन जाता है, और शरीरगत रक्तादि धातुओंके प्रति अविरुद्ध विशेष होनेके कारण उनका उस प्रकार ह्रास नहीं करता है, प्रत्युत गुणसामान्यके कारण मांस रक्तादि धातुओंका वृद्धिकारक भी होता है।

सामान्य और विशेषके लक्षणोंकी सङ्गति—अब प्रश्न उठता है कि अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला सामान्य उनमें अव्यभिचरित एकत्वबुद्धिको कैसे उत्पन्न

---

१. **चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।**
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥ —(सूत्र० ९।५)

२. **सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।**
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः॥ —(सूत्र० १।४५)

कर देता है ? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'तुल्यार्थता हि सामान्यम्'** अर्थात् समानरूपवाले एक जैसे अर्थोंका होना ही सामान्य है । चूँकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें सामान्य समानरूपसे उपस्थित रहता है, इसलिए व्यक्तिभेद होनेपर भी अनेक अर्थोंके आश्रित रहनेवाली अव्यभिचरित एकत्व-बुद्धिके उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं होती है । परन्तु विशेष इस(सामान्य)से विपरीत होता है—**'विशेषस्तु विपर्ययः'** अर्थात् **'अतुल्यार्थता'** ही विशेष है । इससे यह सिद्ध हुआ कि गो और अश्वमें अतुल्य गोत्व और अश्वत्वके विद्यमान होनेसे पृथक्त्वबुद्धिका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है । परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि गो और अश्वमें पशुत्वरूप सामान्य समानरूपसे सम्बद्ध है, इसलिए व्यक्तिभेद होनेपर भी पशुत्वरूप एकत्वबुद्धि भी उत्पन्न होगी ।

कोई भी द्रव्य गुण या कर्म अपने समान (सामान्ययुक्त) भावकी वृद्धि और असमान (विशेषयुक्त) भावका ह्रास करता है । प्रश्न उठता है कि युगपत् दो विरुद्ध क्रियाओंका निर्वर्त्तन किस प्रकार सम्भव है ? देवदत्त जिस समय घटका निर्माण करता है, उसी समय पट नहीं बना सकता है । इसका उत्तर यह है कि प्रस्तुत दृष्टान्त ही असिद्ध है । देवदत्त जिस समय घट बनाता है, उसी समय श्वास भी लेता रहता है और समीप खड़े हुए दूसरे व्यक्तिसे बातचीत भी करता रहता है । अग्नि दाह और प्रकाश युगपत् करती है । इसी प्रकार द्रव्यादिके द्वारा युगपत् वृद्धिक्षयादि अनेक क्रियाओंके किए जानेमें भी किसी प्रकारका विरोध नहीं है । कहा गया है—"उचित रीतिसे प्रयुक्त की गई औषध युगपत् न्यून और बढ़ी हुई धातुओंमें साम्य स्थापित करती है । अधिकका अपकर्ष करती है और न्यूनकी वृद्धि करती है ।"[१]

इस सन्दर्भमें यह शङ्का भी प्रायः उठाई जाती है—क्षीण धातुओंवाले वृद्ध पुरुष तथा उपचित दोषोंवाले युवा पुरुषके शरीरमें समान गुणवाले आहारका अभ्यास करनेपर भी कोई वृद्धि होती हुई नहीं दिखाई देती है । ग्रीष्मऋतुमें कफके समान मधुररसादिका सेवन करनेपर भी कफकी वृद्धि नहीं होती है । ऐसी स्थितिमें **'सामान्यं वृद्धिकारणम्'**को सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त उदाहरणोंमें क्रमशः वार्धक्य दोषबाहुल्य और ग्रीष्मकालीन उष्णता इत्यादिकी उपस्थिति वृद्धिकी प्रतिबन्धक बनती है । इसलिए समानका सेवन करनेपर भी वृद्धि नहीं होती है । प्रतिबन्धकके न होनेपर सामान्य निश्चित रूपसे वृद्धिका कारण होता है, यह सिद्धान्त है । दूसरी बात यह भी है कि समान आहारसे वृद्ध पुरुषोंके शरीरमें भी कुछ वृद्धि अवश्य होती है, परन्तु क्षयहेतुओंके बलीयान् होनेके कारण क्षीण होते हुए शरीरमें वह आहारकृत स्वल्प वृद्धि साक्षात् उपलब्ध नहीं होती है ।

गुणसामान्यका व्यापार—चूँकि शरीरगत रसादि और वातादि धातुएँ द्रव्य-रूप हैं, इसलिए द्रव्यसामान्यसे ही उनकी वृद्धि होती है, गुणसामान्यसे नहीं ।

---

१. **तदेव तस्माद् भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपन्न्यूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवत्यधिकमपकर्षति न्यूनमाप्याययति ।** —(शारीर० ६।६)

गुण द्रव्यके आरम्भक नहीं बन सकते हैं। गुणसामान्यसे उस गुणके आश्रयभूत द्रव्यका अनुमान किया जाता है। वह आश्रयभूत द्रव्य ही धातुवर्धक होता है। जैसे चित्रकमें रूक्षादि गुणोंको देखकर ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसमें वायुकी अधिकता है, क्योंकि वायु भी रूक्षादि गुणोंसे युक्त है। अतः रूक्षत्वादि गुणसामान्यके कारण चित्रक सेवन किए जानेपर वातकी वृद्धि करता है। गुण तो गुणोंके ही आरम्भक होते हैं, और गुणोंकी ही वृद्धि करते हैं। वैशेषिकशास्त्रका सिद्धान्त है—"**कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।**"

क्रियासामान्य—कुछ आयुर्वेदज्ञोंके मतानुसार कर्मसामान्य वृद्धिका कारण नहीं होता है, क्योंकि दौड़नेसे यद्यपि वायुकी वृद्धि होती है, तथापि दौड़नेकी क्रियामें और वायुमें कोई समानता नहीं है। इसलिए आचार्यने द्रव्यसामान्य और गुणसामान्यका तो कथन किया है, परन्तु कर्मसामान्यका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। प्रत्युत '**कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्**' (शारीर० ६।१०) इस प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं। इसमें सामान्यका ग्रहण नहीं है। इस सम्बन्धमें यह सिद्धान्त है कि कर्म प्रायः अपने प्रभावसे ही वृद्धि या ह्रासका जनक बनता है, इसीलिए कर्मसामान्यका ग्रहण नहीं किया गया है। ऐसा नहीं है कि कर्मसामान्य होता ही नहीं है। व्यायामादिक्रियावान् शरीर क्रियावान् वायुकी वृद्धि करता है, और शरीरके निष्क्रिय होनेसे वातका ह्रास होता है। इसलिए क्रियासामान्यका निषेध नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार स्वप्न कफकी वृद्धि करता है, लेकिन साक्षात् नहीं। कफकी वृद्धि वस्तुतः दूसरे कारणोंसे होती है, परन्तु स्वप्न, कफको क्षीण करनेवाले जो शरीरपरिस्पन्दादि कारण हैं, उनका निरोधक होनेसे कफवर्धक कहा जाता है। इसी प्रकार आस्यादि कर्मोंकी श्लेष्मवर्धकताका चिन्तन करना चाहिए। जहाँपर एक भी कारण समझमें न आए, वहाँपर प्रभावको ही वृद्धि-कारण या ह्रासकारण समझना चाहिए।

द्रव्यविचार

रोगीकी चिकित्सा औषधद्रव्य तथा समुचित आहार-विहारके द्वारा की जाती है, अतः औषधद्रव्यों और आहारद्रव्योंके गुणकर्मादिका विवेचन करनेके पूर्व इनके आरम्भकद्रव्योंका लक्षणोपन्यासपूर्वक विवेचन करना आवश्यक है।

द्रव्यका लक्षण

'कर्म और गुण जिस(आश्रय)में आश्रित होते हैं, और जो (द्रव्यगुणकर्मका) समवायिकारण होता है, उसको द्रव्य कहते हैं।'[१] द्रव्य ही द्रव्य गुण और कर्मका समवायिकारण होता है। समवायिकारण उसे कहते हैं, जो स्वसमवेत कार्यको उत्पन्न करता है, अर्थात् अपनेमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले कार्यका आरम्भक होता है। जैसे तन्तु अपनेमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले पटके आरम्भक होते हैं। अतः तन्तु पटके समवायिकारण हैं। गुण और कर्म अपनेमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले किसी कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं, इसलिए वे

---

१. **यत्राश्रिताः कर्मगुणाः, कारणं समवायि यत्।**
तद् द्रव्यम्······॥ —(सूत्र० १।५१)

समवायिकारण भी नहीं हो सकते हैं। यहाँपर द्रव्यको गुणके साथ-साथ कर्म (क्रिया)का भी आश्रय बताया गया है, परन्तु सभी द्रव्य कर्मके आश्रय नहीं बनते हैं। आकाश आत्मा काल और दिक् स्वभावसे ही क्रियारहित हैं। अतः द्रव्यके क्रियायुक्त होनेका कथन गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय—इन पाँच पदार्थोंकी व्यावृत्तिमात्र करनेके लिए किया गया है, क्योंकि कर्मका आश्रय बननेकी क्षमता केवल द्रव्यमें है। यह बात दूसरी है कि आकाशादि कुछ द्रव्य निष्क्रिय हैं। द्रव्यकी कर्मवत्ता सजातीयव्यापक न होनेपर भी विजातीय पदार्थोंका व्यावर्त्तन करती है, इसलिए उसे द्रव्यलक्षणमें उपनिबद्ध किया गया है। वैशेषिकसूत्रमें दिया गया द्रव्यका लक्षण चरकोक्त लक्षणका अनुवादमात्र है—"द्रव्य क्रियावान् गुणवान् और समवायिकारण होता है।"[१] क्रियाश्रयताके सर्वद्रव्यव्यापक न होनेके कारण परवर्त्ती नैयायिकोंने द्रव्यका लक्षण करते समय उसकी गुणाश्रयताको स्वीकार करते हुए कर्माश्रयताकी सर्वथा उपेक्षा की है।[२]

द्रव्योंकी सङ्ख्या

सूत्रस्थानके प्रथम अध्यायमें वैशेषकसम्मत[३] नौ द्रव्योंका सङ्ग्रह इस प्रकार किया गया है—"आकाशादि, आत्मा, मन, काल और दिशा—यह द्रव्योंका सङ्ग्रह (अर्थात् सङ्क्षेप या स्थूल विभाजन) है।"[४] 'खादीनि'में 'आदि'पदसे आकाशके अतिरिक्त वायु अग्नि जल और भूमिको क्रमशः ग्रहण किया गया है, क्योंकि आगे शारीरस्थानमें 'खादि'का परिगणन इसी क्रमसे किया गया है—'आकाश, वायु, अग्नि, जल और क्षिति महाभूत हैं।'[५] अन्य दर्शनोंके समान चरकतन्त्रमें भी इन आकाशादिको 'महाभूत'सञ्ज्ञा दी गई है। इनको महर्षि चरकने इन्द्रियोंका आरम्भक होनेके कारण 'पञ्चेन्द्रियद्रव्य' भी कहा है।[६] यहाँपर 'द्रव्य'शब्द आधारकारणका वाचक है। चरकसंहितामें 'द्रव्य'शब्दका प्रयोग प्रायः इसी अर्थमें किया गया है।[७] यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि पञ्चमहाभूतोंके नाम और उनका क्रम वही है. जो **मुण्डकोपनिषद्**के '**खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।**' (२।१।३) इस वाक्यमें उपलब्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि चरकमुनिने यह वाक्य सीधे मुण्डकोपनिषद्से ग्रहण किया है।

---

१. **क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम्।** —वैशेषिकसूत्र (१।१।१५)

२. **तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्, गुणाश्रयो वा।** —तर्कभाषा

३. **पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।** —वैशेषिकसूत्र (१।१।५)

४. **खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः।** —(सूत्र० १।४८)

५. **महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।** —(शारीर० १।२७)

६. **पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति।** —(सूत्र० ८।९)

७. तथाहि—'**रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।**' —(सूत्र० १।६४)

इन नौ द्रव्योंमें यद्यपि आत्मा सबसे प्रधान है, तथापि सर्वप्रथम उसका उल्लेख न करके आकाशादिका उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है—चूंकि आयुर्वेदमें व्याधि और आरोग्यका अधिकरण होनेसे शरीरकी प्रधानता है, और शरीरके आरम्भक द्रव्य आकाशादि ही हैं, आत्मा शरीरका आरम्भक नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है[1], अतः शरीरके आरम्भक द्रव्योंको इस शास्त्रमें प्राथमिकता दी गई है। यहाँपर केवल कारणभूत द्रव्योंका परिगणन किया गया है, क्योंकि कार्यद्रव्योंके असङ्ख्येय होनेके कारण उनका परिगणन असम्भव है। पूर्वोक्त श्लोकमें आए हुए 'द्रव्यसङ्ग्रहः' पदका यही भाव है। इन नौ द्रव्योंमें आत्मा काल और दिक् समस्त कार्योंके सामान्यात्मक कारण हैं, इनसे किसी विशेष कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु आकाशादि पञ्चमहाभूत विशेष कार्योंको उत्पन्न करते हैं। इसीलिए ग्रन्थकारने कहा है—'इस प्रकरण(आयुर्वेद)में सभी कार्यद्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, अर्थात् पाँच भूतोंसे बने हुए हैं।'[2] टीकाकार शिवदाससेनके अनुसार आयुर्वेदको समस्त कार्यद्रव्योंकी पाञ्चभौतिकताका सिद्धान्त मान्य है, जबकि न्यायवैशेषिकप्रभृति अनेक दर्शन कार्यद्रव्योंकी पाञ्चभौतिकताको नहीं स्वीकार करते हैं।

चेतन और अचेतनका विभाग

चरकसंहितामें समस्त कार्यद्रव्योंके स्थूल रूपसे दो विभाग किए गए हैं—चेतन और अचेतन।[3] जो कार्यद्रव्य इन्द्रियोंसे युक्त हैं, उनको चेतन समझना चाहिए, और जिनमें इन्द्रियोंका सर्वथा अभाव है उन्हें अचेतन जानना चाहिए।[4] इस विषयमें एक शङ्का उठाई जाती है—'सेन्द्रिय द्रव्य चेतन हैं' इस कथनसे निरिन्द्रिय द्रव्योंकी अचेतनता तो अर्थापत्तिसे ही प्राप्त हो जाती है, अतः उसका शब्दतः कथन निरर्थक है। यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारकी अर्थापत्ति अनैकान्तिक (अनिश्चित) है। जैसे नवज्वरमें दिवास्वप्न वर्जित है' इस कथनसे 'जीर्णज्वरमें दिवास्वप्न वर्जित नहीं है' यह अर्थतः प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जीर्णज्वरमें भी दिवास्वप्न वर्जित है। इसलिए जो बात ऊह्य होती है, उसको भी तीन प्रकारके शिष्योंके हितार्थ शब्दतः कह दिया जाता है। आयुर्वेदमें अर्थापत्तिकी गणना मुख्य प्रमाणोंमें नहीं की गई है। इसका यही कारण है कि अर्थापत्तिजन्य ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता है।

यहाँपर सेन्द्रिय द्रव्योंकी चेतनताके सम्बन्धमें यह बात विचारणीय है कि वस्तुतः चेतन तो आत्मा ही है, न शरीर चेतन है और न मन। आचार्यने शरीरादिके चेतनत्वका कारण आत्माको ही बताया है।[5] शारीरस्थानमें

---

१. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। —(सूत्र० १।५६)
२. सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। —(सूत्र० २६।११)
३. तच्चेतनावदचेतनं च। —(सूत्र० २६।११)
४. सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्। —(सूत्र० १।४८)
५. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ —(सूत्र० १।५६)

कहा गया है—"चूंकि आत्मा ही चेतनावान् है, अतः (निष्क्रिय होनेपर भी) उसे कर्त्ता कहा जाता है, और मन क्रियायुक्त होनेपर भी अचेतन होनेके कारण कर्त्ता नहीं कहा जाता है।"[१] "मन अचेतन और क्रियायुक्त है, आत्मा उसको चेतना देनेवाला है, तथा मनसे युक्त होनेपर उस विभु आत्मामें क्रियाका निर्देश उपचारसे किया जाता है।"[२] "उस आत्माके निकल जानेपर शरीर गृहस्वामीसे रहित गृहकी भाँति शून्य और अचेतन हो जाता है।"[३] अतः शरीरादि यद्यपि वस्तुतः अचेतन हैं, तथापि आत्माका मन और शरीरके साथ संयोग होनेपर आत्माका चैतन्य शरीरादिका चैतन्य बन जाता है। इस प्रकार शरीरादि कार्यद्रव्य भी चेतन कहे जाते हैं। वस्तुतः आत्माकी चेतनताका अर्थ है—इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होकर ज्ञानयुक्त बनना, क्योंकि केवल आत्मामें चेतनताका ग्रहण सम्भव नहीं है। इन्द्रियोंसे सम्बद्ध हुए आत्माकी ही चेतनताका ग्रहण सभी जनोंके द्वारा किया जाता है। चरकमुनि कहते हैं—"आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु इन्द्रियोंसे योग होनेपर ही उसका ज्ञान प्रवृत्त होता है, अर्थात् इन्द्रियसम्बद्ध होनेपर ही आत्माका ज्ञान उपलब्ध होता है।"[४] इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आत्मा इन्द्रियसम्बन्धसे रहित होकर अज्ञ हो जाता है। इन्द्रियोंके रहनेपर अथवा न रहनेपर सभी अवस्थाओंमें आत्मा नित्यज्ञानवान् है, किन्तु उसके ज्ञानकी उपलब्धि केवल इन्द्रियसम्बन्धसे ही होती है। वस्तुतः आत्मा सर्वदा समनस्क रहता है, अतः बाह्य इन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी अन्तरिन्द्रिय मनका सर्वदा संयोग होनेसे आत्माका ज्ञान नित्य उपलब्ध होता है। शास्त्रकारने स्पष्ट कहा है—"ऐसा नहीं है कि इन्द्रियोंके रहनेपर आत्मा ज्ञ होता है, तथा इन्द्रियोंके न रहनेपर अज्ञ हो जाता है, क्योंकि आत्मा किसी भी समय सत्त्व(मन)से रहित नहीं होता है, इसलिए मनोविशेषसे ज्ञानविशेषकी उपलब्धि सर्वदा होती रहती है।"[५]

निष्कर्ष यह निकला कि इन्द्रियसम्बन्ध होनेसे जिन शरीरादि कार्यद्रव्योंमें चेतना उपलब्ध होती है, उनको चेतन कहा जाता है, और जिन कार्यद्रव्योंमें इन्द्रियसम्बन्धके न होनेसे चेतना भी नहीं है, उन्हें अचेतन कहते हैं। सेन्द्रिय द्रव्योंके चेतन होनेसे पेड़-पौधोंको भी चेतन ही समझना चाहिए, क्योंकि उनके भी इन्द्रियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ—सूर्यभक्ता (सूरजमुखी) जैसे-जैसे सूर्य घूमता है, वैसे-वैसे घूमती जाती है, अतः उसके चक्षु होनेका अनुमान होता

---

१. चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥ —(शारीर० १।७६)

२. अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः॥ —(शारीर० १।७५)

३. शरीरं हि गते तस्मिञ्छून्यागारमचेतनम्। —(शारीर० १।७४)

४. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्त्तते। —(शारीर० १।५४)

५. न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः, असत्सु वा भवत्यज्ञः। न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा, सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति। —(शारीर० ३।२६)

है। लवलीलता मेघगर्जनको सुनकर फलवती होती है, अतः उसके श्रोत्रेन्द्रिय-का अनुमान होती है। बीजपूरक (चकोतरा) सियारकी चरबीकी गन्धसे बहुत अधिक फलता है, अतः उसके घ्राणका अनुमान होता है। आम मछलीकी चरबीसे सींचनेसे बहुत फलता है, अतः उसके रसनेन्द्रियका अनुमान होता है। अशोकवृक्ष कामिनीके पादाघातसे हर्षित होकर फूलता है, अतः उसके स्पर्श-नेन्द्रियका अनुमान होता है। स्मृतिवाक्य भी इस अनुमानके उपोद्बलक हैं—'प्रणाम करनेपर भी जो ब्राह्मण आशीर्वाद नहीं देता है, वह (मरनेके बाद) श्मशानमें वृक्ष होकर जन्म लेता है, और उसके ऊपर गीध तथा बगुले बैठते हैं।'[१] 'ये वृक्षादि अधर्मरूप कर्मसे उत्पन्न होनेवाले बहुविध तमोगुणसे आच्छन्न रहते हैं। इनके भीतर चेतना होती है, तथा ये सुख और दुःखका अनुभव करते हैं।'[२] चरकसंहितामें भी वानस्पत्य और आनूक प्राणियोंका वर्णन किया गया है। अतः पेड़-पौधे चेतन हैं, यह कोई नई खोज नहीं है। जगदीशचन्द्र वसु तथा अन्य पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालीसे इसे प्रमाणित भले ही किया हो, परन्तु भारतीयोंको इसका ज्ञान अत्यन्त प्राचीन-कालसे है।

पञ्चमहाभूत

चरकसंहितामें द्रव्यगुणादि षट्पदार्थों तथा आकाशादि नौ द्रव्योंका परिगणन यद्यपि उसपर वैशेषिकदर्शनकी छायाका सुस्पष्ट प्रमाण है, तथापि ग्रन्थकारको परमाणुकारणवाद कथमपि स्वीकार्य नहीं है। यह बात महा-भूतोंकी उत्पत्तिका निरूपण करते समय स्पष्ट कर दी गई है—"महाप्रलयके समाप्त होनेपर अर्थात् सर्गके आरम्भकालमें अक्षरस्वरूप परमात्मा सर्जनेच्छासे युक्त होकर (अपनी शक्तिभूता प्रकृतिके) सत्त्वगुणको उपादान बनाकर सबसे पहले आकाशकी सृष्टि करता है, उसके अनन्तर क्रमसे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट गुणोंवाली वायु आदि चार धातुओंकी रचना करता है।"[३] यहाँपर अक्षरात्मा से पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिका निरूपण होनेके कारण वैशेषिकोंका सृष्टि-सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि उनके दर्शनमें आकाशको नित्य माना जाता है, तथा शेष भूतोंके परमाणुओंको नित्य तथा सृष्टिका कारण माना जाता है। चक्रपाणिने चरकके इस कथनको साङ्ख्यमतका पोषक माना है। किन्तु अक्षरात्माका सिसृक्षारूपसङ्कल्प(ईक्षण)से युक्त होकर आकाशादि प्रपञ्चकी सृष्टि करना साङ्ख्यदर्शनको कहाँ स्वीकार्य है? साङ्ख्यदर्शन एक

---

१. **अभिवादे तु यो विप्रो नाशिषं सम्प्रयच्छति।**
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कोपसेवितः॥

२. **तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।**
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ —मनुस्मृतिः (१।४९)

३. **प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः।**
—(शारीर० ४।८)

तो निरीश्वरवादी है, दूसरे पुरुष या आत्मा उनके मतानुसार असङ्ग उदासीन और निष्क्रिय है, तथा प्रकृतिको ही जगत्की सृष्टिकर्त्री माना गया है। अतः चक्रपाणिका कथन चिन्त्य है। हमारी दृष्टिमें चरकमुनिका यह कथन **"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।"** (ऐतरेय० १।१।१)तथा **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।"** (तैत्ति० २।१।१) इन श्रुतियोंका अनुवादमात्र है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें महाभूतोंका लक्षण साधारण और असाधारण भेदसे दो प्रकारका उपलब्ध होता है। साधारणलक्षण इस प्रकार है—"आकाशादि पञ्चमहाभूतोंमें क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध नामक गुण रहते हैं। इनमें आकाशमें केवल एक गुण शब्द होता है। परवर्त्ती भूतोंमें गुण बढ़ते जाते हैं। पूर्वभूत और उनके गुण परवर्त्ती भूतोंमें अनुवर्तित होते हैं।"[१] शब्दादि आकाशादिके नैसर्गिक गुण हैं, अतः ये गुण ही भूतोंमें पार्थक्यबुद्धिके जनक बनते हैं। परवर्त्ती भूतोंमें जो क्रमशः गुणोंका उत्कर्ष बताया गया है, वह पूर्वभूतोंकी अनुवृत्तिके कारण है। आकाशमें केवल एक गुण (शब्द) होनेका कारण यह हैं कि उसमें अन्य भूतोंका समावेश नहीं है। वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। इनमें स्पर्श उसका नैसर्गिक गुण है, और शब्द आकाशकी अनुवृत्तिके कारण है। अग्निमें शब्द स्पर्श और रूप तीन गुण हैं। इनमें रूप उसका नैसर्गिक गुण है, तथा शब्द आकाशकी अनुवृत्तिके कारण और स्पर्श वायुकी अनुवृत्तिके कारण है। जलमें शब्द स्पर्श रूप और रस चार गुण हैं। इनमें रस उसका स्वाभाविक गुण है, तथा शब्द स्पर्श और रूप क्रमशः आकाश वायु और अग्निकी अनुवृत्तिके कारण विद्यमान हैं। इसी प्रकार पृथिवीगत पञ्चगुणोंमें गन्ध उसका अपना निजी गुण है, तथा शेष चार गुण पूर्ववर्त्ती भूतोंकी अनुवृत्तिके कारण हैं। आचार्य वाचस्पतिमिश्रने भी साङ्ख्य-तत्त्वकौमुदी(कारिका २२)में ऐसा ही कहा है।

"तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे" इस वाक्यसे पञ्चमहाभूतोंमें पूर्वत्व और परत्वका निर्देश होनेसे तथा गुणोंकी अनुवृत्ति होनेसे पूर्व पूर्वकी कारणता और पर परकी कार्यता भी सिद्ध होती है, क्योंकि वैशेषिकशास्त्रके अनुसार कारणके गुण कार्यमें समानजातीय गुणोंको उत्पन्न करते हैं। परन्तु इन भूतोंमें कारणकार्यभाव माननेपर औपनिषदसिद्धान्त ही परिपुष्ट होता है तथा वैशेषिकका सृष्टिविषयकसिद्धान्त निरस्त हो जाता है। यदि पृथिव्यादि चार भूतोंके परमाणु नित्य हैं, और कोई भी भूत किसी अन्य भूतसे उत्पन्न नहीं हुआ है, तो उन भूतोंके प्रतिनियत गुण ही प्रत्येक अवस्थामें रहने चाहिए। उस स्थितिमें वायुमें आकाशके गुण शब्दकी, अग्निमें शब्द और स्पर्शकी, जलमें शब्द स्पर्श और रूपकी, तथा पृथिवीमें शब्द स्पर्श रूप और रसकी

---

१. **महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।**
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥ —(शारीर० १।२७-२८)

उपलब्धि न हो सकेगी। परन्तु उपलब्धि होती है। अतः **"आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१) यह औपनिषद सिद्धान्त ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

पृथिव्यादि महाभूतोंका असाधारणलक्षण इस प्रकार है—"पृथिवीका लिङ्ग (चिह्न) है खरता (काठिन्य), जलका लिङ्ग है द्रवता (तरलता), वायुका लिङ्ग है चलता (गतिशीलता), अग्निका लिङ्ग है उष्णता, और आकाशका लिङ्ग है अप्रतीघात (रुकावटका न होना)।"[१] खरता इत्यादि पृथिव्यादिके लिङ्ग अर्थात् लक्षण हैं। "ये सभी लक्षण स्पर्शनेन्द्रियके विषय हैं, और स्पर्शनेन्द्रिय-(त्वगिन्द्रिय)का विषय बननेवाला स्पर्श सविपर्यय (स्पर्शाभावसहित) होता है, अर्थात् स्पर्शनेन्द्रियसे जैसे स्पर्शका ज्ञान होता है. वैसे ही स्पर्शाभावका भी बोध होता है।"[२] खरता द्रवता उष्णता और गतिशीलताका ज्ञान तो स्पर्शके द्वारा हो सकता है, परन्तु आकाशका लिङ्ग अप्रतीघात (स्पर्शाभाव) स्पर्शके द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? इस शङ्काका उत्तर है—जिस विषयको जो इन्द्रिय ग्रहण करती है, उस विषयके अभावको भी वही इन्द्रिय ग्रहण करती है। यदि घटका ज्ञान चक्षुके द्वारा होता है, तो घटाभावका ज्ञान भी चक्षुके ही द्वारा होता है, क्योंकि हम देखकर कह सकते हैं कि यहाँ घड़ा नहीं है, अर्थात् घड़ेका अभाव है। अतः अभावका ज्ञान भी उसी इन्द्रियसे होता है। यदि प्रतीघात स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य है, तो आकाशका धर्म अप्रतीघात भी स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञेय है।

यहाँपर महाभूतोंका साधारण और असाधारण भेदसे जो द्विविध लक्षण प्रस्तुत किया गया है, वह महाभूतोंके क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल रूपोंका लक्षण है। यद्यपि ग्रन्थकारने स्पष्टतया इस बात को नहीं कहा है, तथापि प्रथमोक्त शब्दादिगुणवाले आकाशादि तन्मात्ररूप अर्थात् सूक्ष्मभूत हैं और अनन्तरोक्त खरद्रवचलोष्णत्वादि लिङ्गोंवाले आकाशादि स्थूलभूत हैं। क्योंकि जिन भूतोंके खरत्वादि लिङ्गोंको हम हाथसे छूकर स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा जान सकते हैं, उनके सूक्ष्म होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती है। 'लिङ्ग' शब्द यहाँपर प्रत्यक्षसे उपलब्ध होनेवाले लक्षण या गुणोंके अर्थमें तथा अनुमानका साधन बननेवाले लिङ्ग या चिह्नके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः खरत्वादि पृथिव्यादिके गुण हैं। इन खरत्वादि गुणों और पृथिव्यादि गुणियोंकी उपलब्धि प्रायः प्रत्यक्षप्रमाणसे ही हो जाती है। परन्तु कहीं-कहीं खरत्वादिका स्पार्शन प्रत्यक्ष होनेपर भी पृथिव्यादिकी प्रत्यक्षतः उपलब्धि नहीं होती है। जैसे पाञ्चभौतिक शरीरमें खरता आदि तो स्पर्शमात्रसे प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, परन्तु पृथिव्यादिभूत शरीरमें कहीं दिखाई नहीं पड़ते हैं। अतः वहाँपर खरत्वादिलिङ्गोंसे पृथिव्यादिभूतोंका अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार धूम अग्नि-

---

१. **खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।**
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥ —(शारीर० १।२९)

२. **लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।**
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः॥ —(शारीर० १।३०)

का लिङ्ग है, उसी प्रकार खरत्वादि पृथिव्यादिके लिङ्ग है। लिङ्गकी उपलब्धिसे लिङ्गीका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरणमें लिङ्गशब्द दोनो ही अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। अतएव ग्रन्थकारने कहा है-- "इस पाञ्च-भौतिक शरीरमें शरीरारम्भक आकाशादि गुणियोंके (शब्दादि और खरत्वादि) गुणोंको ही चिह्न(लिङ्ग)के रूपमें निर्दिष्ट किया गया है।" (शारीर० १।३१)। आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक अध्यायमें इन गुणों अथवा चिह्नोंका विस्तारसे निरूपण किया गया है (सूत्र० २६।११)।

महाभूतोंके निरूपणके प्रसङ्गमें "अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः" (शारीर० १।३१) इस श्लोकार्धकी व्याख्या चक्रपाणिने इस प्रकार की है—"आकाशादिके जो गुणविशेष शब्दादि 'अर्थ' शब्दके द्वारा कहे जाते है, उन्हें आकाशादि भूतोका स्थूलरूप समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि (सूक्ष्म) आकाशका (स्थूल) परिणाम ही शब्द है, (सूक्ष्म) वातका (स्थूल) परिणाम ही स्पर्श है इत्यादि। शब्दादिके ग्रहणसे जो आकाशादिका ग्रहण किया जाता है, वह शब्दादिके आकाशादिका परिणाम होनेसे उचित ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रियसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है. वह सब आकाश और शब्द है। स्पर्शनेन्द्रियसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब वायु और स्पर्श है, इत्यादि।" चक्रपाणिकी यह व्याख्या अद्वैतवेदान्तके अनुकूल है। सदानन्दयोगीन्द्रके वेदान्तसारमें आकाशादि सूक्ष्म-महाभूतोंको तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहा गया है। इसके अनन्तर जब पञ्चीकरणकी प्रक्रियाके द्वारा प्रत्येक महाभूत पञ्चात्मक होकर स्थूलभावको प्राप्त करता है, उस समय आकाशमें शब्द, वायुमें शब्द और स्पर्श, अग्निमें शब्द स्पर्श और रूप, जलमें शब्द स्पर्श रूप और रस, तथा पृथिवीमें शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध स्फुटतया अभिव्यक्त होते हैं। शब्दादिकी यह अभिव्यक्ति वस्तुतः आकाशादिका स्थूल परिणाम ही है। अद्वैतवेदान्तमें परिणामशब्द भी विवर्त्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। सर्वज्ञात्ममुनिका कथन है—**'विवर्त्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः'** (सङ्क्षेपशारीरक ११।६१), अर्थात् वेदान्तसिद्धान्तमें परिणामवाद विवर्त्तवादकी पूर्वभूमि है। परन्तु साङ्ख्यसिद्धान्त इसके विपरीत प्रतीत होता है। साङ्ख्यमें आकाशादि स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति शब्दादि सूक्ष्म तन्मात्रोंसे बताई गई है। ईश्वरकृष्णकी कारिका कहती है—"शब्दादितन्मात्र अविशेष अर्थात् सूक्ष्म हैं। इन पाँच तन्मात्रोंसे आकाशादि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। ये भूत विशेष अर्थात् स्थूल हैं, तथा शान्त (सुखरूप), घोर (दुःखरूप) और मूढ (मोहरूप) माने गए हैं।"[१]

वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे साङ्ख्य और अद्वैतवेदान्तके एतद्विषयक सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मसे स्थूलकी उत्पत्ति दोनों ही मानते हैं। साङ्ख्य सूक्ष्मशब्दादितन्मात्रोंसे स्थूल आकाशादिकी उत्पत्ति मानता है,

---

१. **तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्चभ्यः।**
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ —साङ्ख्यकारिका (३८)

और अद्वैतवेदान्त सूक्ष्म आकाशादितन्मात्रोंसे स्थूलशब्दादिकी उत्पत्ति मानता है। केवल शब्दोंका हेर-फेर है, तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं है। चरकमुनि और उनके व्याख्याता चक्रपाणिने दोनों मतोंका समन्वय कर दिया है। सूक्ष्म आकाशादि महाभूतोंको सूक्ष्म शब्दादि भी कहा जा सकता है, तथा स्थूल आकाशादिको स्थूल शब्दादि भी कहा जा सकता है। साङ्ख्यतत्त्व-कौमुदीमें आचार्य वाचस्पतिमिश्र भी इसका समर्थन करते हैं—"विशेष हैं, स्थूलशब्दादि, जो पृथिव्यादिरूप हैं, तथा शान्त घोर और मूढस्वरूप हैं। अविशेष हैं — तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मशब्दादि। 'तन्मात्र'शब्दमें 'मात्र'से स्थूलभूतोंका व्यावर्त्तन करते हैं। ऊर्ध्वरेताओं और योगियोंकी श्रवणेन्द्रिय शब्दतन्मात्र (सूक्ष्मशब्द) और स्थूलशब्द दोनोंको ग्रहण करती है। किन्तु हम लोगोंकी श्रवणेन्द्रिय केवल स्थूलशब्दको ही ग्रहण कर पाती है।" इससे सिद्ध होता है कि शब्दादि वस्तुतः आकाशादिरूप ही हैं। इनमें कार्य-कारण, गुण-गुणी अथवा सूक्ष्म-स्थूल सम्बन्ध माननेपर भी अभेदकी ही सिद्धि होती है।

समस्त द्रव्योंकी पाञ्चभौतिकता

चरकसंहितामें समस्त कार्यद्रव्योंको पाञ्चभौतिक माना गया है। आत्रेय-भद्रकाप्यीय अध्यायमें महर्षि पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं—"सभी द्रव्य इस अर्थमें अर्थात् आयुर्वेदमें पाञ्चभौतिक है। ये पाञ्चभौतिक द्रव्य चेतन और अचेतन भेदसे दो प्रकारके होते हैं।" (सूत्र० २६।११) यहाँपर **'सर्वं द्रव्यम्'**से केवल कार्यद्रव्योंको ही ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा पूर्वोक्त नौ द्रव्योंको ग्रहण करनेपर उनकी पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध की जा सकेगी, क्योंकि आत्मा मन काल और दिक् पाञ्चभौतिक नहीं हैं। इनको भी पाञ्चभौतिक माननेपर पञ्चभूतोंमें ही इनका अन्तर्भाव हो जानेसे द्रव्योंकी सङ्ख्या पाँच ही रह जायगी। अतः पहले जो नौ द्रव्योंका परिगणन किया गया है, वह कारणद्रव्योंका परिगणन है। उनमें पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश कार्यद्रव्योंके विशेषात्मक कारण हैं, तथा आत्मा काल और दिक् समस्त कार्यद्रव्योंके सामान्यात्मक कारण हैं। अतः प्रस्तुत प्रकरणमें जिन द्रव्योंका गुणकर्मनिर्देशपूर्वक विभाजन किया गया है, उन्हीं कार्यद्रव्योंकी पाञ्चभौतिकता बताई गई है। इसीलिए चक्रपाणिने 'अस्मिन्नर्थे'का अर्थ 'अस्मिन् प्रकरणे' किया है। अष्टाङ्गसङ्ग्रहमें भी कहा गया है—"इस आयुर्वेदशास्त्रमें समस्त द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक हैं। पृथिवी इन द्रव्योंका अधिष्ठान अर्थात् आश्रय है, जल इनकी योनि (उद्भवस्थान) है, और आकाश वायु तथा अग्निके सम्बन्धसे ये अपने स्वरूपको प्राप्त करते है, तथा इनका पारस्परिक भेद निष्पन्न होता है।"[1] न्यायवैशेषिककी अर्थनिरूपणप्रक्रियाको स्वीकार करनेपर भी आयुर्वेदका इस विषयमें न्याय-वैशेषिकसे मतभेद स्पष्ट है। वैशेषिकदर्शनके अनुसार समस्त कार्यद्रव्य चतु-र्भूतात्मक हैं, अर्थात् वायु अग्नि जल और पृथिवी इन चार भूतोंके परमाणुओंसे

---

१. इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ।—अष्टाङ्गसङ्ग्रह (सूत्र० अध्याय १७)

उत्पन्न होते हैं। वहाँपर आकाशको काल और दिक्के समान सामान्य कारण माना गया है। वह किसी द्रव्यकी उत्पत्तिका विशेषकारण नहीं है।

भौतिकद्रव्योंके गुण और कर्म

द्रव्यभेदके वर्णनकी प्रतिज्ञा करके आचार्यने पृथिव्यादि पञ्चभूतोंसे उत्पन्न होनेवाले पार्थिव आप्य आग्नेय वायव्य और आकाशात्मक—इन पञ्चविध कार्यद्रव्योंके गुणों और कर्मोंको विस्तारसे गिनाया है। "इन कार्य-द्रव्योंमें जिन गुणोंकी उपलब्धि होती है, वे गुण हैं—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध, तथा गुरुसे प्रारम्भ करके द्रवपर्यन्त, अर्थात् गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष मन्द तीक्ष्ण स्थिर सर मृदु कठिन विशद पिच्छिल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सान्द्र और द्रव।"[१] कुल मिलाकर यहाँपर कार्यद्रव्योंमें पचीस गुण गिनाए गए हैं। शेष जो परत्वापरत्व युक्ति सङ्ख्या संयोग विभाग पृथक्त्व परिमाण संस्कार और अभ्यास नामक गुण प्रथम अध्यायमें बताए गए हैं, और प्रस्तुत भद्रकाप्यीय अध्यायमें आगे चलकर जिनका विस्तारसे निरूपण किया गया है, उनको यहाँपर कार्यद्रव्योंमें न गिननेका कारण यह है कि इनमें परत्व अप-रत्व सङ्ख्या विभाग और पृथक्त्व चिकित्सामें अधिक उपयोगी न होनेके कारण अप्रधान हैं, तथा इनमें बुद्धिकी प्रधानता है। अतः अवयविद्रव्योंके गुणोंमें इनका परिगणन करना आचार्यने उचित नहीं समझा है। युक्ति संयोग परिमाण संस्कार और अभ्यास इत्यादि गुण चिकित्सामें उपयोगी होते हुए भी यहाँ इसलिए नहीं पढ़े गए हैं, क्योंकि ये गुण आधेय हैं, शब्दादिके समान सांसिद्धिक नहीं हैं, अतः गौण हैं। इसीलिए यहाँपर नैसर्गिक गुणोंका परिगणन करते समय उनका उल्लेख नहीं किया गया है। कार्यद्रव्योंके नैसर्गिक गुणोंको गिनाकर आचार्यने अपामार्गतण्डुलीय अध्यायमें निरूपित वमनादि पञ्चविध कर्मोंकी योग्यता उनमें बताई है। वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन और शिरोविरेचन—ये पञ्चविध कर्म हैं। प्रधान होनेके कारण इनका यहाँपर उल्लेख किया गया है। इसलिए स्नेहन स्वेदन बृंहण इत्यादि अनुक्त कर्मोंको भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

पार्थिव द्रव्य—पार्थिव द्रव्य गुरु खर कठिन मन्द स्थिर विशद सान्द्र स्थूल और गन्धबहुल होते हैं। ये द्रव्य उपचय(वृद्धि), सङ्घात(काठिन्य), गौरव(भारीपन) और स्थैर्य(स्थिरता) लानेवाले हैं" (सूत्र० २६।११)। इन समस्त गुणोंमें गन्धका पाठ यद्यपि सबसे अन्तमें किया गया है, तथापि उसीकी प्रधानता है, क्योंकि गुरुत्व मन्दत्वादि गुण अन्य भूतोंमें भी मिल जाते हैं, परन्तु गन्धकी उपलब्धि केवल पृथ्वीमें ही होती है। यहाँपर एक बात खटकती है। सभी द्रव्योंके पाञ्चभौतिकत्वकी प्रतिज्ञा करके फिर कुछ द्रव्योंको पार्थिव और जलीयादि कहना कहाँतक युक्तिसङ्गत है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, तथापि पृथिव्यादिका उत्कर्ष होनेसे पार्थिवत्वादिका व्यपदेश किया जाता है। अर्थात् पाञ्चभौतिक होनेपर भी जिन

---

१. तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः। —(सूत्र० २६।११)

द्रव्योंमें पृथिवीका आधिक्य होनेसे पूर्वोक्त गुण उपलब्ध होते हैं, उनको पार्थिव द्रव्य समझना चाहिए। यही बात अन्य द्रव्योंके सम्बन्धमें भी लागू होती है। सुश्रुतसंहितामें इसका सुस्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है—"पृथिवी जल तेज वायु और आकाशके समुदायसे समस्त द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। पृथिव्यादि-का उत्कर्ष (आधिक्य) ही इन द्रव्योंका (इस रूपमें) अभिव्यञ्जक बनता है— यह द्रव्य पार्थिव है, यह आप्य है, यह तैजस है, यह वायव्य है, और यह आकाशीय है।"[1]

आप्य (जलीय) द्रव्य—"जलीय द्रव्य द्रव स्निग्ध शीत मन्द मृदु पिच्छिल (चिपचिपे) और रसबहुल होते हैं। ये द्रव्य उपक्लेद(गीला करना), स्नेह (चिकना करना), बन्ध(एक दूसरेको जोड़ना), विष्यन्द(बहना), मार्दव (कोमल बनाना), और प्रह्लाद(शरीर और इन्द्रियोंको तृप्त करना)—इन क्रियाओंके जनक हैं" (सूत्र० २६।११)। जलीय द्रव्योंसे शुष्कको आर्द्र, रूक्षको स्निग्ध, असम्बद्धको सम्बद्ध, ठोसको बहनेवाला और कठोरको कोमल बनाया जा सकता है, तथा इन द्रव्योंसे शरीर और इन्द्रियोंकी तृप्ति की जाती है।

आग्नेय द्रव्य—"आग्नेय द्रव्य उष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्म लघु रूक्ष विशद और रूपगुणबहुल होते हैं। ये द्रव्य दाह(जलाना), पाक(पकाना), प्रभा(वर्णोंको प्रकाशित करना), प्रकाश और वर्ण (रंगत) लाने वाले हैं" (सूत्र० २६।११)। आग्नेय द्रव्योंके सूक्ष्म होनेका तात्पर्य यह है कि ये द्रव्य शरीरके अत्यन्त सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रविष्ट होकर अपना कार्य करते हैं।

वायव्य द्रव्य—"वायव्य द्रव्य लघु शीत रूक्ष खर विशद सूक्ष्म और स्पर्शगुणबहुल होते हैं। ये द्रव्य रूक्षता(रूखापन), ग्लानि, विचरण(गति), विशदता तथा लाघव(हल्कापन) लानेवाले हैं" (सूत्र० २६।११)। वायव्य द्रव्य भी सूक्ष्म होनेके कारण शरीरके सूक्ष्म स्रोतोंमें गमन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। चूंकि वातकलाकलीय अध्यायमें वायुके रूक्ष लघु शीत दारुण खर और विशद—ये छः गुण गिनाए गए हैं (सूत्र० १२।४), और महारोगाध्यायमें रूक्षता शीतलता लघुता विशदता गति अमूर्त्तता और अस्थिरताको वायुका आत्मरूप कहा गया है (सूत्र० २०।१२), तथा दीर्घंजीवितीयमें भी वायुको रूक्ष शीत लघु सूक्ष्म चल विशद और खर कहा गया है (सूत्र० १।५६), अतः प्रस्तुत प्रकरणमें गुणोपसंहारन्यायसे वायव्य द्रव्योंमें पूर्वोक्त गुणों और कर्मोंका निर्देश किया गया है।

आकाशीय द्रव्य—"आकाशीय द्रव्य मृदु लघु सूक्ष्म श्लक्ष्ण और शब्दगुण-बहुल होते हैं। ये द्रव्य मार्दव सुषिरता (छिद्रबहुलता) और लघुता उत्पन्न करते हैं" (सूत्र० २६।११)। आकाशीय द्रव्योंमें पृथिव्यादि अन्य भूतोंकी स्वल्पता होती है, तथा आकाशकी अभिव्यक्ति विशेषरूपसे होती है। जिस द्रव्यमें छिद्रोंका प्राचुर्य होता है, उसीमें आकाशको विशेषरूपसे अभिव्यक्त समझना चाहिए। अथवा जिस द्रव्यमें आकाशके गुणोंका प्राचुर्य हो, उसे नाभसद्रव्य समझना चाहिए।

---

१. तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः। उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति। इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयम्। —सुश्रुतसंहिता (सूत्र० ४१।३)

भौतिक द्रव्योंका वर्गीकरण—आयुर्वेदका ग्रन्थ होनेके कारण चरकसंहिता-में द्रव्योंका वर्गीकरण चिकित्साकी दृष्टिसे किया गया है। आचार्यने ग्रन्थके आद्य अध्यायमें ही इन द्रव्योंका वर्गीकरण विस्तारसे किया है। सर्वप्रथम द्रव्योंके प्रभावको दृष्टिमें रखकर समस्त द्रव्यराशिके तीन भेद किए गए हैं।[१] (१) **दोषप्रशमन द्रव्य**—'दोष'शब्द मुख्यवृत्तिसे वात पित्त और श्लेष्माका वाचक है, तथा गुणवृत्तिसे दोषको प्राप्त हुई रसरक्तादि सप्तधातुओंका बोध कराता है। जो द्रव्य वैषम्यको प्राप्त हुए वातादि दोषोंमें साम्य स्थापित करते हैं, तथा दूषित हुई रसादि धातुओंके दोषोंको दूर करते हैं, उन्हें दोषप्रशमन द्रव्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ आमलक और दुरालभा इसी कोटिके द्रव्य है। आमलक त्रिदोषनाशक होनेसे अत्यन्त कल्याणकारक है, और दुरालभा भी वातादिके वैषम्यको दूर करती है। (२) **धातुप्रदूषण द्रव्य**—'धातु' शब्दसे रसरक्तादि सप्तधातुओंको मुख्यवृत्तिसे ग्रहण किया जाता है, तथा वात पित्त और कफको साम्यावस्थामें शरीरका धारक होनेसे गुणवृत्तिसे 'धातु' कहा जाता है। इन उभयविध धातुओंमें दोष उत्पन्न करनेवाले यवक मन्दक और विषादि द्रव्योंको धातुप्रदूषण द्रव्य कहा जाता है। (३) **स्वस्थवृत्तिसहायक द्रव्य**—जो द्रव्य स्वास्थ्यकी अनुवृत्तिमें अभिमत हैं, अर्थात् स्वस्थ मनुष्यको स्वस्थ रखनेमें सहायक होते हैं, तथा आरोग्यकी रक्षा करनेमें समर्थ माने जाते हैं, उनको इस कोटिमें रखा जाता है। विदारीकन्दप्रभृति वाजीकरण तथा ब्राह्मादिरसायन विशेषरूपसे स्वस्थ पुरुषको ऊर्जा प्रदान करते हैं।[२]

द्रव्योंका दूसरा वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति(origin)को दृष्टिमें रखकर किया गया है। द्रव्योंके उद्भवस्थान तथा उद्भवकी विधाके आधारपर उनको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है—(१) **जङ्गम द्रव्य**—'गच्छतीति जङ्गमम्' इस व्युत्पत्तिसे जो गोरस और मधु इत्यादि द्रव्य पशुविहगादि जङ्गम प्राणियों-से प्राप्त होते हैं, उन्हें जङ्गम या जाङ्गम द्रव्य समझना चाहिए। इस कोटिमें उन्नीस द्रव्य सूत्रस्थान(१।६८-६९)में गिनाए गए हैं। (२) **औद्भिद द्रव्य**—'उद्भिद्य पृथिवीं जायते' इस व्युत्पत्तिसे जो पृथिवीको फोड़कर निकलते हैं, वे लतावृक्षादि औद्भिद द्रव्य कहे जाते हैं। मोटे तौरसे ये चार प्रकारके हैं—वनस्पति वीरुध वानस्पत्य और ओषधि। जिनमें केवल फल आता है, वे गूलर बरगद इत्यादि वनस्पति हैं। जिनमें फूल और फल दोनों आते हैं, वे आम जामुन इत्यादि वानस्पत्य हैं। फलके पक जानेपर जो नष्ट हो जाते हैं, वे यवव्रीहितिलादि ओषधि हैं। फैलनेवाली लताओं और गुल्मोंको वीरुध कहा जाता है।[४] (३) **पार्थिव द्रव्य**—'पृथिवीविकारः पार्थिवम्' इस व्युत्पत्तिसे

---

१. **किञ्चिद् दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातुप्रदूषणम्।**
स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते॥ —(सूत्र० १।६७)

२. **स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्‚वृष्यं तद् रसायनम्॥** —(चिकित्सा० १।१।५)

३. **तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जङ्गमौद्भिदपार्थिवम्।** —(सूत्र० १।६८)

४. **फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।**
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥ —(सूत्र० १।७२)

जो खनिजादि द्रव्य पृथिवीसे प्राप्त होते हैं, और जो पूर्वोक्त दो प्रकारके द्रव्योंसे भिन्न हैं, उन्हें पार्थिव द्रव्य समझना चाहिए। सुवर्ण, पञ्चलोह, षड्विध शिलाजतु, रत्न, मणियाँ और लवण इत्यादि इसी कोटिमे गिनाए गए हैं। सुवर्णकी गणना यहाँ पार्थिव द्रव्योंमें की गई है, जब कि वैशेषिकदर्शन उसे तैजस मानता है। वस्तुतः वैशेषिकदर्शनमें भी पीतवर्ण और गुरुपरिमाणवाले सुवर्णको पार्थिव माना गया है। व्योमशिवाचार्यके अनुसार सुवर्णादिमें पार्थिव द्रव्य संयुक्त रहता है, और उसमें समवेत रसादिकी उपलब्धि होती है। यदि सुवर्ण सर्वथा तैजस होता, तो उसमें मधुरादि रसोंकी उपलब्धि नहीं होती। अतः सुवर्णमें रसोपलब्धि संयुक्तसमवायसम्बन्धसे होती है।[1]

इन त्रिविध द्रव्योंकी सङ्ख्या अनन्त है। गुण और कर्मके सहित उनका साकल्येन परिगणन असम्भव है। इसलिए चरकने, जिन द्रव्योंकी संशोधन करनेके कारण आयुर्वेदमें प्रधानता है, और जो अत्यन्त प्रशस्त माने गए है, केवल उन्हीं द्रव्योंका परिगणन और वर्गीकरण दीर्घञ्जीवितीयमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—(१) **मूलिनी** सोलह हैं। (२) **फलिनी** उन्नीस हैं। (३) **महास्नेह** चार है। (४) **लवण** पाँच हैं। (५) **मूत्र** आठ प्रकारके हैं। (६) **क्षीर** भी अष्टविध हैं। (७) **संशोधनकारक वृक्ष** छः हैं। जो विद्वान् इन संशोधनकारक प्रशस्त द्रव्योंके विधिवत् प्रयोगको जानता है, वही आयुर्वेदके रहस्यका ज्ञाता है (सूत्र० १।७४-७६)।

इस प्रकरणमें यह बता देना अत्यन्त आवश्यक है कि कार्यद्रव्योंकी सङ्ख्या अनन्त होनेके कारण तथा सहस्रों दृष्टियोंसे उनका वर्गीकरण सम्भव होनेके कारण वर्गीकरणकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती है। संसारमें ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो चिकित्साकी दृष्टिसे भेषजरूप न हो। आत्रेयभद्रकाप्यीयमें कहा गया है—"इस उपदेशसे अर्थात् पार्थिवादि प्रतिनियत गुणवाले द्रव्योंके उपदेशसे जगत्में अनौषधरूप कोई भी द्रव्य उपलब्ध नहीं होता है, उस उस उपाय और उस उस प्रयोजनकी दृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य औषधरूप है।" (सूत्र० २६।१२) जो द्रव्य जिस गुणवाला होता है, उस गुणको देहमें सम्पादित करना अभीष्ट होनेपर वह द्रव्य भेषजके रूपमें प्रयोज्य होता है। कोई भी द्रव्य सर्वथा सभी रोगोंमें भेषज नहीं होता है, प्रत्युत विशिष्ट उपायसे विशिष्ट प्रयोजनको लक्ष्य बनाकर भेषजके रूपमें व्यवहृत किया जाता है। एक ही द्रव्य किसी रोगमें क्वाथ बनाकर पीनेसे, किसी रोगमें लेपसे, किसी रोगमें घृतादिसे संस्कृत करके, और किसीमें अरिष्ट आसवादिके रूपमें सिद्धप्रद होता है। संयोग संस्कार देश और कालादिकी अपेक्षासे जो द्रव्य विरोधी होते हैं, वे ही संयोगादिका अभाव होनेपर पथ्य बन जाते हैं। जो विष और मन्दकादि द्रव्य स्वभावसे ही अपथ्य होते हैं, वे भी युक्तिपूर्वक प्रयोग किए जानेपर किसी रोगमें पथ्य सिद्ध होते हैं। जिन तृण और पांशुप्रभृति द्रव्योंका कहीं भी प्रयोग नहीं होता है, उनका भी

---

१. **संयुक्तं सुवर्णादौ पार्थिवं द्रव्यं तत्र समवेता रसादय उपलभ्यन्त इति।**
—व्योमवती

तत्र (हेम्नि) संयुक्तसमवायाद्रसाद्युपलब्धिरिति। —प्रशस्तपादभाष्यम्

भेषजनिर्माण और स्वेदनादि कर्मोंके उपायरूपसे भेषजत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार सभी द्रव्योंके भेषजरूप होनेसे चिकित्सोपयोगी द्रव्योंकी सङ्ख्या अनन्त सिद्ध होती है। इन असङ्ख्येय द्रव्योंका असङ्ख्येय दृष्टियोंसे विभाजन सम्भव है। अतः यद्यपि द्रव्योंके विभाजनकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है, तथापि प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ चरकसंहितामें चिकित्साकी दृष्टिसे द्रव्योंके जो विभाजन किए गए हैं, उनका इस प्रबन्धमें विस्तारभयसे केवल नाम-ग्रहण किया गया है। गुणकर्मादिकी दृष्टिसे इनका विवेचन सम्पूर्ण चरक-संहितामें भरा पड़ा है। दार्शनिक पृष्ठभूमिको प्रदर्शित करनेवाले इस शोध-ग्रन्थमें उनका विस्तृत विचार न तो अपेक्षित है और न उचित है। अतः अब केवल 'अन्नपानविधि' नामक अध्यायमें आहारद्रव्योंके जो बारह वर्ग बनाए गए हैं, उनका नामोल्लेखमात्र करके इस प्रकरणको समाप्त किया जा रहा है। ये वर्ग क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) शूकधान्यवर्ग (२) शमीधान्यवर्ग (३) मांसवर्ग (४) शाकवर्ग (५) फलवर्ग (६) हरितवर्ग (७) मद्यवर्ग (८) जलवर्ग (९) गोरसवर्ग (१०) इक्षुविकारवर्ग (११) कृतान्नवर्ग और (१२) आहारयोगिवर्ग। इस अध्यायमें इन वर्गोंके अन्तर्गत आनेवाले द्रव्योंके रस वीर्य विपाक तथा प्रभावका उपदेश किया गया है।

द्रव्योंकी कार्मुकता

प्रश्न यह है कि आहारद्रव्य तथा औषधद्रव्य अपना कार्य किस प्रकार करते हैं? केवल अपने गुणोंके प्रभावसे, अथवा किसी अन्य हेतुसे भी? इसका उत्तर देते हुए आत्रेयभद्रकाप्यीयमें कहा गया है—"द्रव्य केवल अपने गुणोंके प्रभावसे ही कर्म करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, प्रत्युत अपने प्रभावसे, गुणोंके प्रभावसे, तथा द्रव्य और गुण दोनोंके सम्मिलित प्रभावसे उस उस (विशेष) कालमें, उस उस (विशेष) अधिष्ठान तथा उस उस (विशेष) युक्ति(योजना)को प्राप्त करके, उस उस (विशेष) अर्थके अभिप्रायसे जो कुछ करते हैं, वह उस द्रव्यका **कर्म** है। जिसके द्वारा कर्म करते हैं, वह उस द्रव्यका **वीर्य** (शक्ति) है। जहाँपर (जिस अवयवविशेषमें) कर्म करते है, वह अधिष्ठान या **अधिकरण** है। जिस समय कर्म करते हैं, वह उस द्रव्यके प्रयोगका (समुचित) **काल** है। जिस विधिसे कर्म करते हैं, वह उस द्रव्यके प्रयोगका **उपाय** है। जिसे सिद्ध करते हैं, वह उसका **फल** (उद्देश्य) है।"[१] द्रव्य गुणनिरपेक्ष होकर अपने प्रभावसे भी कार्य करता है। जैसे दन्तीमूल और चित्रकमूल दोनों ही रस और विपाकमें कटु हैं, परन्तु दन्तीमूल विरेचन करता है, चित्रकमूल नहीं। दोनों द्रव्योंका यह प्रभावमूलक वैचित्र्य है। प्रभावके अचिन्त्य होनेके कारण उसका कोई हेतु निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है। आचार्यका

१. न तु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। द्रव्याणि हि द्रव्य-प्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिष्ठान-मासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत्कर्म। येन कुर्वन्ति, तद्वीर्यम्। यत्र कुर्वन्ति, तदधिकरणम्। यदा कुर्वन्ति, स कालः। यथा कुर्वन्ति, स उपायः। यत्साधयन्ति तत्फलम्। —(सूत्र० २६।१३)

कथन है—"धारण करने योग्य माणिक्यादि मणियोंका विषहरणादि जो विविध रूपोंवाला कर्म है, वह उनके प्रभावसे उत्पन्न होता है, और प्रभाव अचिन्त्य कहा जाता है।"[१] अपने गुणोंके प्रभावसे द्रव्यकी कार्यसामर्थ्य लोक-प्रसिद्ध है। अग्नि अपने उष्णगुणके प्रभावसे शीतको दूर करता है। तिक्तरस-वाले द्रव्य अपने प्रभावसे ज्वरको दूर करते हैं। द्रव्य और गुणके सम्मिलित प्रभावसे भी कर्म निष्पन्न होता है।

द्रव्यविशेषके कर्म वीर्य अधिकरण काल उपाय और फलको इस प्रकार समझना चाहिए—उदाहरणार्थ शिरोविरेचनकारक द्रव्य जब शिरोविरेचन करते हैं, तो शिरोविरेचन ही उनका कर्म होता है। वे द्रव्य जिन उष्णत्वादि हेतुओंसे शिरोविरेचन करते हैं, वे उन द्रव्योंके वीर्य हैं। वीर्य द्रव्य और गुण दोनोंका होता है। जिस अवयवविशेषमें शिरोविरेचन करते हैं, वह अवयव अर्थात् शिर उन द्रव्योंका अधिकरण है। किसी अन्य अधिकरणमें शिरोविरेचन द्रव्य कारगर नहीं हो सकता है। जिन वसन्तादि ऋतुओंमें शिरोगौरव आदिका प्रकोप होता है, वह काल ही शिरोविरेचन द्रव्योंके प्रयोगका उपयुक्ततम काल है। अकालमें अर्थात् हेमन्तादिमें प्रयुक्त करनेसे शिरोविरेचन स्तब्ध हो जानेके कारण कारगर नहीं होता है। ये द्रव्य प्रधमन और अवपीडन आदि जिन उपायोंसे शिरोविरेचन करते हैं, वह उनका उपाय है। शिरोगौरव और शूलादिकी शान्ति इन द्रव्योंके प्रयोगका फल है। इसी प्रकार वमनादिकारक द्रव्योंके भी कर्म वीर्य और अधिकरणादिको समझ लेना चाहिए।

आहार

समस्त प्राणिसमुदायके लिए आहारसे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि जीवन तथा आयु इसीके आश्रित हैं। चरकमुनि कहते हैं—"अन्न प्राणधारियोंका प्राण है। सारा लोक अन्नकी ओर दौड़ रहा है। शरीरका वर्ण, मनकी प्रसन्नता, स्वरका ठीक रहना, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, बल और मेधा—सब अन्नके ही आश्रित हैं। जीविकोपार्जनके लिए कृषि-व्यापार इत्यादि जो लौकिक कर्म किए जाते हैं, स्वर्गप्राप्तिके लिए ज्योतिष्टो-मादि जो वैदिक कर्म किए जाते हैं, तथा मोक्षप्राप्तिके लिए जो सत्यब्रह्मचर्यादि कर्म अनुष्ठेय हैं, ये सभी कर्म अन्नके ही आश्रित हैं,"[२] क्योंकि देहकी स्थिति अन्नके अधीन है और कर्मानुष्ठान देहके अधीन है। अतः अन्न सबका मूल है। आहारके इस महत्त्वका ध्यान रखते हुए अब पञ्चमहाभूतात्मक आहार-

---

१. मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ —(सूत्र० २६।७५)

२. प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्। —(सूत्र० २७।३५१-३५३)

द्रव्योंसे जिस प्रकार रसरक्तादि धातुओंकी, मलोंकी और मलान्तर्भूत त्रिदोषोंकी उत्पत्ति होती है, तथा रसादि धातुओंसे जिस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, उन समस्त चरकोक्त विषयोंका निरूपण करना अपेक्षणीय है। सभी दर्शनोंमें इन्द्रियोंको पञ्चभूतात्मक स्वीकार किया जाता है, परन्तु पञ्चभूतोंका जिस प्रकार परिणाम होकर जिन जिन अवस्थाओंसे गुज़रनेके बाद इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, उस प्रक्रियाको आयुर्वेदके अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शनमें नहीं प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः चिकित्सादर्शनमें इस प्रक्रियाको समझनेकी जैसी उपयोगिता है, वैसी अन्य दर्शनोंमें नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य व्यापत्का निदान और प्रतीकार इस प्रक्रियाको समझनेपर ही बहुत कुछ अवलम्बित है।

यज्जःपुरुषीयमें आहारविज्ञानका निरूपण करते हुए कहा है—"निगरण-रूप अर्थमें कोई भेद न होनेके कारण आहारकी आहारता एक प्रकार की है। चूंकि सभी आहारद्रव्य खाए या निगले जाते हैं, अतः इस अर्थके समान होनेके कारण निखिल आहारजात एक ही प्रकारका होता है। आहारकी दो योनियाँ (उद्भवस्थान) हैं—स्थावर और जङ्गम, अर्थात् स्थावर वृक्षादि और जङ्गम गौ इत्यादिसे ही समस्त आहारद्रव्योंकी उपलब्धि होती है। उत्तरकालीन फल(परिणाम)में हितरूप और अहितरूप भेद होनेके कारण आहारका प्रभाव दो प्रकारका होता है। अर्थात् कुछ आहार परिणाममें हितकर होते हैं और कुछ अहितकर। आहारका उपयोग (उदरस्थीकरण) चार प्रकारसे किया जाता है—पान करनेके द्वारा, अशन करनेके द्वारा, भक्षण करनेके द्वारा, और चाटनेके द्वारा। आहारका स्वाद रसभेदसे छः प्रकारका होता है। आहार बीस गुणोंवाला होता है—गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, तथा सान्द्र-द्रव। द्रव्योंमें पारस्परिक संयोग और करण(संस्कार)की अनेकविधता सम्भव होनेके कारण आहारके अगणित भेद होते हैं" (सूत्र० २५।३६)। यहाँपर आहारमें बीस गुण गिनाए गए हैं। दो दो विरोधी गुणोंके दस जोड़े हैं। आत्रेयभद्र-काप्यीय नामक अध्यायमें जो परत्व, अपरत्व, युक्ति, सङ्ख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास—इन दस गुणोंका निरूपण किया गया है, उनमें संयोग और संस्कारको छोड़कर शेष आठ गुण आहारके लिए विशेष उपयोगी (उपकारक) नहीं हैं। संयोग और संस्कार आहारको तैयार करनेमें यद्यपि अत्यधिक उपयोगी हैं, तथापि उनको यहाँपर आहारके गुणरूपसे प्रस्तुत न करके उसके अगणित भेदोंके हेतुरूपसे उपन्यस्त किया गया है। इन दोनोंको सम्मिलित करके आहारके बाईस गुण समझने चाहिए। इनमें यदि परिमाण अर्थात् आहारकी मात्राको भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो आहार-गुणोंकी सङ्ख्या तेईस हो जाती है। हितकर और अहितकर आहारका लक्षण इस प्रकार है—"हे अग्निवेश। जो आहारद्रव्य शरीरगत सम धातुओंको प्रकृतिस्थ रखता है, तथा विषम धातुओंको सम बनाता है, उसे हितकर समझो, और इससे विपरीत कार्य करनेवाले आहारको अहितकर समझो। हितकर और अहितकर आहारका यह लक्षण अपवादरहित है।"[१]

---

१. यदाहारजातमग्निवेश ! समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च

शरीरगत आहारका परिणाम—संयोग और संस्कारके द्वारा आहारके असङ्ख्येय भेद हो सकते हैं। अतः अनेक प्रकारके अवान्तर भेदोंवाला चतुर्विध आहार जब आमाशयमें पहुँचता है, तब वह आहार यदि शरीरके लिए हितकर है, तो समुचित प्रकारसे पच जाता है। आहारद्रव्योंके पञ्चभूतात्मक होने कारण आहारका यह परिपाक पृथिव्यादि भूतोंकी अपनी ऊष्माके द्वारा सम्पन्न होता है। आचार्यका वचन है—"भौम(पार्थिव), आप्य-(जलीय), आग्नेय, वायव्य और नाभस(आकाशीय) ये पाँच ऊष्माएँ पार्थिवादि पञ्चविध आहारद्रव्यों और उनके गुणोंका परिपाक करती हैं।"[१] परिपाक करनेका अर्थ है, उनसे रसादि द्रव्योंको उत्पन्न करना, और गुणोंका परिपाक करनेका अर्थ है, शरीरमें उन पार्थिवादि आहारद्रव्योंके गन्धादि गुणोंको उत्पन्न करना। अब प्रश्न यह उठता है कि उदरगत आहारका परिपाक यदि पृथिव्यादि भूतोंकी अपनी ऊष्मासे ही हो जाता है, तो जाठराग्निका क्या कार्य है? इसका उत्तर यह है कि जाठराग्नि आहारगत पृथिव्यादि भूतोंकी ऊष्माके बलको प्रदीप्त कर देती है, तभी भौतिक ऊष्मा आहारका परिपाक करनेमें समर्थ होती है। अकेली भौतिक ऊष्मा यदि आहारका परिपाक करने लगे, तो पेटमें पहुँचनेसे पहले ही अन्नका परिपाक होने लगेगा। अतः जाठराग्निसे बल प्राप्त करके ही भौतिक ऊष्मा शरीरगत अन्नका परिपाक करती है। ग्रहणीचिकित्सिताध्यायमें भुक्तान्नके परिपाककी प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है—"अन्नको देह धातु ओज और बलवर्णादिका पोषक जो कहा जाता है, उसका वास्तविक हेतु अग्नि है, क्योंकि अपक्व आहारसे धातुओंकी उत्पत्ति नहीं होती है। जब अग्नि उस आहारको पचाती है, तभी रसरक्तादिकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा आहार रोग और मृत्युका भी कारण बन सकता है। मुखमें पहुँचे हुए अन्नको ग्रहण करना जिसका कर्म है, वह प्राणवायु उस अन्नको कोष्ठमें खींच ले जाता है। वहाँपर द्रवपदार्थ उस अन्नके बँधे हुए अंशको फोड़कर ढीला बना देते हैं, और स्नेह उसे मृदु (कोमल) बना देता है। तदनन्तर शरीरस्थ समानवायुके द्वारा प्रज्वलित की गई जाठराग्नि भूख लगनेपर समयोगपूर्वक खाये गए आहारको सम्यक् प्रकारसे पचा देती है, जिसका फल होता है आयुकी वृद्धि। जिस प्रकार पतीलीमें डाले गए चावल और जलको अधःस्थित अग्नि भातके रूपमें पका डालती है, उसी प्रकार अधःस्थित जाठराग्नि आमाशयमें स्थित अन्नका रस और मलके रूपमें परिपाक कर डालती है।"[२] जाठराग्नि और भौतिक अग्नियोंके पृथक्-पृथक्

समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, अहितं विपरीतमित्येतद्धिताहितलक्षणमनपवादं भवति। —(सूत्र० २५।३३)

१. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान्स्वान्पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥ —(चिकित्सा० १५।१३)

२. यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहाराद्ध्यपक्वाद्रसादयः॥
अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद् द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥

कर्मोंके सम्बन्धमें चक्रपाणिका कहना है कि जाठराग्नि सभी आहार रस मल और उनके विपाकोंको पचाती है, तथा भौतिक अग्नियाँ उनमें अपने-अपने गुणोंको उत्पन्न करती हैं।[1] भौतिक अग्नियोंका यह व्यापार रसरक्तादि धातुओं में भी होता है, क्योंकि धातुओंमें भी पञ्चभूत रहते हैं। जाठराग्निके द्वारा पचाई गई धातुओंमें भूताग्नियाँ अपने गुणोंको उत्पन्न करती रहती हैं। इस प्रकार शरीरके भीतर समस्त धातुओंके परिपाकका यह व्यापार अविश्रान्त रूपसे चलता रहता है। जिस प्रकार कालकी गति अविश्रान्त होती है, उसी प्रकार धातुओंका परिपाक भी जीवन रहते हुए एक क्षणके लिए भी विरत नहीं होता है। चूंकि शरीरके भीतर अग्नियोंके द्वारा धातुओंका निरन्तर परिपाक होनेसे ये धातुएँ क्षीण होती रहती हैं, इसीलिए शरीरमें उपचय बल और वर्णादिकी वृद्धिके लिए भोजनकी आवश्यकता होती है। यदि धातुएँ क्षीण न हों, तो उपचयादिके स्वतःसिद्ध होनेसे भोजनकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। शरीरके भीतर धातुओंका परिपाक करनेवाली एक भी अग्नि यदि अपना काम करना बन्द कर दे, अथवा धातुपोषक रसोंको यथास्थान पहुँचानेवाली व्यानरूप वायु कदाचित् अपना काम करना बन्द कर दे, अथवा धातुपोषक रसोंको ले जानेवाले स्रोत (मार्ग) किसी स्थानपर अवरुद्ध हो जायँ, तो अशितपीतादि धातुओंकी वृद्धि नहीं कर सकेंगे, तथा शरीरमें उपचय बलवर्णादिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि जब चतुर्विध आहारद्रव्य प्राणीके लिए हितकर होते हैं, तो जाठराग्नि और भूताग्नियोंके द्वारा सम्यक् प्रकारसे पचा दिए जाते हैं। इन आहारद्रव्योंका परिपाक होते समय यदि शरीरकी धातुपाचक अग्नियाँ, रसवाही वायु और स्रोत अपना-अपना काम ठीक प्रकारसे करते हैं, तो परिपक्व होकर ये आहारद्रव्य सम्पूर्ण शरीरको उपचय बल वर्ण सुख और आयु प्रदान करते हैं, तथा शरीरगत धातुओंको ओजस्वी बनाते हैं।[2] "शरीरगत रसक्तादि धातुएँ परिपाकके कारण निरन्तर क्षीण होती हुई धातुओंको ही भोजनरूपसे ग्रहण करके प्रकृतिका अनुवर्त्तन करती हैं, अर्थात् स्वस्थ अवस्थामें रहती हैं।"[3] तात्पर्य यह है कि जब मज्जागत धात्वग्नि मज्जाका परिपाक शुक्ररूपमें करती है, तो उसका

समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥ —(चिकित्सास्थान १५।५-८)

१. तत्र जाठराग्निः सर्वानिवाहाररसमलविपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् गुणाञ्जनयन्ति। —चक्रपाणिः (चिकित्सा० १५।१३)

२. विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति, शरीरधातूनूर्जयति च।
—(सूत्र० २८।३)

३. धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते। —(सूत्र० २८।४)

क्षीण होना स्वाभाविक है। अपनी इस क्षीणताकी पूर्त्ति करनेके लिए मज्जा अस्थिको अपना आहार बनाती है, अर्थात् अस्थिगत धात्वग्निसे अस्थिका परिपाक मज्जाके रूपमें होता है और मज्जाकी क्षतिपूर्ति हो जाती है। इसी प्रकार मेदका परिपाक अस्थिकी क्षतिपूर्त्ति करता है, मांसका परिपाक मेदकी, रक्तका परिपाक मांसकी, तथा धातुरूप रसका परिपाक रक्तकी क्षतिपूर्ति करता है। अब प्रश्न उठता है कि क्षीण होते हुए धातुरूप रसकी क्षतिपूर्ति किससे होती है, अर्थात् धातुरूप रसका आहार क्या है? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—"उदरगत आहारसे दो प्रकारके द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। एक तो आहारका प्रसाद(सार) कहलानेवाला **रस**, और दूसरा मल कहा जानेवाला **किट्ट** (असार अंश)।"[१] धातुरूप रसका पोषण आहार-का सार भाग कहे जानेवाले रससे होता है। समस्त धातुओंके पोषणके मूलमें यह आहारप्रसादरूप रस ही आधाररूपसे प्रतिष्ठित है। वही इन सभीका मूलभूत आहार है। शारीरस्थानमें भी धातुओंका द्वैविध्य बताया गया है—"शरीरके भीतर दो प्रकारकी धातुएँ हैं — मलरूप और प्रसादरूप। उनमें मलरूप धातुएँ वे हैं, जो शरीरको हानि पहुँचाती हैं। जैसे शरीरके छिद्रोंमें अलग-अलग उत्पन्न होनेवाले बहिर्मुख मल, पकी हुई (विकृत) रसरक्तादि धातुएँ, प्रकुपित वात पित्त और श्लेष्मा, तथा इनके अतिरिक्त जो कोई भी अन्य भाव शरीरमें रहकर शरीरको हानि पहुँचाते हैं, हम उन सभीकी गणना मलोंमें करते हैं। इनसे भिन्न अर्थात् विकार न करनेवाले, अपने समुचित परिमाणमें अवस्थित भावोंकी गणना हम प्रसादरूप धातुओंमें करते हैं" (शारीर० ६।१७)। इससे यह सिद्ध होता है कि मूत्रपुरीषादि और वातादि भी अपने समुचित मानमें स्थित होकर शरीरको धारण करनेसे प्रसादरूप बन जाते हैं, तथा रसरक्तादि भी विकृत होकर शरीरको पीडा पहुँचानेके कारण मलरूप सिद्ध होते हैं।

किट्टका निरूपण—आहारका जो साररहित अंश होता है, उसे आयुर्वेदमें किट्ट कहा जाता है। किट्टसे स्वेद मूत्र पुरीष; वात पित्त कफ; कान आँख नासिका मुख रोमकूप और जननेन्द्रियोंके मल उत्पन्न होते हैं, तथा केश श्मश्रु रोम और नखादि अवयव पुष्ट होते हैं (सूत्र० २८।६)। जब आहारका रस परिपाकके द्वारा क्रमशः सप्तधातुओंमें परिणत होता है, तो एक धातुके प्रसादांशसे धात्वन्तरकी उत्पत्ति होते समय उस धातुका जो असार अंश रह जाता है, उसे भी किट्ट ही समझना चाहिए। कहा गया है—"देहको धारण करनेवाली सात धातुएँ अपनी-अपनी धात्वग्नियोंके द्वारा किट्टरूप और प्रसाद-रूप द्विविध परिणामको प्राप्त करती हैं।"[२] इन विविध किट्टोंकी उत्पत्तिका निरूपण इस प्रकार किया गया है—"अन्नका किट्ट है पुरीष और मूत्र, रसका किट्ट है कफ, रुधिरका किट्ट है पित्त, मांसके किट्ट हैं कान आँख नाक मुख

---

१. तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। —(सूत्र० २८।५)

२. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ —(चिकित्सा० १५।१५)

और जननेन्द्रियोंके मल, मेदका किट्ट है स्वेद, अस्थिके किट्ट हैं केश और लोम, तथा मज्जाके किट्ट हैं आँख पुरीष और त्वचाके स्नेह (चिकनाई)। इस प्रकार धातुओंके पाकसे प्रसादरूप और किट्टरूप द्विधा परिणाम होता है।"[१] रसका परिपाक होते समय किट्टांश कफ बन जाता है, और प्रसादांश रक्त बन जाता है। रक्तका परिपाक होनेपर किट्टांश पित्त और प्रसादांश मांस बन जाता है। इसी प्रकार अन्य धातुओंके परिपाकको समझ लेना चाहिए। शुक्र भी ओजोजनक होनेके कारण धातुओंके अन्तर्गत माना गया है। परन्तु शुक्रका पाक होनेपर किट्टकी उत्पत्ति नहीं होती है। चिकित्सास्थान(१५।१५)में सातों धातुओंका जो किट्टप्रसादरूप द्विधा परिणाम बताया गया है, वह 'छत्रिणो गच्छन्ति' न्यायसे सङ्गत है, क्योंकि सातवीं धातु शुक्रका परिपाक किट्टवान् नहीं होता है।

त्रिदोष

ग्रहणीचिकित्सिताध्यायमें कफ पित्त और वातकी उत्पत्तिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—"षड्रसात्मक अन्नको खानेके अनन्तर ही जो उसका प्रथम पाक होता है, उसमें अन्नके मधुरभावसे फेनके समान कफकी उत्पत्ति होती है। इस प्रथम मधुरपाकके अनन्तर पचता हुआ अन्न जब विदग्ध (अधपका) होकर अम्लभावको प्राप्त होता है, और वायुके द्वारा आमाशयसे नीचेकी ओर ले जाया जाता है तो उसके अम्लभावसे स्वच्छ पित्तकी उत्पत्ति होती है। आहारके अम्लभावसे उत्पन्न होनेके कारण पित्त भी अम्ल होता है। इसके अनन्तर जब यह अन्न मलरूपसे पक्वाशयमें पहुँचता है, तो जाठराग्निके द्वारा सुखाया जाता हुआ पिण्डाकृति मलके रूपमें पक जाता है। उस समय इसके कटुभावसे वायुकी उत्पत्ति होती है।"[२] इस प्रकार खाए हुए आहारसे वात पित्त और कफ इस त्रिदोषकी उत्पत्ति होती है। वात पित्त और कफ चूँकि पोषक आहाररस तथा तज्जन्य धातुओंके किट्टांश हैं, इसीलिए इनको आयुर्वेदमें 'दोष' कहा जाता है।[३] इन त्रिदोषोंके दोषत्वका कारण यह है कि ये तीनों शरीरको दूषित करते हैं। जब शरीर इनमेंसे एक दो या तीनोंके द्वारा दूषित

---

१. किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्।
प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः॥—(चिकित्सा० १५।१८-१९)

२. अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफो भावात्फेनभूत उदीर्यते॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः॥ —(चिकित्सा० १५।९-११)

३. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः। —(सूत्र० १।५७)

कर दिया जाता है, तो अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सप्त-धातुओं और अवशिष्ट मलोंको दूषित करनेके द्वारा ही ये त्रिदोष शरीरको दूषित करते हैं,[१] क्योंकि शरीर इन धातुओं और मलोंकी समष्टिमात्र है।

वात पित्त और कफ, जबतक प्रकृतिस्थ अर्थात् वैषम्यरहित होनेके कारण प्रकोपरहित रहते हैं, तबतक पुरुषको उसी प्रकार स्वस्थ इन्द्रियोंवाला, बल वर्ण और सुखसे सम्पन्न, तथा दीर्घायुसे समृद्ध बनाते हैं, जिस प्रकार सम्यग् अनुष्ठित धर्म अर्थ और काम पुरुषको इस लोकमें तथा परलोकमें महान् कल्याणसे युक्त कर देते हैं। परन्तु जब ये तीनों विकृत अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होनेके कारण कुपित हो जाते हैं, तब इसके विपरीत महान् अनर्थके उसी प्रकार जनक बनते हैं, जिस प्रकार तीनों ॠतुएँ किसी जनपदका विध्वंसकाल उपस्थित होनेपर विकृत होकर अर्थात् अपने-अपने लक्षणोंको व्यभिचरित करती हुई लोकके अकल्याणका कारण बनती हैं।[२] प्रकृति और विकृतिका सामान्य लक्षण इस प्रकार है—"धातुओं(वातादि तथा रसादि)की विषमता ही विकार या विकृति है, और इनकी समताको ही प्रकृति कहा जाता है। आरोग्य (धातुसाम्य) सुखका हेतु है, तथा विकार (धातुवैषम्य) दुःखका हेतु है।"[३] धातुओंकी विषमता और समताका तात्पर्य यह है कि जब कोई धातु स्वास्थ्यके लिए जितने परिमाणमें अपेक्षित है, उस नियत परिमाणसे कम या अधिक हो जाती है, तो उसे विषम कहा जाता है, और जब नियत परिमाणमें रहती है, तब उसे सम कहा जाता है। इसीलिए कहा गया है—"इन दोषोंकी गति तीन प्रकारकी है, क्षय स्थान और वृद्धि।"[४] इनमें क्षय और वृद्धि विकृति या वैषम्य है, तथा स्थान प्रकृति या साम्य है। इसी कारण आचार्यने इन त्रिविध गतियोंका अन्ततोगत्वा द्वैविध्य ही प्रतिपादित किया है—"इन दोषोकी प्राकृती और वैकृती दो ही गतियाँ देखी गई हैं। प्रकृतिभूत पित्तकी ऊष्मासे ही आहार और धातुओंका परिपाक होता है, परन्तु वही पित्त प्रकुपित (विकृत) होकर बहुतसे रोगोंको जन्म देता है। प्रकृतिभूत श्लेष्मा शरीरका बल है, परन्तु विकृत होकर शरीरको मलिन करनेके कारण मल कहलाता है। शरीरमें वही ओज कहा जाता है,

---

१. तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति।
—(विमान० ५।१४)

२. सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्ण-सुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति, सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेय-सेन महता पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके; विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणो-पपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति।
—(सूत्र १२।१३)

३. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसञ्ज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥ —(सूत्र० ९।४)

४. क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः। —(सूत्र० १७।११२)

और वही पाप्मा या रोग भी कहा जाता है। शरीरकी समस्त चेष्टाएँ प्रकृतिभूत वायुके कारण होती हैं, उसको प्राणियोंका प्राण कहा गया है, परन्तु विकृत होनेपर उसी वायुसे रोग उत्पन्न होते हैं, और वही मृत्युका कारण बनता है।"[१] इन त्रिदोषोंकी आयुर्वेदमें बड़ी महिमा है। इस शास्त्रमें रोग तीन प्रकारके बताए गए हैं—निज आगन्तु और मानस। इनमें निज-रोग वातपित्तकफरूप शारीरदोषोंसे उत्पन्न होते हैं। आगन्तुरोग भूत विष वायु अग्नि और प्रहारादि हेतुओंसे उत्पन्न होते हैं। तथा मानसरोग ईप्सित वस्तुके न मिलनेसे और अनीप्सितके मिलनेसे उत्पन्न होते हैं।[२] रजस्तमो-जन्य मानसरोग और वातपित्तश्लेष्मजन्य शारीररोग — दोनों शरीरके भीतर ही होते हैं, अतः प्रकृत्या दोनों ही निज हैं। निजरोग वात पित्त और कफके विना नहीं उत्पन्न हो सकते हैं, अर्थात् वात पित्त और कफ ही व्यस्त या समस्त रूपसे सभी निज रोगोंके कारण बनते हैं। जिस प्रकार पक्षी सारे दिन उड़ते रहनेपर भी अपनी छायाका अतिक्रमण नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अपनी धातुकी विषमताके कारण होनेवाले सभी विकार वात पित्त और कफका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। वात पित्त और श्लेष्माके स्थान-विशेष संस्थानविशेष और प्रकृतिविशेषको सूक्ष्मतासे देखकर प्रतिभाशाली भिषग्जन सभी विकारोंको वातपित्तकफात्मक होनेपर भी उन उन स्थानविशेष संस्थानविशेष और प्रकृतिविशेषके नामोंसे ही अभिहित करते हैं (सूत्र० १९।१६)। निजरोगोंका तो वातपित्तश्लेष्मासे सम्बन्ध है ही, आगन्तुरोग भी इनसे अछूते नहीं हैं। अन्तर केवल इतना है कि आगन्तुरोग शरीरमें आनेके अनन्तर वात पित्त और कफको विकृत करते हैं। कहा गया है—"आगन्तु-रोग उत्पन्न होकर पहले शरीरमें व्यथा करता है, तत्पश्चात् वात पित्त और कफमें वैषम्य उत्पन्न करता है। परन्तु निजरोगमें पहले वात पित्त और कफ वैषम्यको प्राप्त होते हैं, अनन्तर व्यथा उत्पन्न होती है" (सूत्र०२०।८)। वस्तुतः दोनों प्रकारके रोग परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि आगन्तुविकार निजविकारका अनुगमन करता है (जैसे दोषज ज्वर या उन्मादमें बादको भूतावेश भी हो जाता है), तथा बढ़ा हुआ निजविकार आगन्तुका अनुगमन करता है (जैसे भूतज उन्मादमें निजरोग भी अपने निमित्तको प्राप्त करके प्रादुर्भूत हो

---

१. गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या ॥
पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते ।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥
प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥
सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥

—(सूत्र० १७।११५—११८)

२. त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः । तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः । आगन्तु-र्भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः । मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चा-निष्टस्योपजायते । —(सूत्र० ११।४५)

जाता है)।[१] इस प्रकार वात पित्त और कफका उभयविध रोगोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है।

यह बात निश्चित है कि कोई भी वैद्य जबतक रोगीके शरीरमें स्थित त्रिदोषोंकी प्रकृति या विकृतिको ठीकसे नहीं समझ लेता है, तबतक उसे रोगका समुचित ज्ञान नहीं हो सकता है। कहा गया है—"समस्त प्राणधारियोंके शरीरमें वात पित्त और कफ इन तीनोंकी नित्य स्थिति रहती है। ये तीनों या तो विकृत अवस्थामें रहते हैं, या प्रकृतिस्थ रहते हैं। विद्वान् वैद्यका कर्त्तव्य है कि वह इन तीनोंकी वास्तविक स्थितिको (प्रमाणोंके द्वारा) समझनेका प्रयास करे।"[२] चरकसंहितामें प्रकृतिस्थ वात पित्त और कफके स्वाभाविक कर्म (सूत्र० १८।५६-५८) तथा उनके ह्रास और वृद्धिको जाननेका उपाय भी बताया गया है—किसी दोषका ह्रास होनेपर उसके स्वाभाविक कर्मोंमें कमी आती है, अथवा स्वाभाविक कर्मोंके विरोधी कर्मोंकी वृद्धि होती है।[३] जैसे वायुका अल्पमात्रामें ह्रास होनेपर, उसके जो स्वाभाविक कर्म उत्साहादि हैं, उनमें कमी दिखाई पड़ेगी, तथा अधिक मात्रामें वायुका ह्रास होनेपर उत्साहादिके विरोधी विषादादिकी वृद्धि दिखाई पड़ेगी। इसी प्रकार पित्तका ह्रास होनेपर पाचनशक्तिमें कमी अथवा अपाचनकी वृद्धि होगी। तथैव श्लेष्माका ह्रास होनेपर स्नेहकी कमी अथवा रूक्षताकी वृद्धि दिखाई पड़ेगी। किसी दोषका जो स्वभाव है, उसमें विशेषता(अधिकता)का होना निश्चितरूपसे उसकी वृद्धिका लक्षण है[४]। जैसे श्लेष्माका स्वभाव है, स्नेह शैत्य और माधुर्यादि। अब कदाचित् उसमें अत्यधिक स्नेह, अत्यधिक शैत्य, और अत्यधिक माधुर्यादि परिलक्षित हों, तो इसे उसकी वृद्धिका लक्षण समझना चाहिए। वातादि दोष वृद्धिको प्राप्त होनेपर वृद्धिजन्य बलके अनुसार अपने वैकारिक लिङ्गोंको शरीरमें प्रकट करते हैं। अर्थात् दोषकी जितनी वृद्धि होती है, उतनी ही मात्रामें वैकारिक लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। क्षीण होनेपर अपने प्राकृतिक लक्षणोंका परित्याग कर देते हैं। तथा समताको प्राप्त हुए अर्थात् प्रकृतिस्थ दोष अपना प्राकृत कर्म ठीक प्रकारसे करते रहते हैं।[५]

दोषोंकी कालकृत गति—वर्षा शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त और ग्रीष्म—इन छः ऋतुओंमें पित्त कफ और वातमेंसे प्रत्येकका प्रचय प्रकोप और प्रशम

---

१. आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः।—(सूत्र० १९।१८)

२. नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः॥ —(सूत्र० १८।५५)

३. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्॥ —(सूत्र० १८।५९)

४. दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्। —(सूत्र० १८।६०)

५. दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ —(सूत्र० १७।६२)

क्रमानुसार हुआ करता है ।[१] इस प्रचय आदिको ही दोषोंकी कालकृत गति कहा जाता है । इस कथनका आशय यह है कि वर्षामें पित्तका प्रचय, शरद्में पित्तका प्रकोप, तथा हेमन्तमें पित्तका प्रशम होता है । शिशिरमें कफका सञ्चय, वसन्तमें कफका प्रकोप, और ग्रीष्ममें कफका प्रशमन होता है । इसी प्रकार ग्रीष्ममें वातका सञ्चय, वर्षामें वातका प्रकोप, तथा शरद्में वातकी शान्ति होती है । प्राचीनकालमें आयुर्वेदज्ञ भिषग्जनोंने सूक्ष्मतासे इन दोषोंकी गतिका निरीक्षण करके इस सिद्धान्तको स्थिर किया था । अष्टाङ्गहृदयमें भी दोषोंकी कालकृत गतिका इसी रूपमें प्रतिपादन किया गया है ।[२]

दोषोंके शरीरगत अधिष्ठान—यद्यपि वातादि दोषत्रयी सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है,[३] तथा शरीरका कोई भी भाग इनके लिए अगम्य नहीं है, तथापि वातके विशेष स्थान हैं—बस्ति, पुरीषाधान, कटि, दोनों सक्थियाँ, दोनों पैर, अस्थियाँ और पक्वाशय । इनमें भी पक्वाशय विशेषरूपसे वायुका अधिष्ठान है । पित्तके विशेष स्थान हैं—स्वेद, रस, लसीका (Saliva), रुधिर, और आमाशय । इनमें भी आमाशयका अधोभाग पित्तका विशेष अधिष्ठान है । श्लेष्माके स्थान हैं—उरःस्थल, शिर, ग्रीवा, पर्व(सन्धियाँ), आमाशय और मेद । इनमें भी उरःस्थल विशेषरूपसे श्लेष्माका अधिष्ठान है (सूत्र० २०।८) । अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानोंमें ही प्रायः वातादि विकार प्रादुर्भूत होते हैं, और इन स्थानोंमें उत्पन्न होनेपर प्रायः दुर्जय भी होते हैं ।

दोषोंमें गुणप्रधानभाव—इन तीन दोषोंमें वायुको प्रधान माना गया है । इसके पाँच कारण हैं—(१) वायु जितनी जल्दी कुपित होकर रोग उत्पन्न करता है, पित्त और कफ नहीं कर पाते हैं । (२) वातजन्य रोग जितने दारुण और पीडाजनक होते हैं, उतने पित्तजन्य और कफजन्य नहीं होते हैं । (३) वायु सबसे अधिक सङ्ख्यामें रोग उत्पन्न करता है । महारोगाध्यायमें कहा गया है—वातजन्य विकार अस्सी है, पित्तजन्य विकार चालीस हैं, तथा कफजन्य विकार बीस हैं ।[४] (४) वायु सूक्ष्म होनेके कारण भी प्रधान है । इसकी सूक्ष्मता आशुकारिता और दारुणतापर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—पित्त और कफकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण वायु ही उन दोनोंको शरीरमें प्रेरित करता है । इसलिये जब वायु कुपित होता है, तो अपने मार्गको आवृत करनेवाले पित्त और कफको विकम्पित करके इधर-उधर फेंकता हुआ

---

१. **चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।**
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ —(सूत्र० १७।११४)

२. **चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।**
वर्षादिषु च पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥
—अष्टाङ्गहृदय (सूत्र० अध्याय १२)

३. **वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।** —(चिकित्सा० २८।५९)

४. **अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः ।**
—(सूत्र० २०।११)

अनेक रोगोंको जन्म देता है, तथा रसादि धातुओंको भी सुखा डालता है।[१] कुपित वायुका विनाशकारी प्रभाव वैद्यजनोंको विदित ही है। (५) अत्यधिक योगवाही होनेके कारण भी वायुका प्राधान्य सिद्ध होता है। जिसके साथ इसका योग होता है, उसीके गुणोंको वहन करता है। संयोगके द्वारा वह शीत और उष्ण दोनों प्रकारके कार्य करता है। तेज(पित्त)से युक्त होकर दाह उत्पन्न करता है, और सोम(कफ)से युक्त होकर शीतकारक होता है।[२] इस प्रकार आशुकारी, दारुणरोगजनक, प्रचुररोगजनक, सूक्ष्म और अत्यधिक योगवाही होनेके कारण वायुका प्राधान्य सिद्ध होता है। वायुके अनन्तर पित्तकी प्रधानता है, क्योंकि शरीरकी मूलभूत अग्निका हेतु पित्त ही है। पित्तकी गरमीसे ही शरीरमें पाकक्रिया होती है।[३] कफकी अपेक्षा अधिक रोगोंको उत्पन्न करनेके कारण, तथा कफकी अपेक्षा आशुकारी होनेके कारण भी इसकी प्रधानता सिद्ध होती है। इसी प्राधान्यके अनुरोधसे प्रायः सर्वत्र 'वात पित्त कफ' इसी क्रमसे पाठ मिलता है। इन त्रिदोषोंमें पित्त और कफका विवेचन स्वल्प होनेके कारण सूचीकटाहन्यायसे पहले करके अन्तमें वायुका विवेचन करेंगे।

पित्त—उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, अत्यधिक स्नेहका अभाव, श्वेत और अरुणको छोड़कर कोई अन्य वर्ण, आम गन्ध, कटु और अम्ल रस तथा सरत्व—यह पित्तका अपना स्वरूप है। यह स्वरूप अपरिणामी अर्थात् सहजसिद्ध है, किसी अन्य उपाधिके कारण नहीं है। जब पित्त विकृत होता है, तो उसकी क्रियाके रूपमें उसका औष्ण्यादिस्वरूप ही शरीरमें अभिव्यक्त होता है। शरीरमें इन औष्ण्यादि समस्त लक्षणोंको अथवा उनके किसी अंशको उपलब्ध करके कुशल चिकित्सक सन्देहरहित होकर उस विकारको पित्तविकारके रूपमें ही निश्चित करते हैं (सूत्र० १।६० तथा २०।१७)।

कफ—स्नेह, शीतलता, शुक्लता, भारीपन, मधुरता, स्थिरता, पिच्छिलता (चिपचिपाहट) तथा मसृणता(चिकनापन)—यह श्लेष्माका अपना स्वरूप है, जो अपरिणामी अर्थात् सहजसिद्ध है। जब श्लेष्मा विकृत होता है, तो उसकी क्रियाके रूपमें ये लक्षण ही शरीरमें प्रकट होते हैं। शरीरमें इन समस्त लक्षणोंको अथवा उनके किसी अंशको उपलब्ध करके कुशल चिकित्सक निस्सन्दिग्ध रूपसे उस विकारको श्लेष्मविकार ही समझते हैं (सूत्र० १।६१ तथा २०।२१)।

वात—रूक्षता, शीतलता, लघुता, विशदता, गतिशीलता, अमूर्तता और अस्थिरता—यह वायुका अपना सहजसिद्ध स्वरूप है। जब वायु विकृत होता

---

१. **वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।**
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्॥
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत्।—(चिकित्सा० २८।६०-६१)

२. **योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।**
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥—(चिकित्सा० ३।३८-३९)

३. **पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।** —(सूत्र० १७।१६)

है, तो उसकी क्रियाके रूपमें ये ही लक्षण शरीरमें प्रकट होते हैं। इन लक्षणों-को समस्त या व्यस्त रूपसे शरीरमें उपलब्ध करके कुशल भिषग्जन संशयरहित होकर उस विकारको वायुविकारके रूपमें ही निश्चित करते हैं (सूत्र० १।५६; १२।४ तथा २०।१३)। वायुके स्नेहसाध्य होनेके कारण रूक्षता उसका सबसे प्रबल गुण है, इसलिए सर्वत्र उसका पाठ सर्वप्रथम किया गया है। वैशेषिकप्रभृति अन्य दर्शनोंमें वायुको यद्यपि 'अनुष्णाशीत' कहा गया है, तथापि शीतसे वातकी वृद्धि और उष्णसे उसका प्रशम देखा जानेके कारण आयुर्वेद उसे शीतगुणविशिष्ट ही मानता है। वस्तुतः वैशेषिकदर्शनमें आकाश-चारी वायुको अनुष्णाशीत कहा गया है, जब कि आयुर्वेदमें शरीरचारी वायु-को शीतगुणविशिष्ट कहा गया है।

यद्यपि वायुका निरूपण यहाँपर दोषोंके प्रसङ्गमें किया जा रहा है, तथापि यह बात स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिए कि वायु त्रिदोषोंमेंसे केवल एक दोष ही नहीं है, प्रत्युत वह आकाशादिके समान एक महाभूत भी है। पित्त और कफकी अपेक्षा इसका यही वैशिष्ट्य है। वायु शरीरधातुओंको प्रभावित करनेके अतिरिक्त बाह्य वातावरणको भी प्रभावित करता है। वायु-की इस अपरिमित शक्ति और अप्रतिम प्रभावके कारण ही आयुर्वेदमें इसका अपूर्व माहात्म्य प्रख्यापित किया गया है। चरकसंहितामें उसे सर्वदेवमय मानकर पुनः पुनः प्रणाम किया गया है। महाभूतोंमें भी जैसी महिमा वायु-की है, वैसी अन्य भूतोंकी नहीं है, क्योंकि अन्य भूत प्राणियोंका पोषण वायु-की सहायतासे ही करनेमें समर्थ होते हैं। वातकलाकलीयनामक अध्याय वायुके माहात्म्य-प्रख्यापनको ही सर्वात्मना समर्पित है।

शरीरचारी प्रकृतिस्थ वायुके कर्म—शरीरके भीतर विचरण करनेवाला वायु अकुपित (प्रकृतिस्थ) दशामें तन्त्रयन्त्रको धारण करनेवाला होता है। शरीरमें फैली हुई सिराओं और धमनियोंको तन्त्र कहा जाता है, तथा हृदयादि-को अथवा शरीरकी सन्धियोंको यन्त्र कहते हैं। वायु इन सभीको कर्म करनेकी सामर्थ्य प्रदान करके इनका धारक बनता है। प्राण उदान समान व्यान और अपान इस वायुके पाँच स्वरूप हैं, अर्थात् कर्मविभागसे यह वायु पञ्चधा विभक्त है। यह अनेकविध चेष्टाओंका प्रवर्त्तयिता है। अनीप्सित विषयमें प्रवृत्त मनको नियन्त्रित करनेवाला तथा ईप्सित विषयकी ओर मनको ले जानेवाला यह वायु ही है। यह समस्त इन्द्रियोंका प्रेरक है, अर्थात् सत्त्वगुणविशिष्ट मनके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष उत्पन्न करके उसे विषयग्रहणकी सामर्थ्य प्रदान करता है। वायु सभी इन्द्रियार्थोंका वहन करनेवाला है, अर्थात् शब्दादि अर्थों-को इन्द्रियोंके पास पहुँचाता है, शरीरकी सभी धातुओंका व्यूहन (सङ्घात) करता है, अर्थात् उन धातुओंका शरीरमें यथोचित सन्निवेश करता है। शरीरके टूटे तथा कटे-फटे भागोंको जोड़ता है। वागिन्द्रियको प्रवृत्त कराता है। स्पर्श और शब्दकी प्रकृति अर्थात् उत्पत्तिकारण है। आकाशमें नित्य प्रविष्ट होनेके कारण वायु शब्दका भी कारण है। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशमें वायुके अनुप्रविष्ट होनेसे ही शब्द श्रवणेन्द्रियग्राह्य बनता है। वायु श्रोत्रेन्द्रिय और त्वगिन्द्रियका मूल है। हर्ष और उत्साहकी योनि अर्थात्

अभिव्यक्तिका कारण है। जाठराग्निको प्रदीप्त करनेवाला है, अर्थात् जाठराग्निके निमित्तभूत पित्तका प्रयोजक है। दोषोंको सुखानेवाला, मलोंको शरीरके बाहर निकालनेवाला, सूक्ष्म और स्थूल स्रोतोंका भेदन करनेवाला, गर्भस्थ आकृतियोंका निर्माण करनेवाला, तथा आयुकी अनुवृत्तिका कारण है, अर्थात् प्रतिक्षण शीर्ण होनेवाले शरीरको नव नव निर्माणके द्वारा आपूरित करनेसे यह वायु ही आयुको संरक्षण प्रदान करता है।"[1]

शरीरचारी कुपित वायुके कर्म—शरीरके भीतर सञ्चार करनेवाला वायु कुपित होनेपर शरीरको नाना प्रकारके विकारोंसे सन्तप्त करता है, जिसका फल होता है, बल वर्ण सुख और आयुका विनाश। कुपित वायु मनमें ग्लानि तथा दुःख उत्पन्न करता है। सभी इन्द्रियोंको नष्ट कर देता है। गर्भका विनाश कर देता है, अथवा उसे विकृत कर देता है, अथवा अतिकालपर्यन्त गर्भाशयमें धारण कराता है। भय शोक मोह दैन्य तथा अतिप्रलापको जन्म देता है, और प्राणोंका उपरोध करके मृत्युका भी कारण बनता है (सूत्र० १२।८)।

बहिश्शरीरचारी प्रकृतिस्थ वायुके कर्म—शरीरसे बाहर लोकमें विचरण करता हुआ प्रकृतिस्थ (अविकृत) वायु इन इन कर्मोंको करता है—पृथ्वीमण्डलको धारण करना, अग्निको प्रज्वलित करना, आदित्य चन्द्रमा तथा नक्षत्रों और ग्रहोंके समूहको निरन्तर अविच्छिन्न रूपसे गतिशील रखना, मेघोंकी सृष्टि करना, पानी बरसाना, नदियोंको प्रवाहित करना, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करना, औद्भिद वृक्षादिको अङ्कुरित करना, ऋतुओंका विभाग करना, धातुओंका विभाग करना, उनके परिमाण और आकृतिको अभिव्यक्त करना, बीजोंका अभिसंस्कार करना अर्थात् उनमें अङ्कुरोत्पादनशक्तिका आधान करना; शस्यकी वृद्धि करना, पकनेसे पहले रहनेवाली आर्द्रताको रोकना, तथा पकानेके द्वारा शस्यको सुखा देना और इनके अतिरिक्त सभी अविकृत कार्योंका सम्पादन करना।[2]

---

१. **वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्त्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः।**

—(सूत्र० १२।८)

२. **प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—धरणीधारणं, ज्वलनोज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम्, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागः, विभागो धातूनां, धातुमानसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्याभिवर्धनमविक्लेदोपशोषणे, अवैकारिकविकारश्चेति।** —(सूत्र० १२।८)

इस प्रकरणसे सभी महाभूतोंमें वायुका प्राधान्य सिद्ध होता है। पृथ्वीको धारण करनेसे, अग्निको प्रज्वलित करनेसे, तथा मेघोंकी सृष्टि वर्षा और नदियोंका प्रवर्तन करनेसे, पृथ्वी जल और अग्निकी स्थिति वायुके अधीन सिद्ध होती है। यदि वायु नहीं होती, तो पृथ्वी जल और अग्निका अभाव होता, तथा इस प्रकार संसारकी सृष्टिका ही अभाव हो जाता। सूर्य चन्द्र ग्रह और नक्षत्रादिकी गतिको नियन्त्रित करनेसे इनकी भी स्थिति वायुके ही अधीन सिद्ध होती है। किन्तु यह बात आधुनिक अन्तरिक्षानुसन्धानसे असिद्ध ही नही प्रत्युत हास्यास्पद प्रतीत होती है, क्योंकि पृथ्वीके ऊपर लगभग एक सौ मीलकी दूरीतक ही वायुमण्डल है, उसके आगे निर्वात शून्यका अपार महोदधि है। चन्द्रमापर किसी प्रकारका वायुमण्डल नहीं है, यह बात चन्द्रयात्राओंसे सर्वथा प्रमाणित हो चुकी है। अन्य ग्रहों और नक्षत्रोंमें क्या स्थिति है, इसका ज्ञान भावी अन्वेषणोंपर अवलम्बित है। आधुनिक अन्तरिक्षविज्ञानके अनुसार सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रादिकी स्थिति और गति उनकी अपनी-अपनी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति तथा पारस्परिक दूरी और आकर्षणशक्तिपर अवलम्बित है, न कि वायुके द्वारा नियन्त्रित है। अतः चरकमुनिका यह कथन कि वायु ही सूर्य-चन्द्रादिकी गतिका नियामक है, आधुनिक अन्तरिक्षवेत्ताओंकी दृष्टिमें असङ्गत और युक्तिहीन प्रतीत हो सकता है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरणका आद्योपान्त सूक्ष्म-दृष्टिसे अवलोकन करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकारको वायुके तीन रूप अभीष्ट हैं—(१) दोषरूप (२) महाभूतरूप और (३) देवतारूप। सूर्यचन्द्रादिकी गतिका नियमन करनेवाला वायु देवतारूप है, ऐसा ग्रन्थकारको अभीष्ट है। आगे वायुको भगवान् यम प्रजापति अदिति विश्वकर्मा विश्वरूप विभु और विष्णु इत्यादि कहकर जो स्तुति की गई है, उससे वायुका देवत्व प्रमाणित होता है। तथा देवतारूप वायुके लिए कोई कार्य दुष्कर नहीं है।

बहिश्शरीरचारी प्रकुपित वायुके कर्म—लोकमें प्रवाहित होनेवाला वायु जिस समय प्रकुपित हो जाता है, उस समय इन इन अनर्थोंका जनक बनता है—पर्वतशिखरोंको तोड़ना, वृक्षोंको उखाड़ना, सागरोंमें विक्षोभ उत्पन्न करना, सरोवरोंके जलको ऊपर उठाना, नदियोंको विपरीत दिशामें प्रवाहित करना, पृथ्वीको प्रकम्पित करना, मेघोंको एकत्र करके भीषण गर्जन कराना, नीहार(कोहरा या तुषार), निर्ह्राद(विना मेघके गर्जन), धूल बालू मछली मेंढक साँप राख रुधिर पत्थर और अशनिकी वर्षा कराना, छहों ऋतुओंको अव्यव-स्थित कर देना, खेतोंमें खड़ी फसलको छिन्न-भिन्न कर देना, प्राणियोंका महामारी आदि उपद्रवोंके द्वारा विनाश करना, भावभूत पदार्थोंका अभाव कर देना, तथा युगान्तकारी मेघ सूर्य अग्नि और वायुकी सृष्टि करना।[1]

---

१. **प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—शिखरिशिखरावमथनम्, उन्मथनमनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्, उद्वर्तनं सरसां, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च भूमेः, आधमनमम्बुदानां, नीहारनिर्ह्रादपांशुसिकतामत्स्यभेकोरगक्षाररुधिराश्माशनिविसर्गः, व्यापादनं च षण्णामृतूनां, शस्यानामसङ्घातः, भूतानां चोपसर्गः, भावानां चाभाव-करणम्, चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः।**—(सूत्र० १२।८)

लोकमें प्रवाहित होनेवाला वायु यद्यपि एक महाभूत है, तथापि प्रस्तुत प्रकरणमें वह अधिष्ठातृदेवताके रूपमें भी अभिप्रेत है। धरणीधारण तथा आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहसमूहकी गतिको नियमित करना केवल महाभूतरूप वायुके लिए सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि यहाँपर युगान्तकारी वायुका स्रष्टा वायुको ही बताया गया है। क्या वह स्वयं ही अपना स्रष्टा बन सकता है? स्पष्ट है कि यहाँपर स्रष्टा देवतारूप वायु है, वही प्रलयङ्कर वायुकी सृष्टि करता है। उक्त प्रकरणमें जो भी कर्म महाभूतरूप वायुके लिए असङ्गत जान पड़ते हैं, उन्हें देवतारूप वायुका कर्म समझना चाहिए। वायुकी इस दिव्यता और देवतात्मकताका निरूपण ग्रन्थकारने उसकी स्तुतिके व्याजसे इस प्रकार किया है—"वह भगवान् वायुदेवता सबके उत्पत्तिकारण और अव्यय (अविनाशी) हैं। भूतोंके अस्तित्व और विनाशके कारण हैं। सुख और दुःखका विधान करनेवाले हैं। वही मृत्यु हैं। वही यम हैं। वही नियामक हैं। वही प्रजापति हैं। वही अदिति हैं। वही विश्वकर्मा हैं। सम्पूर्ण विश्वके रूपमे वे ही हैं। वे सर्वत्र गमन करनेवाले हैं। सभी कर्मोंका विधान करनेवाले हैं। भावपदार्थोंके सूक्ष्मकारण हैं। सर्वव्यापक हैं। विष्णु हैं। लोकोंका अतिक्रमण करनेवाले हैं, अर्थात् एक लोकसे लोकान्तरमें गमन करनेवाले हैं। वायुदेवता ही साक्षात् भगवान् हैं।"[1] यहाँपर मृत्यु यम प्रजापति अदिति विश्वकर्मा विष्णु और भगवान् इत्यादि जो विशेषण वायुके साथ दिए गए हैं, वे उसकी विभिन्न और विचित्र शक्तियोंका बोध कराते हैं। यौगिक होनेके कारण इनका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। वातव्याधिचिकित्सितमें भी इसी प्रकार वायुकी महिमाका गान किया गया है—"वायु ही प्राणियोंकी आयु (जीवन-अवधि) है। वायु ही बल है। वायु ही शरीरधारियोंका धारणकर्त्ता है। यह सम्पूर्ण विश्व वायु ही है। वायुको ही प्रभु कहा गया है।"[2] यद्यपि इस तन्त्रमें **शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग**को आयु कहा गया है, तथापि इस संयोगका प्रधान हेतु होनेके कारण प्रकृतिस्थ वायुको आयु कहना असङ्गत नहीं है। जबतक शरीरमें प्राणादि वायुका सञ्चार रहता है, तभीतक शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूप आयुका अनुवर्तन सम्भव होता है। अतः वायुके अधीन होनेके कारण आयु वायुसे भिन्न नहीं है। वायुकी विश्वरूपता और प्रभुता के कथनसे देवतारूप वायुकी अपरिमेय शक्तिका कथन किया गया है।

आयुर्वेदके ग्रन्थमें वायुकी स्तुति संहिताग्रन्थोंकी शैलीमें प्रस्तुत करनेका प्रयोजन वार्योविदके शब्दोंमें इस प्रकार है—"वायुकी यथार्थ स्तुति भी आरोग्यके लिए, बल और वर्णकी वृद्धिके लिए, तेजस्विताके लिए, उपचय-

---

१. **स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमः, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणुः, विभुः, विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति।** —(सूत्र० १२।८)

२. **वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।**
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्त्तितः॥ —(चिकित्सा० २८।३)

(पुष्टि)के लिए, ज्ञानकी सिद्धिके लिए और अधिकतम आयुकी वृद्धिके लिए होती है।"[१] अतः आयुर्वेदके ग्रन्थमे वायुकी स्तुति करना असङ्गत नहीं है।

प्राणादि पञ्चवायु—शरीरचारी वायुको वातकलाकलीयमें **'प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा'** कहा गया है। चिकित्सास्थानके वातव्याधिचिकित्सिताध्यायमें भी प्राण उदान समान व्यान और अपानके भेदसे वायु पाँच प्रकारका माना गया है। शरीरके भीतर अपने अपने स्थानोंपर निर्बाध विचरण करता हुआ यह पञ्चविध वायु देहको सम्यक् प्रकारसे धारण करता है।[२]

प्राणादिके स्थान और कर्म—(१) **प्राणवायु**के स्थान हैं—शिर छाती कण्ठ जिह्वा मुख और नासिका; तथा इसके कर्म हैं—थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास लेना और भोजन करना। (२) **उदानवायु**के स्थान हैं—नाभि उरःस्थल और कण्ठ; तथा इसके कर्म हैं—वाणीकी प्रवृत्ति, प्रयत्न ऊर्जा बल और वर्णादिका सम्पादन करना। (३) **समानवायु** स्वेदवाही दोषवाही तथा अम्बुवाही स्रोतोंमें अधिष्ठित तथा अन्तरग्निके पार्श्वमें स्थित रहता है। इसका कर्म है अग्निको बल प्रदान करना। समानवायु जाठराग्निको बल प्रदान करके अशितपीतादिका परिपाक करता है। (४) शीघ्रगतिवाला **व्यानवायु** मनुष्योंके सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है, तथा यह गति प्रसारण आक्षेप और निमेषादि क्रियाओंको सर्वदा करता रहता है। (५) दोनों अण्डकोश, बस्ति, शिश्न, नाभि, दोनों ऊरू, दोनो वङ्क्षण, गुदा और आँतें **अपानवायु**के स्थान हैं। आँतोंमें स्थित हुआ अपान शुक्र मूत्र मल आर्त्तव तथा गर्भको बाहर निकालता है।[३]

प्राणादिके सामान्य कर्म—जबतक ये पञ्चवायु अविकृत रहकर तथा अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानमें स्थित होकर अपना-अपना कर्म करते रहते हैं,

---

१. वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय, बलवर्णविवृद्धये, वर्चस्वित्वायोपचयाय, ज्ञानोपपत्तये, परमायुःप्रकर्षाय चेति। —(सूत्र० १२।१०)

२. प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन्॥ —(चिकित्सा० २८।५)

३. स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकण्ठजिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च॥
उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरःकण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च॥
स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः॥
देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा॥
वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वङ्क्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च॥
सृजत्यार्त्तवगर्भौ च……………………।—(चिकित्सा० २८।६–११)

तबतक शरीर नीरोग रहकर इनके द्वारा धारण किया जाता है। परन्तु जिस समय ये वायु विमार्गस्थ अथवा विकृत हो जाते हैं, उस समय इनके स्थानों तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेकविध रोगोंके द्वारा ये वायु शरीरको पीडित करते हैं, और किसी भारी रोगके द्वारा शीघ्र ही प्राणोंको हर लेते हैं।[१]

आहारसे धातुओंकी उत्पत्ति

कहा जा चुका है कि उदरगत आहारसे दो प्रकारके द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। प्रथम आहारका सारभूत अंश, जिसे आहाररस कहा जाता है, और दूसरा अवशिष्ट सार-रहित अंश, जिसे मल या किट्ट कहा जाता है। अब आहारसे धातुओंकी उत्पत्तिप्रक्रियाका निरूपण किया जा रहा है। इन धातुओंसे ही इन्द्रियोंका निर्माण होता है। चरकमुनिने इन धातुओंमें स्थित पाँच सूक्ष्मभूतोंको इन्द्रियद्रव्य अर्थात् इन्द्रियोंका उपादानकारण माना है। उनका कथन है—"आहारके रससे क्रमशः रस रुधिर मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र और (इन सप्तधातुओंका साररूप) ओज, इन धातुओंके सारभूत अत्यन्तविशुद्ध पाँच इन्द्रियद्रव्य (अर्थात् इन्द्रियोंके कारणभूत पृथिव्यादि पाँच महाभूत), तथा शरीरके सन्धिबन्ध और पिच्छादि अवयव पुष्ट होते हैं।"[२] आहारके रससे रसरक्तादि धातुएँ पुष्ट होती हैं, इस कथनसे धातुरूप रसको आहाररससे पृथक् स्वीकार किया गया है। इनमें अन्नपानादिसे उत्पन्न होनेवाला आहाररस पोषक है, तथा रक्तादिके समान स्थायी रहनेवाला धातुरूप रस पोष्य है। रसके द्विविध होनेपर भी शरीर अष्टधातुक नहीं है, प्रत्युत स्थानभेद और अग्निभेदादिका अभाव होनेसे दोनों रसोंको एक मान करके शरीरको सप्तधातुक ही माना जाता है। इसीलिए ग्रहणीचिकित्सिताध्यायमें आहाररस और धातुरसको अलग अलग नहीं पढ़ा गया है—"रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा, मज्जासे शुक्र तथा शुक्रसे प्रसादज गर्भ उत्पन्न होता है।"[३] ओज सातों धातुओंका साररूप है, अतः धातुग्रहणसे ही उसका ग्रहण हो जाता है। प्राणोंको धारण करनेके

---

१. ··· ··· ··· युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते।
स्वकर्म कुर्वतो देहो धार्यते तैरनामयः॥
विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च॥
—(चिकित्सा० २८।११-१२)

२. पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसञ्ज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः।
—(सूत्र० २८।७)

३. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥
—(चिकित्सा० १५।१६)

कारण उसे पृथक् पढ़ा गया है। सुश्रुतमें कहा गया है—"रससे लेकर शुक्र-पर्यन्त धातुओंका जो उत्कृष्ट तेज है, वही ओज है, और वही बल कहा जाता है।"[१] आहाररससे रसरक्तादि धातुओंके पोषणको लेकर भिषग्वर्गमें प्राचीनकालसे तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(१) प्रथम सिद्धान्तके अनुसार रस अपनी अग्निके द्वारा पकाया जाता हुआ रक्तमें परिणत हो जाता है, रक्त मांस बन जाता है, इसी प्रकार मांसादि भी उत्तरोत्तर धातुके रूपमें परिणत हो जाते हैं। पूर्व-पूर्व धातुके परिणामसे उत्तरोत्तर धातुकी उत्पत्तिको स्वीकार करनेके कारण यह सिद्धान्त **परिणामवाद**के रूपमें प्रसिद्ध है। जिस प्रकार दुग्धका परिणाम होकर दधि बनता है, दधिसे नवनीत, नवनीतसे घृत, और घृतसे घृतमण्ड, उसी प्रकार पूर्वधातुके परिणामसे उत्तरधातु बनती है। इस दृष्टान्तको स्वीकार करनेके कारण यह सिद्धान्त **क्षीरदधिन्याय**के नामसे भी विख्यात है।

(२) द्वितीय सिद्धान्तके अनुसार रस ही रक्तादि धातुओंको क्रमशः प्लावित करके उनका पोषण करता है। जिस प्रकार खेत सींचते समय नालीसे बहकर आनेवाला पानी सर्वप्रथम समीपस्थ क्यारीको आप्लावित करता है, तथा उस क्यारीके सम्बन्धसे तदाकार बनकर अपने कुछ अंशसे उस क्यारीको तृप्त करके आगे बढ़ जाता है, और अगली क्यारीको आप्लावित करता है। वहाँपर भी उस क्यारीके आकारको धारण करके अपने अंशमात्र-से उसे तृप्त करके आगे बढ़ जाता है। उसी प्रकार धमनियोंसे बहकर आने-वाला रस सर्वप्रथम रक्तको प्लावित करता है। वहाँपर रक्तस्थानके सम्बन्धसे रक्तके सदृश बनकर तथा रक्तका नाम धारण करके अपने कुछ अंशसे रक्तका पोषण करता है, तथा अवशिष्ट अंश आगे बढ़कर मांसको आप्लावित करता है। वहाँपर मांसस्थानके सम्बन्धसे मांसके समान बनकर तथा मांसका नाम धारण करके अपने अंशमात्रसे मांसका पोषण करता है, फिर आगे बढ़कर अगली धातुको आप्लावित करता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर धातुओंको रस ही आप्लावित करता है। प्रतिदिन भोजन प्राप्त होनेके कारण रसका यह प्रवाह अनवरत रूपसे धातुओंका पोषण करता रहता है। इसे **केदारीकुल्यान्याय** कहा जाता है।

(३) तृतीय सिद्धान्तके अनुसार अन्नसे उत्पन्न होनेवाला रस अलग-अलग धातुमार्गोंसे चलता हुआ रसादि धातुओंके पास पहुँचकर अलग-अलग उनका पोषण करता है। मार्ग भिन्न होनेके कारण एक धातुका पोषक रसभाग अन्य धातुसे कदापि सम्बद्ध नहीं होता है। इनमें जो धातु समीप है, उसका पोषक रस शीघ्र ही उस धातुमें पहुँचकर उसका पोषण कर देता है, तथा जो धातु जितना ही दूर है उसके पास पहुँचनेका मार्ग उतना ही लम्बा और सूक्ष्म होनेके कारण उसका पोषण भी उतनी ही देरसे होता है। इसीलिए 'रसाद्रक्तं ततो मांसम्' इत्यादि श्लोककी व्याख्या इस सिद्धान्तके अनुसार

---

१. **रसादीनां शुक्रान्तानां यत्परं तेजः, तत्खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते।**
—सुश्रुतसंहिता (सूत्र० १५।२३)

करनेपर धातुओंका पौर्वापर्य उनके पोषण-कालके तारतम्यकी अपेक्षासे सिद्ध होता है, न कि उनमें कारणकार्यभावकी अपेक्षासे। इस सिद्धान्तकी प्रसिद्धि **खलेकपोतन्यायके** नामसे है। जिस प्रकार किसी स्थानविशेषसे उड़नेवाले अनेक कबूतर अपने-अपने गन्तव्यकी ओर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे उड़ते हैं, तथा गन्तव्यके समीप या दूर होने के कारण कोई कबूतर अपने गन्तव्यपर शीघ्र पहुँच जाता है और कोई विलम्बसे, उसी प्रकार आहाररस भिन्न-भिन्न मार्गोंसे चलकर धातुओंकी दूरीके अनुसार उनका पोषण शीघ्रता या विलम्बसे करता है।

सिद्धान्तत्रयीकी समीक्षा—इन सिद्धान्तोंमें प्रथम अर्थात् धातुओंके सर्वात्मना परिणामको स्वीकार करनेपर तीन चार दिनके उपवाससे ही शरीर नीरस हो जायगा। तथा महीनेभरके उपवाससे तो शरीर केवल शुक्रमय रह जायगा। इसके अतिरिक्त परिणामपक्षमें रसधातुके दूषित होनेपर उसके परिणामसे उत्पन्न होनेवाली सभी धातुएँ दूषित हो जायँगी। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। वृष्ययोगोंके सेवनसे तुरन्त शुक्रकी अभिवृद्धि देखी जाती है, किन्तु धातुओंका क्रमशः परिणाम माननेपर वृष्य क्षीरादिसे भी शुक्रोत्पत्ति अत्यन्त विलम्बसे होनी चाहिए। अतः परिणामवादमें अनेक दोष होनेके कारण यह पक्ष सर्वथा हेय है। केदारीकुल्यान्यायके अनुसार रसके द्वारा समस्त धातुओंका पोषण इसलिए युक्तिसङ्गत है, क्योंकि हृदयमें रहनेवाला रसधातु सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करनेवाला बताया गया है। चरकका कथन है—"फेंकना ही जिसका उचित (स्वाभाविक) कर्म है, उस व्यानवायुके द्वारा हृदयस्थ रसधातु एक ही कालमें शरीरके सभी भागोंमें निरन्तर फेंका जाता रहता है।"[१] रस-धातुके सम्पूर्णशरीरव्यापक होनेके कारण रसके द्वारा ही समस्त धातुओंका पोषण युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। वाजीकरणयोगोंसे उत्पन्न होनेवाला रस अपने प्रभावसे रक्तादि धातुओंको शीघ्रतासे आप्लावित करता हुआ शीघ्र ही शुक्र-का पोषण करनेमें समर्थ होता है। केदारीकुल्यान्याय सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भटको भी अभिमत है।[२] परिणामवादमें जो दोष हैं, उनकी सम्भावना इस सिद्धान्त-में न होनेके कारण तन्त्रकारोंको यह सिद्धान्त अभिमत हुआ है। खलेकपोत-न्यायके अनुसार भी परिणामवादके दोषोंका परिहार हो जाता है। परिणाम-वादके अनुसार रसके दूषित होनेपर सभी धातुओंके दूषित होनेका प्रसङ्ग आता है, किन्तु खलेकपोतन्यायके अनुसार जिस धातुका पोषक रसभाग दूषित होता है, वही धातु दूषित होता है, सब नहीं, क्योंकि उनका पोषक रसभाग दूषित नहीं है। भिन्न-भिन्न स्रोतोंसे गमन करनेके कारण विभिन्न धातुओंके पोषक रसभाग एक दूसरेके सम्पर्कमें नहीं आते हैं। वृष्ययोगसे उत्पन्न होने-

---

१. **व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।**
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ —(चिकित्सा० १५।३६)

२. **इदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिरुपस्निह्यते।**
—सुश्रुतसंहिता (शारीर० ७।३)

ताभिः कायो ह्ययमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभि-रुपस्निह्यति। —अष्टाङ्गसङ्ग्रह (शारीर० अध्याय ६)

वाले रसका शुक्रपोषक भाग अपने प्रभावसे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक गमन करता हुआ शुक्रसे सम्बद्ध होकर अविलम्ब उसका पोषण करता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी सर्वथा अनवद्य प्रतीत होता है।

धातुसप्तक

रसादि धातुएँ अपने स्वरूपको जिन हेतुओंसे प्राप्त करती हैं, उनका ग्रहणीचिकित्सिताध्यायमें विस्तारसे निरूपण किया गया है। "सभी जलीय-रसोंका जो तेज अर्थात् सारभूत रस है, वह पित्तकी ऊष्माकी लालिमासे लाल होकर रक्त बन जाता है।"[१] रस यद्यपि लाल नहीं है, तथापि अपने तेज और पित्तके ऊष्मागत रागसे लाल होकर रक्तका रूप धारण कर लेता है। "विशुद्ध रक्त उसे समझना चाहिए, जो तपनीय (लोहितसुवर्ण) तथा इन्द्रगोपा-(वीरवधूटी)की आभावाला, रक्तकमल तथा अलक्तकके सदृश, तथा गुञ्जाफलके समान वर्णवाला होता है।"[२] शोणित अपनी अग्निके द्वारा परिपक्व होकर तथा वायुके द्वारा सघन बनाया जाकर प्राणियोंके शरीरमें स्थिर हो जाता है, उसे ही मांस समझना चाहिए। वह मांस अपनी ऊष्मासे परिपक्व होकर और अपने तेज तथा जलीयगुण स्निग्धताकी वृद्धि होनेपर मेद बन जाता है। इसके अनन्तर पृथिवी अग्नि और वायु इत्यादिकी अपनी ऊष्मासे जो सङ्घात बना दिया जाता है, वह इस मेदमें खरता (कठोरता) उत्पन्न कर देता है, उससे प्राणियोंकी अस्थि बनती है। अस्थि बन जानेपर वायु उन अस्थियों-के बीचमें सुषिरता (खोखलापन) उत्पन्न कर देता है। वह खोखला स्थान मेदसे भर जाता है। उस स्नेहको ही मज्जा कहा जाता है। उस मज्जाका जो स्नेह होता है, उससे शुक्रकी उत्पत्ति होती है। अस्थियोंमें यद्यपि छिद्र दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, फिर भी वायु और आकाशादि भावोंके कारण अस्थियाँ छिद्रबहुल (Porous) हो जाती हैं, तथा उनसे छन-छन कर शुक्र उसी प्रकार निकलता है जैसे नये घड़ेसे जल। यह शुक्र कामजन्य सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए प्रहर्षसे प्रेरित होकर शुक्रवाही स्रोतोंके द्वारा शरीरसे प्रवाहित होता है। मैथुनरूप व्यायामकी ऊष्मासे घृतके समान पिघलकर तथा अपने स्थानसे च्युत होकर बस्तिदेशमें आकर मूत्रमार्गसे उसी प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार पानी निम्नस्थलसे बहकर निकल जाता है (चिकित्सा० १५।२९-३५)। जिस प्रकार ईखमें रस, दहीमें घृत, तथा तिलोंमें तेल सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार शरीरमें स्पर्शज्ञानयुक्त सभी स्थलोंमें शुक्र व्याप्त रहता है। स्त्री और पुरुषका संयोग होनेपर कामचेष्टा सङ्कल्प तथा परस्पर पीडनादि व्यापारोंसे वह शुक्र अपने स्थानसे उसी प्रकार बह निकलता है,

---

१. तेजो रसानां सर्वेषामम्बुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥ —(चिकित्सा० १५।२८)

२. तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥ —(सूत्र० २४।२२)

जैसे गीले वस्त्रको निचोड़नेसे पानी ।[1] शुक्र आहारका उत्कृष्ट सार है । अपने शुक्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इसका विनाश अनेक रोगोंका अथवा मृत्युका भी कारण बनता है ।[2] स्निग्ध सघन पिच्छिल मधुर अविदाही तथा स्फटिकके समान श्वेतवर्णवाला जो शुक्र होता है, उसे विशुद्ध शुक्र सनझना चाहिए ।[3] मनुष्य पशु इत्यादि नाना जातियोमें विचरण करते हुए विश्वरूप आत्माका रूपद्रव्य अर्थात् रूपका उपादानकारण यह शुक्र ही है ।[4] अव्यक्त आत्माके व्यक्तशरीरकी उत्पत्तिका हेतु यही है ।

ओज

ओज यद्यपि आयुर्वेदज्ञोंके द्वारा सातों धातुओंका सार माना जाता है (सुश्रुतसंहिता सूत्र० १५।२३), तथापि कुछ लोग उसे शुक्रजन्य मानते हैं। उनके मतानुसार ओज आठवीं धातु है । कुछ लोग इसे सिरा स्नायु रजस् स्तन्य और त्वचा इत्यादिके समान उपधातु मानते हैं। शरीरको धारण करनेवाली तथा अन्य धातुका पोषण करनेवाली धातु होती है, किन्तु उपधातु शरीरका पोषण करनेपर भी धात्वन्तरका पोषण नहीं करती है, तथा धातुसे उत्पन्न होती है । भोजका कथन है— **सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः । धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः ॥** चक्रपाणिके अनुसार ओज न तो धातु है और न उपधातु । चरकमुनिके मतानुसार शरीरमें ओजका उदय समस्त धातुओंके साररूपमें होता है—"जिस प्रकार भ्रमरसमूहके द्वारा फलों और पुष्पोंसे मधुका सङ्ग्रह किया जाता है, उसी प्रकार शरीरगत धातुओसे उनके गुणो(सारभागों)के द्वारा ओजका सञ्चय किया जाता है" (सूत्र० १७।७६)। इससे सिद्ध होता है कि ओज रसादि धातुओंका साररूप तथा रसादिसे भिन्न है । धातु या उपधातुके रूपमें उसका निर्देश नहीं किया जा सकता है । चरकमुनिको दो प्रकारका ओज अभिमत है—पर और अपर । इनमें **'तत्परस्यौजसः स्थानम्'** (सूत्र० ३०।७) इस वाक्यके अनुसार पर ओजका स्थान हृदय है । अन्यत्र भी प्रधान अर्थात् पर ओजका

---

१. **रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।**
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासङ्कल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥
—(चिकित्सा० २।४।४६-४७)

२. **आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।**
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥ —(निदान० ६।११)

३. **स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।**
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥—(चिकित्सा० ३०।१४५)
बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् ।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥—(चिकित्सा० २।४।५०)

४. **चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ।** —(चिकित्सा० २।४।४६)

स्थान हृदय बताया गया है—**"प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते"** (चिकित्सा० २४।३५)। यहाँपर ओजके साथ जो 'पर' तथा 'प्रधान' विशेषण लगाये गये हैं, वे तभी सार्थक हो सकते हैं, जब पर और अपर भेदसे ओज दो प्रकारका हो। इनमें 'अपर' ओजका परिमाण अर्द्धाञ्जलि है। कहा गया है—"उतना ही अर्थात् अर्द्धाञ्जलिमात्र ही श्लैष्मिक ओजका परिमाण है" (शारीर० ७।१५)। विशुद्ध श्लेष्माके समानगुणवाला होनेसे इसे श्लैष्मिक या श्लेष्मल ओज कहा जाता है। हृदयके आश्रित रहनेवाली ओजोवाहिनी धमनियोंके द्वारा इसका वहन सारे शरीरमें किया जाता है। इसकी अपेक्षा 'पर' ओजका परिमाण अत्यन्त स्वल्प केवल अष्टबिन्दुमात्र होता है। इसीके विषयमें कहा गया है—"हृदयदेशमें कुछ लालिमा और कुछ पीलापन लिए हुए जो शुद्ध अर्थात् शुक्लवर्णका पदार्थ रहता है, उसे शरीरमें ओज कहा गया है। उसके विनाशसे पुरुष विनष्ट हो जाता है।"[1] तन्त्रान्तरमें हृदयाश्रित इस ओजका परिमाण आठ बिन्दु बताया गया है—**"प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रय :"** अर्थात् प्राणोंके आश्रयभूत इस ओजकी आठ बूँदें हृदयमें रहती हैं। इस श्रेष्ठ ओजकी एक भी बूँदका नाश होनेपर प्राणीकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। प्रमेहादिमें जिस ओजका क्षय होनेपर भी प्राणी जीवित रहता है, वह अर्द्धाञ्जलिप्रमाण अपर ओज है। चरकसंहितामें ओजको घृतके समान वर्णवाला, रसमें मधुर तथा लाजाके सदृश गन्धवाला कहा गया है।[2] चिकित्सास्थानमें इसे गुरु शीत मृदु श्लक्ष्ण बहल(घना) मधुर स्थिर प्रसन्न(निर्मल) पिच्छिल (चिपचिपा) और स्निग्ध इन दस गुणोंवाला बताया गया है।[3] अर्थेदशमहामूलीयमें ओजकी प्रशंसा इस प्रकार की गई है—इस ओजके कारण समस्त प्राणी तृप्त होकर जीवन धारण करते हैं। इसके विना प्राणियोंका जीवन टिक नहीं सकता है। यह ओज प्रारम्भमें गर्भस्थ शिशुका साररूप है, क्योंकि इसके विना शुक्र और शोणितके संयोगमें जीवका अनुप्रवेश ही सम्भव नहीं है। यह गर्भरस अर्थात् शुक्रशोणितसंयोगके परिणामसे बननेवाले कललरूप रसका रस अर्थात् सारभूत है। यह गर्भके निष्पद्यमान हृदयको अभिव्यक्त होकर अधिष्ठित कर लेता है। इसका नाश होनेसे मरण निश्चित है। यह हृदयके आश्रित रहता हुआ जीवनको धारण करनेवाला है। यह शरीरकी सारभूत धातुओंका भी स्नेह अर्थात् सार है। प्राण इसीमें प्रतिष्ठित हैं।[4]

---

१. **हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।**
ओजः शरीरे सङ्ख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ —(सूत्र० १७।७४)

२. **सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते।** —(सूत्र० १७।७५)

३. **गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।**
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ —(चिकित्सा० २४।३१)

४. **येनौजसा वर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।**
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम्।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ —(सूत्र० ३०।९-११)

इन्द्रियोंकी उत्पत्ति

"पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसञ्ज्ञकानि" (सूत्र० २८।७)। विविधाशितपीतीय नामक अध्यायके इस वाक्यमें ओजके सहित रसादि सप्तधातुओंको **'पञ्चेन्द्रियद्रव्य'** कहा गया है। इसके पूर्व इन्द्रियोपक्रमणीयमें **"पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति"** (सूत्र० ८।९) आकाशादि पञ्चभूतोंको 'पञ्चेन्द्रियद्रव्य' कहा गया था। पञ्चेन्द्रियद्रव्यका अर्थ है, घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके आरम्भक कारण। एक स्थलपर आकाशादि पञ्चभूतोंको तथा दूसरे स्थलपर रसादि सप्तधातुओंको इन्द्रियोंका आरम्भक द्रव्य बताया गया है। दोनों स्थलोंमें आपाततः विरोध प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों वाक्य एक दूसरेके पूरक हैं। आयुर्वेदमें इन्द्रियोंको भौतिक माना गया है। इसका समर्थन सुश्रुतसंहिता(शारीर० १।१४)से भी प्राप्त होता है— **"भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः।"** अर्थात् आयुर्वेदमें इन्द्रियों तथा इन्द्रियार्थोंको भौतिक कहा जाता है। अतः इन्द्रियोपक्रमणीयमें आकाशादिभूतोंको इन्द्रियोंका आरम्भक बताना सर्वथा युक्तियुक्त है। अब शरीरके भीतर इन भौतिक इन्द्रियोंका आविर्भाव किस प्रकार होता है, विविधाशितपीतीयके पूर्वोक्त वाक्यमें इसीपर प्रकाश डाला गया है। समस्त प्राणियोंके शरीरमें पहुँचे हुए पाञ्चभौतिक आहारके सारभूत रससे रसरक्तादि सात धातुएँ उत्पन्न होती हैं। ये धातुएँ भी आहारजन्य होनेसे पाञ्चभौतिक होती हैं। इन सारभूत पाञ्चभौतिक धातुओंमें भी प्रसादरूप अर्थात् अत्यन्त निर्मल जो पञ्चभूतांश होते हैं, उन्हींसे शरीरके भीतर इन्द्रियोंका आविर्भाव होता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके आरम्भकद्रव्य रसादिधातुओंके प्रसादांशरूप आकाशादिपञ्चभूत ही सिद्ध होते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ—इन्द्रियोंकी सङ्ख्या दश है। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा बुद्धीन्द्रियाँ हैं, तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं (शारीर० १।६४)। चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना और स्पर्शन—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं (सूत्र० ८।९)। अन्यत्र भी ज्ञानेन्द्रियोंकी सङ्ख्या पाँच ही निर्धारित की गई है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, दर्शन और श्रोत्र (शारीर० ७।७)। रूप तथा रूपवान् द्रव्यका कथन अर्थात् प्रकाशन करनेवाली इन्द्रिय 'चक्षु' कहलाती है। जिसके द्वारा सुना जाता है उसे 'श्रोत्र', जिसके द्वारा सूँघा जाता है उसे 'घ्राण', जिसके द्वारा छः रसोंका आस्वादन किया जाता है उसे 'रसना', तथा जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे 'स्पर्शनेन्द्रिय' कहा जाता है। इन ज्ञानेन्द्रियोंके शरीरगत अधिष्ठान (आश्रय) पाँच हैं—दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों नासापुट, जिह्वा और त्वचा (सूत्र० ८।१०)। शरीरसङ्ख्यामें भी क्रम बदल करके ये ही इन्द्रियाधिष्ठान गिनाए गए हैं (शारीर० ७।७)। यद्यपि आँख कान और नासापुटोंकी सङ्ख्या दो-दो है, तथापि एक ही इन्द्रियका अधिष्ठान होनेके कारण इनको एक-एक मानना ही युक्तिसङ्गत है। तभी इन्द्रियाधिष्ठानोंकी सङ्ख्या पाँच सिद्ध हो सकेगी, अन्यथा यह सङ्ख्या आठ हो जायगी। आँख कान इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, प्रत्युत उनकी निवासभूमियाँ हैं। इन्द्रियार्थ (इन्द्रियोंके विषय)

पाँच हैं—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध (सूत्र० ८।११)। इनमें श्रोत्रका विषय शब्द, स्पर्शनका स्पर्श, चक्षुका रूप, रसनाका रस, तथा घ्राणका विषय गन्ध है।

कर्मेन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियोंका निरूपण शरीरस्थानके कतिधापुरुषीय और शरीरसङ्ख्यानामक अध्यायोंमें सङ्क्षेपसे किया गया है। शरीरसङ्ख्यामें दोनो हाथ, दोनों पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय), और जिह्वा (वाक्), इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी गणनामात्र की गई है (शारीर० ७।७)। दोनों हाथ और दोनों पैरोंको एक-एक इन्द्रिय ही माना गया है, क्योंकि ये दोनों एक ही प्रकारका कर्म करते हैं। कतिधापुरुषीयमें इन कर्मेन्द्रियोंके पृथक्-पृथक् कर्मोपर भी प्रकाश डाला गया है—"दोनों हाथ, दोनों पैर, गुदा, उपस्थ और जिह्वा—ये कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। इन कर्मेन्द्रियोंमें दोनों पैर चलने-फिरनेमें, पायु और उपस्थ मल-मूत्र तथा आर्त्तव-शुक्रका त्याग करनेमें तथा दोनों हाथ वस्तुओंको ग्रहण और धारण करनेमें प्रयुक्त होते है। जिह्वा वागिन्द्रिय (बोलनेकी इन्द्रिय) है। वाक् दो प्रकारकी होती है, सत्य और अनृत। सत्य वाणी ज्योतिस्स्वरूपा है, क्योंकि यह दोनों लोकोको प्रकाशित करती है। तथा अनृत वाणी तमोरूपा है, क्योंकि यह उभयलोकविनाशिनी है" (शारीर० १।२५–२६)। सत्य और अनृत स्वयं वागिन्द्रिय नहीं होते हैं, किन्तु उसके कर्मरूप जो वचन हैं, उन्हींके ये दो भेद किए गए हैं।

इन्द्रियजज्ञानकी उत्पत्तिप्रक्रिया—इन्द्रियोपक्रमणीयके अनुसार ज्ञानेन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी पाँच प्रकारका होता है। चक्षुसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान चक्षुर्बुद्धि या चक्षुर्ज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको समझना चाहिए (सूत्र० ८।१२)। शारीरस्थानमें भी कहा गया है कि जिस इन्द्रियका आश्रय लेकर जो ज्ञान या बुद्धि प्रवृत्त होती है, उस बुद्धि(ज्ञान)का निर्देश उस इन्द्रियके नामसे ही किया जाता है।[1] इन्द्रियभेदसे यह ज्ञान यद्यपि पाँच ही प्रकारका होता है, तथापि सुख-दुःखादि कार्य तथा इन्द्रियार्थोंके भेदसे यह ज्ञान बहुत प्रकारका हो जाता है।[2] यह इन्द्रियज ज्ञान इन्द्रिय विषय मन और आत्माके सन्निकर्ष(संयोग)से उत्पन्न होता है।[3] इन्द्रियज ज्ञानमें क्रमशः आत्माका मनसे, मनका इन्द्रियसे, तथा इन्द्रियका अर्थसे संयोग होता है। आत्मा और मनका संयोग प्राप्त किए विना कोई इन्द्रिय अर्थग्रहणमें समर्थ नहीं हो सकती है। आचार्यका कथन है—मनोयुक्त इन्द्रियके द्वारा ही इन्द्रियार्थको ग्रहण किया जाता है।[4] इस वाक्यमें मनसे आत्मसंयुक्त मनको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आत्मा और

---

१. **या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्त्तते।
याति सा तेन निर्देशम्**………………॥ —(शारीर० १।३२)

२. **भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः।** —(शारीर० १।३३)

३. **ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः।** —(सूत्र० ८।१२)
तथा '**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा।**' —(शारीर० १।३३)

४. **इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।** —(शारीर० १।२२)

मनका सम्बन्ध नित्य है।[1] अतः आत्मसंयुक्त मनसे संयोग होनेपर ही कोई इन्द्रिय अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। न्यायदर्शन(वात्स्यायनभाष्य १।१।४)से भी यह बात समर्थित है। चरकमुनिने इस संयोगकी अनिवार्यता दृष्टान्त देकर सिद्ध की है—"जिस प्रकार चुटकी बजानेका शब्द अँगूठा (मध्यमा)उँगली तथा हथेलीके संयोगसे उत्पन्न होता है। इनमेंसे किसी एक-का भी अभाव होनेपर चुटकी बजाना असम्भव है। जिस प्रकार वीणाकी झङ्कार तन्त्री वीणा और नखोंके संयोगसे उत्पन्न होती है। इनमेंसे किसी एकका भी अभाव होनेपर वीणाकी झङ्कार असम्भव है। उसी प्रकार इन्द्रियज ज्ञान भी आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थके संयोगसे उत्पन्न होता है। किसी एकका भी वैकल्य होनेपर यह ज्ञान असम्भव है।"[2] संयोगकी यह अनिवार्यता बृहदारण्यकोपनिषद्‌में भी स्वीकार की गई है—"मेरा मन दूसरी जगह था, अतः मैंने नहीं देखा। मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, अतः नहीं सुन सका। मनुष्यका जो यह कथन है, इससे निश्चय होता है कि वह मनकी सहायतासे ही देखता है, और मनकी सहायतासे ही सुनता है।"[3] चरकमुनि-ने इन्द्रियज ज्ञानको क्षणिक और निश्चयात्मक कहा है (सूत्र० ८।१२)। चक्रपाणि और कविराज गङ्गाधरने 'क्षणिक'का अर्थ 'आशुतरविनाशी' अर्थात् 'अत्यन्त शीघ्र विनष्ट होनेवाला' कहा है, न कि क्षणभङ्गवादी बौद्धसिद्धान्तके समान 'एकक्षणावस्थायी'। वस्तुके स्वरूपका परिच्छेद करनेके कारण इन्द्रियज ज्ञान निश्चयात्मक होता है। इससे संशय विपर्यय स्मृति और भ्रमादिका निराकरण हो जाता है।

इन्द्रियोंकी पाञ्चभौतिकता—आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वीको चरकसंहितामें इन्द्रियद्रव्य कहा गया है। इससे इन्द्रियोंकी पाञ्चभौतिकता सिद्ध होती है। आचार्य कहते हैं — जिन इन्द्रियोंसे ज्ञान प्रवृत्त होता है, वे श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (पाञ्चभौतिक होनेपर भी) आकाशादि भूतोंमेंसे क्रमशः एक-एक भूतकी अधिकतासे युक्त होती हैं, तथा उनके कर्म-(व्यापार)से उनका अनुमान किया जाता है।[4] अभिप्राय यह है कि यद्यपि सभी इन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक हैं, तथापि चक्षुमें तेजकी मात्रा अधिक होती है। इसी प्रकार श्रोत्रमें आकाश, त्वक्‌में वायु, रसनामें जल, तथा घ्राणमें पृथ्वीकी मात्रा अधिक होती है। इन्द्रियोपक्रमणीयमें भी यही बात कही गई है—अनुमानके द्वारा ग्राह्य ये इन्द्रियाँ यद्यपि पञ्चमहाभूतोंके परिणामविशेषका समुदायरूप हैं, तथापि चक्षुमें तेजका, श्रोत्रमें आकाशका, घ्राणमें पृथ्वीका,

---

१. **न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा।** —(शारीर० ३।२६)

२. **अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः।**
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा॥ —(शारीर० १।३४)

३. **अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।** —बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।३)

४. **एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।**
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्त्तते॥ —(शारीर० १।२४)

रसनामें जलका, और स्पर्शनमें वायुका आधिक्य सिद्ध होता है।[1] जो इन्द्रिय जिस भूतकी अधिकतासे युक्त होती है, वह इन्द्रिय तद्‌भूतात्मक अर्थको ही ग्रहण करती है। अर्थात् जो इन्द्रिय तेजःप्रधान है, वह तेजःप्रधान विषयको ही ग्रहण करती है। क्योंकि ग्राह्य रूपादिका जो तैजसत्वादि स्वभाव है, वही अर्थग्राहक चक्षुरादि इन्द्रियोंका स्वभाव है। अतः स्वभावकी एकताके कारण तथा अपने समानजातीय विषयको ही ग्रहण करनेमें समर्थ होनेके कारण कोई इन्द्रिय विषयविशेषको ही ग्रहण करती है।[2] न्यायसूत्र(३।१।६८)में भी **"तद्‌व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात्"** कहकर इसी बातका समर्थन किया गया है। अभिप्राय यह है कि किस इन्द्रियमें किस भूतकी अधिकता है, इसका ज्ञान अनुमानसे होता है। अनुमानका स्वरूप इस प्रकार होगा—चक्षु तैजस है (प्रतिज्ञा), क्योंकि शब्दादि पाँच अर्थोंमेंसे तैजस रूपको ही प्रकाशित करती है (हेतु), जो यदात्मक होता है तदात्मक अर्थको ही ग्रहण करता है (व्याप्ति), जैसे बाह्य आलोक (उदाहरण), चक्षु भी तैजस रूपको ही ग्रहण करती है (उपनय), अतः चक्षु तैजस है (निगमन)।

न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्तदर्शनमें भी इन्द्रियोंको भौतिक माना जाता है। किन्तु साङ्ख्यदर्शनमें बताया गया है कि सात्त्विक अहङ्कारसे एकादश इन्द्रियोंका सात्त्विकगण उत्पन्न होता है (साङ्ख्यकारिका २५)। इस मतमें कोई स्वारस्य नहीं है। यदि सात्त्विक अहङ्कार ही समस्त इन्द्रियोंका आरम्भक कारण है, तो सभी इन्द्रियोंको एकरूप होना चाहिए था। उन इन्द्रियोंका भेदक हेतु क्या है, जिसके कारण चक्षु ही रूपको ग्रहण कर पाती है, घ्राण नहीं? इस ज्वलन्त प्रश्नका समाधान साङ्ख्यमें नहीं मिलता है। इन्द्रियोंको भौतिक माननेसे इसका समाधान अनायास ही हो जाता है। इन्द्रियोंकी भौतिकताके सिद्धान्तपर जो यह आक्षेप किया जाता है कि भौतिक माननेपर इन्द्रियोंमें प्रकाशकता कैसे सिद्ध हो सकेगी तथा इन्द्रियोंको भी भूतोंके समान प्रकाश्य मानना पड़ेगा, सो यह आक्षेप उचित नहीं प्रतीत होता है। जिस प्रकार अहङ्कार त्रिगुणात्मक है, उसी प्रकार आकाशादि पञ्चभूत भी त्रिगुणात्मक हैं। यही क्यों, साङ्ख्यके अनुसार तो विश्वप्रपञ्च ही त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक अहङ्कारके सत्त्वांशसे जिस प्रकार प्रकाशक इन्द्रियोंका आविर्भाव सम्भव है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक पञ्चभूतोंके पृथक्-पृथक् सत्त्वांशसे इन्द्रियोंका आविर्भाव माननेपर उनकी प्रकाशकता कैसे व्याहत हो जायगी? सत्त्वगुणका स्वभाव तो प्रत्येक देश काल और अवस्थामें प्रकाशक होना है, और स्वभावका व्यभिचार देखनेमें नहीं आता है। अतः भूतगत सत्त्वांशकी प्रकाशकताका व्याघात कैसे होगा? इसके अतिरिक्त भूतोंको केवल प्रकाश्य कहना भी अविचारित कथन है,

---

१. **तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते।** —(सूत्र० ८।१४)

२. **तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च।** —(सूत्र० ८।१४)

क्योंकि जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय प्रकाशक है, उसी प्रकार तेज (अग्नि या उसका प्रकाश) भी प्रकाशक है, जो एक महाभूत है। जैसे चक्षुके अभावमें आलोक किसी वस्तुको प्रकाशित नहीं कर सकता है, उसी प्रकार आलोकके अभावमें चक्षु भी किसी वस्तुको प्रकाशित नहीं कर सकती है। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो चेतनाधातुरूप आत्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रकाशक नहीं है। अन्य वस्तुओंमें जो प्रकाशकता उपलब्ध होती है, वह चिच्छायापत्तिके कारण है। प्रकृतिका कार्य होनेसे भूत और इन्द्रियाँ दोनों ही स्वरूपतः जड हैं। हाँ, भूतोंकी अपेक्षा इन्द्रियोंमें प्रकाशकता अधिक पाई जाती है। इसका कारण यह है कि शरीरगत भौतिक आहारके प्रसादांशसे उत्पन्न होनेवाली सात धातुओंका भी प्रसादरूप, अत्यन्त निर्मल, सत्त्वमय, जो पञ्चभूतांश होता है, उससे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, अतः उनमें प्रकाशकताका आधिक्य होना स्वाभाविक है।

इन्द्रियोंकी अतीन्द्रियता तथा अनुमानगम्यता—तिस्रैषणीयमें आचार्यने कहा है कि जिन इन्द्रियोंके द्वारा हम घटादि विषयसमूहको प्रत्यक्ष उपलब्ध करते हैं, वे इन्द्रियाँ स्वयम् अप्रत्यक्ष हैं, अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाणग्राह्य नहीं हैं।[१] प्रत्यक्षोपलब्धि इन्द्रियोंके द्वारा होती हैं, उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अनिवार्य है। किन्तु किसी इन्द्रियका स्वयं अपने साथ सन्निकर्ष अथवा एक इन्द्रियका दूसरी इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष असम्भव है। यह बात तर्क और अनुभवसे सिद्ध है। इससे इन्द्रियोंकी अतीन्द्रियता सिद्ध होती है। इन्द्रियोंकी सत्ताको प्रमाणित करनेमें प्रत्यक्षप्रमाण असमर्थ है, अतः उनकी सत्ता अनुमानके द्वारा प्रमाणित होती है। **अनुमानगम्यानाम्** (सूत्र० ८।१४) तथा **कर्मानुमेयानि** (शारीर० १।२४) कहकर चरकमुनिने इसमें अपनी सम्मति जताई है। अनुमानका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए—दर्शन और श्रवण आदि किसी करणके कार्य हैं, क्रिया होनेके कारण, छिदिक्रियाके समान। अभिप्राय यह है कि रूपादिकी उपलब्धि किसी साधनके द्वारा होनी चाहिए, क्योंकि ये क्रियायें हैं, और कोई भी क्रिया साधनके विना निष्पन्न नहीं हो सकती है। जैसे लकड़ीको काटनेके लिए कुल्हाड़ी या आरी आदि किसी साधनकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार रूपादिका ज्ञान होनेके लिए भी साधनकी अपेक्षा है। अतः रूपादिका ज्ञान होनेमें जो असाधारण करण हैं, उन्हींको इन्द्रिय कहा जाता है। आगे चलकर इन्द्रियस्थानमें पुनः कहा गया है—विशेषज्ञ वैद्य को रोगीकी दर्शनादि (चक्षुरादि) पञ्चेन्द्रियोंकी परीक्षा अनुमानके द्वारा करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियोंका ज्ञान सचमुच ही अतीन्द्रिय समझा गया है।[२] भिषग्जन इन्द्रियोंके अतीन्द्रिय होनेके कारण इन्द्रियविकारोंकी परीक्षा अनुमानके द्वारा ही करते हैं। आजकलके चिकित्सक विशेष प्रकारके यन्त्रोंसे आँख कान नाक इत्यादिकी जो परीक्षा करते हैं, वह परीक्षा वस्तुतः इन्द्रियोंकी न होकर इन्द्रियव्यापारके

---

१. यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।
—(सूत्र० ११।७)

२. अनुमानात् परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः।
अद्धा हि विदितं ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम्॥ —(इन्द्रिय० ४।३-४)

साधनभूत यन्त्र या अधिष्ठानकी होती है। इन्द्रिय तो शक्तिरूप होती है। उस शक्तिकी परीक्षा पाश्चात्यप्रणालीके आधुनिक चिकित्सक भी रोगीसे पूछ-पूछकर अनुमान द्वारा ही करते हैं।

स्पर्शनेन्द्रियकी व्यापकता और प्रधानता—"सभी इन्द्रियोंमें स्पर्शनेन्द्रिय एक ऐसी इन्द्रिय है, जो सभी इन्द्रियोंमें व्यापक है। केवल इन्द्रियोंमें ही नहीं मनके साथ भी इसका समवायसम्बन्ध है, अतः शरीरमें स्पर्शनेन्द्रियके सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण मन अणु होने पर भी व्यापक बन जाता है। समस्त इन्द्रियोंके अर्थग्रहणकी कारणभूत इस व्यापक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा जो भावविशेष उत्पन्न किया जाता है, वह कभी उपशय अर्थात् सुखकारक होता है, और कभी अनुपशय अर्थात् दुःखकारक होता है। अनुपशयकी दृष्टिसे वह भावविशेष असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग (इन्द्रिय और अर्थका अहितकर संयोग) कहलाता है। यह असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग व्यापकस्पर्शनेन्द्रियजन्य होनेके कारण एकरूप होनेपर भी इन्द्रियभेदसे पाँच प्रकारका होता है, और प्रत्येक प्रकारके तीन-तीन विकल्प (अतियोग अयोग और मिथ्यायोग) होते हैं।"[1] तिस्रैषणीयके इस प्रकरणमें स्पर्शनेन्द्रियके विषयमें कई महत्त्वपूर्ण तथ्योंपर प्रकाश डाला गया है। चूँकि त्वचा सभी इन्द्रियाधिष्ठानोंमें व्याप्त है, अतः त्वचामें रहनेवाली स्पर्शनेन्द्रिय भिन्न-भिन्न इन्द्रियाधिष्ठानोंमें रहनेवाली इन्द्रियोंमें व्याप्त रहती है। यही कारण है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थको स्पर्श करके ही ग्रहण करती हैं। घ्राणेन्द्रिय गन्ध या गन्धवद् द्रव्य का स्पर्श करके, रसनेन्द्रिय रस या रसवद् द्रव्यका स्पर्श करके तथा चक्षुरिन्द्रिय रूप या रूपवद् द्रव्यका स्पर्श करके ही उन्हें ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। न्यायके अनुसार श्रवणेन्द्रिय कर्णशष्कुलीगत आकाशरूप होनेपर भी चरकदर्शनमें पाञ्चभौतिक मानी गई है, अतः उसमें भी स्पर्श विद्यमान है। कर्णशष्कुलीके भीतर शब्दको ग्रहण करनेवाले तथा उसको मस्तिष्कतक पहुँचानेवाले जो स्रोत हैं, वे त्वगिन्द्रिय-व्याप्य हैं, अतः श्रोत्रेन्द्रिय भी स्पर्शनव्याप्य सिद्ध होती है। यही कारण है कि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग इन्द्रियभेदसे पञ्चविध होनेपर भी स्पर्शनके सर्वेन्द्रिय-व्यापक होनेके कारण आयुर्वेदमें एक प्रकारका कहा जाता है। इसीलिए शारीरस्थानमें कहा गया है—"सुखरूप और दुःखरूप वेदनाओंका प्रवर्त्तक स्पर्श दो प्रकारका होता है, स्पर्शनेन्द्रियजन्य और मानस।"[2] 'स्पर्शनेन्द्रिय-संस्पर्शः' शब्दसे सभी इन्द्रियोंका संस्पर्श स्पर्शनेन्द्रियके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, यह बात बताई गई है। यदि ऐसा न होता, तो संस्पर्श द्विविध न होकर षड्विध होता। अर्थके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध स्पर्शनेन्द्रियके माध्यमसे ही होता है। इस स्पर्शनेन्द्रियजन्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षके होनेपर ही कोई इन्द्रिय

---

१. तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं, चेतःसमवायि, स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः; तस्मात् सर्वेन्द्रियाणां व्यापकस्पर्शकृतो यो भावविशेषः, सोऽयमनुपशयात् पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः। —(सूत्र० ११।३८)

२. स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः॥ —(शारीर० १।१३३)

अर्थग्रहण करनेमें समर्थ होती है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ अर्थका स्पर्श करके ही अर्थको ग्रहण करती हैं। यदि चक्षु श्रोत्र रसना और घ्राण अर्थको स्पर्शके विना ही ग्रहण करने लगें, तो दूरस्थ पदार्थोंको भी ग्रहण करना चाहिए। चूंकि दूरस्थ पदार्थोंको इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर पाती हैं, अतः अर्थग्रहणका स्पर्शपूर्वकत्व सिद्ध होता है। श्रीमद्भगवद्गीता(५।२२)में भी **'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** इस वाक्यसे विषयग्रहणरूप समस्त भोगोंको संस्पर्शजन्य कहा गया है। स्पर्शनेन्द्रियकी सर्वेन्द्रियव्यापकता एक अन्य कारणसे भी सिद्ध होती है। पृथिवी जल तेज वायु और आकाशके लिङ्ग क्रमशः खरत्व द्रवत्व उष्णत्व चलत्व और अप्रतीघात हैं, ये सभी लिङ्ग स्पर्शनेन्द्रिय-ग्राह्य हैं।[1] चूँकि सभी इन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक हैं और पञ्चभूतोंके लिङ्ग स्पर्शन-ग्राह्य हैं, अतः स्पर्शनेन्द्रिय सभी इन्द्रियोंमें विद्यमान है। चूंकि खरत्वद्रवत्वादि सभी लिङ्ग स्पर्शनेन्द्रियको छोड़कर किसी अन्य एक इन्द्रियके द्वारा नहीं ग्रहण किए जा सकते हैं, इसलिए स्पर्शनेन्द्रियकी प्रधानता और महत्ता सिद्ध होती है।

यद्यपि स्पर्शनेन्द्रिय इन्द्रियोंमें प्रधान तथा सर्वेन्द्रियव्यापक है, तथापि सभी इन्द्रियाँ स्पर्शनेन्द्रियरूप हैं ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है। इन्द्रियोंकी पञ्चविधताको एकत्वमें पर्यवसित नहीं किया जा सकता है। यदि सभी इन्द्रियाँ एक ही होतीं, तो एक इन्द्रियका उपघातक अतिभास्वररूपादि अन्य इन्द्रियोंका भी उपघातक बन जाता। चूँकि इन्द्रियोंके उपघातक प्रतिनियत हैं, अतः इन्द्रियोंकी भिन्नता है। साङ्ख्यदर्शनके किसी ग्रन्थमें केवल सात इन्द्रियाँ गिनाई गई हैं। इनमें शब्दादिज्ञानकी कारणभूत स्पर्शनेन्द्रियको ही एकमात्र ज्ञानेन्द्रिय माना गया है। इस एकमात्र ज्ञानेन्द्रियको पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा मनके साथ गिननेसे कुल इन्द्रियोंकी सङ्ख्या सात ही होती है। शङ्कराचार्यके समयमें यह साङ्ख्यग्रन्थ उपलब्ध था, यह बात उनके **"क्वचित् सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश"** (शारीरकभाष्य २।२।१०) इस कथनसे सिद्ध होती है। आचार्य वाचस्पतिमिश्रको भी साङ्ख्यके इस एकदेशीयमतका ज्ञान था, क्योंकि उन्होंने भामतीमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—**"त्वङ्मात्रमेव हि बुद्धीन्द्रियमनेकरूपादिग्रहणसमर्थमेकं, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, सप्तमं च मन इति सप्तेन्द्रियाणि।"** पाश्चात्य विचारक डेमाक्रिटस(Democritus)के भी मतानुसार सभी इन्द्रियाँ एकमात्र त्वगिन्द्रियके ही परिणामविशेष हैं। किन्तु पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि चरकको यह मत मान्य नहीं है। त्वगिन्द्रियकी व्यापकता तथा अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा उसकी प्रधानता उनको मान्य होनेपर भी अन्य इन्द्रियोंका त्वगिन्द्रियसे अभेद अथवा उसका परिणाम होना कदापि अभीष्ट नहीं है। न्यायसूत्रकार गौतम और भाष्यकार वात्स्यायन भी एकेन्द्रियवादका

---

१. **खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।**
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥
लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
—(शारीर० १।२९-३०)

खण्डन करते हुए उपलब्ध होते हैं। न्यायसूत्रमें **"स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः"** (३।१।५२) इस सूत्रके द्वारा 'इन्द्रिय एक है या अनेक' यह संशय प्रस्तुत किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थानकी भिन्नता होनेपर वस्तुओंकी अनेकता देखी जाती है, जैसे घटपटादि वस्तुएँ भिन्नस्थानीय हैं और अनेक हैं। इसके विपरीत अनेक स्थानोंको अधिष्ठित करनेपर भी वस्तुका एकत्व देखनेमें आता है, जैसे एक अवयवी अनेकस्थानीय अवयवोंको अधिष्ठित करनेपर भी एक ही रहता है। इसलिए जब हम इन्द्रियोंको अनेक भिन्न स्थानों(गोलकों)को अधिष्ठित करते हुए देखते हैं, तो यह संशय उत्पन्न होता है कि ये इन्द्रियाँ घटपटादिके समान अनेक हैं अथवा अवयवीके समान एक हैं। ऐसा संशय उपस्थित होनेपर **"त्वगव्यतिरेकात्"** (३।१।५३) इस सूत्रके द्वारा 'इन्द्रिय एक ही है, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से अन्य इन्द्रियोंका अभेद है' इस पूर्वपक्षकी स्थापना की गई है। वात्स्यायनने इस पूर्वपक्षकी व्याख्या इस प्रकार की है—"कोई भी इन्द्रियाधिष्ठान (गोलक) ऐसा नहीं है, जहाँ त्वक्की पहुँच न हो। त्वक्के अभावमें किसी भी विषयका ग्रहण सम्भव नहीं है। जिस इन्द्रियके द्वारा सभी इन्द्रियाधिष्ठान व्याप्त हैं, और जिसके होनेपर ही विषयग्रहण होता है, वह त्वगिन्द्रिय ही एकमात्र इन्द्रिय है।"[1]

इस पूर्वपक्षका खण्डन भाष्यकारने इस प्रकार किया है—अन्य इन्द्रियोंके विषय शब्दादिकी उपलब्धि त्वगिन्द्रियसे न होनेके कारण अन्य इन्द्रियोंको त्वक्से अभिन्न नहीं माना जा सकता है। अन्धे और बहरे इत्यादि पुरुषोंके द्वारा, स्पर्शोपलब्धि करानेवाली त्वगिन्द्रियके विद्यमान होनेपर भी, और उसके द्वारा स्पर्शका ग्रहण कराये जानेपर भी, अन्य इन्द्रियोंके रूपादिविषयोंका ग्रहण नहीं किया जाता है। यदि स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रियसे भिन्न कोई अन्य इन्द्रिय है ही नहीं, तो अन्धादिके द्वारा स्पर्शके समान रूपादिका भी ग्रहण किया जाना चाहिए। किन्तु नहीं किया जाता है, अतः एकमात्र त्वगिन्द्रिय ही नहीं है।[2] अन्य इन्द्रियोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानना अपरिहार्य है। सूत्रकारने एकेन्द्रियवादका खण्डन दूसरी युक्तिसे किया है। उनका कथन है कि यदि एक ही इन्द्रिय है, तो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सब उसीके विषय हुए। उस स्थितिमें इन्द्रियका अर्थसे सन्निकर्ष होनेपर शब्दादिकी युगपद् उपलब्धि

---

१. **न त्वचा किञ्चिदिन्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तम्, न चासत्यां त्वचि किञ्चिद्विषयग्रहणं भवति। यया सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति सा त्वगेकमिन्द्रियमिति।**

—वात्स्यायनभाष्य (३।१।५३)

२. **नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः। स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपादयो न गृह्यन्त अन्धादिभिः। न स्पर्शग्राहकादिन्द्रियादिन्द्रियान्तरमस्तीति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन् रूपादयः। न च गृह्यन्ते। तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति।**

—वात्स्यायनभाष्य (३।१।५३)

होनी चाहिए। किन्तु नहीं होती है, अतः एकेन्द्रियवाद असङ्गत है।[1]

इन्द्रियजज्ञानके प्रामाण्याप्रामाण्यका विचार—इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सामान्यतः प्रामाणिक होता है। किन्तु इन्द्रियोंके रुग्ण या विकारग्रस्त होनेपर तज्जन्य ज्ञान भी विकृत और अप्रामाणिक हो जाता है। जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ स्वस्थ और नीरोग रहती हैं, तबतक आलोकाभावादि किसी बाह्य अन्तरायके न होनेपर वे निर्दोष अविकृत और प्रामाणिक ज्ञानकी जनक बनती हैं। किन्तु स्वस्थ और निर्दोष इन्द्रियाँ भी मृत्युके आसन्न होनेपर विकृत तथा अप्रामाणिकज्ञान उत्पन्न करती हैं। निमित्तज्ञ जन स्वस्थ इन्द्रियोंके विकृतियुक्त ज्ञानके आधारपर मुमूर्षुकी आसन्नमृत्युका पता लगा लेते हैं।

इन्द्रियस्थानमें मरणासन्न मनुष्यकी स्वस्थ इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले विकृतज्ञानरूप रिष्टलक्षणोंके द्वारा उसकी सन्निहित मृत्युका पूर्वज्ञान बड़े विस्तारसे कराया गया है। कहा गया है—जिस पुरुषका इन्द्रियाश्रित ज्ञान स्वस्थ इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेपर भी किसी बाह्यहेतुके विना ही विकृतरूपमें लक्षित किया जाय, तो यह उसकी मृत्युका सूचक है।[2] मृत्युके सन्निकट होनेपर सभी इन्द्रियाँ विरुद्ध अर्थोंको ग्रहण करने लगती हैं। "आकाशको पृथ्वीके समान घनीभूत हुआ जैसा, और पृथ्वीको आकाशके समान अमूर्त्त जैसा देखनेवाला पुरुष मृत्युको प्राप्त होता है। जो पुरुष स्वाभाविक लोहित-कपिल वर्णवाली अग्निको निष्प्रभ नीलवर्ण कृष्णवर्ण अथवा शुक्लवर्णवाली देखता है, वह सातवीं रात्रिमें परलोकगमन करता है। जो पुरुष शब्द न होनेपर भी शब्द सुनता है, और शब्द होनेपर भी जिसे उसका ज्ञान नहीं होता है उन दोनोंको ही विज्ञजन मरा हुआ समझें। जो पुरुष गन्धोंकी साधुता और असाधुताको विपरीतभावसे समझता है, अर्थात् सुगन्धको दुर्गन्ध तथा दुर्गन्धको सुगन्ध समझता है, अथवा गन्धको बिल्कुल ही ग्रहण नहीं कर पाता है, उसकी आयुको समाप्त समझना चाहिए। जो पुरुष मुखपाकनामक रोगके विना ही मधुरादि रसोंको नहीं पहचान पाता है, अथवा यथार्थरूपसे नहीं पहचानता है, उसे कुशल लोग पका हुआ अर्थात् मरणोन्मुख कहते हैं। मुमूर्षु पुरुष उष्ण-शीत खर-श्लक्षण तथा मृदु-दारुण स्पर्शवाले पदार्थोंका स्पर्श करके उन्हें विपरीत स्पर्शवाला मानता है" (इन्द्रिय० ४।७,११,१६,२१-२३)। इससे सिद्ध होता है कि मरणासन्नको छोड़कर शेष लोगोंकी अविकृत इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, वस्तुके स्वरूपको आवृत करनेवाले बाह्य कारणोंके अभावमें, प्रामाणिक होता है। इन्द्रियज ज्ञानका अप्रामाण्य केवल तीन कारणोंसे होता है—(१) इन्द्रियोंके विकारग्रस्त होनेपर, (२) इन्द्रियाँ स्वस्थ होनेपर भी मृत्युके सन्निकट होनेपर, तथा (३) विषयके स्वरूपको आच्छादित करनेवाले किसी बाह्य कारणके उपस्थित होनेपर। तीव्र तपश्चरण करनेसे तथा विधिपूर्वक योगका अभ्यास करनेसे मनुष्यकी इन्द्रियाँ अपनी स्वाभाविक

---

१. **न युगपदर्थानुपलब्धेः।** —न्यायसूत्र (३।१।५४)

२. **स्वस्थेभ्यो विकृतं यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंश्रयम्।**
आलक्ष्येतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत्॥ —(इन्द्रिय० ४।५)

सामर्थ्यसे अधिक देखने लगती हैं। किन्तु तीव्रतप अथवा विधिपूर्वक योगके बिना ही इन्द्रियोंसे उनकी स्वाभाविक सामर्थ्यकी अपेक्षा अधिक देखनेवाला पुरुष पञ्चत्वको प्राप्त होता है।[१] इस कथनसे, चरकमुनिको योगज प्रत्यक्ष भी अभीष्ट है, ऐसा सिद्ध होता है। यद्यपि योगज प्रत्यक्षकी प्रक्रियादिका उन्होंने कहीपर निरूपण नहीं किया है, तथापि देशकालकी सीमाओंका अतिक्रमण करके इन्द्रियातीत पदार्थोंका ज्ञान करानेवाला योगज प्रत्यक्ष उनको अभिमत है।

इन्द्रियोंकी प्रकृति और विकृतिके हेतु—मनोधिष्ठित इन्द्रिय अपने शब्दादि अर्थके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगसे विकृतिको प्राप्त होती हुई अपने ज्ञानके विनाशका कारण बनती है, किन्तु समयोगसे पुन. अपने स्वाभाविक रूपको प्राप्त होती हुई अपने ज्ञानको परिपुष्ट करती है।[२] किसी इन्द्रियके विषयका अत्यधिक सेवन करना अतियोग कहलाता है। अत्यन्त कम सेवन करना अथवा बिल्कुल ही सेवन न करना अयोग कहलाता है, तथा विकृत विषयोंका सेवन करना मिथ्यायोग कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियोंके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगको उदाहरण देकर तिस्रैषणीयमें इस प्रकार समझाया गया है — "अत्यधिक प्रकाशवाले दृश्योंका अत्यधिक मात्रामे दर्शन करना चक्षुरिन्द्रियका अतियोग है, सर्वथा न देखना अयोग है, और अतिसन्निकृष्ट अतिदूरवर्ती रौद्र भैरव अद्भुत द्विष्ट बीभत्स विकृत तथा तत्काल भयजनक रूपोंका दर्शन मिथ्यायोग है। इसी प्रकार अतिघोर गर्जन, नगाड़ेकी कर्णवेधी ध्वनि, तथा दर्पजन्य कर्कश चिल्लाहट इत्यादिका अत्यधिक सुनना श्रोत्रेन्द्रियका अतियोग है, सर्वथा न सुनना अयोग है, तथा परुष इष्टविनाशसूचक अभिघातसूचक तिरस्कारपूर्ण और भीषण शब्दोंका सुनना मिथ्यायोग है। इसी प्रकार अनितीक्ष्ण, अत्युग्र, अत्यन्त अभिष्यन्दी (आर्द्रताजनक) गन्धोंका अत्यधिक मात्रामें सूँघना घ्राणेन्द्रियका अतियोग है, बिलकुल न सूँघना अयोग है, तथा दुर्गन्धयुक्त द्वेषजनक अपवित्र और आर्द्र गन्धोंको तथा विपाक्त वायु और शव इत्यादिकी गन्धोंको सूँघना मिथ्यायोग है। इसी प्रकार रसोंका अत्यधिक सेवन करना रसनेन्द्रियका अतियोग है, अत्यन्त स्वल्प मात्रामें सेवन करना अथवा बिल्कुल ही सेवन न करना अयोग है। रसोंके मिथ्यायोगका उपदेश रसविमानमें किया गया है। (रसविमाननामक अध्यायमें आहारविधिके हितकर या अहितकर होनेके—प्रकृति करण संयोग राशि देश काल उपयोगसंस्था और उपयोक्ता—ये आठ कारण बताए गए हैं। इनमें राशि अर्थात् आहारकी मात्राका मिथ्यायोग नहीं होता है, केवल अतियोग या अयोग हो सकता है। अवशिष्ट प्रकृत्यादि सातके मिथ्यायोग होते हैं।) इसी प्रकार

---

१. अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम्।
इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ —(इन्द्रिय० ४।२४)

२. तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सम्पद्यते, समयोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति। —(सूत्र० ८।१५)

तिशीत अत्युष्ण स्नान मालिश और उबटन इत्यादिका अत्यधिक सेवन रना स्पर्शनेन्द्रियका अतियोग है, अत्यल्प मात्रामें अथवा बिल्कुल ही सेवन न रना अयोग है, तथा स्नानादि क्रियाओं और शीतोष्णादि द्रव्योंके विहित मका अतिक्रमण करके सेवन करना, और विषमस्थान प्रहार अपवित्र दार्थ तथा प्रेतादिका संस्पर्श मिथ्यायोग है" (सूत्र० ११।३७)। इस प्रकार तियोग अयोग और मिथ्यायोग इन त्रिविध हेतुओंसे इन्द्रियाँ विकृत हो ाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि उनके द्वारा रूपादिका ग्रहण ा तो बिल्कुल ही नहीं होता है, या फिर विकृतरूपमें होता है। जब इन्द्रियोंके ारा अपने विषयोंका समयोगपूर्वक सेवन किया जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वस्थ ौर परिपुष्ट रहती हैं, तथा उनसे उत्पन्न ज्ञान निर्दोष होता है। कहा ाया है—"एकमात्र समयोग ही सुख अर्थात् आरोग्यका कारण है। यह बड़ा ी दुर्लभ है।"[1] ग्रन्थके प्रथमाध्यायमें भी आचार्यने समयोगको ही समस्त-सुखोंका कारण बताया है (सूत्र० १।५५)।

शरीर

पाञ्चभौतिक आहारद्रव्योंसे शरीरमें पाञ्चभौतिक धातुसप्तकका आविर्भाव होता है, तथा धातुसप्तकके प्रसादांशमें पाञ्चभौतिक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इन इन्द्रियोंका अधिष्ठान शरीर है। पाञ्चभौतिक धातुओंसे अभिन्न होनेके कारण शरीर भी पाञ्चभौतिक ही है। शरीरके समुचित ज्ञानके विना चिकित्सादर्शन अपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि आयुर्वेदका अधिकरणभूत जो सत्त्वात्मशरीरसंयोगरूप पुरुष है, उसका मूल शरीर है। पुरुषको शरीरमूलक कहा गया है (निदान० ६।७), क्योंकि शरीरका विनाश होनेपर संयोगपुरुषका भी विनाश हो जाता है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन सभी पुरुषार्थोंकी प्राप्ति शरीरके अधीन है। शरीरके विना भोग और मोक्ष भी सम्भव नहीं हैं। इसलिए शरीरका समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। जिस भिषक्को सम्पूर्ण शरीरके सभी भावोंका ज्ञान होता है, और जो सभी शारीरिक रोगोंको जानता है, वह भिषक् चिकित्साकर्ममें कभी मोहको प्राप्त नहीं होता है।[2] जो चिकित्सक सर्वदा सम्पूर्ण शरीरको सर्वथा जानता है, वही चिकित्सक लोकको सुख प्रदान करनेवाले आयुर्वेदको पूर्णरूपसे जानता है।"[3]

शरीरकी पाञ्चभौतिकता—चरकसंहिताको शरीरकी पाञ्चभौतिकता अभीष्ट है। यह बात समग्र ग्रन्थमें पौनःपुन्येन कही गई है। अशित पीत लीढ और खादित चार प्रकारके आहारसे शरीर उत्पन्न होता है (सूत्र० २८। १३)। पाञ्चभौतिक आहारसे उत्पन्न होनेके कारण शरीरका पाञ्चभौतिक

---

१. **सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः।** —(शारीर० १।१२९)

२. **केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्वभावतः।**
शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति॥ —(विमान० ५।३९)

३. **शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।**
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ —(शारीर० ६।१९)

होना स्वाभाविक ही है। गर्भमें शरीरको निष्पत्ति शुक्र और आर्तवके संसर्गसे होती है। ये दोनों ही आहारजन्य हैं। शुक्र धातुरूप और रजस् उपधातुरूप माना जाता है, अतः दोनों ही पाञ्चभौतिक हैं। "जो वस्तु गर्भोत्पत्तिके लिए पुरुषके द्वारा स्त्रीकी योनिमें आरोपित की जाती है, उसे विद्वान् लोग शुक्र कहते हैं। वह शुक्र वायु अग्नि भूमि और जल इन प्रशस्तगुणयुक्त चार पादोंवाला होता है, और छः रसोंसे उसकी उत्पत्ति होती है।"[1] इस कथनसे वायु इत्यादि चार भूतोंका शुक्रारम्भकत्व सिद्ध होता है। यद्यपि आकाश भी पाञ्चभौतिक शुक्रमें होता है, तथापि वह पुरुषशरीरसे निकलकर गर्भाशयमें नहीं जाता है। केवल क्रियावान् भूतचतुष्टय ही गर्भाशयमें गमन करते हैं। आकाश तो व्यापक है, वह गर्भाशयमें आए हुए शुक्रसे सम्बद्ध हो जाता है। आकाशमें गमनका अभाव होनेसे यहाँपर गर्भाशयगमनके प्रकरणमें उसका उल्लेख नहीं किया गया है। अन्यत्र भी भूतोके गमनका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर आकाशको छोड़ दिया गया है—**भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्** (शारी० २।३१)। षड्रसज होनेसे भी वीर्यकी पाञ्चभौतिकता सिद्ध होती है। अतः वीर्य और आर्त्तवके संसर्गसे उत्पन्न होनेके कारण गर्भ-शरीर पाञ्चभौतिक होता है। चेतनाधातु इस पञ्चभूतात्मक गर्भशरीरको अधिष्ठित करती है। "गर्भ तो अन्तरिक्ष(आकाश) वायु अग्नि जल और पृथिवीका विकार(कार्य) है, और चेतना(आत्मा)का अधिष्ठानभूत (भोगायतनरूप) है। चेतनाको गर्भशरीरकी छठवीं धातु कहा गया है।"[2] यह चेतनाधातु ही माताकी कुक्षिमें पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार शरीरका निर्माण करनेके लिए क्रमशः पञ्चभूतोंको ग्रहण करती है। महतीगर्भावक्रान्तिमें कहा गया है—"गर्भाशयमें चेतनाधातु आत्मा मनरूपी करणकी सहायतासे सर्व-प्रथम गुणों(भूतों)को ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है। इन भूतोंको ग्रहण करनेके समय सबसे पहले वह अन्तरिक्षको ग्रहण करता है। जिस प्रकार प्रलयके समाप्त होनेपर अक्षरस्वरूप परमेश्वर सर्जनेच्छासे युक्त होकर सत्त्वगुणका उपादान करके सबसे पहले आकाशकी सृष्टि करता है, उसके अनन्तर क्रमसे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंकी रचना करता है, उसी प्रकार शरीरको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ आत्मा सर्वप्रथम आकाशका उपादान करता है, उसके अनन्तर क्रमशः व्यक्ततर गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंको ग्रहण करता है। इन सभी शब्दादिगुणवान् भूतोंका ग्रहण अत्यन्त स्वल्पकालमें हो जाता है" (शारीर० ४।८)। इस वाक्यके प्रमाणसे आत्माके द्वारा किए जानेवाले भूतग्रहणका क्रम सिद्ध होता है। इन स्थूलभूतोंका उपादान करनेसे पूर्व आत्मा आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीरसे युक्त रहता है; जिसका निर्माण सूक्ष्ममहाभूत मन और अदृष्टसे

---

1. **शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय।**
वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत्तत् षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य॥
—(शारीर० २।४)

2. **गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः।** —(शारीर० ४।६)

ोता है। स्थूलभूतोंका उपादान करनेपर आत्मा इस स्थूल शरीरके आश्रित रहता है। इसीलिए शरीरका लक्षण करते समय उसे चेतनाका अधिष्ठान बताया गया है।

शरीरका लक्षण—"शरीर चेतनाका अधिष्ठानभूत है, पञ्चमहाभूतोंकी विकाररूप रसादि धातुओंका समुदाय ही उसका स्वरूप है, तथा समयोगवाही है, अर्थात् समुचित प्रमाणमें धातुओंका संयोग होनेपर यह नीरोग रहता है।"[१] '**चेतनाधिष्ठानभूतम्**'में 'भूत'पदको सादृश्यके अर्थमें ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् शरीर चेतनाका अधिष्ठान जैसा है। आत्मरूप चेतनाकी उपलब्धि चूंकि शरीरमें ही होती है, इसलिए शरीरको उसका अधिष्ठान कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टिसे चेतना(आत्मा)का आश्रय कोई भी नहीं है, प्रत्युत चेतना ही अन्य सभी भावपदार्थोंका अधिष्ठान या आश्रय है। चेतना-धातु और आत्माको अभिन्न मानकर महतीगर्भावक्रान्तिमें चेतनाधातुके द्वारा जो पञ्चभूतोंके उपादानका निरूपण किया गया है, उससे भी चेतनाका अधिष्ठातृत्व और पञ्चभूतोंकी अधिष्ठेयता सिद्ध होती है। शरीरको पञ्चमहा-भूतोंकी विकाररूप धातुओंका समुदाय कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि शरीरके समस्त भाव पञ्चभूतात्मक हैं। शरीरके विभिन्न भाव जिन-जिन भूतों-से सम्बद्ध हैं, उनका निरूपण इस प्रकार किया गया है—"इस शरीरमें उपलब्ध होनेवाले शब्द श्रोत्रेन्द्रिय लघुता सूक्ष्मता और विरेक (अर्थात् शरीरगत भावों-की रिक्तता) **आकाशात्मक** हैं। स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय रूक्षता प्रेरणा धातुओंका व्यूहन (व्यवस्थापन) और शारीरिक चेष्टाएँ **मारुतात्मक** हैं। रूप चक्षु प्रकाश पाचन और उष्णता **अग्न्यात्मक** हैं। रस रसनेन्द्रिय शीतलता मृदुता स्नेह और क्लेद **जलात्मक** हैं। तथा गन्ध घ्राणेन्द्रिय गौरव स्थैर्य और मूर्ति (काठिन्य) **पृथिव्यात्मक** हैं" (शारीर० ४।१२)। शरीरसङ्ख्या नामक अध्याय-में शरीरगत भावोंके पार्थिवत्वादिका व्यपदेश अत्यन्त विस्तारके साथ किया गया है—"शरीरमें जो अङ्ग विशेषरूपसे स्थूल स्थिर मूर्तिमान् गुरु खर और कठिन हैं, जैसे नख अस्थि दाँत मांस चर्म पुरीष केश श्मश्रु रोम और कण्डरा इत्यादि, ये सब तथा गन्ध और घ्राणेन्द्रिय **पार्थिव** हैं। शरीरके जो अंश द्रव सर मन्द स्निग्ध मृदु और पिच्छिल हैं, जैसे रस रुधिर वसा कफ पित्त मूत्र और स्वेद इत्यादि, ये सब तथा रस और रसनेन्द्रिय **आप्य** हैं। शरीरमें जो पित्त है, जो ऊष्मा है, और जो तेज या कान्ति है, वे सब तथा रूप और चक्षुरिन्द्रिय **आग्नेय** हैं। शरीरमें जो उच्छ्वास-प्रश्वास उन्मेष-निमेष आकुञ्चन-प्रसारण गमन प्रेरण और धारण इत्यादि हैं, वे सब तथा स्पर्श और स्पर्श-नेन्द्रिय **वायवीय** हैं। शरीरमें जो कुछ विविक्त (रिक्तस्थान) है, जो स्थूल और सूक्ष्म स्रोत हैं, वे सब तथा शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय **आकाशीय** हैं। इस शरीरका प्रयोक्ता जो आत्मा है, वह प्रधान है। बुद्धि और मन भी इस शरीरके प्रयोक्ता या प्रेरक हैं" (शारीर० ७।१६)। इन प्रमाणोंसे शरीरकी पाञ्चभौतिकता निर्विवाद सिद्ध होती है। इस प्रसङ्गमें यह बताना अनुचित

---

१. **शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोग-वाहि।** —(शारीर० ६।४)

न होगा कि शरीरकी पाञ्चभौतिकताका सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त (पञ्चदशी १।२८) और साङ्ख्यदर्शन(साङ्ख्यसूत्र ३।१७)में भी मान्य है, किन्तु न्यायदर्शनमें शरीरको ऐकभौतिक माना गया है। उनके अनुसार पृथ्वीलोकमे यह शरीर पार्थिव होता है (न्यायसूत्र ३।१।२७)। अन्य लोकोमे आप्य तैजस और वायव्य शरीर भी पाए जाते है (वात्स्यायनभाष्य ३।१।२७)। शरीर पार्थिव है इस सिद्धान्तका आशय यह है कि पृथिवी ही इसका समवायिकारण है, किन्तु इससे शरीरकी उत्पत्तिमें जलादि अन्य भूतोंके संयोगका निषेध नहीं है, क्योकि घटका समवायिकारण मृत्तिका होनेपर भी घटोत्पत्तिमें जलादिका संयोग भी अपेक्षित ही है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर नैयायिकोंको भी शरीरकी पाञ्चभौतिकता अभीष्ट जान पड़ती है। वस्तुतः पृथिवीका प्राधान्य होनेके कारण न्यायदर्शनमें शरीरको पार्थिव कहा गया है। शरीरमें विविध अवकाश, पञ्चविध प्राणादि वायु, दोपरूप वायु, जठराग्नि, धात्वग्नियाँ और तज्जन्य उष्णता, रस, रक्त, स्नेह, क्लेद और काठिन्यकी युगपत् उपलब्धि होनेसे उसको ऐकभौतिक या पार्थिवमात्र कहना सर्वथा असङ्गत और उपहासास्पद है।

गर्भशरीरके घटक और नियामक हेतु—"सभी गर्भशरीरोंमें पृथिवी जल अग्नि और वायु ये चार भूत रहते है। इनमें कुछ मातृज, कुछ पितृज, कुछ आहारज और कुछ आत्मकर्मज होते हैं।"[१] इस प्रकार प्रत्येक भूतके चतुर्विध होनेसे इनकी सङ्ख्या सोलह हो जाती है। इन षोडश भूतोंसे गर्भशरीरकी रचना होती है। माता पिता आहार आत्मा सात्म्य और सत्त्व—इन छः भावोंका समुदाय गर्भशरीरका नियमन करता है (शारीर० ४।४)। भगवान् आत्रेयने कहा है कि यह गर्भशरीर मातृज है, पितृज है, आत्मज है सात्म्यज है, रसज है, और मन औपपादुक है, अर्थात् मन ही आत्माका शरीरान्तरसे सम्बन्ध करानेवाला है।[२] इन सभी भावोके समुदायसे गर्भकी उत्पत्ति होती है।

(१) गर्भशरीर मातृज होता है, क्योंकि माताके विना गर्भकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। इस गर्भशरीरके जो अवयव मातृज हैं, तथा गर्भ बननेके समय जो अंश मातासे सम्भूत होते है, वे इस प्रकार हैं—त्वक्, लोहित, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम (फेफड़े), यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), वृक्क (गुर्दे), बस्ति (मूत्राशय), पुरीषाधान, आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुदा, अधरगुदा, क्षुद्रान्त्र (छोटी आँत), स्थूलान्त्र (बड़ी आँत), वपा (हृदयस्थ मेद) तथा वपावहन (तैलवर्त्तिका)—(शारीर० ३।१२)। शरीरमें जो मृदु भाव हैं, वे माताके शोणितसे उत्पन्न होते हैं।

(२) गर्भशरीर पितृज भी होता है, क्योंकि पिताके विना गर्भका आधान ही नहीं हो सकता है। गर्भशरीरके जो अवयव पितृज है, तथा गर्भ बननेके

---

१. **गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृकर्मजानि।
आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे॥**
—(शारीर० २।२६)

२ **मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रजसश्च, अस्ति च खलु सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः।** —(शारीर० ३।५)

समय जो भाव पितासे सम्भूत होते हैं, वे इस प्रकार हैं—केश, श्मश्रु, नख, लोम, दाँत, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनियाँ और शुक्र (शारीर० ३।१३)। शरीरमें जो कठिन भाव है, वे पिताके शुक्रसे उत्पन्न होते हैं।

(३) यह गर्भ आत्मज भी है। गर्भका कारणभूत जो अन्तरात्मा है, उसे वृद्धजन 'जीव' कहते हैं, तथा शाश्वत रोगरहित अजर अमर अक्षय अभेद्य अच्छेद्य अक्षोभ्य विश्वरूप विश्वकर्मा अव्यक्त अनादि अनन्त और अक्षर भी कहते हैं। यह जीव गर्भाशयमें अनुप्रविष्ट होकर शुक्र और शोणितसे संयोग प्राप्त करके अपने ही द्वारा अपनेको गर्भरूपसे उत्पन्न करता है। तब गर्भके लिए 'आत्मा' यह सञ्ज्ञा होती है। इस गर्भके जो भाव आत्मज है, और जो भाव गर्भ बननेके समय आत्मासे प्राप्त होते है, वे इस प्रकार हैं—किसी विशेषयोनिमें जन्म, आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियाँ, प्राण-अपान, प्रेरित करना, धारण करना, आकृतिविशेष, स्वरविशेष, वर्णविशेष, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहङ्कार और प्रयत्न (शारीर० ३।१८,१९)। यद्यपि पशु इत्यादि योनियोंमें गमनका कारण धर्माधर्म हैं, तथापि धर्माधर्मका भी जनक होनेसे आत्मा ही उसका मूलकारण सिद्ध होता है।

(४) यह गर्भ सात्म्यज भी है, क्योंकि असात्म्य अर्थात् अहितकर भावोंका सेवन करनेके विना स्त्री और पुरुषमे न तो वन्ध्यत्वदोष आ सकता है, और न गर्भका ही कुछ अनिष्ट हो सकता है। असात्म्यका सेवन करनेवाले स्त्री-पुरुषोके तीनों दोष प्रकुपित होकर शरीरमें विचरण करते हुए जबतक वीर्य रज अथवा गर्भाशयको हानि नही पहुँचाते हैं, तबतक वे स्त्रीपुरुष गर्भोत्पादनमें समर्थ रहते हैं। सात्म्यका सेवन करनेवाले जिन स्त्रीपुरुषोंका शुक्रशोणित और गर्भाशय सर्वथा उपघातरहित होता है, उनके द्वारा ऋतुकालमें समागम किए जानेपर भी यदि गर्भाधान नहीं होता है, तो उसका कारण है जीवका प्रवेश न करना, क्योंकि यह गर्भ एकमात्र सात्म्यज ही नहीं है, प्रत्युत छहों भावोंका समुदाय इसका कारण है। इस गर्भके जो भाव सात्म्यज हैं, तथा गर्भ बननेके समय जो जो भाव सात्म्यसे उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं—आरोग्य, आलस्यराहित्य, लोलुपताका अभाव, इन्द्रियोंकी प्रसन्नता या निर्मलता, स्वर वर्ण और बीज(शुक्र-शोणित)की सम्पत्ति (श्रेष्ठता), तथा मैथुनमें प्रहर्षका आधिक्य (शारीर० ३।१७)। स्वर और वर्णका परिगणन आत्मज और सात्म्यज दोनों ही भावोमें हुआ है, अतः दोनोंको ही इनका कारण समझना चाहिए। दीर्घकालीन सतत अभ्यासके द्वारा जो आहार-व्यवहारादि भाव मनुष्यके लिए सुखकर और हितकर (पथ्य) बन जाते हैं, तथा जो मनुष्यकी प्रकृतिके अनुरूप होते हैं, उन्हें सात्म्य कहा जाता है।

(५) यह गर्भ रसज भी है, क्योंकि रसके विना तो माताकी प्राणयात्रा भी नहीं हो सकती है, फिर गर्भकी उत्पत्तिका तो कहना ही क्या। असम्यग् रूपसे उपयोग किए गए रस गर्भका निष्पादन नहीं कर सकते हैं, और केवल रसोंके सम्यग् उपयोगसे भी गर्भकी निष्पत्ति नहीं होती है, प्रत्युत सभी हेतुओं-का समुदाय गर्भनिष्पत्तिका कारण बताया जाता है। इस गर्भके जो भाव रसज हैं, तथा गर्भके बननेके समय जो-जो भाव रससे उत्पन्न होते हैं. वे इस

प्रकार हैं—शरीरका निर्माण, उसकी वृद्धि, प्राणोंसे सम्बन्ध, तृप्ति, पुष्टता और उत्साह (शारीर० ३।१८)। माता इत्यादि हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाले जिन-जिन भावोंका परिगणन इस प्रकरणमें किया गया है, उनकी यह सम्पूर्ण सूची नहीं है। केवल प्रमुख भाव कहे गए हैं, शेष उसी प्रकारके अन्य भाव ऊह्य हैं। अब गर्भशरीरके प्रति मनकी कारणता बताई जा रही है—

(६) मन निश्चयसे औपपादुक अर्थात् आत्माका शरीरान्तरसे सम्बन्ध करानेवाला है। यह मन ही जीवात्मा को स्पृक्शरीर(स्पर्श करने योग्य शुक्र-शोणितात्मक स्थूल गर्भशरीर)से सम्वद्ध करता है। इस गर्भशरीरके जो भाव सत्त्वज हैं, तथा गर्भनिष्पत्तिके समय जो-जो भाव सत्त्वसे उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं—भक्ति शील शौच द्वेष स्मृति मोह त्याग मात्सर्य शौर्य भय क्रोध तन्द्रा उत्साह तीक्ष्णता मृदुता गम्भीरता और अस्थिरता इत्यादि, तथा इसी प्रकारके दूसरे भाव भी सत्त्वजन्य हैं (शारीर० ३।१९)।

इस प्रकार यह गर्भशरीर इन अनेकविध गर्भकारक भावोंके समुदायसे उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कूटागारका निर्माण नानाविध द्रव्यों-के समूहसे होता है, अथवा जिस प्रकार रथकी रचना अनेक प्रकारके रथाङ्गों-के समुदायसे होती है।[१] इस प्रकरणमें यद्यपि माता पिता आत्मा मन रस और सात्म्य इन छः भावोंके समुदायको गर्भशरीरका कारण बताया गया है, तथापि समुदायहेतुकताका कथन केवल सात्म्य और रसके कारणत्वका प्रतिपादन करते समय किया गया है। इसका क्या कारण है ? विचार करनेसे ग्रन्थकारकी मान्यता कुछ इस प्रकारकी प्रतीत होती है—गर्भके प्रति मात्रादि-चतुष्टय की जैसी अनिवार्य कारणता है, वैसी सात्म्य और रसकी नहीं है। गर्भकी निष्पत्ति तो शुक्र शोणित सत्त्व और आत्मा इन चारके संसर्गसे ही हो जाती है। गर्भकी निष्पद्यमानावस्थामें सात्म्य और रसकी अपेक्षा नहीं होती है। इन दोनोंकी अपेक्षा तो गर्भनिष्पत्तिके उत्तरकालमें गर्भशरीरकी पुष्टिके लिए होती है। इसलिए सात्म्य और रसके लिए समुदायकी अपेक्षा अनिवार्य होनेके कारण उन्हींके निरूपणप्रसङ्गमें 'समुदायोऽत्र कारणम्' कहा गया है। मात्रादिको भी यद्यपि परस्पर समुदायकी अपेक्षा है, तथापि गर्भ-निर्वर्तनकालमें उन्हें सात्म्य और रसकी कोई अपेक्षा नहीं है, इसीलिए मात्रादिके प्रसङ्गमें समुदायापेक्षिताका कथन नहीं किया गया है।

शरीरोंके भेद तथा उनकी भिन्नरूपताके कारण—शास्त्रान्तरोंके समान चरकतन्त्रमें भी निखिलशरीरजातके चार स्थूल भेद किए गए हैं—जरायुज अण्डज स्वेदज और उद्भिज्ज। किन्तु इन चार योनियोंमें भी प्रत्येक योनिके अगणित भेद हैं, क्योंकि प्राणियोंकी आकृतियाँ असङ्ख्य प्रकारकी पाई जाती हैं (शारीर० ३।२३)। इन चतुर्विध प्राणियोंमें जरायुज और अण्डज प्राणियोंके

---

१. एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भो, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायाद्यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्।

—(शारीर० ३।२०)

शुक्रशोणितादि गर्भनिर्वर्त्तक भाव जिस-जिस योनिको प्राप्त होते हैं, उस-उस योनिमें उसी प्रकारका रूप धारण कर लेते हैं। जिस प्रकार सोने चाँदी ताँबे टीन और सीसे इत्यादिको पिघलाकर जिस आकारके साँचेमें ढाला जाता है, उसी आकारको धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार शुक्रशोणितादि अनेक गर्भकर भाव जब मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं, तो मनुष्याकृति गर्भ उत्पन्न होता है। अतः समुदायात्मक होनेपर भी मनुष्ययोनिस्थ गर्भ मनुष्य-रूपसे उत्पन्न होता है। यही कारण है कि मनुष्यकी उत्पत्ति मनुष्यसे कही जाती है, क्योंकि वही उसकी योनि है।[1] समुदायजन्य होनेपर भी यह शरीर योनिरूप कारणकी महिमासे अपनी योनिके ही सदृश बनता है। इसीलिए अन्य कारणोंकी कारणताको स्वीकार करनेपर भी माता और पिताको शरीर-की सजातीयतामें विशेषकारण माना जाता है।

शरीरके अवयव—शरीरके ऊपर यद्यपि एक ही त्वचा दिखाई पड़ती है, तथापि चरकके मतानुसार क्रमशः एकके नीचे दूसरी, इस प्रकार छः त्वचाएँ हैं। ये त्वचाएँ इस षडङ्ग शरीरको व्याप्त करके स्थित हैं। दो भुजाएँ, दो टाँगें, शिरोग्रीवा तथा मध्यभाग—इन छः अङ्गोंसे युक्त होनेके कारण यह शरीर षडङ्ग कहलाता है (शारीर० ७।५)। चरकसंहितामें शरीरगत अस्थियोंकी सङ्ख्या ३६० बताई गई है। सुश्रुतने केवल ३०० अस्थियाँ गिनाई हैं, किन्तु सुश्रुतके अनुसार वेदवादी इनकी सङ्ख्या ३६० बताते हैं। अष्टाङ्गसङ्ग्रहके अनुसार भी अस्थियाँ ३६० ही हैं। आधु-निक शरीरविज्ञानके अनुसार प्रौढ़पुरुषके शरीरमें केवल २०६ अस्थियाँ होती हैं। इन मतोंमें आपाततः विरोध प्रतीत होनेपर भी गणनाप्रकारमें भेद होनेके कारण वस्तुतः कोई विरोध नहीं है।

शरीरमें हृदय एक है, जो चेतनाका अधिष्ठान है (शारीर० ७।८)। चिकित्सास्थानमें हृदयको, रस तथा वातादिका वहन करनेवाली दश धम-नियोंका, मन बुद्धि आत्मा और इन्द्रियोंका, तथा प्रधान(पर) ओजका स्थान (आश्रय) बताया गया है।[2] सूत्रस्थानके अर्थेदशमहामूलीय अध्यायमें विज्ञान (चेतना) आत्मा मन इन्द्रियों और दश धमनियोंको हृदयके आश्रित कहा गया है। इनके अतिरिक्त हृदयको आत्माके सुखादिगुणोंका, मनके चिन्त्यादि विषयोंका, इन्द्रियोंके शब्दादि अर्थपञ्चकका, तथा षडङ्गशरीरका

---

१. तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनि-मापद्यन्ते, तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति। तद्यथा कनकरजत-ताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु। तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते। तस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते तद्योनित्वात्।
—(शारीर० ३।२४)

२. रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥
—(चिकित्सा० २४।३५)

भी आधार बताया गया है।[१] सिद्धिस्थान(९।४)में तो हृदयाश्रित भावोंकी सूचीमें प्राणापान तथा महाभूतोंको भी जोड़ दिया गया है। सङ्क्षेपमें कहा जाय तो प्राणीका समग्र जीवन हृदयके आश्रित टिका हुआ है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक भावोंको जोडनेवाली बीचकी कड़ी यही है। इसीलिए शरीरके समस्त अवयवोंमें इसकी प्रधानता और सर्वाधिक महत्ता सिद्ध होती है। सम्भवतः इसी कारण आयुर्वेदमें इसके पर्यायोंकी गणना करते समय इसे 'महत्' और 'अर्थ' कहा गया है।[२] भगवान् आत्रेय कहते हैं—"हृदयपर चिन्तन करनेवाले मनीषियोंके मतानुसार जिस प्रकार गोपानसियों(गृहाच्छादक धरनियों)को प्रतिष्ठित करनेके लिए आगार-कर्णिका (आधाररूप बेंड़ी बल्ली) अभीष्ट होती है, उसी प्रकार पूर्वोक्त समस्त आध्यात्मिक और आधिभौतिक भावोंकी प्रतिष्ठाके लिए हृदय अभीष्ट है।"[३] यहाँपर षडङ्गशरीरादिको हृदयके आश्रित कहनेका कारण आधाराधेयभाव नहीं है, प्रत्युत शरीरादिकी प्रकृति और विकृतिका हृदयके साथ अन्वयव्यतिरेकसम्बन्ध ही इसका कारण है। हृदयके प्रकृतिस्थ होनेपर षडङ्गादि प्रकृतिस्थ देखे जाते हैं, और हृदयका उपघात होनेपर षडङ्गादिका उपघात देखने-आता है। सर्वव्यापक होनेके कारण आत्माका हृदयके साथ आधाराधेयसम्बन्ध न बननेपर भी प्रस्तुत प्रकरणमें जिस आत्माको ग्रहण किया गया है, उसके संसारी तथा सुखदुःखादिका भोग करनेवाला जीवात्मा होनेके कारण, तथा हृदयदेशमें ही सुखदुःखादिकी उपलब्धि करनेवाला होनेके कारण, उसे हृदयाश्रित कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। मन यद्यपि सम्पूर्णशरीरचारी है, तथापि अपनी क्रियासे उपरत होनेपर वह हृदयमें ही रहता है। ध्यान और योगमें मनको हृदयस्थ ही बताया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान और सुखदुःखादिकी अनुभूति भी हृदयमें ही होती है। इसका प्रमाण यह है कि अत्यधिक चिन्तन करनेसे तथा दुःखका आवेग होनेपर हृदय ही पीडित होता है, दूसरे अङ्ग नहीं। आत्मासे लेकर शरीरपर्यन्त समस्तभाव इस हृदयके ही आश्रित है। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि "हृदयपर आघात लगनेसे प्राणी मूर्छित हो जाता है, तथा हृदयके विदीर्ण होनेसे उसकी मृत्यु हो जाती है, क्योंकि प्रतिष्ठाका नाश होनेसे तदाश्रित भावोंका नाश अपरिहार्य है। शरीरको धारण करनेके कारण 'धारि' कहलानेवाली शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूप जो आयु समस्त ज्ञेय पदार्थोंको स्पर्श(सन्निकर्ष)के द्वारा जानती है, वह आयु हृदयके आश्रित टिकी हुई है।"[४] अतः आयुके आधारभूत हृदयका भेदन होनेपर मरण होना नितान्त स्वाभाविक है।

---

१. **षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।**
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥ —(सूत्र० ३०।४)

२. **महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः।** —(सूत्र० ३०।३)
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥ —(सूत्र० ३०।७)

३. **प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते।**
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥ —(सूत्र० ३०।५)

४. **तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति।**
यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्॥ —(सूत्र० ३०।६)

शरीरमें दश प्राणायतन हैं, जिनमें प्राण प्रतिष्ठित हैं—दोनों शङ्खदेश (कनपटियाँ), तीन मर्मस्थल (हृदय बस्ति और मूर्द्धा), कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा (सूत्र० २९।३)। इन प्राणायतनोंपर आघात होनेसे प्राणीके प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। शरीरसङ्ख्याशारीरमें दोनों शङ्खस्थलोंके स्थानपर नाभि और मांसको प्राणायतनोंमें गिना गया है, तथा मूर्धा हृदय और बस्ति इन तीन मर्मस्थलोंके साथ कण्ठ नाभि और गुदाको भी मर्मस्थल कहा गया है (शारीर० ७।९)। प्राधान्यकी अपेक्षासे कहींपर तीन और कहींपर छः मर्म गिनाए गए हैं। वस्तुतः इस शरीरमें स्कन्ध और शाखाओंके आश्रित १०७ मर्म हैं। इनमें से किसी एक मर्ममें भी पीडा होनेपर अत्यन्त कष्ट होता है, क्योंकि इन स्थलोंपर चेतनाधातुका विशेष सम्बन्ध है (सिद्धि० ९।३)। शाखाश्रित मर्मोंकी अपेक्षा स्कन्धाश्रित मर्मोंकी प्रधानता है, क्योंकि शाखाएँ स्वयं स्कन्धके आश्रित हैं। स्कन्धाश्रित मर्मोंमें भी हृदय बस्ति और शिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये तीनों सम्पूर्ण शरीरके मूल हैं (सिद्धि० ९।३)। इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी विनाश होनेसे शरीरका शीघ्र ही विनाश हो जाता है, क्योंकि आश्रयके नाशसे आश्रितका भी नाश होता है। इनपर चोट पहुँचनेसे अत्यन्तघोर व्याधियोंका प्रादुर्भाव होता है। अतः इन मर्मोंकी बाह्य अभिघातोंसे तथा आन्तरिक वातादिदोषोंसे विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिए। (सिद्धि० ९।५)।

शरीरमें १५ कोष्ठाङ्ग हैं, तथा बाहु इत्यादि पूर्वोक्त षडङ्गोंसे सम्बद्ध ५६ प्रत्यङ्ग हैं। सम्पूर्ण शरीरमें नौ बड़े-बड़े छिद्र हैं, उनमें सात छिद्र शिरमें तथा दो छिद्र नीचे हैं। ये सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृश्य अर्थात् प्रत्यक्ष हैं, किन्तु शरीरमें बहुतसे ऐसे अवयव हैं, जिनका प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, उन्हें तर्क या अनुमानसे ही जाना जा सकता है। चरकके मतानुसार ऐसे अनुमानगम्य भावोंकी सङ्ख्या इस प्रकार है—शरीरमें ९०० स्नायु हैं, ७०० सिराएँ हैं, २०० धमनियाँ हैं, ५०० पेशियाँ है, १०७ मर्म हैं, २०० सन्धियाँ हैं, तथा अत्यन्तसूक्ष्म भागोंमें विभक्त होते हुए सिराओं और धमनियोंके मुखाग्रोंकी सङ्ख्या २९९५६ (पाठान्तरके अनुसार ३०९५६) है। केश श्मश्रु और रोमोंकी सङ्ख्या भी इतनी ही है (शारीर० ७।१४)। यद्यपि स्नायु इत्यादि भी प्रत्यक्ष होते हैं, तथापि इतनी भूयसी सङ्ख्यावाले सभी स्नायु-प्रभृतिको प्रत्यक्षसे ग्रहण करना सुकर नहीं है, इसीलिए इन्हें तर्क्य या अनु-मानगम्य कहा गया है। अपनी अञ्जलिके प्रमाणसे शरीरमें उदककी मात्रा दश अञ्जलि है। आहारके परिणामसे उत्पन्न होनेवाली रसरूप प्रथम धातुकी नौ अञ्जलियाँ, शोणितकी आठ, पुरीषकी सात, श्लेष्माकी छः, पित्तकी पाँच, मूत्रकी चार, वसाकी तीन, मेदकी दो, मज्जाकी एक, तथा मस्तिष्क शुक्र और श्लेष्मज(अपर)ओजकी आधी-आधी अञ्जलि शरीरमें होती है (शारीर० ७।१५)।

चरकमुनिके मतानुसार शरीरकी रचना महाभूतोंके परमाणुओंसे हुई है, अतः परमाणुभेदसे शरीरके अवयवोंकी सङ्ख्या असङ्ख्य हो जाती है। गङ्गाके बालुकाकणोंके समान शरीरमें परमाणुओंकी सङ्ख्या गणनातीत है। ये परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। परमाणुओंके पारस्परिक संयोगसे

शरीरका निर्माण, और विभागसे शरीरका विनाश होता है। परमाणुओंके संयोग और विभागके तीन हेतु है, वायु कर्म और स्वभाव (शारीर० ७।१७)। अकेला वायु परमाणुओंके संयोग-विभागमें समर्थ नहीं हो सकता है, प्रत्युत कर्म और स्वभावसे परिगृहीत होकर ही समर्थ होता है। अथवा वायु और कर्मस्वभाव (अदृष्टधर्माधर्मरूप कर्मका स्वभाव) ये दो ही हेतु हैं। वायु जब संयोजनस्वभाववाले कर्मसे परिगृहीत होता है, तो परमाणुओंमें संयोग उत्पन्न करता हुआ शरीरकी रचना कर देता है, परन्तु जब वियोजनस्वभाववाले कर्मसे परिगृहीत होता है, तो परमाणुओंका विघटन करके शरीरका विनाश कर देता है।

शरीरावयवोंके विज्ञानका फल—शरीरावयवविज्ञानका फल आपाततः रोग और चिकित्साका अवधारण है, किन्तु उसका चरमफल मोक्षकी प्राप्ति है। चरकमुनि कहते हैं—"यह शरीर अनेक अवयवोंसे युक्त कहा गया है। इसका एकत्वेन दर्शन करना आसङ्ग अर्थात् आसक्तिका हेतु है, और पृथक्त्वेन अवयवभेदसे दर्शन करना अपवर्गका हेतु है। शरीरमें अवयवशः पृथक्त्वकी भावना करनेपर प्रधानभूत आत्मा शरीरके प्रति रागद्वेषसे रहित हो जाता है, और समस्त सन्तानपरम्पराकी निवृत्ति हो जानेसे संसारकी निवृत्ति हो जाती है।"[१] इसका भाव यह है कि परमार्थतः अनेक अवयवोंवाला होनेपर भी यदि मनुष्य मोह या अज्ञानके कारण शरीरमें एकत्वका दर्शन करता है, तो उसकी शरीरमें आसक्ति और ममता हो जाती है। शरीरमें एकत्वकी भावना होनेसे मनुष्य उसके उपकारमें प्रवृत्त होता है, फलस्वरूप प्रवृत्तिजन्य रागद्वेषका शिकार बनता है। इसके विपरीत अवयवभेदसे शरीरमें पृथक्त्वकी भावना करनेसे शरीरके प्रति ममताका उदय नहीं होता है, प्रत्युत वैराग्यका आविर्भाव होता है। ममताका अभाव होनेसे शरीरके उपकारक और अपकारक भावोंके प्रति रागद्वेष भी नहीं होता है। रागद्वेषके अभावमें प्रवृत्ति शान्त हो जाती है, और प्रवृत्तिके शान्त होनेसे तज्जन्य धर्माधर्मका अभाव होकर अपवर्ग सिद्ध होता है। चरकमुनि कहते हैं—"जो भिषक् अवयवशः शरीरगत समस्त भावोंकी सङ्ख्या जानता है, वह शरीरके एकत्वरूप मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले मोहसे अभिभूत नहीं होता है। मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वह मोहमूलक रागद्वेषादिदोषोंसे सन्तप्त नहीं होता है, तथा निर्दोष हो जानेके कारण वह समस्त इच्छाओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है। शान्त होनेसे जननमरणरूप संसरणकी विश्रान्ति हो जाती है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता है।"[२] इस प्रकार शरीरविज्ञानका फल मोक्ष बताया गया है।

---

१. **तदेतच्छरीरं सङ्ख्यातमनेकावयवं दृष्टमेकत्वेन सङ्गः, पृथक्त्वेनापवर्गः। तत्र प्रधानमसक्तं सर्वसन्ताननिवृत्तौ निवर्तत इति।** —(शारीर० ७।१८)

२. **शरीरसङ्ख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।**
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥
अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते।
निर्दोषो निःस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः॥ —(शारीर० ७।१९-२०)

मन

इन्द्रियजज्ञानके निरूपणमें कहा जा चुका है कि मनोऽधिष्ठित इन्द्रियके द्वारा ही अर्थग्रहण सम्भव है। मनके सहयोगके विना कोई भी इन्द्रिय अपने विषयको नहीं ग्रहण कर सकती है।[1] यह बात बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।३), साङ्ख्यदर्शन (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी कारिका २७) तथा न्यायदर्शन (वा० भा० १।१।४)से भी सिद्ध होती है। चरकमुनि तो स्पष्ट कहते हैं—"मनःपूर्वक ही इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं।"[2] चरकदर्शनमें मनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि त्रिविधरोगोंमें मानसरोगोंका लक्षण निदान और चिकित्सा मनस्तत्त्वके सम्यग्ज्ञानपर ही अवलम्बित हैं। चरक-संहितामें सत्त्वसञ्ज्ञक मनको आत्माकी विभूति कहा गया है। लोक और पुरुषके सादृश्यका प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"जिस प्रकार लोकमें ब्राह्मी विभूति है, उसी प्रकार पुरुषमें आन्तरात्मिकी विभूति है। लोकमें ब्रह्मकी विभूति हैं प्रजापति, तथा पुरुषमें अन्तरात्माकी विभूति है सत्त्व। लोकमें जो इन्द्र है, पुरुषमें वही अहङ्कार है।"[3] समष्टिमें जो प्रजापति और इन्द्र कहे गए हैं, वही व्यष्टिमें मन और अहङ्कार हैं। इन्द्रियोपक्रमणीया-ध्यायमें जो अध्यात्मद्रव्यगुणसङ्ग्रह (अर्थात् आत्माके उपकारक तथा अपकारक द्रव्यों और गुणोंका सङ्ग्रह) किया गया है, उनमें मन, मनके विषय, बुद्धि (मानसिक ज्ञान) और आत्मा इन चारको सङ्गृहीत किया गया है। इनमें प्रथम तीन मनसे सम्बद्ध हैं, अतः चरकके अध्यात्मदर्शनमें मनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। "यह अध्यात्मद्रव्यगुणसङ्ग्रह शुभकी प्रवृत्ति तथा अशुभकी निवृत्ति-का हेतु है। अथवा धर्मसुखरूप शुभ, अधर्मदुःखरूप अशुभ, संसाररूपा प्रवृत्ति और मोक्षरूपा निवृत्तिका हेतु है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक द्रव्यके आश्रित रहनेवाला कर्म, जिसे क्रिया कहा जाता है, वह भी शुभाशुभकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका हेतु है" (सूत्र० (८।१३)। जो पुरुष अपने जीवनमें धर्मरूप और सुखरूप शुभकी प्रवृत्ति चाहता है, तथा अधर्मरूप और दुःखरूप अशुभकी निवृत्ति चाहता है, उसे इन आध्यात्मिक द्रव्य गुण और कर्मका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इनका सम्यग्योग शुभकी प्रवृत्ति और अशुभकी निवृत्तिका हेतु बनता है, तथा अतियोग अयोग और मिथ्यायोग अशुभकी प्रवृत्तिके हेतु बनते हैं।

मनका लक्षण—"मन अतीन्द्रिय है। इसका दूसरा नाम सत्त्व है। कुछ लोग इसे चेतस् या चित्त भी कहते हैं। इसकी चेष्टा अर्थात् व्यापार, इसके विषय और आत्मा(चेतन प्रतिसन्धाता)के सन्निकर्षके अधीन है। इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका कारण यह मन ही है।"[4] मनको अतीन्द्रिय कहा गया

---

१. **इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।** —(शारीर० १।२२)

२. **मनःपुरस्सराणि चेन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।** —(सूत्र० ८।७)

३. **यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः। ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वम्। यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः।** —(शारीर० ५।५)

४. **अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसञ्ज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्।** —(सूत्र० ८।४)

है, क्योंकि दुर्लक्ष्य होनेके कारण यह अतीन्द्रिय चक्षुरादि इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म है । चक्रपाणिने 'अतिक्रान्तमिन्द्रियमतिक्रान्तमिन्द्रियम्' इस विग्रहके द्वारा 'अतीन्द्रिय'पदमें प्रादितत्पुरुष मानकर 'इन्द्रियत्वका अतिक्रमण करनेवाला' ऐसा अर्थ किया है । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि अन्यस्थलोंपर मनके इन्द्रियत्वका निरूपण होनेसे पूर्वापरविरोध प्रसक्त होगा । चक्रपाणिका कहना है कि प्रस्तुत अध्यायमें पाँच इन्द्रियाँ गिनाकर मनको अतीन्द्रिय कहा गया है, अतः यहाँपर ग्रन्थकारको मनका इन्द्रियत्व अभीष्ट नहीं है, तथा आगे चलकर जो एकादश इन्द्रियोंका अभिधान किया गया है, वह दर्शनान्तर(सम्भवतः साङ्ख्य)की अपेक्षासे है, अतः पूर्वापरविरोध नहीं है । इस विषयमें हमारी धारणा कुछ भिन्न है । चरकसंहितामें जिस दर्शनका निरूपण हुआ है, वह उसका अपना दर्शन है और अपनेमें पूर्ण है । भले ही साङ्ख्यवैशेषिकादिदर्शनोंकी छाया उसमें दिखाई पड़ती हो, फिर भी उन दर्शनोंकी अपेक्षासे पूर्वापरविरोध इस ग्रन्थमें कहीं भी लक्षित नहीं होता है । चरकमुनिने चिकित्साविज्ञानकी आधारशिलाके रूपमें जिन दार्शनिकतत्त्वोंका सङ्ग्रथन किया है, वे सभी तत्त्व यथार्थकी सुदृढ भूमिपर खड़े हुए हैं, अतः उनमें पूर्वापरविरोधकी स्वल्प भी सम्भावना नहीं है । चरकसंहितामें सर्वत्र 'अतीन्द्रिय'पदका 'इन्द्रियोंसे अग्राह्य' इस अर्थमें ही प्रयोग हुआ है (द्रष्टव्य — इन्द्रिय० ४।४), फिर यहाँपर अकस्मात् मनोनिरूपणके प्रसङ्गमें 'इन्द्रियत्वका अतिक्रमण करनेवाला' यह अर्थ करके पूर्वापरविरोधका आवहन करना कहाँकी बुद्धिमत्ता है ? चरकसंहिताके प्रधान उपजीव्य साङ्ख्य और वैशेषिक दोनों दर्शनोंमें मनको इन्द्रिय माना गया है, और चरकसंहितामें भी सर्वत्र उसके इन्द्रियत्वका ही प्रतिपादन मिलता है । कहींपर भी इन्द्रियत्वका खण्डन नहीं किया गया है । अतः इस प्रकरणमें भी उसे इन्द्रिय मानना ही उचित होगा । **'तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टम्'**का तात्पर्य यह है कि अपने चिन्त्यविचार्यादि विषय तथा आत्माकी सम्पत् होनेपर ही मनकी समस्त चेष्टाएँ (सुखादिका ज्ञान तथा इन्द्रियोंका प्रवर्त्तनादि) सम्भव होती हैं । इनमें अर्थसम्पत् है सुखादि विषयोंका सन्निकर्ष और चिन्त्यादि विषयोंका आभिमुख्य, तथा आत्मसम्पत् है अर्थग्रहणके लिए आत्माका प्रयत्नशील होना । अभिप्राय यह है कि जब सुखादि या चिन्त्यादि विषय उपस्थित होते हैं और आत्मा भी प्रयत्नवान् होता है, तो मन अपने विषयमें प्रवृत्त होता है । **'चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्'**का अर्थ है, मन ही इन्द्रियोंको अधिष्ठित करके उनके व्यापारका कारण बनता है अर्थात् मनसे अधिष्ठित होकर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयका ज्ञान करनेमें प्रवृत्त होती हैं ।

मन एक तथा अणु है । आचार्य कहते हैं — "स्वार्थ इन्द्रियार्थ और सङ्कल्पका व्यभिचरण अर्थात् एक अर्थको छोड़कर अर्थान्तरका ग्रहण करनेके कारण, तथा रजस् तमस् और सत्त्वगुणसे युक्त होनेके कारण, यह मन एक ही पुरुषमें अनेक जैसा प्रतीत होता है । किन्तु वस्तुतः उसमें अनेकत्व नहीं है, क्योंकि जो अनेक होता है, वह एक ही समयमें अनेक विषयोंमें प्रवृत्त होता है (अथवा जो एक है, वह एक ही कालमें

अनेक विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होता है) । चूंकि मन एक है, इसीलिए सभी इन्द्रियोंकी ऐककालिक (युगपत्) प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ।"[१] एक ही मन अनेक जैसा क्यों प्रतीत होता है, इसका हेतु यह है कि मन जब धर्मका चिन्तन करता है, तो धर्मचिन्तक बनता है, फिर उसे छोड़कर जब कामका चिन्तन करने लगता है, तो कामचिन्तक बन जाता है । उस समय वह धर्मभेदके कारण धर्मचिन्तक मनसे भिन्न जान पड़ता है । इसी प्रकार इन्द्रियार्थका व्यभिचरण करनेपर भी वह अनेक जैसा प्रतीत होता है । जब रूपको ग्रहण करता है तो रूपग्राहक, और जब गन्धको ग्रहण करता है तो गन्धग्राहक बन जाता है । इसी प्रकार जब सङ्कल्पका व्यभिचरण करता है, अर्थात् जब 'यह मेरा उपकारक है', 'यह मेरा अपकारक है' इस प्रकार कभी गुणदृष्टिसे और कभी दोषदृष्टिसे कल्पना करता है, तो कभी गुणकल्पक और कभी दोष-कल्पक बन जाता है । इससे मनोभेद प्रतीत होता है । गुणत्रयके कारण भी मनोभेदकी कल्पना होती है—एक पुरुषमें एक ही मन जब रजोबहुल होता है, तो क्रोधादियुक्त होता है; जब तमोबहुल होता है, तो अज्ञान और भय इत्यादिसे युक्त होता है; और जब सत्त्वगुणबहुल होता है, तो सत्य और शौचादिसे युक्त होता है । अतः धर्मभेदके कारण अनेक जैसा प्रतीत होता है । किन्तु मन वस्तुतः एक ही है, अनेक नहीं है, क्योंकि जो अनेक होते हैं, जैसे देवदत्त यज्ञदत्त और भवदत्तके मन, वे एक ही कालमें रूपज्ञान शब्दज्ञान और गन्धज्ञानमें प्रवृत्त हो सकते हैं । इसी प्रकार यदि एक ही पुरुषमें अनेक मन हों, तो वे भी रूपादिज्ञानमें युगपत् प्रवृत्त होंगे । चूंकि युगपत प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है, अतः सिद्ध होता है कि एक पुरुषमें एक ही मन होता है । कुछ लोग कहते हैं कि कचौड़ी या रसगुल्ला खाते समय युगपत् शब्दादि पञ्चज्ञान उत्पन्न होते हैं । उनका यह कथन भ्रममूलक है, क्योकि पाँचों ज्ञान क्रमिक होनेपर भी शतपत्रभेदनन्यायसे समयका व्यवधान अ यल्प होनेके कारण युगपत् जैसे प्रतीत होते हैं । यदि युगपत् ज्ञानोत्पत्तिको स्वीकार किया जाय, तो विषयका सन्निकर्ष होनेपर सर्वदा युगपत् ज्ञान होना चाहिए, किन्तु नहीं होता है । इसलिए मनको एक ही मानना पड़ता है । युगपत् ज्ञानोत्पत्ति-का अभाव होनेके कारण ही मनको अणु भी माना जाता है । यदि मनको आत्माके समान विभु माना जाय, तो एक होनेपर भी सर्वशरीरव्यापी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंसे युगपत् सन्निकर्ष होनेपर युगपत् शब्दादिज्ञानोत्पत्ति दुर्वार हो जायगी । चूंकि इन्द्रियाँ एक कालमें एक ही अर्थको ग्रहण करती हैं, अतः मनका एकत्व और अणुत्व सिद्ध होता है । इन्द्रियाँ मनसे अधिष्ठित होकर ही विषयज्ञानमें प्रवृत्त होती हैं, इसलिये जिस समय मन चक्षुको अधिष्ठित करता है, एक और अणु होनेके कारण उसी समय घ्राणादिको अधिष्ठित नहीं कर सकता है । अयुगपत् ज्ञानोत्पत्तिका यही रहस्य है ।

---

१. **स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमः-सत्त्वगुणयोगाच्च; न चानेकत्वम, अनेकमेककालमनेकेषु प्रवर्तते (न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते) तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ।**

—(सूत्र० ८।५)

शारीरस्थानमें इसी बातको प्रकारान्तरसे समझाया गया है। जिस समय इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थके साथ युगपत् सन्निकृष्ट होती हैं, तो किसी इन्द्रियार्थका ज्ञान होता है और किसीका नहीं होता है। इसका क्या कारण है ? विचार करनेसे ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञानके होने और न होनेमें इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षके अलावा और भी कोई कारण है, जिसके विद्यमान होनेपर ज्ञान होता है और अनुपस्थित होनेपर नहीं होता है। आत्मा तो विभु होनेके कारण सर्वदा ही सन्निकृष्ट रहता है, अतः उससे भिन्न कोई कारण होना चाहिए। वह कारण मन ही है। इस तर्कको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"ज्ञानका अभाव और ज्ञानका भाव मनका लक्षण (ज्ञापक) है, क्योंकि आत्मा इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष होनेपर भी मनका इन्द्रियसे संयोग न होनेपर ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, तथा मनका सान्निध्य होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः ज्ञानका होना तथा न होना ही मनोगमक है।"[१] इससे मनकी अनुमानगम्यता तथा अतीन्द्रियतापर प्रकाश पड़ता है। इन्द्रियजज्ञानका कारणभूत मन यदि आत्माके समान सर्वेन्द्रियव्यापक अथवा इन्द्रियोंके समान अनेक माना जाय, तो युगपत् पञ्चज्ञान होने चाहिए, क्योंकि विभु अथवा अनेक मन युगपत् सभी इन्द्रियोंको अधिष्ठित करेंगे। चूंकि युगपत् ज्ञान नहीं होता है, अतः अणुत्व और एकत्व—ये दो गुण मनमें माने गए हैं।[२]

न्यायदर्शनमें भी युगपत् ज्ञानोत्पत्तिका अभाव ही मनका ज्ञापक लिङ्ग माना गया है।[३] वैशेषिकसूत्रोंमें भी आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञान का भाव और अभाव मनका लिङ्ग बताया गया है।[४] **'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः'** (३।२।५६) तथा **'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु'** (३।२।५९) इन न्यायसूत्रोंसे, **'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्'** (३।२।३) तथा **'तदभावादणु मनः'** (७।१।२३) इन वैशेषिकसूत्रोंसे, तथा **'अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते'** (कारिकावली ८५) विश्वनाथकी इस कारिकासे मनके एकत्व और अणुत्वके विषयमें चरकसंहिताका ऐकमत्य सिद्ध होता है।

मनके विषय और कर्म—इन्द्रियनिरपेक्ष होकर मनके द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है, उसे 'चिन्त्य' कहते हैं, अथवा इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत अर्थको ही जब पुनः इन्द्रियनिरपेक्ष होकर मन सोचता है, तो उस अर्थको चिन्त्य कहा जाता है। मुख्यरूपसे मनका विषय या अर्थ यह 'चिन्त्य' पदार्थ ही है (सूत्र० ८।१६)। आगे चलकर इसका षड्विध वर्गीकरण किया गया है—

---

१. **लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा।**
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते। —(शारीर० १।१८–१९)

२. **अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।** —(शारीर० १।१९)

३. **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।** —न्यायसूत्र (१।१।१६)

४. **आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।**
—वैशेषिकसूत्र (३।२।१)

"चिन्त्य विचार्य ऊह्य ध्येय सङ्कल्प्य तथा अन्य जो कुछ भी मनके द्वारा ज्ञेय है, वह सब मनका अर्थ (विषय) कहलाता है।"[१] चक्रपाणिकी व्याख्याके अनुसार कर्त्तव्यरूपसे अथवा अकर्त्तव्यरूपसे जिस विषयका मनके द्वारा चिन्तन किया जाता है, वह 'चिन्त्य' अर्थ कहलाता है। उपपत्ति(सङ्गति) और अनुपपत्ति(असङ्गति)के द्वारा जिस विषयका विचार किया जाता है, उसे 'विचार्य' कहा जाता है। सम्भावनाके द्वारा 'इसका ऐसा होना सम्भव है' इस प्रकार जिसका ऊह या तर्कना की जाती है, वह विषय 'ऊह्य' कहलाता है। मनमें जिस विषयकी भावना या ध्यान किया जाता है, वह 'ध्येय' अर्थ कहलाता है। 'यह गुणवान् है, यह दोषवान् है' इस प्रकार जिसका अवधारण या निश्चय किया जाता है, वह विषय 'सङ्कल्प्य' कहा जाता है। '**यत् किञ्चिन्मनसो ज्ञेयम्**'के द्वारा सुखादि अनुक्त विषयोंको भी 'ज्ञेय'के रूपमें सङ्गृहीत कर लिया गया है। ये सभी विषय इन्द्रियनिरपेक्ष मनके विषय हैं।

"मनके चार कर्म हैं—इन्द्रियोंको अधिष्ठित करना, स्वयं अपना निग्रह करना, ऊह और विचार। विचारके अनन्तर (अध्यवसाय करनेके लिए) बुद्धि प्रवृत्त होती है।"[२] विषयग्रहणके लिए प्रवृत्त हुई इन्द्रिय मनसे अधिष्ठित होकर ही विषयज्ञानमें समर्थ होती है, अतः मनके कर्मोंमें इन्द्रियाभिग्रह प्रमुख-कर्म है।[३] जब मन अनिष्ट विषयमें प्रवृत्त होता है, तो उसका नियमन मनके द्वारा ही किया जाता है। यह इसका दूसरा कर्म है। धृतिका विनाश होने-पर मनुष्यका मन विषयप्रवण हो जाता है, उस समय अहितकर अर्थोंसे उसका निवारण करना कठिन हो जाता है। किन्तु धृतिका अवलम्ब लेकर उसका नियन्त्रण किया जा सकता है, क्योंकि धृति नियमन करनेवाली मानी गई है।[४] चूँकि कारणभूत धृतिके द्वारा मन अपनेको नियन्त्रित करता है, इसलिए 'अग्निः आत्मानं दहति'के समान इसमें 'स्वात्मनि क्रियारूपो विरोधः' नहीं है। मनका तीसरा कर्म ऊह अर्थात् आलोचनात्मक निर्विकल्पक ज्ञान है। और चौथा कर्म है विचार, अर्थात् हेयता या उपादेयताका विचार करना। इसके पश्चात् बुद्धिव्यापारका क्षेत्र है, अर्थात् ऊह तथा विचार करनेके अनन्तर बुद्धि अध्यवसाय करती है। अध्यवसायका स्वरूप है 'मैं इसको ग्रहण कर रहा हूँ' अथवा 'मैं इसका परित्याग कर रहा हूँ' इस प्रकारका निश्चय।

इन्द्रिय मन और बुद्धिके व्यापारको लेकर चरकसंहिता साङ्ख्यदर्शनसे प्रभावित जान पड़ती है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि इसका निरूपण साङ्ख्या-

---

१. **चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।**
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसञ्ज्ञकम्॥ —(शारीर० १।२०)

२. **इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।**
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्त्तते॥ —(शारीर० १।२१)

३. **यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते।** —(शारीर० ३।१९)

४. **विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।**
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका॥ —(शारीर० १।१००)

भिमत चौबीस धातुओंवाले पुरुषके निरूपण-प्रसङ्गमें हुआ है। साङ्ख्य-दर्शनमें ज्ञानके चार कारण माने गए हैं। इनमें बाह्यकारण दस इन्द्रियाँ हैं, तथा आन्तरिककारण मन अहङ्कार और बुद्धि—ये तीन हैं। साङ्ख्यकारिका (३३)के अनुसार अन्तःकरण तीन प्रकारके हैं, और इन तीनोंके विषयोंको उपस्थित करनेवाले बाह्यकरण दस प्रकारके है। इनमें सर्वप्रथम बाह्य इन्द्रियाँ विषयोंका केवल आलोचन अर्थात् अस्पष्ट निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान कराती हैं (साङ्ख्यकारिका २८)। उसके अनन्तर मन सङ्कल्प करता है, अर्थात् हेयता या उपादेयताका विचार करता है। फिर अहङ्कार 'यह मेरा है, मैं इसमें अधिकृत हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है। तब अन्तमें बुद्धि निश्चय करती है कि 'यह हितकर है, इसलिए यह मुझे करना है' अथवा 'यह अहितकर है, अतः इसका मुझे त्याग करना है।' वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—"यह बात लोकप्रसिद्ध है कि व्यवहार करनेवाला प्रत्येक मनुष्य पहले किसी कार्यका (बाह्य इन्द्रियोंसे) आलोचन करता है, उसके अनन्तर (मनसे) उसका विचार (सङ्कल्प-विकल्प) करके, फिर (अहङ्कारसे) 'मैं इसे करनेमें अधिकृत हूँ' ऐसा अभिमान करके (अन्तमें बुद्धिसे) 'यह मुझे करना है' ऐसा निश्चय करता है, और तब उसमें प्रवृत्त होता है" (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी २३)। ऊह अर्थात् आलोचनात्मक निर्विकल्पकज्ञान यद्यपि चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियोंका कर्म है, तथापि मनसे अधिष्ठित होनेके कारण चरकसंहितामें इसे मनका कर्म कहा गया है। इसके पश्चात् विचार अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प तो मनका ही कार्य है। उसके अनन्तर बुद्धि अध्यवसाय करती है। अहङ्कारके अभिमानरूप व्यापारको यहाँ अनुक्त होनेपर भी बुद्धिके व्यापारसे ही सूचित समझ लेना चाहिए। बुद्धि जब निश्चय करती है, तो अहङ्कारसे अभिमत विषयमें ही करती है। इसलिए बुद्धिके व्यापारसे अहङ्कारका व्यापार भी गृहीत हो जाता है। साङ्ख्यके अनुसार समस्त करणोंका व्यापार बुद्धिको ही समर्पित होता है, जैसा कि कहा गया है—"गुणोंके विशिष्ट कार्यरूप, परस्पर विलक्षण ये द्वादश करण प्रदीपके समान हैं। ये पुरुषके समस्त अर्थको प्रकाशित करके बुद्धिको समर्पित कर देते हैं।"[१] ज्ञानकी इस साङ्ख्योक्त प्रक्रियाका निरूपण चरकसंहितामें इस प्रकार किया गया है—"सर्वप्रथम मनोऽधिष्ठित इन्द्रियके द्वारा इन्द्रियार्थका (निर्विकल्पक ऊहमात्रके द्वारा) ग्रहण किया जाता है, उसके अनन्तर मनके द्वारा गुण अथवा दोषकी कल्पना (विचार) की जाती है। तदनन्तर मनके द्वारा कल्पित (विचारित) उस विषयमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है, उस निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा ही मनुष्य बुद्धिपूर्वक बोलनेके लिए अथवा किसी अन्य क्रियामें प्रवृत्त होनेके लिए उद्यत होता है।"[२] यहाँपर

---

१. एते प्रदीपकल्पा परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥—साङ्ख्यकारिका (३६)

२. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥ —(शारीर० १।२२-२३)

भी अहङ्कारका व्यापार बुद्धिमें अन्तर्भूत कर दिया गया है। 'बुद्धिपूर्वकम्'का अभिप्राय यह है कि जो अनुष्ठान बुद्धिपूर्वक होता है, उसीकी यह प्रक्रिया बताई गई है, उन्मत्तादिकी क्रियाओंमें यह प्रक्रिया लागू नहीं होती है।

मनका इन्द्रियत्व—साङ्ख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिकके समान चरक-संहितामें भी मनको इन्द्रिय माना गया है। शारीरस्थान(१।५६)में करणोंका परिगणन करते समय बुद्धि बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके साथ मनको भी गिनाया गया है। आत्रेयभद्रकाप्यीयमें मधुररसको 'षडिन्द्रियप्रसादनः' कहा गया है (सूत्र० २६।४३)। यहाँपर षष्ठ इन्द्रिय मन ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'गर्भाशयमें चेतनाधातु मनरूपी करण(इन्द्रिय)की सहायतासे गुणोंको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है"(शारीर० ४।८) इस कथनके द्वारा मनको इन्द्रिय माना गया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थमें मनका इन्द्रियत्व निर्विवाद सिद्ध होता है।

मनके प्रकार—"मन तीन प्रकारका कहा जाता है—शुद्ध राजस और तामस" (शारीर० ३।१६ तथा ४।३७)। शुद्ध मनसे सात्त्विक मन अभिप्रेत है, क्योंकि रजस् और तमस्को मनका दोष माना गया है। ये दोनों मनको दूषित करते हैं (शारीर० ४।३५)। अतः रजस् और तमस्को अभिभूत करके जब मन सात्त्विक होता है, तो उसे शुद्ध अर्थात् सत्त्वको दूषित करनेवाले रजस् और तमस्से रहित कहा जाता है। "शुद्ध मन निर्दोष कहा गया है, क्योंकि इसमें मनका कल्याणरूप अंश होता है। राजस मन दोषयुक्त कहा गया है, क्योंकि इसमें मनका रोष(क्रोध)रूप अंश होता है। तथा तामस मन भी सदोष कहा गया है, क्योंकि इसमें मनका मोहरूप अंश होता है।"[१] इस प्रकार कल्याणांश रोषांश और मोहांश—इन तीन अंशोंसे युक्त होनेके कारण मन शुद्ध राजस और तामस तीन प्रकारका माना गया है। "मनके इन तीन भेदोंमें भी प्रत्येक भेद, गुणोंके न्यूनाधिक होनेके कारण, शरीरविशेष और योनिविशेषका भेद होनेके कारण, तथा शरीर और मनके परस्पर अनुगामी होनेके कारण, असङ्ख्य प्रकारका हो जाता है। शरीर मनका अनुगमन करता है, और मन शरीरका" (शारीर० ४।३७)। शरीर और मनके परस्पर अनुगामी होनेके कारण शरीरभेदसे मनोभेद प्राप्त होता है।

किन्तु इससे ऐसा न समझना चाहिए कि जो शुद्ध मन है, उसमें रोष और मोहका उदय होता ही नहीं है। एक ही पुरुषका मन परिस्थितियोंके अनुसार कभी राजस, कभी तामस, और कभी सात्त्विक हो जाता है। कुछ लोगोंको यह शङ्का हो सकती है कि यदि ऐसा है, तो लोकमें 'यह पुरुष सात्त्विक है' 'यह पुरुष राजस है' इत्यादि व्यपदेश किस आधारपर किया जाता है। इसका उत्तर चरकमुनिने इस प्रकार दिया है—"सत्त्व रजस् और तमस् इन तीन गुणोंमेंसे जिस गुणवाला सत्त्व (मन) वार-वार पुरुषका अनुवर्तन करता है, मुनिजन उस गुणसे युक्त मनवाला ही पुरुषको बताते हैं, क्योंकि उस गुणसे

---

२. तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्। राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्। तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। —(शारीर० ४।३७)

उसके मनका सम्बन्ध अधिकतासे होता है ।"[1] इसका अभिप्राय यह है कि दूसरे गुणोंसे सम्बन्ध होते रहनेपर भी सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण जिस पुरुषमें सत्त्वगुणके कार्य सत्य-शौचादि प्रायेण लक्षित किए जाते हैं, वह पुरुष सात्त्विक कहा जाता है । रजोगुणकी बहुलताके कारण जिस पुरुषमें रजोगुणके कार्य कामक्रोधादि अधिकतासे देखे जाते हैं, वह पुरुष राजस कहा जाता है । इसी प्रकार तमोगुणका आधिक्य होनेके कारण जिस पुरुषमें तमोगुणके कार्य आलस्य भय और मोहादि अधिकतासे प्राप्त होते हैं, वह पुरुष तामस कहलाता है । अन्यत्र भी कहा गया है—"मन नाना प्रकारके होते हैं, और एक ही पुरुषमें होते हैं । अर्थात् एक ही पुरुष कभी धार्मिक कार्य करते समय सात्त्विक-मनवाला हो जाता है, कभी कामचिन्तन करते समय राजसमनवाला हो जाता है और कभी मोह होनेपर तामसमनवाला बन जाता है, किन्तु एक ही कालमें नहीं होता है । मनुष्य प्रायोवृत्तिसे एक प्रकारका (सात्त्विक राजस या तामस) कहा जाता है ।"[2] जिस मनुष्यकी अधिकांश वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं, उसे सात्त्विक कहा जाता है । इसी प्रकार राजस और तामसको भी समझ लेना चाहिए ।

आत्मा

यद्यपि नौ द्रव्योंमें आत्माका परिगणन होनेके कारण मनके अनन्तर उसका निरूपण क्रमप्राप्त है, तथापि चरकसंहितामें उपलब्ध आत्मविषयक सामग्रीका अत्यधिक विस्तार और महत्त्व होनेके कारण उसका निरूपण 'अध्यात्मदर्शन' नामक अगले अध्यायमें स्वतन्त्ररूपसे किया गया है ।

काल

वैशेषिकदर्शनके अनुरोधसे काल और दिक् इन दोनोंका परिगणन द्रव्यके अन्तर्गत किया गया है । चिकित्साके आश्रयभूत राशिपुरुषकी उत्पत्तिके हेतुओंमें कालको भी गिनाया गया है । यज्जःपुरुषीयमें कहा गया है—"काल-से ही पुरुषकी उत्पत्ति होती है, और उसके रोग भी कालसे ही उत्पन्न होते हैं । सारा जगत् कालके वशमें है, अतः सर्वत्र (सम्पूर्णभावोंकी उत्पत्ति स्थिति और विनाशमें) काल ही कारण है ।"[3] कालकी ऐसी महिमा होनेके कारण आयुर्वेदमें उसके यथावत् स्वरूपको समझकर चिकित्सामें उसका उपयोग करनेका प्रयास किया गया है ।

कालका वर्गीकरण—चरकमुनिके अनुसार काल नित्यग और आवस्थिक भेदसे दो प्रकारका है । इनमें आवस्थिककाल विकारकी अपेक्षा रखता है,

---

१. यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहु-ल्यानुशयात् । —(सूत्र० ८।६)

२. नानाविधानि खलु सत्त्वानि, तान्येकपुरुषे भवन्ति, न च भवन्त्येककालम्, एकं तु प्रायोवृत्त्याह । —(शारीर० ३।१६)

३ कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः ।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥ — (सूत्र० २५।२५)

और नित्यगकाल ऋतुसात्म्यकी अपेक्षा रखता है (विमान० १।३१)। कालके इस द्वैविध्यको पुनः समझाया गया है—"काल दो प्रकारका है, संवत्सर तथा आतुर(रोगी)की अवस्था (विमान० ८।१२७)। यहाँ नित्यगकालको संवत्सर कहा गया है, और आवस्थिककालको रोगीकी अवस्था।

(१) **नित्यग**—नित्य अर्थात् निरन्तर गमन करनेवाला संवत्सररूप काल नित्यगकाल है। इसको परिणाम भी कहा जाता है (सूत्र० ११।४२; विमान० ८।७६), क्योंकि क्षण लव निमेष काष्ठा कला मुहूर्त्त प्रहर अहोरात्र सप्ताह पक्ष मास ऋतु अयन संवत्सर युग मन्वन्तर कल्प प्रलय और महाप्रलयके रूपमें यह निरन्तर परिणामको प्राप्त होता रहता है। कालकी गति निरन्तर एकरस निर्बाध विरामरहित और व्यवधानरहित है। यह सृष्टि और प्रलयमें समान रूपसे प्रवाहित हो रहा है। चरकमुनिके मतानुसार काल निरवयव और अमूर्त्त द्रव्य है, इसलिए उसका छिद्रयुक्त या छिद्ररहित होना सम्भव नहीं है (शारीर० ६।२८)। जो सावयव द्रव्य सान्तर अर्थात् अवकाशयुक्त होता है उसे सच्छिद्र कहा जाता है, और जो सावयव द्रव्य निरन्तर अर्थात् अवकाश-रहित होता है, उसे अच्छिद्र कहा जाता है। चूँकि काल निरवयव द्रव्य है, इसलिए उसका अच्छिद्र या सच्छिद्र होना सम्भव नहीं है। यह संवत्सररूप काल कार्य और प्रयोजनका पर्यालोचन करके उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे दो भागोंमें बाँटा जाता है। जाड़ा गर्मी और बरसातके भेदसे तीन भागोंमें, छः ऋतुओंके भेदसे छः भागोंमें, और बारह महीनोंके भेदसे बारह भागोंमें तथा अन्य दृष्टियोंसे इससे भी अधिक भागोंमें विभक्त किया जाता है। तिस्रैषणीयमें शीतलक्षणवाले हेमन्त, उष्णलक्षणवाले ग्रीष्म, तथा पर्जन्यलक्षण-वाली वर्षा—इन तीन ऋतुओंको संवत्सररूप काल कहा गया है।[१] तस्याशितीयमें ऋतुसात्म्यका ज्ञान करानेके लिए ऋतुविभागसे उसको छः अङ्गोंवाला बताया गया है। शिशिरसे लेकर ग्रीष्मपर्यन्त (अर्थात् शिशिर वसन्त और ग्रीष्म — इन तीन) ऋतुओंको आदित्यका उत्तरायण तथा आदानकाल समझना चाहिए। तथा वर्षासे लेकर हेमन्तपर्यन्त (अर्थात् वर्षा शरद् और हेमन्त—इन तीन) ऋतुओंको सूर्यका दक्षिणायन और विसर्गकाल समझना चाहिए।[२]

विसर्गकालमें अत्यन्त रूक्ष हवाएँ नहीं चलती हैं, किन्तु आदानकालमें हवाएँ अत्यधिक रूक्ष (खुश्क) प्रवाहित होती हैं। विसर्गकालमें चन्द्रमा अपने सम्पूर्ण बलसे युक्त होता है, और अपने शीतल प्रकाशसे जगत्को आपूरित करता हुआ निरन्तर आप्यायित करता रहता है। इसीलिए विसर्ग सौम्य अर्थात् सोमगुणप्रधान है, और आदान आग्नेय अर्थात् अग्निगुणप्रधान है। ये सूर्य वायु और चन्द्रमा, काल स्वभाव तथा मार्ग(उत्तर और दक्षिण)के

---

१. **शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः।**
—(सूत्र० ११।४२)

२. **इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतून् शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च।**
—(सूत्र० ६।४)

वशीभूत होकर संवत्सररूप काल ऋतु रस दोष और देहबल इत्यादिके जनक बताए जाते हैं। शिशिर वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं(आदानकाल)में सूर्य अपनी रश्मियोंके द्वारा जगत्के स्नेह(सौम्यांश)का शोषण करता है, तथा तीव्र एवं रूक्ष हवाएँ भी जगत्के स्नेहांशको सुखाती हुई, क्रमशः अधिकाधिक रूक्षता उत्पन्न करती हुई. तथा तिक्त कषाय और कटु इन रूक्ष रसोंकी वृद्धि करती हुई मनुष्योंको दुर्बल बना देती हैं। इसके विपरीत वर्षा शरद् तथा हेमन्त ऋतुओं(विसर्गकाल)में, जब सूर्य दक्षिणाभिमुख होता है तथा काल मार्ग मेघ वायु और वर्षाके द्वारा उसका प्रताप कम हो जाता है, और चन्द्रमा अपने पूर्णबलसे युक्त होता है, तथा वर्षाके जलसे तापके शान्त हो जानेपर जगत्में अम्ल लवण और मधुर इन अरूक्ष (स्निग्ध) रसोंकी क्रमशः अभिवृद्धि होने लगती है, तो मनुष्योंका बल वृद्धिको प्राप्त होता है (सूत्र० ६।५-७)। रोगभिषग्जितीयमें भी संवत्सरका षोढा विभाग करके संशोधनकार्यका उपदेश दिया गया है। शीत उष्ण और वर्षा लक्षणवाली हेमन्त ग्रीष्म और वर्षा, ये तीन ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओंके बीचमें साधारणलक्षणवाली प्रावृट् शरद् और वसन्त ये तीन ऋतुएँ और होती हैं। वर्षाका प्रारम्भिक काल प्रावृट् कहलाता है, वर्षा उसके पश्चात् आती है। इस प्रकार संशोधनकर्मको लक्ष्यमें रखकर छः ऋतुओंका विभाग किया जाता है।[१] ऋतुओंके इस विभाजनमें शिशिरको छोड़ दिया गया है, तथा प्रावृट् नामकी एक नई ऋतुको बढ़ाया गया है। इस विभाजनके अनुसार ऋतुओंका क्रम इस प्रकार होगा—प्रावृट् वर्षा शरद् हेमन्त वसन्त और ग्रीष्म। चक्रपाणिके अनुसार आषाढ और श्रावण महीनोंका नाम प्रावृट् है, अतः भाद्रपद और आश्विन वर्षाके, कार्त्तिक और मार्गशीर्ष शरद्के, पौष और माघ हेमन्तके, फाल्गुन और चैत्र वसन्तके, तथा वैशाख और ज्येष्ठ ग्रीष्मके महीने सिद्ध होते हैं। ग्रन्थकारके अनुसार यह ऋतुविभाजन संशोधनकी दृष्टिसे किया गया है, रसोत्पत्तिकी दृष्टिसे नहीं। सिद्धिस्थानमें कहा गया है—"ग्रीष्म वर्षा और हेमन्त ऋतुओंमें क्रमशः अतिगर्मी अतिवर्षा और अतिशीत होता है। इनके मध्यमें प्रावृट् इत्यादि तीन ऋतुएँ और हैं, जो साधारण हैं अर्थात् उनमें हलकी वर्षा, हलका जाड़ा, तथा हलकी गर्मी पड़ती है। आषाढ और श्रावणको प्रावृट्, कार्त्तिक और मार्गशीर्षको शरद्, तथा फाल्गुन और चैत्रको वसन्त समझना चाहिए। यह विभाजन संशोधनकी दृष्टिसे किया गया है। वैद्यको चाहिए कि स्वस्थवृत्तको दृष्टिमें रखते हुए इन ऋतुओंकी इसी प्रकार मासविभागसे विकल्पना करके संशोधन कराए, किन्तु रोग होनेपर रोगके अनुसार ही संशोधन देना

---

३. तं तु खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते—हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टेः कालः। तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः।

—(विमान० ८।१२७)

चाहिए।[1] अतः सिद्ध होता है कि संशोधनकर्मके अनुरोधसे ही यह ऋतुविभाग प्रस्तुत किया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि गङ्गासे दक्षिण दिशाकी ओर वर्षा बहुत अधिक होती है, इसलिए वहाँपर यह प्रावृडादि ऋतुओंका क्रम है। तथा गङ्गासे उत्तरकी ओर जाड़ा अधिक पड़ता है, इसलिए वहाँपर हेमन्त और शिशिरादि ऋतुओंका क्रम है। इस प्रकार देशभेदसे ऋतुओका द्वैविध्य है। काश्यपने भी कहा है—"गङ्गाके दक्षिणमें पर्जन्य बहुत अधिक बरसता है, इसलिए वहाँके लोगोंने प्रावृट् और वर्षा इन दो ऋतुओंकी कल्पना की है। गङ्गाके उत्तरी कूलमें हिमालयके चरणोंके समीप शीतका आधिक्य है, अतः वहाँके निवासियोंके लिए हेमन्त और शिशिर ये दो ऋतुएँ जाड़ेकी होती हैं।"[2]

(२) **आवस्थिक**—रोगीकी विभिन्न अवस्थाओंमें कार्य और अकार्यके लिए काल और अकाल सञ्ज्ञाओंका व्यवहार किया जाता है। जैसे—इस अवस्थामें अमुक औषधका अकाल है (अर्थात् उस औषधको देनेका उचित समय नहीं है)। और अमुक औषधका काल है (अर्थात् उस औषधको देनेसे अपेक्षित लाभ होगा)। रोगीकी अवस्थाविशेषकी अपेक्षासे औषधका काल या अकाल होता है। अतः रोगीकी अवस्थाओंमें भी काल और अकाल सञ्ज्ञाओं-का व्यवहार किया जाता है। समुचित औषधका प्रयोग करनेके लिए रोगीकी सभी अवस्थाओंका बार-बार सूक्ष्मतासे निरीक्षण करना चाहिए, क्योंकि समयके बीत जानेपर अथवा समय आनेके पहले ही प्रयोगकी जानेवाली औषध यौगिक नहीं होती है। समुचितकाल ही भेषजप्रयोगकी सफलताका सम्पादन करता है, अर्थात् उचित समयपर दी जानेवाली औषध ही रोगनिवृत्ति-रूप सिद्धिको प्रदान करनेवाली है (विमान० ८।१३२)।

कालकी व्याधिकारणता—संवत्सररूप कालके भी समयोग अतियोग अयोग और मिथ्यायोग उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंके तथा वाचिक मानसिक और कायिक कर्मोंके होते हैं। हेमन्तादि ऋतुओंमें यदि उनका अपना-अपना शैत्यादिलक्षण समुचितमात्रामें उपलब्ध हो तो यह कालका समयोग है, यदि अत्यधिकमात्रामें उपलब्ध हो तो यह कालका अतियोग है, यदि हीनमात्रामें उपलब्ध हो तो यह कालका

---

१ अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः।
सदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः॥
प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति॥
एतानृतून् विकल्प्यैवं दद्यात्संशोधनं भिषक्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु॥ —(सिद्धि० ६।४–६)

२. भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्।
तेन प्रावृड्वर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ॥
गङ्गाया उत्तरे कूले हिमवदङ्घ्रिसङ्कुले।
भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू॥ —काश्यपसंहिता

अयोग है; और यदि अपने लक्षणसे विपरीतलक्षणोंकी उपलब्धि हो, जैसे हेमन्तमें पानी बरसना और वर्षामें जाड़ा होना, तो यह कालका मिथ्यायोग है।[1] जनपदोद्ध्वंसनीयमें कहा गया है—वर्तमानऋतुके लक्षणोंसे विपरीतलक्षणोंवाले अथवा अतिमात्र लक्षणोंवाले अथवा हीनलक्षणोंवाले कालको निश्चय ही अहितकर समझना चाहिए।[2] कालका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग समूने जनपदके लिए अनिष्टकारक होता है। जिस जनपदका विनाश सन्निहित होता है, वहाँ पूर्वलक्षणके रूपमें कालके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगका आविर्भाव होता है।

नियत समयपर आविर्भूत होनेवाले कालजरोगोंका निरूपण कियन्तःशिरसीयमें इस प्रकार किया गया है—"पित्तादिके सञ्चय प्रकोप और प्रशम वर्षादि छः ऋतुओंमें क्रमशः एकके बाद एक होते हैं।"[3] पित्तका वर्षामें सञ्चय, शरद्‌में प्रकोप तथा हेमन्तमें प्रशमन होता है। कफका हेमन्तमें सञ्चय, वसन्तमें प्रकोप तथा ग्रीष्ममें प्रशमन होता है। वातका ग्रीष्ममें सञ्चय, प्रावृट् और वर्षामें प्रकोप तथा शरद्‌में प्रशमन होता है। कतिधापुरुषीयमें कहा गया है—शरद्‌से लेकर वर्षापर्यन्त जो छः ऋतुएँ हैं, अपने लक्षणोंका मिथ्यायोग अतियोग और अयोग होनेपर वे रोगोंका कारण बनती हैं। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले रोग कालज रोग कहलाते हैं। जिस समय भोजन किया गया है वह भुक्तान्नकाल, जिस समय भोजन पच रहा है वह जीर्णान्नकाल, जिस समय भोजन पच चुका है वह प्रजीर्णान्नकाल, तथा जिस समय भोजन करना वर्जित है वह अजीर्णादिसे उपलक्षित भोजनका अकाल, तथा दिनके जो तीन विभाग हैं पूर्वाह्ण मध्याह्न और अपराह्ण, तथा रात्रिके जो तीन याम हैं पूर्वरात्र मध्यरात्र और अपररात्र—इन विशेषकालोंमें जो रोग नियत हैं, वे कालजरोगोंकी श्रेणीमें आते हैं (शारीर० १।१११-११२)। चक्रपाणिके अनुसार जीर्णान्नकालमें, अपराह्णमें, और अपररात्रमें वातजरोग उत्पन्न होते हैं, भुक्तान्नकाल पूर्वाह्ण और पूर्वरात्रमें कफजरोग उत्पन्न होते हैं, तथा प्रजीर्णान्नकाल मध्याह्न और मध्यरात्रमें पित्तज रोग नियत हैं। अजीर्णसे उपलक्षित अकालमें भोजन करनेसे वात पित्त और कफ तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। इसी प्रकार बाल्यावस्थामें प्रायः श्लैष्मिक, यौवनमें प्रायः पैत्तिक, और वार्धक्यमें प्रायः वातिक रोगोंकी वृद्धि होती है।

कुछ ज्वर भी ऐसे हैं, जो नियत समयपर उद्भूत होते हैं। प्रतिदिन आनेवाला ज्वर अन्येद्युष्क (अतरा) कहलाता है। जो एक दिन छोड़कर आता है,

---

१. तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनस्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः।
—(सूत्र० ११।४२)

२. कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत्।
—(विमान० ३।१०)

३. चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु॥ —(सूत्र० १७।११४)

उसे तृतीयक (तिजारी) कहते हैं। जो दो दिनका विश्राम लेकर एक दिन आता है, उसे चतुर्थक (चौथिया) कहते हैं।[1] इनके अतिरिक्त एक ऐसा विषमज्वर है, जो दो दिन लगातार आनेके बाद एक दिन विश्राम करता है। चतुर्थकका उलटा होनेके कारण इसे चतुर्थकविपर्यय (चिकित्सा० ३।७३) तथा दो दिन लगातार आनेके कारण इसे द्व्यहग्राही भी कहा जाता है। ये सभी ज्वर अपने-अपने समयपर प्रवृत्त होते हैं, तथा अपने समयपर ही इनमें बलका सञ्चार होता है।[2] अतः ये सब कालज रोग हैं। पौर्वदेहिककर्मका 'दैव'शब्दसे निर्देश किया जाता है, यह दैव भी समयसे रोगोंका कारण बनता है।[3] अतः दैवहेतुक व्याधियाँ भी कालजमें अन्तर्भूत होती हैं।

चतुर्युग—चरकसंहितामें भारतीय कालविषयक मान्यताओंका अनुसरण करते हुए चार युगोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इन युगोंको लोक-समष्टि और व्यष्टिमें व्यापक बताया गया है। "जिस प्रकार लोकमें कृतयुग (सत्ययुग) है, उसी प्रकार पुरुषमें बाल्यावस्था है। जिस प्रकार लोकमें त्रेतायुग है, उसी प्रकार पुरुषमें यौवन है। जिस प्रकार लोकमें द्वापर है, उसी प्रकार पुरुषमें वार्धक्य है। जिस प्रकार लोकमें कलियुग है, उसी प्रकार पुरुष-में रोगोत्पत्ति है। और जिस प्रकार लोकमें युगान्त (युगोंकी समाप्ति) है, उसी प्रकार पुरुषमें मरण है।"[4] विमानस्थानके जनपदोद्ध्वंसनीयाध्यायमें कृतयुग तथा त्रेताप्रभृति युगोंमें किस प्रकार प्राणियोंके धर्म सत्त्वगुण आयु बल वीर्य और पराक्रमादिका ह्रास हुआ, इसका विस्तारसे निरूपण किया गया है। कलियुगमें मनुष्यकी आयुका प्रमाण सौ वर्ष है।[5] प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक पाद (चतुर्थांश) क्रमशः कम होता जाता है। इसी प्रकार महाभूतोंके गुणोंका भी एक-एक पाद क्रमशः कम होता है, और अन्तमें लोकका प्रलय हो जाता है।[6] धर्म और भूतगुणोंका क्रमशः ह्रास होनेके कारण मनुष्यकी आयुका भी ह्रास होता है। किसी युगकी वर्षसङ्ख्याका शततमांश

---

१. **अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः ।**
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ॥ —(चिकित्सा० ३।६७)

२. **अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ ।**
स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले ह्येषां बलागमः ॥ —(शारीर० १।११३)

३. **निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदेहिकम् ।**
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥ —(शारीर० १।११६)

४. **यथा कृतयुगमेवं बाल्यम्, यथा त्रेता तथा यौवनम्, यथा द्वापरं तथा स्थाविर्यम्, यथा कलिरेवमातुर्यम्, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति ।** —(शारीर० ५।५)

५. **वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले ।** —(शारीर० ६।२९)

६. **युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते ।**
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ —(विमान० ३।३१)

व्यतीत हो जानेपर मनुष्यकी पूर्णायुमें एक वर्ष कम हो जाता है।[१] जैसे कलियुगका मान १२०० दिव्य वर्ष है, इसका सौवाँ भाग अर्थात् १२ दिव्य वर्ष व्यतीत हो जानेपर मनुष्यकी पूर्णायुमें एक वर्षकी कमी हो जायगी, अर्थात् १०० वर्षमें एक वर्ष कम होकर पूर्णायु ९९ वर्ष रह जायगी। इसी प्रकार पुनः १२ दिव्य वर्ष व्यतीत होनेपर पूर्णायु ९८ वर्ष ही रह जायगी। ३६० मानव वर्षोंका एक दिव्य वर्ष होता है।

देश

चरकसंहितामें स्थान अथवा अधिष्ठानको देश कहा गया है (विमान० १।३० तथा ८।७५)। आठ प्रकारके आहारविधिविशेषायतनोंमें देशकी गणना करते हुए कहा गया है कि जिस स्थानपर किसी आहारद्रव्यकी उत्पत्ति और प्रचार होता है, तथा जिस स्थानपर वह आहारद्रव्य सात्म्य होता है, वह स्थान उस आहारद्रव्यका देश कहलाता है।[२] किसी आहारद्रव्यके देशका पता चल जानेपर उसकी उत्पत्ति और प्रचारादिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका भी पता चल जाता है। जैसे हिमसङ्कुल प्रदेशमें उत्पन्न होनेवाले द्रव्य गुणवान् होते है। मरुप्रदेशमें उत्पन्न द्रव्य स्वभावसे लघु होते हैं। लघुद्रव्योंका भक्षण करनेवाले, मरुभूमिमें विचरण करनेवाले तथा अत्यधिक क्रियाशील पशुपक्षियोंका मांस लघु होता है, इसके विपरीत होनेपर गुरु होता है। देशके ज्ञानसे वहाँके सात्म्यका भी ज्ञान होता है, जैसे आनूपदेशमें उष्ण और रूक्षादि द्रव्य सात्म्य होते हैं, तथा मरुदेशमें शीत और स्निग्ध द्रव्य सात्म्य होते हैं। आहारद्रव्यके हितकर अथवा अहितकर होनेमें भोक्ताके देशका भी प्रभाव पर्याप्तमात्रामें पड़ता है। जैसे माष पञ्चनद तथा पाञ्चालके निवासियोंके लिए हितकर है, किन्तु मगध तथा वङ्गदेशके निवासियोंको हानि पहुँचाता है। इस प्रकार देशज्ञानसे आहारसेवनमें सहायता प्राप्त होती है।

रोगभिषग्जितीयमें कार्यके अधिष्ठानको 'देश' कहा है, अर्थात् किसी क्रियाका आधारभूत स्थान ही उस क्रियाका देश है। यह देश किसी क्रियाविशेषके लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल दोनों प्रकारका हो सकता है। आयुर्वेदमें धातुसाम्यके लिए किए जानेवाले चिकित्साकार्यका अधिष्ठान भूमि और रोगी दोनोंको समझा जाता है (विमान० ८।८४)। इसलिए चिकित्साके पूर्व भूमि और आतुर दोनोंकी परीक्षा करनी अनिवार्य है। देशका प्रकरण होनेसे यहाँ केवल भूमिपरीक्षापर प्रकाश डाला जा रहा है—"भूमिकी परीक्षा या तो रोगीके परिज्ञान(विशेषज्ञान)के लिए की जाती है अथवा औषधके परिज्ञानके लिए की जाती है। पहले रोगीके परिज्ञानके लिए किस प्रकार भूमिपरीक्षा की जाती है, उसको इस प्रकार समझना चाहिए—यह रोगी पृथ्वीके किस देशमें उत्पन्न हुआ, किस देशमें वृद्धिको प्राप्त हुआ और किस देशमें रोगी हुआ। उस देशमें मनुष्योंका प्रायः यह आहार है, यह विहार (रहन-सहन) है, यह

१. संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥ —(विमान० ३।३२)

२. स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे। —(विमान० १।३०)

आचार (चाल-चलन) है, इतना बल होता है, इस प्रकारका मन होता है, इस प्रकारका सात्म्य होता है, इस प्रकारका दोष होता है, प्रायः यह उनकी रुचि है, ये-ये रोग उनको होते हैं, यह उन्हें हितकर है और यह अहितकर है (विमान० ८।९३)। औषधपरिज्ञानके लिए भूमिपरीक्षाका उपदेश कल्पस्थानमें किया गया है। उसका दिङ्मात्र निर्देश किया जा रहा है—जो साधारण या जाङ्गलदेश यथासमय जाड़ा धूप वायु और वर्षासे सेवित हो, समतल और पवित्र हो, जिसके दक्षिणकी ओर जलाशय हो, जो श्मशान चैत्य देवयजनागार(यज्ञशाला) सभा गर्त्त उपवन वल्मीक और ऊसरसे रहित हो, जहाँकी भूमि कुश और रौहिष नामकी सुगन्धित घाससे आच्छादित हो, जहाँकी मिट्टी चिकनी काली और मधुर हो, अथवा सोनेके वर्णकी और मधुर हो, तथा फालसे न जोती गई हो, और जहाँपर दूसरे अधिक बलवान् वृक्षोंके द्वारा ओषधियोंको बाधा न पहुँचाई गई हो, ऐसे देशमें उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ प्रशस्त होती हैं (कल्प०१।९)।

देशका वर्गीकरण—आयुर्वेदमें देश तीन प्रकारका माना गया है—जाङ्गल आनूप और साधारण (कल्प०१।८)। (१) **जाङ्गल**—जाङ्गलदेश चारों ओरसे खुला होता है। वहाँपर कदर खदिर असन अश्वकर्ण धव तिनिश शल्लकी साल सोमवल्क बदरी तिन्दुक अश्वत्थ वट और आमलकीवृक्षोंके सघन वन होते हैं। शमी ककुभ और शिंशपाके वृक्ष अधिकतासे होते हैं। यहाँके तरुण वृक्षोंकी शाखाएँ स्थिर और शुष्क वायुके झोंकोंसे झकझोरी जाती हुई नृत्य सा करती रहती है। अर्थात् जाङ्गलदेशकी वायु शुष्क होती है और स्थिरभावसे प्रवाहित होती रहती है। यहाँपर प्रायः मृगमरीचिकाका आभास होता रहता है। यहाँकी बालू प्रायः बारीक खुरदुरी और कठोर तथा कंकड़ियाँ बहुत अधिक होती हैं। यहाँके भूभागोंमें लावा तीतर और चकोर पक्षी विचरण करते रहते हैं। यहाँपर वात और पित्तका आधिक्य होता है, तथा मनुष्य स्थिर और कठोर शरीरवाले होते हैं (कल्प० १।८)। विमान-स्थानमें जाङ्गलदेशका लक्षण सङ्क्षेपसे इस प्रकार दिया गया है—"जहाँपर जल और वृक्ष कममात्रामें हों, वायु खूब चलती हो, धूप भी प्रचुरमात्रामें कड़ाकेकी होती हो, और जहाँपर रोग बहुत ही कम होते हों, उसे जाङ्गल-देश समझना चाहिए।"[1] (२) **आनूप**—आनूपदेशमें हिन्ताल तमाल नारियल और केलेके सघन वन होते हैं। प्रान्तभागमें प्रायः नदियाँ और समुद्र होते हैं। प्रायः ठण्डी हवाएँ चला करती हैं। वहाँकी भूमि वञ्जुल और वानीरसे सुशोभित तटवाली नदियोंसे व्याप्त रहती है। आनूपदेश पर्वतों और निकुञ्जोंसे सुशोभित होता है। शनैः शनैः प्रवाहित होनेवाली वायुसे वहाँके वृक्ष अनुवीजित होते रहते हैं। अनेक भूभाग सघन वनराजियों और पुष्पित वनोंसे व्याप्त होते हैं। यह देश हरे-भरे वृक्षों और प्रतानोंसे आलिङ्गित रहता है। हंस चक्रवाक बलाका नन्दीमुख पुण्डरीक कादम्ब मद्गु कोयष्टि भृङ्गराज शतपत्र और

---

१. अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।
ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च॥ —(विमान० ३।५५)
प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः।
आनूपो बहुदोषश्च समः साधारणो मतः॥ —(विमान० ३।५६)

मत्तकोकिलके मधुर शब्दोंसे वहाँके वृक्ष और शाखाएँ निनादित होती रहती हैं। वहाँके मनुष्य सुकुमार होते हैं, और वह देश वातकफप्रधान होता है (कल्प० १।८)। विमानस्थानमें आनूपदेशका सङ्क्षिप्तलक्षण इस प्रकार उपनिबद्ध किया गया है—"जिस देशमें जल और वृक्षोंका प्राचुर्य होता है, वायुका सञ्चार कम और धूप दुर्लभ होती है, तथा दोषोंका बाहुल्य होता है, उसे आनूपदेश समझना चाहिए।"

(३) **साधारण**—साधारणदेश जाङ्गल और आनूपके मिश्रित लक्षणोंसे युक्त होता है। "इन्हीं दोनों जाङ्गल और आनूपदेशोंके वीरुध वनस्पति वानस्पत्य पक्षी और मृगगणोंसे युक्त, तथा बल वर्ण और शरीरकी गठन आदिमें साधारणगुणवाले स्थिर और सुकुमार पुरुषोंसे युक्त देशको साधारणदेश समझना चाहिए" (कल्प० १।८)। विमानस्थानमें भी साधारणदेशको सम कहा गया है, अर्थात् जाङ्गल और आनूपदेशके लक्षण वहाँपर समानरूपसे उपलब्ध होते हैं (३।५६)। इसका तात्पर्य यह है कि साधारणदेशमें जल और वृक्ष न बहुत अधिक होते हैं और न बहुत कम। न तो बहुत आँधियाँ ही चलती हैं और न सन्नाटा ही रहता है। धूप भी न बहुत अधिक होती है और न बहुत कम। दोषोंकी मात्रा भी प्रायः समान रहती है।

देशकी व्याधिकारणता—जब अधर्मके कारण किसी जनपदका उद्ध्वंस सन्निहित होता है, तब वहाँपर जनपदोद्ध्वंसकारक भावों(Epidemics)का आविर्भाव होता है। मनुष्योंकी प्रकृति आहार शरीर बल सात्म्य सत्त्व और वयमें भिन्नता होनेपर भी सभीके समान व्याधिसे आक्रान्त होनेका कारण यह है कि जो भाव सभीके लिए समान हैं, उनमें वैगुण्य उत्पन्न हो जाता है। वे समान भाव हैं—वायु जल देश और काल। इनके वैगुण्यसे एक ही समय एक ही लक्षणवाली व्याधियाँ उत्पन्न होकर जनपदका विनाश कर देती है। यहाँपर देशका वैगुण्य प्रकरणप्राप्त है।

जिस देशका प्राकृतिक वर्ण गन्ध रस और स्पर्श विकृत हो गया हो, जहाँ क्लेद बहुत अधिक हो, जो सरीसृप सर्प मच्छर पतिङ्गा मक्खी चूहा उल्लू और श्मशानमें पाए जानेवाले गिद्ध चील इत्यादि पक्षी तथा गीदड़ इत्यादि जन्तुओंसे आक्रान्त हो गया हो, जो तृण और उलूप(एक प्रकारकी फैलनेवाली घास)के उपवनोंसे भर गया हो, जहाँ लताप्रतानादिका बाहुल्य हो गया हो, जहाँका शस्य भूमिपर गिरकर और सूखकर ऐसा नष्ट हो गया हो जैसा पहले कभी न हुआ हो, जहाँपर वायु धूम्रवर्णकी हो गई हो, जहाँ पक्षिगण चिल्लाते रहते हों, कुत्ते उच्चस्वरसे रोते हों, अनेक प्रकारके मृगों और पक्षियोंका समूह जहाँ उद्भ्रान्त और व्यथित रहता हो, जहाँके जनपदोंने लोगोंने धर्म सत्य लज्जा आचार और शील इत्यादि गुणोंको छोड़ दिया हो, अथवा नष्ट कर दिया हो, जिस देशके जलाशय निरन्तर क्षोभयुक्त हों, और उनका पानी ऊपर उठ आता हो, जहाँ निरन्तर उल्कापात निर्घात(बिजली गिरना)और भूकम्प होता हो, जहाँ अत्यन्त भयङ्कर शब्द होते हों, जहाँ सूर्य चन्द्रमा और तारे निरन्तर रूक्ष ताम्र अरुण और श्वेत वर्णके मेघसमूहसे ढके रहते हों, जहाँ निरन्तर सम्भ्रमपूर्वक उद्वेग जैसा रहता हो, जहाँ भय-

पूर्वक रोना-धोना जैसा मचा हो, जहाँ अन्धकार जैसा व्याप्त हो, जहाँ मानो गुह्यकोंके द्वारा प्रवर्तित आक्रन्दन(रोदन)का शब्द बहुत अधिक हो, ऐसे देशको प्राणियोंके लिए अहितकर समझना चाहिए (विमान० ३।६) । इन अशुभभावोंका उदय होनेपर जनपदका विध्वंस अवश्यम्भावी होता है ।

गुणनिरूपण

ग्रन्थके प्रथमाध्यायमें गुणका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— **"समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः"** (सूत्र० १।५१), अर्थात् "जो समवायी और चेष्टाशून्य होता है, तथा कारण भी बनता है, उसे गुण समझना चाहिए। समवायी शब्दका अर्थ है—समवायका आधेय अर्थात् जिसका आधान समवाय-सम्बन्धसे हुआ हो । गुण सर्वदा द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे आधेय होता है । इसलिए उसे समवायी कहा गया है । इससे उसकी द्रव्याश्रता भी अर्थतः आक्षिप्त होती है । वैशेषिकसूत्र (१।१।१६) तथा प्रशस्तपादभाष्यमें उसकी द्रव्याश्रयताका स्पष्टतः कथन किया गया है । गुणोंके समवायाधेय होनेके कारण आकाशादि व्यापक और निष्क्रिय द्रव्योंका व्यावर्त्तन हो जाता है, क्योंकि आकाशादि समवायसम्बन्धसे किसीमें आधेय नहीं हैं । वे तो संयोग-सम्बन्धसे ही अन्यत्र आधेय होते हैं । एक बात विशेष ध्यान देनेकी यह है कि गुण समवायसम्बन्धके द्वारा केवल आधेय ही नहीं होता है, प्रत्युत समवायका आधार भी बनता है । जब नीलत्वसामान्य समवायसम्बन्धसे नीलगुणमें रहता है, तो नीलगुण समवायका आधार भी बनता है । अतः गुणमें समवाया-धेयता और समवायाधारता दोनों ही हैं, जबकि आकाशादि विभुद्रव्योंमें केवल समवायाधारता है । उनका विभुपरिमाण उनमें समवायसम्बन्धसे रहता है । दूसरी ओर सामान्य और विशेष केवल समवायाधेय हैं, उनमें समवाया-धारता सम्भव नहीं है । अतः प्रस्तुत गुणलक्षणसे उनका भी व्यवच्छेद हो जाता है । गुणमें समवायाधेयता और समवायाधारता युगपद् सम्भव हैं । अतः उसको 'समवायी' कहना सर्वथा युक्तिसङ्गत है ।

'निश्चेष्ट'का अर्थ हैं निष्क्रिय, क्रियाहीन । इससे चेष्टारूप कर्मका व्यावर्त्तन अभीष्ट है । इसके अतिरिक्त क्रियाका आधार बननेके योग्य जो मूर्त्त द्रव्य हैं, उनसे भी गुणोंकी व्यावृत्ति सिद्ध होती है । प्रशस्तपादने भी गुणोंकी निष्क्रियता स्वीकार की है । 'कारणम्'विशेषणके द्वारा सामान्य विशेष और समवायसे गुणोंकी व्यावृत्ति विवक्षित है । वस्तुतः कारणता भागासिद्ध लक्षण है, क्योंकि कुछ गुणोंमें कारणता उपलब्ध होती है और कुछमें नहीं । प्रशस्तपादने परत्व अपरत्व द्वित्व और द्विपृथक्त्व इत्यादिमें अकारणता मानी है । अतः भागासिद्ध होनेके कारण 'कारणता'से यहाँपर भावरूप कारणको कभी भी व्यभिचरित न करनेवाली 'सामान्यवत्ता'(गुणत्वाभि-सम्बन्ध)को लक्षणासे ग्रहण करना चाहिए । गुणत्वसामान्यका सम्बन्ध सर्वदा गुणोंसे ही होता है, कर्मादिसे नहीं, तथा गुण गुणत्वजातिका अतिक्रमण किसी भी दशामें नहीं कर सकता है, अतः सामान्यवत्ता गुणका अव्यभिचरित लक्षण सिद्ध होती है । सामान्यवत्ता सभी गुणोंमें व्यापक है और सामान्यादि-की व्यावर्त्तक है, क्योंकि सामान्यादिमें सामान्यवत्ताका अभाव होता है ।

अथवा जिस प्रकार गुणान्तरोंमें कारणता देखी जाती है, उसी प्रकार विभुपरिमाणादिमें भी कारणत्वकी योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अतः कारणत्व भागासिद्ध नहीं है। हम लोगोंकी स्थूलदृष्टिसे इनकी कारणता भले ही लक्षित न हो, किन्तु योगियोंके प्रत्यक्षज्ञानका विषय बननेके कारण इनकी कारणताको स्वीकार करना चाहिए। कणभक्षने भी गुणोमें कारणत्व स्वीकार किया है। किन्तु उनका कहना है कि जिस प्रकार कर्म संयोग और विभागमें निरपेक्ष होकर कारण बनता है, उस प्रकार गुण कारण नहीं बन सकता है, वह सापेक्ष होकर ही सर्वदा कारण बनता है (वैशेषिकसूत्र० १।१।१६)। चरकके प्रस्तुत गुणलक्षणमें उसकी 'अगुणवत्ता'का उल्लेख नहीं है। गुण सदैव निर्गुण होता है, क्योंकि वह द्रव्यके आश्रित ही रहता है। वैशेषिकसूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्यमें गुणकी 'अगुणवत्ता'का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इसीलिए कुछ लोग **'समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः'** इस पाठके स्थानपर **'समवायी तु निश्चेष्टो निर्गुणो गुणः'** ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं। किन्तु ऐसा पाठ कल्पित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आचार्यने आगे चलकर आत्रेयभद्रकाप्यीयमें "गुण गुणोंके आश्रय नहीं कहे गए हैं" (सूत्र० २६।३६) इस वाक्यके द्वारा गुणोंकी अगुणवत्ताका स्पष्ट निरूपण किया है।

गुणोंका परिगणन—**"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः"** (सूत्र १।४९) अर्थात् '(पाँच) अर्थोंके सहित गुरु इत्यादि (बीस), बुद्धि तथा प्रयत्नपर्यन्त (पाँच), और परत्वादि (दस) गुण कहे गए हैं।' यहाँ-पर 'सार्थाः' गुर्वादयः' 'बुद्धिः प्रयत्नान्ताः' तथा 'परादयः'से गुणोंके चार वर्गोंका कथन किया गया है। (१) पहला वर्ग है अर्थके नाम से प्रसिद्ध शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन पाँच गुणोंका। शारीरस्थान(१।३१)में शब्दादि-को अर्थ गोचर विषय और गुण कहा गया है। इन पाँचो गुणोंका नामोद्देश भी वहीं उपलब्ध होता है (शारीर० १।२७)। चक्रपाणिने गुणोंके इस वर्गको 'वैशेषिकगुण' कहा है, क्योंकि शब्द प्राधान्येन आकाशका ही गुण है, स्पर्श प्राधान्येन वायुका ही गुण है। इसी प्रकार रूपादिको भी समझना चाहिए। अन्यके गुणकी अन्यत्र उपलब्धि भूतान्तरके अनुप्रवेशके कारण होती है। "विष्टं ह्यपरं परेण" (३।१।६) इस न्यायसूत्रसे प्रत्येक भूतमें भूतान्तरका अनुप्रवेश सिद्ध होता है। (२) इसके अनन्तर 'गुर्वादयः'से सूचित गुणोंका दूसरा वर्ग है। इस वर्गमें बीस गुण आते हैं। यज्जःपुरुषीयमें आहारगुणोके प्रसङ्गमें इनका परिगणन इस क्रमसे किया गया है—गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, तथा सान्द्र-द्रव (सूत्र० २५।३६)। परस्पर विरोधी गुणोंके दस जोड़े गिनाए गए हैं। पृथिव्यादिभूतोंमें साधारण होनेके कारण इन्हें सामान्यगुण समझना चाहिए। (३) इसके अनन्तर तीसरा वर्ग आत्मगुणोंका है, जिनमें बुद्धिकी प्रधानता है। बुद्धि'से ज्ञान अभिप्रेत है, जैसा कि न्यायसूत्र(१।१।१५)में कहा गया है—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।" बुद्धिसे स्मृति चेतना धृति और अहङ्कारप्रभृति बुद्धिविशेषोंका भी ग्रहण हो जाता है। 'प्रयत्नान्ताः'से इच्छा द्वेष सुख दुःख और प्रयत्नका ग्रहण अभिप्रेत है। **"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं**

प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥" अर्थात् इच्छा द्वेष सुख दुःख प्रयत्न चेतना धृति बुद्धि स्मृति और अहङ्कार परमात्माके लिङ्ग हैं" इस वक्ष्यमाण ग्रन्थके अनुरोधसे प्रयत्नपर्यन्त पाँच गुणोंको ग्रहण किया गया है। अवशिष्ट चेतना धृति स्मृति और अहङ्कारका बुद्धिमें अन्तर्भाव करके यहाँपर छः आत्मगुण गिनाए गए हैं। (४) चौथे वर्गमें परत्वादि दस गुण हैं। इनका परिगणन आत्रेयभद्रकाप्यीयमें किया गया है—"परत्व अपरत्व युक्ति सङ्ख्या संयोग विभाग पृथक्त्व परिमाण संस्कार और अभ्यास" (सूत्र० २६।२६-३०)। चक्रपाणि कहते हैं कि ये सभी गुण यद्यपि सामान्यगुण हैं, तथापि आयुर्वेदमें अत्यधिक उपयोगी न होनेके कारण, तथा इनमें बुद्धिका प्राधान्य होनेके कारण, इनका सबसे अन्तमें उल्लेख किया गया है। उनका यह कथन अंशतः ही सत्य जान पड़ता है, क्योंकि चरकमुनिने इन दस गुणोंको चिकित्साकी सफलताका उपाय कहा है (सूत्र० २६।३०), तथा लक्षणोपन्यास-पूर्वक विस्तारसे इनका निरूपण किया है।

परत्व और अपरत्व—परत्वका अर्थ है प्रधान अथवा श्रेष्ठ होना, तथा अपरत्वका अर्थ है अप्रधान अथवा हीन होना। चरकमुनिके अनुसार देश काल वय मान पाक वीर्य और रस इत्यादिमें परत्व और अपरत्वकी योजना होती है (सूत्र० २६।३१)। उदाहरणार्थ मरुदेश पर होता है और आनूपदेश अपर होता है। कालोंमें विसर्गकाल (सूर्यका दक्षिणायन) पर होता है और आदान-काल (सूर्यका उत्तरायण) अपर होता है। वयमें तारुण्य पर होता है और वार्धक्यादि अपर होते हैं। शारीरस्थान(अध्याय ७)में शरीरका जो मान बताया गया है वह पर है, तथा उससे भिन्न मान अपर है। पाक वीर्य और रसोंमें जो जिसके लिए यौगिक होता है वह उसके लिए पर होता है, और जो अयौगिक होता है वह अपर होता है। 'आदि'पदसे प्रकृति और बल इत्यादिमें भी परापरकी योजना कर लेनी चाहिए। अथवा वैशेषिकशास्त्रोक्त परत्व और अपरत्वको भी ग्रहण किया जा सकता है। कणादमुनि कहते हैं—"एक दिशावाले सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट दो पिण्डोंमें पर और अपरका व्यवहार होता है, तथा एक ही कालमें स्थित सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट दो पिण्डोंमें भी पर और अपरका व्यवहार होता है।"[1] एक ही दिशामें सन्निकृष्टदेशसम्बन्धीकी अपेक्षा विदूरदेशसम्बन्धी पर होता है, और विदूरदेश-सम्बन्धीकी अपेक्षासे सन्निकृष्टदेशसम्बन्धीको अपर कहा जाता है। जैसे प्रयाग-से पूर्वकी ओर वाराणसी समीप है और पाटलिपुत्र दूर है। अतः प्रयागसे वाराणसीकी अपेक्षा पाटलिपुत्र पर हुआ, और पाटलिपुत्रकी अपेक्षा वाराणसी अपर हुआ। इसी प्रकार सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कालकी अपेक्षासे कालमें भी परत्वापरत्व होते हैं। यौवनकी अपेक्षा वार्धक्य पर है और वार्धक्यकी अपेक्षा यौवन अपर है। जिसके जन्मसे लेकर वर्त्तमानकालपर्यन्त सूर्यका परिस्पन्द अल्पतर हुआ हो, वह सन्निकृष्ट होता है, और जिसके जन्मकालसे

1. **एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च।**
—वैशेषिकसूत्र (७।२।२१)

तक सूर्यका परिस्पन्द बहुतर हुआ हो वह विप्रकृष्ट होता है।[1] शेष वय:प्रभृतिमें परत्वापरत्व यथासम्भव देशकालकृत ही समझना चाहिए।

युक्ति—"युक्तिश्च योजना या तु युज्यते" (सूत्र० २६।३१), अर्थात् भैषज्यादिकी जो योजना उपयुक्त अर्थात् यौगिक होती है, वह युक्ति कहलाती है। आतुरके दोषादिकी अपेक्षासे औषधकी जो समीचीन कल्पना की जाती है, वह युक्ति है। जो कल्पना असमीचीन होनेके कारण रोगनिवृत्तिमें यौगिक नहीं होती है, वह युक्ति नहीं कही जा सकती है। यह युक्ति, संयोग परिणाम और संस्कारादिमें अन्तर्भूत होनेपर भी अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण पृथक् वर्णित हुई है।

सङ्ख्या—"सङ्ख्या स्याद् गणितम्" (सूत्र० २६।३२), गणितको सङ्ख्या कहते हैं, अर्थात् एक दो तीन इत्यादिकी जो गणना है, वही सङ्ख्या है।

संयोग—"योगः सह संयोग उच्यते। द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च॥" (सूत्र० २६।३२), अर्थात् द्रव्योंके एक साथ योग(प्राप्ति)को संयोग कहा जाता है। यह तीन प्रकारका होता है—द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज तथा एककर्मज, और यह अनित्य ही होता है। विमानस्थान(१।२८)में भी दो या दोसे अधिक द्रव्योंके संहतीभाव अर्थात् एकत्र सम्मेलनको संयोग कहा गया है। जब परस्पर लड़ते हुए दो मेढ़े एक दूसरेसे टकराते हैं, तो उनका संयोग द्वन्द्वकर्मज होता है, क्योंकि इस संयोगमें दोनों ही सक्रिय होते हैं। जब किसी पात्रमें उड़द डाले जाते हैं, तो सभी दानोंकी सक्रियतासे उनका जो परस्पर संयोग होता है, उसे सर्वकर्मज समझना चाहिए। जब कोई पक्षी वृक्षपर आकर बैठता है, तो उन दोनोंका संयोग एककर्मज होता है, क्योंकि केवल पक्षीके क्रियावान् होनेसे यह संयोग निष्पन्न होता है, वृक्ष तो निष्क्रिय ही रहता है। इस एककर्मज संयोगको संयोगज संयोगका भी उपलक्षण समझना चाहिए। जैसे उँगली और वृक्षके संयोगसे होनेवाला हाथ और वृक्षका संयोग। इससे यह बात भी सिद्ध होती है—चूँकि विभुद्रव्योके संयोगका कोई कारण नहीं है, अतः उनका संयोग नहीं होता है। संयोग कर्मजन्य होनेके कारण अनित्य होता है। हेतुके अनित्य होनेपर कार्यका अनित्यत्व अपरिहार्य होता है। विभुद्रव्योंमें नित्यसंयोग नहीं माना जा सकता है। नित्यसंयोग किसी भी दशामें सम्भव नहीं है, क्योंकि अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिको संयोग कहा जाता है। उसे नित्य माननेपर उसका लक्षण ही घटित न हो सकेगा। प्रागभाव होनेपर कोई वस्तु नित्य नहीं हो सकती है, क्योंकि नित्यता त्रिकालाबाधित धर्म है। इसीलिए चरकमुनिने कहा कि संयोग अनित्य ही होता है।

आयुर्वेदमें द्रव्योंके संयोगसे कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न होती है, जिसे अकेला द्रव्य नहीं उत्पन्न कर सकता है। जैसे मधु और घृतका संयोग तथा मधु मछली और दूधका संयोग (विमान० १।२८)। मधु और घृतमेंसे कोई भी

---

१. सन्निकर्षोऽल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वं, विप्रकर्षश्च बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वम्। —उपस्कारः (७।२।२१)

मारक नहीं है, किन्तु दोनोंका सममात्रामें संयोग मारक बन जाता है। दूध मछली और मधुका संयोग कुष्ठादिरोगोंको उत्पन्न करता है।

विभाग—**"विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।"** (सूत्र०२६।३३) विभक्ति अर्थात् विभजन (अलग-अलग हो जाना) ही विभाग है। वियोग अर्थात् संयोगके हट जानेको विभक्ति या विभाग कहते हैं। दो वस्तुओंका विभक्तरूपसे ग्रहण होना ही विभाग है। विभाग संयोगपूर्वक होता है, अर्थात् विभागकी प्रतीतिके लिए उसके पूर्व संयोगका होना अनिवार्य है। विभाग संयोगका अभावमात्र नहीं है, किन्तु यह एक भावरूप प्रतीति है। इसीलिए संयोगाभावमात्रकी आशङ्काका व्यावर्तन करनेके लिए ग्रन्थकारने **'भागशो ग्रहः'** कहकर विभाग या वियोगकी व्याख्या प्रस्तुत की है। दो द्रव्योंमें संयोगका अत्यन्ताभाव विभागप्रतीतिका हेतु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब तो अवयव और अवयवीमें भी विभागप्रतीतिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अवयव और अवयवीमें समवायसम्बन्ध होनेके कारण संयोगका अत्यन्ताभाव तो स्वतःसिद्ध ही है।

पृथक्त्व—यह पटरूप द्रव्य घटसे पृथक् है, इस प्रकारकी बुद्धि जिसके कारण होती है, उसे पृथक्त्व समझना चाहिए। अथवा घट पट नहीं है और पट घट नहीं है, इस प्रकारकी बुद्धिका हेतु पृथक्त्व है। आचार्यने पृथक्त्वकी व्याख्या तीन प्रकारसे की है—**"पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता।"** (सूत्र० २६।३३) अर्थात् "असंयोग (संयोगाभाव), वैलक्षण्य (विजातीय होना), और अनेकताको पृथक्त्व समझना चाहिए।" सर्वथा संयोगरहित विन्ध्य और हिमालयका जो पृथक्त्व है, उसे आचार्यने 'असंयोग'शब्दके द्वारा कहा है। परस्पर संयुक्त होनेपर भी भिन्नजातीय महिष और वराहादिका जो पृथक्त्व है, उसे 'वैलक्षण्य'शब्दके द्वारा कहा गया है। तथा एकजातीय और वैलक्षण्यरहित होनेपर भी उड़दके दानोंका जो पृथक्त्व है, उसे 'अनेकता' के द्वारा ज्ञापित किया गया है। एकजातीय द्रव्योंके ढेरमें न तो असंयोग है और न वैलक्षण्य, तथापि पृथक्त्वकी प्रतीति होती है। इसका कारण 'अनेकता' है, वही पार्थक्यप्रतीतिप्रसवित्री है। कुछ लोग कहते हैं कि पृथक्त्व भेदरूप अर्थात् अन्योन्याभावरूप होता है, न कि अतिरिक्त भावरूप गुण। उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि पृथक्त्वको भेदरूप माना जायगा, तो जिस प्रकार 'घटरूप घटसे भिन्न है' यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'घटरूप घटसे पृथक् है' यह व्यवहार भी होने लगेगा, जो सर्वथा असङ्गत है। अतः पृथक्त्वको एक स्वतन्त्र भावरूप गुण मानना होगा।

परिमाण—**"परिमाणं पुनर्मानम्"** (सूत्र० २६।३४), मान अर्थात् नाप-तौलको परिमाण कहते हैं। प्रस्थ और आढक इत्यादि जो तराजूसे तौले जाते हैं, अथवा मीटर और लीटर इत्यादि जो नपनेसे नापे जाते हैं, उन सभीको परिमाण कहा जाता है। वैशेषिकदर्शनमें परिमाण चार प्रकारका माना गया है—अणु महत् दीर्घ और ह्रस्व। अणु और महत् परिमाण नित्य और अनित्यके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। परमाणुनिष्ठ तथा मनोनिष्ठ नित्य अणुपरिमाणको 'पारिमाण्डल्य'सञ्ज्ञा दी गई है। दीर्घत्व और ह्रस्वत्व क्रमशः महत्त्व और अणुत्वके साथ एक ही अर्थमें समवेत होते हैं। अर्थात् जिन

त्र्यणुकादिमें महत्त्व उत्पन्न होता है, उन्हींमें दीर्घत्व पाया जाता है, और जिस द्वयणुकमें अणुत्व उत्पन्न होता है, उसीमें ह्रस्वत्वकी उपलब्धि होती है (वैशेषिकसूत्र ७।१।१७)।

संस्कार—**"संस्कारः करणं मतम्"** (सूत्र० २६।३४), करण अर्थात् संस्करणको संस्कार माना गया है। विमानस्थानमें कहा गया है—"अपने जन्मजात स्वाभाविकगुणोंसे सम्पन्न द्रव्योंके संस्कारको करण कहते हैं, और स्वाभाविकगुणोंसे भिन्न गुणोंका आधान संस्कार कहलाता है। गुणान्तरका आधान अनेक उपायोंके द्वारा किया जाता है, जैसे—जल और अग्निका सन्निकर्ष, शौच (धोना), मन्थन, किसी विशेषस्थान और विशेषकालमें रखना, वासना, भावना, कालका प्रकर्ष और पात्रविशेषमें रखना इत्यादि।"[1] जलमें धोनेसे और अग्निमें पकानेसे वाष्पसे स्विन्न हुए चावलोंकी गुरुता नष्ट होती है और लघुता आती है।[2] सस्नेह दधि शोथकारक होनेपर भी मथनेसे शोथ-नाशक हो जाता है।[3] इसी प्रकार अन्य उपायोंसे भी गुणान्तरका आधान किया जाता है। कहा गया है—"संस्कारसे गुरुपदार्थोंकी लघुता और लघु-पदार्थोंकी गुरुताका आपादन समझना चाहिए। जैसे व्रीहिके गुरु होनेपर भी भर्जनरूप संस्कारसे बनी हुई लाजा (खील) लघु हो जाती है, तथा सत्तुओंके लघु होनेपर भी अग्निमें पकाई हुई उसकी सिद्धपिण्डिकाएँ गुरु हो जाती हैं।"[4]

अब प्रश्न यह उठता है कि गुणान्तरके आधानसे स्वाभाविकगुणका नाश कैसे किया जा सकता है? जबकि **'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः'** (शारीर० १।११५) कहा गया है, अर्थात् स्वभावका प्रतीकार नहीं किया जा सकता है। यदि संस्कारके द्वारा स्वाभाविकगुरुताका प्रतीकार किया जा सकता है, तो फिर स्वभाव निष्प्रतिक्रिय कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि किसी भावपदार्थकी उत्पत्तिके समय उसके स्वभावको अन्यथा नहीं किया जा सकता है। 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः'का यही अभिप्राय है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उड़द इत्यादिकी जातिके साथ जो गुरुता जुड़ी हुई है, वह उड़दकी जातिसे किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती है। हाँ, संस्कारके द्वारा उसका अन्यथाकरण तो सम्भव ही है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है। द्रव्योंके कुछ गुण ऐसे भी होते हैं, जिनका अन्यथाकरण किसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसे—

---

१. **करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते।** —(विमान० १।२७)

२. **सुधौतः प्रस्नुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः।** —(सूत्र० २७।२५६)

३. **शोथकृद् दधि शोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनात्।** —(चक्रपाणिके द्वारा उद्धृत)

४. **गुरूणां लाघवं विद्यात्संस्कारात्सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥** —(सूत्र० २७।३४१)

अग्निकी उष्णता, वायुकी गतिशीलता, और तैलकी चिकनाई। जबतक द्रव्य रहता है, तबतक ये गुण अवश्य रहते हैं। किन्तु गुरुत्वादि तो धान्यादिके पुराने होनेपर ही निकल जाते हैं, अतः ये यावद्द्रव्यभावी नहीं हैं। गुण या तो द्रव्यके विनाशसे विनाशको प्राप्त होता है, या फिर गुणान्तरके उपघातसे। किन्तु जहाँपर व्रीहिके भर्जनरूप संस्कारसे लाजा नामक द्रव्यान्तर उत्पन्न हो जाता है, वहाँपर गुणान्तरकी उत्पत्ति तो सङ्गत ही है।

वैशेषिकदर्शनमें वेग भावना और स्थितिस्थापकके भेदसे संस्कार तीन प्रकारका माना गया है। वेग क्रियाजन्य है, और पृथ्वी जल तेज वायु तथा मनमें रहता है। भावनारूप संस्कार अनुभवजन्य है, और केवल आत्मामें रहता है। यही स्मृतिका हेतु है। सदृशदर्शनादि सहकारियोंके लाभसे जब भावना उद्बुद्ध होती है, तभी स्मरण होता है। स्थितिस्थापक संस्कार झुकाकर छोड़ी हुई डालीको अथवा झुकाकर छोड़े हुए धनुषको पूर्वावस्थामें स्थापित कर देता है।

अभ्यास—"भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया।" (सूत्र० २६।३४), किसी भी भावका अभ्यसन अर्थात् अनुशीलन अर्थात् निरन्तर करना अभ्यास है। जैसे साठी चावलका निरन्तर सेवन करना अथवा व्यायामका नियमित-रूपसे अभ्यास करना। इस प्रकार इन परत्वादि गुणोंका लक्षणनिर्देशपूर्वक निरूपण किया गया है। इन गुणोंको जाने विना चिकित्साकर्म यथावत् नहीं हो सकता है।

रस—आयुर्वेदमें अन्य गुणोंकी अपेक्षा सर्वाधिक उपयोगी होनेके कारण रसका प्राधान्य है। दोषोंका प्रशमन करके रोगनिवृत्ति और स्वास्थ्यलाभ करानेमें रसोंकी जैसी उपयोगिता है, वह आयुर्वेदज्ञोंसे छिपी नहीं है। अतः चरकमुनिके रसविषयक सिद्धान्त सङ्क्षेपसे प्रस्तुत किए जा रहे हैं—"रसनेन्द्रियका ग्राह्य विषय रस है। उसका द्रव्य अर्थात् आधारकारण (उपादान-कारण) मुख्यरूपसे जल है, और अमुख्यरूपसे पृथ्वी है, क्योंकि जल निसर्गसे सरस होता है, और पृथ्वी जलके ही रससे नित्य अनुषक्त होनेके कारण रसवती कहलाती है। रसकी अभिव्यक्ति और (मधुरादि) विशेषके उपादान-कारण जल और पृथ्वी है, तथा आकाश वायु और अग्नि मधुरादिविशेषकी अभिव्यक्तिमें केवल निमित्तकारण हैं।"[1] अन्तरिक्षसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाका जल सौम्य, स्वभावसे शीतल, लघु और अव्यक्तरसवाला होता है। अन्तरिक्षसे नीचेकी ओर गिरता हुआ वह जल पृथ्वीपर पहुँचकर, पञ्चमहा-भूतोंके गुणोंसे समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर प्राणियोंके शरीरोंको तृप्त करता है। उन शरीरोंमें छः रसोंकी अभिव्यक्ति होती है।[2] इन छः रसोंमें

---

१. **रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।**
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥ —(सूत्र० १।६४)

२. **सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च। तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति। तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः।** —(सूत्र० २६।३९)

सोमगुणकी अधिकतासे मधुररस, पृथ्वी और अग्निके आधिक्यसे अम्ल(खट्टा) रस, जल और अग्निके बाहुल्यसे लवणरस, वायु और अग्निके प्राचुर्यसे कटुरस, वायु और आकाशके अतिरेकसे तिक्तरस, तथा पवन और पृथ्वीके अतिरेकसे कषायरस उत्पन्न होता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होनेपर भी उनकी न्यूनता और अधिकतासे रसोंकी सङ्ख्या छः हो जाती है (सूत्र० २६।४०)।

चरकसंहिताकी रचनाके समय रसोंकी सङ्ख्याके विषयमें आयुर्वेदज्ञोंके मध्य बड़ा मतभेद था। आत्रेयभद्रकाप्यीयमें इस वैमत्यका अच्छा चित्रण उपलब्ध होता है। चैत्ररथनामक वनमें समवेत हुए आयुर्वेदविद् महर्षियोंके मध्य रसविषयक कथाके प्रारम्भ होनेपर भद्रकाप्य, शाकुन्तेय ब्राह्मण, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, हिरण्याक्ष कौशिक, कुमारशिरा भरद्वाज, वार्योविद राजर्षि, निमि वैदेह और बडिश धामार्गवने क्रमशः एक दो तीन चार पाँच छः सात और आठ रसोंका प्रतिपादन किया। बाह्लीकके भिषक् काङ्कायनने तो रसोंकी सङ्ख्या अपरिसङ्ख्येय बताई। तब भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने इन समस्त मतोंका खण्डन करके रसोंके षट्त्वका प्रतिपादन किया। यही ग्रन्थकारका अपना मत है, क्योंकि ग्रन्थके प्रथमाध्यायमें रसोंका सङ्ग्रह करते हुए स्वादु (मधुर)अम्ल लवण कटु तिक्त और कषाय—रसोंके इस षट्कका नामोल्लेख किया गया है।[1] उन्होंने क्षारको रस नहीं माना है। क्षरण अर्थात् नीचेकी ओर जानेकी क्रियासे सम्बद्ध होनेके कारण क्षार रस नहीं है, प्रत्युत द्रव्य है, क्योंकि क्रियाका सम्बन्ध गुणसे नहीं होता है, द्रव्यसे ही होता है। अनेक रसोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह अनेक रसवाला होता है, जिनमें कटु और लवणकी अधिकता होती है। यह स्पर्श और गन्धादि अनेक इन्द्रियार्थोंसे समन्वित होता है, और भस्मस्रावादि अनेक कारणों(उपायों)से बनाया जाता है, अतः यह द्रव्य ही है।[2] चूंकि गुण गुणोंके आश्रित नहीं होते हैं, इसलिए रसोंके जो गुण आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें निरूपित हुए हैं, उन्हें उन रसोंके आधारभूत द्रव्योंके गुण समझना चाहिए।[3] इन रसोंमें अग्निमारुतात्मक रसोंवाले द्रव्य प्रायः ऊर्ध्वगामी होते हैं, क्योंकि वायु हलका और प्रवाहशील होता है, और अग्निकी ज्वाला भी स्वभावतः ऊर्ध्वगामिनी होती है। सलिलपृथिव्यात्मक रसोंवाले द्रव्य प्रायः अधोगामी होते हैं, क्योंकि पृथ्वी भारी और पानी ढालकी ओर बहनेवाला होता है। व्यामिश्रात्मक रसोंवाले द्रव्य उभयगामी होते हैं (सूत्र० २६।४१)। जो रस स्निग्धता प्रसन्नता आह्लाद और मृदुता उत्पन्न करता है, तथा मुखमें रखनेसे मुखको व्याप्त करता हुआ लेप सा

---

१. स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां सङ्ग्रहः स्मृतः॥ —(सूत्र० १।६५)

२. क्षरणात्क्षारो नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्। —(सूत्र० २६।९)

३. गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान्............................॥ —(सूत्र० २६।३६)

चढ़ा देता है, वह मधुररस है। जो रस चखनेसे ही दन्तहर्ष उत्पन्न करता है, मुँहमें पानी भर देता है, पसीना लाता है, मुखमें प्रतिबोध उत्पन्न कर देता है, जिससे अन्य रसोंका यथावत् ग्रहण सम्भव होता है और रुचि उत्पन्न होती है, तथा मुँह और गलेमें जलन उत्पन्न करता है, उसे अम्लरस कहना चाहिए। जो रस मुखमें घुलता हुआ शीघ्र ही क्लेद (नमी), विष्यन्द (लालास्राव), तथा मृदुता उत्पन्न करता है, और मुखमें विदाह भी करता है, उसे लवण-रस समझना चाहिए। जो रस जिह्वापर गिरते ही उसे उद्विग्न कर देता है, और सुईकी चुभन जैसा अनुभव कराता है, मुख नासिका और आँखोंमें जलन उत्पन्न करता हुआ उनसे पानी बहाने लगता है, उसे कटु माना गया है। जो रस जिह्वासे सम्बद्ध होनेपर उसे जड बना देता है, अर्थात् उसकी अन्य रसोंको ग्रहण करनेकी शक्तिको मार देता है, जिसका स्वाद भाता नहीं है, जो मुखको साफ करता है, सुखाता है और हर्ष उत्पन्न करता है, वह तिक्तरस है। कटु और तिक्त रसोंके इन लक्षणोंसे स्पष्ट है कि मिर्चका रस कटु होता है और नीमका रस तिक्त होता है। किन्तु उत्तरप्रदेशके पूर्वी अञ्चलमें मिर्चको तीत (तिक्त) कहा जाता है, जो कि सर्वथा असङ्गत और अशास्त्रीय है। जो रस रसनाको वैशद्य स्तम्भ और जडतासे संयुक्त करता है, जो गले-को बाँध सा देता है, और जो विकासी अर्थात् हृदयको विकसित करनेवाला है, वह कषायरस है (सूत्र० २६।७६-८४)। मधुर अम्ल और लवणरस वायु-का प्रशमन करते हैं, कषाय मधुर और तिक्त पित्तपर विजय प्राप्त करते हैं, तथा कषाय कटु और तिक्त श्लेष्माको शान्त करते हैं।[1] जो रस जिस दोषको शान्त नहीं करता है, वह उस दोषको बढ़ानेवाला है, ऐसा समझना चाहिए। चूंकि मधुर अम्ल और लवण वातको शान्त करते हैं, अतः अवशिष्ट तीन रस कटु तिक्त और कषाय वातवर्धक हैं। इसी प्रकार अम्ल लवण और कटु पित्त-वर्धक हैं, तथा मधुर अम्ल और लवण कफवर्धक हैं।

कर्मनिरूपण

चरकमुनिने गुणोंका निर्देश करनेके अनन्तर कर्मका निर्देश किया है— "**प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।**" (सूत्र० १।४९), अर्थात् "प्रयत्नादि समस्त चेष्टाएँ कर्म कहलाती हैं।" आत्माका आद्य कर्म ही प्रयत्न है। इसके अति-रिक्त संस्कार और गुरुत्वादिसे होनेवाली इसी प्रकारकी समस्त क्रियाएँ और चेष्टाएँ कर्म कहलाती हैं। चेष्टा यद्यपि प्राणियोंके व्यापारको कहा जाता है, तथापि यहाँपर चेष्टा-शब्दसे सामान्यक्रिया ही विवक्षित है। 'चेष्टित' पदसे ही समस्त क्रियाओंका ग्रहण हो जानेपर भी 'प्रयत्नादि' पदसे अत्यन्तसूक्ष्म-स्वरूपवाले कर्मोंको भी व्याप्त करना अभीष्ट जान पड़ता है। प्रयत्नकी गणना यद्यपि गुणोंमें हुई है, तथापि आयुर्वेदमें कर्मके लिए भी इसका प्रयोग देखा जाता है—"कार्यके लिए की जानेवाली चेष्टा ही प्रवृत्ति है, वही क्रिया कर्म

---

१. **स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः।**
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः॥ —(सूत्र० १।६६)

यत्न और कार्यसमारम्भ है।"[1] इससे सिद्ध होता है कि प्रयत्न चेष्टा कर्म क्रिया प्रवृत्ति और कार्यसमारम्भ परस्पर पर्याय है। प्रयत्नकी गणना गुणोंमें भी होनेके कारण कुछ लोग 'प्रयत्नादि'का अर्थ करते हैं—प्रयत्न है आदि अर्थात् कारण जिसका, वह चेष्टा ही कर्म है। आत्मगुण प्रयत्नसे ही मन वाणी और शरीरकी प्रवृत्ति हुआ करती है, अतः ऐसा अर्थ करनेमें कोई दोष नहीं है। वाणी मन और शरीरकी प्रवृत्तिको ही आचार्यने कर्मसञ्ज्ञा प्रदान की है।[2] वैशेषिकदर्शन(५।१।१)में भी कहा गया है—"आत्माके संयोग तथा प्रयत्नसे हाथमें और हाथसे उपलक्षित शरीरमें चेष्टारूप कर्म उत्पन्न होता है।"

कर्मका लक्षण—"कर्त्तव्यकी क्रियाको कर्म कहा जाता है, यह द्रव्यके आश्रित होता है, संयोग और विभागका युगपत् कारण बनता है, तथा कारण बननेमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है।"[3] चूंकि दर्शनशास्त्रमें अदृष्टादि-के लिए भी कर्म शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, अतः उसकी व्यावृत्ति करने-के लिये कर्त्तव्यकी क्रियाको कर्म कहा गया है। अर्थात् प्रस्तुतलक्षण क्रियारूप कर्मका है, जिसका आगे चलकर 'प्रवृत्ति'शब्दके द्वारा अनेक स्थलोंपर निरूपण किया गया है। यह लक्षण अदृष्टादिशब्दवाच्य कर्मका नहीं है, जिसका निरूपण जनपदोद्ध्वंसनीयादि अध्यायोंमें विस्तारसे हुआ है। यहाँ उसका प्रकरण नहीं है। यहाँपर चरकमुनिको कर्मशब्दसे प्रवृत्तिशब्दवाच्य क्रियारूप चिकित्साकर्म अभिप्रेत है, जिसका आगे चलकर अनेकस्थलोंपर, कर्त्तव्यके रूपमें निर्देश किया गया है। देखिए—"धातुवैषम्यरूप रोगके होनेपर, प्रशस्तवैद्य औषध-द्रव्य परिचारक और रोगी इन चार पादोंकी, धातुसाम्यरूप आरोग्यके लिए जो प्रवृत्ति होती है, उसे चिकित्सा कहा जाता है।"[4] इनमें वैद्यकी प्रवृत्ति 'यह कर्त्तव्य है और यह अकर्त्तव्य है' इत्यादि उपदेशरूप होती है। औषध-द्रव्योंका उपयोग किए जानेपर उनकी प्रवृत्ति स्वकार्यारम्भरूप होती है। परिचारककी प्रवृत्ति भेषजका संस्करण और रोगीकी परिचर्या करनेके रूपमें होती है। तथा रोगीकी प्रवृत्ति वैद्यके निर्देशका पालन करनेमें तथा रोगका स्वरूप और उसकी वर्त्तमानस्थितिको बतानेके रूपमें होती है। रोगभिषग्जि-तीयमें भी कहा गया है—"प्रतिकर्म अर्थात् चिकित्साका आरम्भ करना प्रवृत्ति है। उसका लक्षण है—भिषग्, रोगी औषध और परिचारकका अपनी-अपनी कर्त्तव्यरूप क्रियामें लग जाना।"[5]

---

१. प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च। —(विमान० ८।७७)

२. कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः। —(सूत्र० ११।३९)

३. संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥ —(सूत्र० १।५२)

४. चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥ —(सूत्र० ९।५)

५. प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भः, तस्य लक्षणम्—भिषगातुरौषधपरिचारकाणां क्रियासमायोगः। —(विमान० ८।८४,१२३)

गुणके समान कर्म भी द्रव्यके ही आश्रित रहता है। आचार्यने इस बातको इन्द्रियोपक्रमणीयमें भी कहा है—"जिसे क्रिया कहा जाता है, वह द्रव्यके आश्रित रहनेवाला (क्रियापदवाच्य) कर्म भी शुभकी प्रवृत्ति और अशुभकी निवृत्तिका कारण बनता है।"[1] चक्रपाणिने इस अंशकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"केवल कर्म कहनेसे कर्मशब्दवाच्य वमनादिमें तथा आस्यास्वप्नादिमें भी प्रसक्ति हो जायगी, अतः उनका व्यावर्त्तन करनेके लिए 'द्रव्याश्रितम्' पद है। तथापि कर्मशब्दवाच्य धर्माधर्ममें प्रसक्ति हो जायगी, अतः उसका व्यावर्त्तन करनेके लिए 'यदुच्यते क्रिया' कहा गया है।" समझमें नहीं आता कि कर्मके द्रव्याश्रित होनेसे वमन आस्या और स्वप्नादिकी कर्मरूपताका खण्डन कैसे होगा? क्योंकि वमनादि भी द्रव्याश्रित हैं। अन्याश्रित अथवा निराश्रित कर्मकी कल्पना किस प्रकार सम्भव हो सकती है? दूसरा प्रश्न यह उठता है, यदि वमनादि कर्म नहीं हैं, तो द्रव्य गुण सामान्य विशेष और समवायमेंसे क्या हैं? इनमेंसे कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, अतः पारिशेष्यात् वमनादिका कर्मत्व ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्रिया कहनेसे धर्माधर्मका व्यवच्छेद किस प्रकार होगा? धर्माधर्म भी तो क्रियारूप तथा शुभाशुभकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके हेतु हैं। **'कर्मणः पृथक् कृत्वाभिधानं पञ्चकर्मादिषु कर्मणोऽप्रविष्टत्वात्'** अर्थात् 'वमनादि पञ्चकर्मोंमें कर्मका प्रवेश न होनेके कारण उनसे पृथक् करके कर्मका अभिधान किया गया है' उनका यह कथन किस तर्क युक्ति अथवा प्रमाणपर आधृत है, कुछ समझमें नहीं आता है। चरकोक्त कर्मलक्षणकी व्याप्ति वमनादिमें नहीं है, ऐसा उन्होंने दीर्घञ्जीवितीयमें भी कर्मलक्षणके प्रसङ्गमें कहा है, किन्तु इसका आधार समझमें नहीं आता है। चरकमुनिने तो कायिक वाचिक और मानसिक इस त्रिविध व्यापारको कर्मसञ्ज्ञा प्रदान की है (सूत्र० ११।३९)। वमनादि स्वप्नादि तथा धर्माधर्मको उससे बहिष्कृत कैसे किया जा सकता है? हाँ अदृष्टमें यह लक्षण घटित नहीं किया जा सकता है, अतः अदृष्टका व्यावर्त्तन तो समझमें आता है, किन्तु अन्य कर्मोंका व्यावर्त्तन अयुक्त और अनर्गल प्रतीत होता है। कविराज गङ्गाधरने अपनी जल्पकल्पतरुव्याख्या(सूत्र० १।५२)में वमनविरेचनादिको कर्मके उदाहरणरूपसे प्रस्तुत किया है।

कर्म संयोग और विभागका युगपत् कारण बनता है। अपने आश्रयभूत द्रव्यमें उत्पन्न हुआ कर्म जिस समय पूर्वदेशसे विभाग कराता है, उसी समय उत्तरदेशसे संयोग करा देता है। इससे संयोग और विभागके कर्मत्वका खण्डन होता है। संयोग केवल उत्तरदेशसे सम्बन्ध कराता है, वह विभागका कारण नहीं है. और विभाग केवल विभागजविभागका कारण है, वह संयोगका कारण नहीं है, जबकि कर्म संयोग और विभाग दोनोंका युगपत् कारण है। इससे सिद्ध होता है कि कर्मवत् प्रतीत होनेवाले संयोग और विभाग वस्तुतः कर्म नहीं हैं, प्रत्युत गुण हैं, क्योंकि गुणके लक्षण उनमें घटित होते हैं। संयोग और विभागका कारण बननेमें कर्मको अपनेसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। इससे द्रव्यका व्यवच्छेद हो जाता है। अभिप्राय यह है

---

१. **शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति।**

—(सूत्र० ८।१३)

कि अपने आश्रयभूत द्रव्यमें उत्पन्न होनेवाला कर्म पूर्वदेशविभाग तथा उत्तरदेशसंयोगके करणीय होनेपर अपनेसे भिन्न किसी पश्चात्कालभावी कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता है, उसे केवल संयोग और विभागके आश्रयका सान्निध्य अपेक्षित है। किन्तु द्रव्य यद्यपि संयोग और विभागका युगपत् कारण होता है, तथापि जब वह उत्पन्न होकर कर्मयुक्त होता है, तभी संयोग और विभागका कारण बननेमें समर्थ हो पाता है। अतः कार्योत्पत्तिके प्रति कर्मके कारणान्तरनिरपेक्ष होनेके कारण और द्रव्यके कर्मसापेक्ष होनेके कारण कर्म और द्रव्यका भेद सिद्ध होता है। सृष्टिके प्रारम्भकालमें पृथिव्यादि द्रव्योंमें निष्क्रिय होनेपर भी चेतन आत्माके द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण, चेतनभावकी प्राप्ति होनेसे, परस्पर संयोग होकर प्रवर्त्तक रजोगुणके द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न किया जाता है, वह उत्क्षेपणादिके रूपमें पाँच प्रकारका होकर पृथिव्यादि द्रव्योंको पुनः पुनः सञ्चालित करता हुआ उनमें संयोग और विभाग कराता रहता है, और इस प्रकार अपने आश्रयभूत द्रव्योंके संयोग और विभागमें किसी पश्चाद्भावी कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता है।

वैशेषिकदर्शनमें भी कर्मका जो लक्षण दिया गया है, वह इस चरकोक्त लक्षणका अनुवादमात्र है। "एकद्रव्यवृत्ति निर्गुण तथा संयोग और विभागमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा न रखनेवाला कारण कर्म है" (१।१।१७)। इसमें केवल कर्मके निर्गुणत्वका कथन अधिक है, जो परवर्त्ती चिन्तनका परिणाम है। केशवमिश्रने तो **'चलनात्मकं कर्म'** कहकर कर्मलक्षणका अत्यन्त सरलीकरण कर दिया है। वैशेषिकदर्शनमें कर्मके पाँच विभाग किए गए हैं— "उत्क्षेपण (ऊपरकी ओर फेंकना), अवक्षेपण (नीचेकी ओर फेंकना), आकुञ्चन (सङ्कुचित करना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (चलना)" (१।१।७)। भ्रमण (चक्राकार घूमना), रेचन (पक्षी इत्यादिका आकाशसे उतरना), स्यन्दन (पानीका बहना), ऊर्ध्वज्वलन (अग्निकी लपटका ऊपरकी ओर उठना) और तिर्यग्गमन (वायुका तिरछा चलना) इत्यादिका अन्तर्भाव गमनमें ही हो जाता है। अतः कर्मत्वसे साक्षाद् व्याप्त होनेवाली उत्क्षेपणत्वादि केवल पाँच जातियाँ ही वैशेषिकको अभिमत हैं।

आयुर्वेदमें पञ्चकर्म—उत्क्षेपणादि वैशेषिकोक्त पञ्चकर्मोंका आयुर्वेदमें विशेषमहत्त्व नहीं है, इसलिए चरकसंहितामें इनका निरूपण नहीं किया गया है। आयुर्वेदमें जो कर्म अत्यन्त उपयोगी माने गए हैं, उनकी भी सङ्ख्या पाँच ही है। चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर कर्मकी इस पञ्चविधताका उल्लेख प्राप्त होता है (सूत्र० २६।११; विमान० ३।१७; सिद्धि० १।३)। ये पञ्चकर्म हैं— वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन और शिरोविरेचन। सूत्रस्थानके अपामार्गतण्डुलीय और त्रिशोथीयमें तथा सिद्धिस्थानमें इन कर्मोंका नाम्ना उल्लेख किया गया है। अपामार्गतण्डुलीयमें वमनादिमें प्रयुक्त होनेवाली उपयोगी औषधियोंका सङ्ग्रह किया गया है (सूत्र० २।३-१४)। रोगभिषग्जितीयमें भी जिन द्रव्योंका वमनादिमें उपयोग किया जाता है, उनका विस्तारसे उपदेश किया गया है (विमान० ८।१३६-१५४)। सिद्धिस्थानमें जिन्हें वमनादिकर्म नहीं कराना चाहिए, और जिन्हें कराना चाहिए, उन दोनों प्रकारके लोगोंके लक्षण कारणनिर्देशपूर्वक समझाए गए हैं (सिद्धि० २।३)। इन पञ्चकर्मोंके

अतिरिक्त आयुर्वेदमें लङ्घन बृंहण रूक्षण स्नेहन स्वेदन और स्तम्भनका भी विशेपमहत्त्व स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि जो इन कर्मोंके यथावत् प्रयोगको जानता है, वही भिषक् है (सूत्र० २२।४)। वस्तुतः लङ्घन और बृंहण इत्यादि उन द्रव्योंको भी कहा जाता है, जो शरीरमें लघुता और वृद्धि इत्यादिका आपादन करते हैं, तथा लघुता और वृद्धि इत्यादिका आपादन करनेवाले गुण और कर्म भी लङ्घनादिशब्दवाच्य होते हैं। "शरीरमें लाघव उत्पन्न करनेवाला जो कुछ भी है, वह लङ्घन कहा जाता है। अतः लङ्घन शब्द केवल अनशनपरक ही नहीं है। जो शरीरमें वृद्धि उत्पन्न करता है, वह बृंहण कहा जाता है। जो शरीरमें रूक्षता खरता और विशदता(चिपचिपाहटसे रहित होना) उत्पन्न करता है, वह रूक्षण कहलाता है। स्नेहन शरीरमें स्निग्धता विष्यन्द(स्राव) मृदुता तथा आर्द्रताको उत्पन्न करता है। स्वेदन स्तम्भ गौरव और शीतको नष्ट करता है। स्तम्भन उसे कहते हैं जो गतिमान् तथा चलायमान द्रवको स्तब्ध (निश्चल) कर देता है" (सूत्र० २२।६-१२)।

कर्मकी व्याधिकारणता—वाणी मन और शरीरकी प्रवृत्तिको कर्म कहा गया है। न्यायसूत्रमें भी वाग् बुद्धि और शरीरके व्यापारको प्रवृत्ति कहा गया है (१।१।१७)। वहाँपर बुद्धिसे मन अभिप्रेत है। जब वाणी मन और शरीरकी अत्यधिकमात्रामें प्रवृत्ति होती है, तो इस प्रवृत्त्यतिशयको इनका अतियोग कहा जाता है। जब इनकी बिल्कुल ही प्रवृत्ति नहीं होती है अथवा अत्यन्त अल्पप्रवृत्ति होती है, तो यह इनका अयोग कहलाता है (सूत्र० ११।३६)। जब इनकी प्रवृत्ति अनुचितरूपसे होती है, तो उसे इनका मिथ्या-योग समझना चाहिए। वाणी मन और शरीरके अतियोग अयोग और मिथ्यायोग नानाप्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियोंके कारण बनते हैं। शरीर वाणी और मनके लिए जो कर्म विहित हैं, उन्हींका अतियोग और अयोग यहाँपर विवक्षित है, क्योंकि सभी प्रकारका अविहित निषिद्ध आच-रण मिथ्यायोगमें अन्तर्भूत होता है। विहितकर्मोंका भी अतियोग और अयोग अनिष्टकारक होता है। आचार्यने शरीर वाणी और मनके मिथ्यायोग-की व्याख्या इस प्रकार की है—"मलमूत्रादिके वेगोंको रोकना, अनागत वेगों-को प्रवृत्त करनेका प्रयास करना, विषमस्थानपर फिसलना, विषमरूपसे लड़खड़ाकर गिरना, विषमरूपसे अङ्गप्रक्षेपादि करना, (अत्यधिक खुजलाने इत्यादिके द्वारा) अङ्गोंको दूषित करना, (दण्डादिसे) प्रहार करना, शरीरको मसल डालना, प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वासका अवरुद्ध हो जाना, तथा शरीरको (धूप वर्षा और व्रतोपवासादिके द्वारा) क्लेश पहुँचाना शारीर मिथ्यायोग है। चुगली करना, झूठ बोलना, असमयमें बोलना, कलह करना, अप्रिय बोलना, असम्बद्ध बोलना, प्रतिकूल बोलना और कठोरवचन बोलना वाणीका मिथ्या-योग है। भय शोक क्रोध लोभ मोह मान ईर्ष्या और मिथ्यादर्शन अर्थात् सत्को असत् तथा असत्को सत् समझना अथवा नास्तिक्यबुद्धि इत्यादिको मानस मिथ्यायोग समझना चाहिए (सूत्र० ११।३९)।" सङ्क्षेपमें ऐसा समझना चाहिए कि अतियोग और अयोगको छोड़कर वाणी मन और शरीर-से किए जाने वाले जितने भी अहितकर कर्म हैं, और जिनका पूर्वोक्त मिथ्या-योगोंमें समावेश नहीं हुआ है; उन सबको भी मिथ्यायोग समझना चाहिए

(सूत्र० ११।४०) । जो कर्म इस जीवनमें अनिष्टकारक हैं, तथा जो कर्म अधर्म-जनक होनेके कारण परलोक तथा भावी जन्मोंमें भी अनिष्टकारक हैं, उन पापशब्दवाच्य कर्मोको भी मिथ्यायोगोंमें सङ्गृहीत कर लेना चाहिए। शारीरिक मानसिक और वाचनिक मिथ्यायोगोंसे ही अधर्मोत्पत्तिरूप अवान्तर-व्यापारके द्वारा कालान्तरमें विकारोंका प्रभव होता है, जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादिका अनुष्ठान करनेसे अपूर्वोपजननद्वारेण कालान्तरमें स्वर्गलाभ होता है।

अतियोग अयोग और मिथ्यायोगके भेदसे त्रिविध विकल्पोंवाले इन त्रिविध कर्मोंको 'प्रज्ञापराध'की सञ्ज्ञा प्रदान की गई है (सूत्र० ११।४१), क्योंकि प्रज्ञा अर्थात् बुद्धिके अपराधसे ही कर्मोंका असम्यग्योग सम्भव होता है। जबतक मनुष्यकी बुद्धि धृति और स्मृति जागरूक तथा सन्तुलित रहती है, तबतक मनुष्यके शरीर वाणी और मनसे समयोगयुक्त सन्तुलित कर्म होते रहते हैं! किन्तु बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश होते ही मनुष्य प्रमादवश अशुभकर्मोंको करने लगता है। इन्हीं अशुभकर्मोंको 'प्रज्ञापराध' समझना चाहिए। यह प्रज्ञापराध शारीर और मानस सभी दोषोंको प्रकुपित करता है (शारीर० १।१०२)। शारीरस्थानमें आचार्यने उन मुख्य-मुख्य प्रज्ञापराधोंको गिनाया है, लोग प्रायः जिनके शिकार बना करते हैं—"मलमूत्रादि गतिमान् भावोंको बलपूर्वक प्रवृत्त करना, प्रवृत्त हुए वेगोंका बलात् निग्रह करना, साहसिक कर्मोंका सेवन करना, नारियोंका अत्यधिक सेवन करना, चिकित्सा-कर्मके उचितकालका अतिक्रमण करना, कर्मोंका मिथ्यारम्भ (अर्थात् अतियोग अयोग और मिथ्यायोग), विनय और सदाचारका लोप, पूज्यजनोंको सताना, स्वयं जानते हुए भी अहितकर अर्थोंका सेवन करना, उन्मादके कारणोंका सेवन करना, निषिद्धसमयपर निषिद्धस्थानोंमें विचरण करना, निन्दितकर्म करनेवाले पतितजनोंसे मित्रता करना, इन्द्रियोपक्रमणीय(सूत्र० अध्याय ८)में बताए गए सद्वृत्तका पालन न करना, ईर्ष्या अहङ्कार भय क्रोध लोभ मोह मद और भ्रम, तथा इनसे उत्पन्न होनेवाले जो निन्दितकर्म, शरीरसे होनेवाले जो निन्दितकर्म और रजोगुण तथा मोहसे उत्पन्न होनेवाले इसी प्रकारके जो दूसरे निन्दनीय कर्म हैं, उन्हें शिष्टजन प्रज्ञापराध तथा व्याधियोंका कारण बताते हैं। सङ्क्षेपमें बुद्धिके द्वारा होनेवाला जो विषम अर्थात् अनुचित ज्ञान है तथा उस अनुचित ज्ञानके कारण होनेवाली जो शरीरादिकी अनुचित प्रवृत्ति है, उसे प्रज्ञापराध समझना चाहिए। ये दोनों ही दोषजन्य हैं" (शारीर० १।१०३-१०९)।

समवायनिरूपण

"पृथ्वी इत्यादिका अपने गुणोंके साथ जो अपृथग्भाव अर्थात् अभिन्नता है, उसे समवाय माना गया है। यह समवाय नित्य है, क्योंकि जहाँ द्रव्य है वहाँ उसमें रहनेवाला गुण अनियत (कादाचित्क) नहीं होता है।"[१] चक्रपाणि-प्रभृति टीकाकारोंके मतानुसार अपृथग्भावका अर्थ है, अयुतसिद्धि अर्थात्

१. समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः॥ —(सूत्र० १।५०)

सहावस्थान अर्थात् पृथक् स्थितिके अयोग्य होना। अयुतसिद्ध उन दो पदार्थों-को कहा जाता है, जिन दोनोंमेंसे एक अविनश्यद् अवस्थामें दूसरेके आश्रित ही रहता है। जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रिया-वान्, जाति और व्यक्ति, तथा विशेष और नित्यद्रव्य (तर्कभाषा)। इन अयुतसिद्ध पदार्थोंके सम्बन्धको वैशेषिकदर्शनमें 'समवाय' कहा गया है। प्रशस्तपादका कथन है — "आधार्याधारभाव(आश्रयाश्रयिभाव)से स्थित अयुतसिद्ध पदार्थोंका जो सम्बन्ध 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि ज्ञानका हेतु है, वह समवाय है।"[१] वैशेषिकदर्शनके इस समवायलक्षणके अनुरोधसे टीकाकारोंने यहाँपर भी पृथिवी इत्यादिका अपने गुणादिके साथ जो अपृथग्भावरूप सम्बन्ध है उसे समवाय कहा है। पृथिवी यहाँपर आधार या आश्रयका उपलक्षण है, और गुण आधार्य या आश्रयीके उपलक्षण हैं। चूँकि पृथ्वी गुरुसे लेकर द्रव-पर्यन्त बीसों गुणोंका आधार है, तथा अवयवी कर्म और सामान्य भी पृथ्वीके आश्रित रहते हैं। चूँकि पृथ्वीके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य इतने अधिक आधेयोंका आश्रय नहीं है, इसलिए 'भूम्यादीनां'से यहाँपर आश्रय या आधार-को ही ग्रहण करना चाहिए। तथा 'गुणैः'से गुणीभूत अप्रधान आधेय पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए। गुणशब्द अप्रधानके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। इससे यह अर्थ निर्गलित हुआ कि पृथिव्यादि आधार तथा गुणादि आधेयका जो अपृथग्भाव या अयुतसिद्धि है, वही समवाय है। पृथिवीत्व और गन्धवत्त्वमें अपृथक्सिद्धता होनेपर भी आधाराधेयभावका अभाव होनेके कारण समवाय नहीं माना जा सकता है।

चरकमुनिके मतानुसार समवायपदार्थ नित्य अर्थात् अविनाशी है। समवा-यियोंका विनाश होनेपर भी समवायका विनाश नहीं होता है, क्योंकि जो आका-शादिद्रव्य नित्य हैं, उनमें रहनेवाला कोई गुण अनित्य नहीं होता है। आकाशमें रहनेवाला परिमाण भी नित्य होता है, तथा आकाशगत द्रव्यत्व भी नित्य होता है। अतः नित्य आकाश तथा आकाशगत नित्यगुणोंका समवायलक्षणसम्बन्ध भी नित्य ही होता है। इस प्रकार आकाश और उसके गुणोंमें समवायकी नित्यता सिद्ध होनेसे अन्य स्थलोंपर भी समवायकी नित्यता स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि समवाय एकरूप है। समवायके जो आश्रय अनित्य हैं, उनका विनाश होनेसे समवायका विनाश उसी प्रकार नहीं हो सकता है, जिस प्रकार गोव्यक्तिका विनाश होनेसे गोत्वसामान्यका विनाश नहीं होता है। पृथिव्यादि-द्रव्य नित्यसमवायके अभिव्यञ्जक उसी प्रकार बनते हैं, जिस प्रकार व्यक्तियाँ नित्यसामान्यकी अभिव्यञ्जक बनती हैं।

शङ्कराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य(२।१।१८)में समवायका लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण अत्यन्त सबल तर्कोंसे खण्डन किया है। उनके मता-नुसार कार्यकारण अवयवावयवी और द्रव्यगुणादिमें सर्वथा अभेद है। समवाय जैसे अलोकवेदप्रसिद्ध विलक्षण पदार्थको स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनका तर्क इस प्रकार है—द्रव्यगुणादिमें समवायसम्बन्धकी कल्पना करनेपर यदि समवायका अपने समवायियोंसे सम्बन्ध माना जाय, तो समवाय-

---

१. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः।

नामक एक दूसरा सम्बन्ध कल्पित करना पड़ेगा, अर्थात् समवायको अपने समवायियोंसे सम्बद्ध होनेके लिए एक अन्य समवायकी आवश्यकता पड़ेगी, और उस समवायको अपने समवायियोंसे सम्बद्ध होनेके लिए अन्य समवायकी अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनन्त समवायोंकी कल्पनाका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे अनवस्थादोष उत्पन्न होगा। तथा समवायका समवायियोंसे सम्बन्ध स्वीकार न करनेपर द्रव्यगुणादिके विच्छिन्न होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जो वैशेषिकको अभिमत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होनेके कारण दूसरे सम्बन्धकी अपेक्षाके विना ही समवायियोंसे सम्बद्ध हो जाता है, जैसे दो कागज़ोंको चिपकाने वाला गोंद स्वयं कागज़से चिपक जाता है, उसे कागज़से चिपकनेके लिए अन्य गोंदकी आवश्यकता नहीं पड़ती है, तो फिर संयोग भी स्वयं सम्बन्धरूप होनेके कारण समवायकी अपेक्षाके विना ही संयोगियोंसे सम्बद्ध हो जायगा। संयोगको संयोगियोंसे सम्बद्ध होनेके लिए समवायकी कल्पना क्यों करते हो? वैशेषिकशास्त्रमें संयोगको गुण माननेके कारण संयोगिद्रव्योंसे उसका समवायसम्बन्ध माना जाता है। अतः द्रव्यगुणादिमें तादात्म्य अर्थात् अभेदकी प्रतीति होनेके कारण समवायकी कल्पना निरर्थक है।

उपयोगिताकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो आयुर्वेदमें समवायका कोई भी उपयोग लक्षित नहीं होता है। प्रस्तुत श्लोक(सूत्रस्थान १।५०)के अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थमें अन्यत्र कहीं भी समवायका किसी भी रूपमें उल्लेख उपलब्ध नही होता है। प्रस्तुत स्थलपर षट्पदार्थोंके प्रकरणमें प्रसङ्गवशात् समवायका निर्देश किया गया है। वस्तुतः समवायका निर्देश करनेके लिए चरकमुनिने जिस पदावलीका प्रयोग किया है, वह वैशेषिकदर्शनकी अयुतसिद्धि-की अपेक्षा अद्वैतसम्मत तादात्म्यका ही सुस्पष्ट प्रतिपादन करती है। अपृथ-ग्भावका सीधा अर्थ है, पृथक् स्थितिका न होना अर्थात् अभेद या तादात्म्य होना, जबकि वैशेषिकदर्शनमें द्रव्यगुणादि तथा कार्यकारिणादिको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न पदार्थ स्वीकार किया गया है। अपृथग्भावका अर्थ अयुतसिद्धि करना साफ साफ खींचातानी है, तथा वैशेषिकदर्शनके प्रति टीकाकारके अनुचित व्यामोहकी सूचक है। भूम्यादिका गुणोंके साथ जो अपृथग्भाव अर्थात् तादात्म्य है, वही समवाय है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि चरक-मुनिने जानबूझकर समवायके साथ 'सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग नही किया है। सम्बन्ध हमेशा दो पृथक् वस्तुओंमें होता है, किन्तु जहाँपर अपृथग्भाव हैं, जिसे हम अभेद तादात्म्य या अद्वैत भी कह सकते हैं, वहाँपर सम्बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता है। शङ्कराचार्यने अपने भाष्योंमें समवाय शब्दका प्रयोग सम्बन्धमात्रके लिए किया है, तथा वैशेषिकसम्मत समवायसम्बन्धका जमकर खण्डन किया है। उन्होंने गुण-गुणी इत्यादिके समवायको तादात्म्यरूपसे स्वीकार किया है, जबकि चरकमुनिने तादात्म्य(अपृथग्भाव)को समवायसञ्ज्ञा प्रदान की है। दोनोंका अभिप्राय एक ही है। बहुत सम्भव है कि औपनिषद सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय अन्य वेदान्तग्रन्थोंके साथ चरकमुनिका यह ग्रन्थ भी उनके सामने रहा हो।

—:०:—

षष्ठ अध्याय

अध्यात्मदर्शन

आयुर्वेदका अधिकरणभूत चिकित्स्य पुरुष

आयुर्वेदका अधिकरण पुरुष है, अर्थात् आयुर्वेदका आविर्भाव जिस चिकित्साकर्मके लिए हुआ है उसका आश्रय पुरुष है। इस चिकित्स्य पुरुषका क्या स्वरूप है, इसको समझे बिना चिकित्साकर्म सम्भव नहीं है। अतः आचार्य-ने चरकसंहिताके प्रथम अध्यायमें ही पुरुषका स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है—"सत्त्व(मन) आत्मा और शरीर ये तीन जलपूर्ण घटको रखनेके लिए काष्ठनिर्मित तिपाईके तीन डण्डोंके समान हैं। इन तीनोंके संयोगपर ही लोकका जीवन टिका हुआ है। कर्मफलादि सब कुछ इस संयोगपर ही अवलम्बित है। शरीरसत्त्वात्मसंयोग ही पुमान् या पुरुष है, और वह चेतन है। आयुर्वेदका अधिकरण यही चेतन पुरुष है। इसी पुरुषके उपकारके लिए यह शास्त्र प्रकाशित किया गया है।"[१] जिस प्रकार तिपाईके तीन डण्डोंमेंसे यदि एक भी डण्डा हट जाय तो तिपाई ठहर नहीं सकती है, उसी प्रकार मन आत्मा और शरीर—इनमेंसे यदि एक भी हट जाय, तो प्राणीका जीवन समाप्त हो जायगा। आयुर्वेदके अधिकरणभूत इस सत्त्वात्मशरीरसंयोगरूप चेतनपुरुषको चरकसंहितामें 'आयु' और 'जीवन' भी कहा गया है। देखिए "शरीर इन्द्रिय मन और आत्माके संयोगको आयु कहते हैं। इस आयुको धारि जीवित नित्यग और अनुबन्ध इन पर्य्यायशब्दोंसे भी कहा जाता है" (सूत्र० १।४२)। इस आयु या जीवनका ज्ञान करानेके लिए ही आयुर्वेद प्रवृत्त हुआ है (सूत्र० ३०।२३)। अतः एक स्थलपर चेतनपुरुषको तथा दूसरे स्थलपर आयु या जीवनको आयुर्वेदका अधिकरण कहनेसे चेतनपुरुष आयु और जीवना-दिकी एकार्थता सिद्ध होती है। 'पुरुषकी आयु' तथा 'पुरुषका जीवन' इत्यादि कथन 'राहुके शिर'के समान अभेदमें भी भेदोपचारसे होते हैं। आयुर्वेदका अधिकरणभूत यह पुरुष चरकसंहितामें राशिपुरुषके नामसे भी प्रसिद्ध है—'आत्मा, इन्द्रियाँ, मन और अर्थका राशिरूप जो यह पुरुष सञ्ज्ञावाला है……।'[२] यहाँ अर्थसे पञ्चभूतोंको ग्रहण किया गया है। इन्द्रियों और इन

---

१. सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥ —(सूत्र० १।४६-४७)

२. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योऽयं पुरुषसञ्ज्ञकः राशिः। —(सूत्र० २५।४)

अर्थोंका शरीरमें ही अन्तर्भाव हो जानेसे यह राशिपुरुष भी पूर्वोक्त सत्त्वात्म-शरीरसंयोगरूप पुरुष और आयुसे अभिन्न सिद्ध होता है।

त्रिधातुक पुरुष—सत्त्व आत्मा और शरीर इन तीनका संयोग होनेके कारण राशिपुरुषको संयोगपुरुष (शारीर० १।८५) और त्रिधातुपुरुष भी कहा जाता है। विभिन्न दार्शनिक दृष्टियोंसे इस राशिपुरुषका विश्लेषण करनेसे कहींपर इसे त्रिधातु, कहींपर षड्धातु, कहींपर चतुर्विंशतिधातु और कहींपर एकधातु या चेतनाधातु कहा गया है। इनमें त्रिधातु षड्धातु और चतुर्विंशति-धातु तो राशिपुरुष या संयोगपुरुषके ही नामान्तर हैं, किन्तु एकधातु या चेतना-धातु शुद्धपुरुष या आत्माका वाचक है।

षड्धातुक पुरुष—"आकाशादि पाँच महाभूत और छठवीं चेतना—इनको षड्धातुक पुरुष कहा गया है।"[१] "पृथिवी जल तेज वायु आकाश और अव्यक्तब्रह्म (चेतना)—ये ही छः धातुएँ मिलकर 'पुरुष'सञ्ज्ञाको प्राप्त करती हैं" (शारीर० ५।४)। "गर्भ तो अन्तरिक्ष वायु अग्नि तोय और भूमिका कार्य तथा चेतनारूप अधिष्ठानवाला है। इस प्रकार इस युक्तिसे पाँच महाभूतोंके विकारका समुदायरूप गर्भ चेतनाधातुको अधिष्ठान बनाता है। वह इसका छठवाँ धातु कहा गया है" (शारीर० ४।६)। "छः धातुओंके संयोगसे गर्भकी उत्पत्ति होती है" (सूत्र० ११।३२)। "सामान्यत. सभी लोग षड्धातुओंके समुदायरूप हैं" (शारीर० ५।७)। इस प्रकार यह षड्धातुक पुरुष चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर निरूपित हुआ है। उन छः धातुओंको पुरुषमें इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—"पुरुषकी जो मूर्त्ति (काठिन्य) है वह पृथिवी है, जो आर्द्रता है वह जल है, जो उष्णता है वह तेज है, जो प्राण हैं वे वायु हैं, जो छिद्र(अवकाश) हैं वे आकाश हैं, तथा ब्रह्म (चेतनाधातु) इस पुरुषका अन्तरात्मा है।"[२] सूत्रस्थानके यज्जःपुरुषीयनामक अध्यायमें कहा गया है कि प्राचीनकालमें भगवान् पुनर्वसुके पास एकत्रित हुए महर्षियोंमें पुरुषकी उत्पत्तिका निर्णय करनेके लिए कथा चल पड़ी। उस समय हिरण्याक्षने कहा—"पुरुष छः धातुओंसे उत्पन्न होता है, ओर रोग भी इन्हीं छः धातुओं-से उत्पन्न होते हैं। आद्य (प्राचीन) साङ्ख्याचार्योंके द्वारा यह राशिपुरुष छः धातुओंसे उत्पन्न होनेवाला कहा गया है" (सूत्र० २५।१५)। **साङ्ख्यैराद्यैः**से ग्रन्थकारका सङ्केत किन आचार्योंकी ओर है, प्रमाणोंके अभावमें इसका निर्णय करना कठिन है। साङ्ख्यशब्दका प्रयोग 'साङ्ख्यदर्शनके अनुयायी' तथा 'तत्त्वज्ञानी' इन दोनोंके लिए होता है। यहाँपर दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'पुरुष' शब्दका प्रयोग यद्यपि गो इत्यादि प्राणियोंके लिए भी हो सकता है, क्योंकि वे भी षड्धातुसमुदायरूप हैं, तथापि मुख्यरूपसे इसका प्रयोग सर्वप्रधान होनेके कारण प्रायः मनुष्यके लिए ही होता है। इसलिए गो इत्यादिके लिए पुरुषशब्दका प्रयोग अधिक प्रसिद्ध नहीं है। यह

---

१. **खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।** —(शारीर० १।१६)

२. **तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्त्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुः प्राणाः वियत् सुषिराणि, ब्रह्मान्तरात्मा।** —(शारीर० ५।५)

षड्धातुक पुरुष पूर्वोक्त त्रिधातुक पुरुषसे सर्वथा अभिन्न है, क्योंकि पञ्चभूतोंसे पाञ्चभौतिक शरीर और चेतनासे समनस्क आत्माको ग्रहण किया गया है।

चतुर्विंशतिधातुक पुरुष—"धातुभेदसे यह पुरुष चौबीस धातुओंवाला भी कहा गया है। मन, दश इन्द्रियाँ, अर्थ और अष्टधातुक प्रकृति—ये चौबीस धातुएँ हैं।"[1] अष्टधातुक प्रकृतिसे आकाशादि पाँच भूत, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्तको ग्रहण किया जाता है।[2] स्पष्ट है कि राशिपुरुषकी यह कल्पना साङ्ख्यदर्शनके अनुरूप है। किन्तु साङ्ख्यदर्शनका जो स्वरूप आज हमें साङ्ख्यकारिकामें उपलब्ध होता है, उसमें चौबीसके बजाय पचीस पदार्थ गिनाये गये हैं (कारिका ३)। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्विंशतिधातुकत्वकी इस कल्पनाका प्रेरणास्रोत ईश्वरकृष्णकी साङ्ख्यकारिका नहीं है, प्रत्युत महाभारतादि अत्यन्तप्राचीन ग्रन्थोंमें निरूपित साङ्ख्य इस कल्पनाका मूलस्रोत है। साङ्ख्यकारिकामें अव्यक्तनाम्नी मूलप्रकृतिसे पुरुषको सर्वथा पृथक् बताया गया है, इसीलिए पदार्थोंकी सङ्ख्या पचीस है। किन्तु महाभारतमें अव्यक्तको पुरुषसे उत्पन्न होनेवाला और पुरुषमें ही विलीन होनेवाला कहा गया है,[3] तथा पुरुषके लिए भी अव्यक्त शब्दका प्रयोग किया गया है।[4] पुरुष और अव्यक्तके इस तादात्म्यको ध्यानमें रखते हुए चरकमुनिने भी प्रस्तुत स्थलपर अव्यक्त शब्दसे पुरुष और उसकी आत्मभूता मूलप्रकृतिको एकत्वेन ग्रहण करके केवल चौबीस धातुएँ ही गिनाई हैं। अन्यत्र भी कई स्थलोंपर अव्यक्त शब्दका प्रयोग पुरुष या आत्माके लिए किया गया है (द्रष्टव्य—शारीर० १।६०-६३ तथा ४।८)। चरकके अनुसार जो इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य है, वह व्यक्त है, तथा उससे भिन्न जो अतीन्द्रिय है और जिसका ज्ञान लिङ्गोंसे होता है, वह अव्यक्त है।[5] इस परिभाषाके अनुसार मूलप्रकृति और पुरुष दोनों ही अव्यक्त सिद्ध होते हैं। पुरुषको अव्यक्तके अतिरिक्त तीन स्थलोंपर 'प्रधान' भी कहा गया है, क्योंकि वह चेतन होनेके कारण शरीरादिका प्रयोक्ता अर्थात् प्रेरक है (द्रष्टव्य—शारीर० ४।८, ७।१६ तथा ७।१८)। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रधान और अव्यक्तादि शब्दोंसे ग्राह्य जिस मूलप्रकृतिको परवर्ती साङ्ख्यमें पुरुषसे सर्वथा भिन्न माना गया है, वह मूलप्रकृति चरकसंहितामें पुरुषकी अव्याकृत(अव्यक्त) सर्जनशक्ति होनेके कारण उससे अभिन्नरूपमें सृष्टिका

१. **पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।**
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥ —(शारीर० १।१७)

२. **खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।**
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा ··· ··· ··· ··· ··· ॥ —(शारीर० १।६३)

३. **तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।** —महाभारत (१२।३४२।३२)
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे सम्प्रलीयते॥ —महाभारत (१२।३४७।३१)

४. **अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।** —गीता (२।२५)

५. **व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।**
अतोऽन्यत्पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥ —(शारीर० १।६२)

मूल मानी गयी है। यही कारण है कि सम्पूर्ण ग्रन्थमें पुरुषके लिए लगभग नब्बे विशेषणोंका प्रयोग होनेपर भी कहीं उसे प्रकृतिसे उदासीन नहीं कहा गया है। जो उससे अभिन्न है, उसकी आत्मभूता है, उससे उदासीनता कैसी ? इस दृष्टिसे चरकदर्शन साङ्ख्यकी अपेक्षा अद्वैतवेदान्तके अधिक निकट है, क्योंकि उसमें भी प्रकृतिको परमेश्वरकी मायाशक्ति तथा नामरूपात्मक सृष्टिबीजको परमेश्वरका आत्मभूत जैसा कहा गया है। देखिए—"सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते" (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य २।१।१४)। चरककी इस मान्यताका संवाद श्वेताश्वतर (४।१०)की श्रुतिसे भी होता है, जहाँपर मूलप्रकृतिको माया और महेश्वरको उसका स्वामी कहकर शक्ति और शक्तिमान्‌के रूपमें दोनोंका अभेद स्थापित किया गया है।

इन चौबीस धातुओंमें अव्यक्त पुरुष अवशिष्ट तेईस धातुओंको धारण करता है। वही इस जीवनयात्राका मूलाधार है। उसके अभावमें जीवन असम्भव है, क्योंकि शेष धातुएँ स्वरूपतः जड हैं। यह अव्यक्त नामवाली चेतनाधातु ही सभी धातुओंको अधिष्ठित करके समग्र लोकजीवनका हेतु बनती है। इसीलिए आचार्यने कहा है—"पर अर्थात् अव्यक्त आत्माको बुद्धि (अहङ्कारसहित), इन्द्रियसमूह (शब्दादिविषयसहित), मन और अर्थों(महाभूतों)-के संयोगको धारण करनेवाला समझना चाहिए" (शारीर० १।३१)। इस प्रकार धारक अव्यक्त तथा धार्य तेईस धातुओंके संयोगसे चतुर्विंशतिधातुक पुरुषकी उत्पत्ति होती है। यह चौबीस धातुओंवाला पुरुष भी पूर्वोक्त त्रिधातु और षड्धातु पुरुषसे अभिन्न है, क्योंकि बुद्धि और अहङ्कारका अन्तर्भाव सत्त्व(मन)में तथा इन्द्रियों और अर्थोंका अन्तर्भाव उनके आश्रयभूत शरीरमें होनेसे चतुर्विंशतिधातुक पुरुष भी सत्त्वात्मशरीरत्रयीका अतिवर्त्तन नहीं करता है।

एकधातुक पुरुष—इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि त्रिधातु पुरुष ही दृष्टिभेदसे षड्धातु और चतुर्विंशतिधातु भी कहा गया है। किन्तु आयुर्वेदके अधिकरणभूत इस चिकित्स्य राशिपुरुषका अधिष्ठानभूत जो चेतनतत्त्व है, जो पञ्चभूतात्मक शरीरेन्द्रियसमूह और मनोबुद्ध्यादिका उपादान करके उन सबको एक सूत्रमें बाँधकर जीवनपरम्पराको व्यवस्थित करनेवाला है, जिसके निकल जानेपर यह शरीर भगवद्विग्रहरहित शून्यमन्दिरके समान अचेतन तथा पाँच भूतोंका ढेरमात्र रह जानेसे 'पञ्चत्वको प्राप्त हुआ' कहा जाता है,[1] उसी चेतनतत्त्वको त्रिधातुपुरुषमें आत्मा, षड्धातुपुरुषमें अधिष्ठानभूत चेतनाधातु तथा चतुर्विंशतिधातुपुरुषमें अव्यक्तशब्दके द्वारा कहा गया है। इस अधिष्ठानभूत चेतनाधातुको न्यायदर्शनमें आत्मा, साङ्ख्ययोगमें शुद्धपुरुष या केवलपुरुष तथा अद्वैतवेदान्तमें आत्मा या ब्रह्म कहा गया है। चरकसंहिता-में इस चेतनाधातुमात्रको भी 'पुरुष'सञ्ज्ञा दी गयी है।[2] यह चेतनाधातुरूप

---

१. **शरीरं हि गते तस्मिञ्शून्यागारमचेतनम्।**
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ —(शारीर० १।७४)

२. **चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसञ्ज्ञकः।** —(शारीर० १।१६)

पुरुष चिकित्सामें अभिप्रेत नहीं है, किन्तु शास्त्रान्तरोंमें उसके लिए पुरुष-शब्दका व्यवहार होनेके कारण यहाँ भी उसे पुरुष कहा गया है। चिकित्साका विषय तो राशिपुरुष है।

राशिपुरुषकी उत्पत्ति—चेतनाधातुरूप शुद्धपुरुष अनादि और नित्य है, तथा राशिरूप पुरुष हेतुओंसे उत्पन्न होता है, अतः अनित्य है।[1] यह राशि-पुरुष हेतुज होनेके कारण उत्पत्तिविनाशधर्मा है। प्राचीनकालमें धर्मका साक्षात्कार करनेवाले भगवान् पुनर्वसु आत्रेयकी अध्यक्षतामें समवेत आयुर्वेदज्ञ महर्षियोंकी गोष्ठीमें राशिपुरुष तथा उसके रोगोंकी उत्पत्तिके यथार्थ हेतुका निर्णय करनेके लिए परस्पर बातचीत होने लगी। उस समय मौद्गल्य पारीक्षिने आत्माको पुरुष और उसके रोगोंका कारण बताया। उन्होंने कहा कि आत्मा ही कर्म करता है और वही कर्मफलका भोग करता है। चेतना-धातुके विना सुख और दुःखकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है (सूत्र० २५।८–९)। शरलोमाने इसका खण्डन करते हुए कहा कि दुःखमें द्वेष करनेवाला आत्मा अपने आपको व्याधियों और दुःखोंसे कदापि संयुक्त नहीं कर सकता है, अतः रजस् और तमस्से व्याप्त मन ही शरीर और रोगोंकी उत्पत्तिका कारण है (सूत्र० २५।१०–११)। वार्योविदने कहा कि अकेला मन कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि शरीरके विना न तो शारीररोग उत्पन्न हो सकते हैं और न मनकी ही स्थिति सम्भव है। अतः प्राणियों और रोगोंकी उत्पत्ति रससे होती है (सूत्र० २५।१२–१३)। हिरण्याक्षने इसका भी निषेध किया और कहा कि राशिपुरुषका जो आत्मा है, वह रसज नहीं है। अतीन्द्रिय मन और शब्दादिजन्य रोग भी रससे उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अतः पुरुष और रोगों-की उत्पत्ति षड्धातुओंसे होती है (सूत्र० २५।१४–१५)। शौनकने उनको बीचमें ही टोककर कहा कि षड्धातुज होनेपर भी माता-पिताके विना पुरुष-की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? मनुष्यसे मनुष्यकी, गायसे गायकी, तथा अश्वसे अश्वकी उत्पत्ति देखी जाती है तथा प्रमेहादि रोग पैतृक होते हैं। इसलिए माता-पिता ही पुरुष और उसके रोगोंके कारण हैं (सूत्र० २५। १६–१७)। भद्रकाप्यने कहा यदि पुरुषकी उत्पत्तिके कारण माता-पिता होते, तो अन्धेसे अन्धा ही उत्पन्न होना चाहिए था, किन्तु इसके विरुद्ध भी देखा जाता है। अतः माता-पिता कारण नहीं हैं। वास्तविक कारण तो कर्म हैं, क्योंकि कर्मके विना पुरुष और उसके रोगोंका जन्म नहीं हो सकता है (सूत्र० २५।१८–१९)। भद्रकाप्यके मतका खण्डन करते हुए भरद्वाजने कर्मके पूर्व कर्त्ताके अस्तित्वको अनिवार्य बताया और 'स्वभाव'को समस्त भावपदार्थोंका हेतु कहा (सूत्र० २५।२०–२१)। इसी प्रकार काङ्कायनने अपरिमित सङ्कल्प-वाले ब्रह्माके पुत्र 'प्रजापति'को (सूत्र० २५।२२–२३), तथा भिक्षु आत्रेयने 'काल'को पुरुष और रोगोंकी उत्पत्तिका हेतु बताया (सूत्र० २५।२४–२५)।

महर्षियोंके इस विवादको सुनकर अन्तमें भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने अपना निर्णय इस प्रकार दिया—किसी एक पक्षका आग्रहपूर्वक आश्रय ग्रहण करनेसे

---

१. अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः। —(शारीर० १।५९)

तत्त्वपर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसलिए तुम लोग इस प्रकार विवाद मत करो। जिस वादका तुल्यबलवाला प्रतिवाद मौजूद हो, उस अनिर्णीत तथा अनिश्चित वादको पक्षरागके कारण निश्चितके समान प्रस्तुत करनेवाले वादी तेल पेरनेवाले कोल्हूके बैलके समान सम्यगर्थावधारणरूप गन्तव्यपर नहीं पहुँच पाते हैं। इसलिए वादोंके इस पारस्परिक संघर्षको छोड़कर तुम लोग तत्त्वका चिन्तन करो। जबतक रागद्वेषरूप अन्धकारसमूहका प्रक्षालन नहीं होता है, तबतक किसी भी ज्ञेयके सम्बन्धमें सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। राशिपुरुष और उसके रोगोंकी उत्पत्तिके विषयमें यह सिद्धान्त है कि जिन भावोंकी सम्पद् (प्रशस्तगुणता) राशिपुरुषको उत्पन्न करती है, उन्हीं भावोंकी विपद् (विगुणता) विविध व्याधियोंको जन्म देती है (सूत्र० २५।२६–२९)।

भगवान् पुनर्वसुके इस कथनका तात्पर्य यह है कि राशिपुरुषकी उत्पत्तिमें आत्मा मन रस षड्धातु माता पिता कर्म स्वभाव प्रजापति और काल इत्यादि सभी भावोंका सम्मिलित कारणत्व है। राशिपुरुषके निर्माणमें सबका पृथक्-पृथक् योगदान है। इसीलिए शारीरस्थान(४।४)में आचार्यने कहा है—"माता पिता आत्मा सात्म्य रस और सत्त्व—इन भावोंके समुदायसे गर्भ (राशिपुरुष)की निष्पत्ति होती है।" आचार्यका कथन है कि सभी गर्भोंमें मातृज पितृज आहारज तथा आत्मकर्मज चार-चार प्रकारके चारों भूत रहते हैं (शारीर० २।२६)। इस प्रकार प्रत्येक भूतके चतुर्विध होनेसे सोलह प्रकारके भूतोंसे गर्भशरीरका निर्माण होता है। इससे माता पिता रस सात्म्य आत्मा मन कर्म और भूतोंकी कारणता सिद्ध होती है। तिस्रैषणीयाध्यायमें माता-पिता और स्वभावकी कारणताका जो खण्डन किया गया है (सूत्र० ११। ९–१२), वह इनकी स्वतन्त्रकारणताका खण्डन है, सामूहिक कारणताका नहीं। इसीलिए टीकाकार चक्रपाणिने उस स्थलपर लिखा है—अपत्यके शरीरमें माता और पिताकी कारणता तो ग्रन्थकारको अभीष्ट ही है, क्योंकि उस प्रकारकी कारणता होनेपर भी चैतन्यके हेतुभूत आत्माका परलोकसे आकर पुनर्जन्म ग्रहण करना अखण्डित रहता है। यहाँपर खण्डन तो उसका किया गया है, जो माता-पिताकी चेतनताके कारणभूत उनके आत्माका ही अपत्यमें सञ्चार मानता है। इसी प्रकार षड्धातुओंका जो अपना-अपना अव्यभिचारी लक्षण है, जैसे पृथ्वीका काठिन्यादि, जलका द्रवत्वादि, तेजका उष्णत्वादि, वायुका तिर्यग्गमनादि, आकाशका अप्रतीघातादि तथा आत्माका ज्ञानादि अव्यभिचरित लक्षण है, उसकी स्वभावहेतुकताका खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु आत्मा और आत्मकर्तृक कर्मज संयोगके विना ही इनमें स्वभावतः चैतन्य उत्पन्न होता है, इस मतका खण्डन किया गया है। गर्भरूप राशिपुरुकी निष्पत्तिमें कर्मकी कारणताका प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"पाँच महाभूत और आत्मा, इन छः धातुओंका जो अपना-अपना लक्षण है, उसे स्वाभाविक समझना चाहिए। किन्तु गर्भकी उत्पत्तिके समय इन धातुओंका जो संयोग होता है और मृत्युके समय जो वियोग होता है, उसका कारण जन्मान्तरकृत कर्म ही होता है।"[१] अभिप्राय यह है कि आतमा-

१. **विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम्।**
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम्॥ —(सूत्र० ११।१२)

का पञ्चभूतोंसे जो संयोग और वियोग होता है, उसका कारण स्वभाव नहीं है, प्रत्युत जन्मान्तरकृत कर्म है। इसी प्रकार आत्मा और पूर्वकर्मोंसे निरपेक्ष ईश्वर या प्रजापतिका कारणत्व चरकमुनिको अभिप्रेत नहीं है, "क्योंकि जो चेतनाधातु अनादि और नित्य है, उसका अन्यके द्वारा निर्मित किया जाना सम्भव नहीं है।"[१] नित्यका कोई उत्पादक कारण नहीं होता है। शारीर-स्थान(५।५)में प्रजापतिको ब्रह्मकी विभूति कहा गया है। ब्रह्मकी यह विभूति लोकमें समष्टिरूपमें आविर्भूत हुई है। शाङ्करवेदान्तमें भी हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मादि नामोंसे प्रजापतिको सूक्ष्मशरीरोंकी समष्टिका अभिमानी कहा गया है। इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मका ऐश्वर्यरूप और समष्टिका अभिमानी होनेके कारण जगत्का कारण सिद्ध होता है। चरकतन्त्रमें आत्मा और ब्रह्मकी एकता होनेके कारण प्रजापतिका कारणत्व वस्तुतः आत्माका ही कारणत्व है।

इस प्रकार आत्मादि सभी भाव मिलकर राशिपुरुषको जन्म देते हैं। इन सभी भावोंकी कारणता स्वीकार करनेपर भी चरकमुनिको कर्मका प्राधान्य अभीष्ट है, क्योंकि राशिपुरुषकी उत्पत्ति भोगके लिए है और भोग कर्मके विना सम्भव नहीं है। उनका कथन है—"चेतनाधातुरूप परमात्मा अनादि होनेके कारण उत्पत्तिसे रहित है, किन्तु राशिसञ्ज्ञक पुरुष मोह इच्छा और द्वेषके कारण किये गये कर्मोंसे उत्पन्न होता है।"[२] मोह अर्थात् अज्ञानसे पदार्थोंके लिए इच्छा या द्वेष उत्पन्न होता है। उससे मन वाणी और शरीरमें प्रवृत्ति होती है।[3] प्रवृत्तिसे धर्माधर्मरूप कर्म होते हैं, और ये कर्म भावी जन्ममें भोगायतन शरीरको फलोपभोगके लिए उत्पन्न करते हैं।

राशिपुरुषका स्वरूप—चूंकि पूर्वोक्त हेतुओंसे इस राशिपुरुषकी उत्पत्ति होती है, अतः इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। स्मरण रहे कि यह राशि-पुरुष अनेक भावोंका संयोगमात्र है, अतः संयोगकी निवृत्ति ही इसका मरण है। संयोगपुरुषका मूल शरीर है। पुरुषको शरीरमूलक कहा गया है (निदान० ६।७), क्योंकि शरीरके विना किसी भी पुरुषार्थकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः शरीरकी उत्पत्ति होनेपर राशिपुरुषकी उत्पत्ति होती है, और शरीरका विनाश होनेपर राशिपुरुषका विनाश हो जाता है। आत्मा और मनका जन्म-मरण न होनेपर भी शरीरमात्रके जन्म-मरणसे राशिपुरुषका जन्म और मरण माना जाता है। यह राशिपुरुष ही व्याधिभाजन बनता है और इसीकी चिकित्सा की जाती है। राशिपुरुषका अधिष्ठानभूत आत्मा यद्यपि निर्विकार है, तथापि शरीर और मनके रोगाधिष्ठान बननेसे उस पुरुषका रोगी तथा चिकित्स्य होना सिद्ध होता है। इसीलिए कहा गया है—"वेदनाजन्य विशे-षता संयोगपुरुषमें ही अभीष्ट है, क्योंकि उसीमें सुखदुःखरूप वेदनाकी

---

१. **अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।** —(सूत्र० ११।१३)

२. **प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।**
पुरुषो राशिसञ्ज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः॥ —(शारीर० १।५३)

३. **मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः।** —(शारीर० ५।१०)

उपलब्धि होती है। वह वेदना जिन बुद्ध्यादिके समूहमें नियत (व्यवस्थित) है, उस वेदनासे उत्पन्न होनेवाले दैन्य-हर्षादि विशेष भी उन्हीं बुद्ध्यादिमें होते हैं" (शारीर० १।८५)। अधिष्ठानभूत आत्मामें न सुखदुःखरूप वेदना है और न तज्जन्य दैन्य-हर्षादि विशेष, क्योंकि चिदात्मा निर्विशेष है।

यह राशिपुरुष हेतुजन्य होनेके कारण अनित्य है। "जो पदार्थ सत् अर्थात् भावरूप तथा अकारणवान् अर्थात् कारणरहित होता है, वह नित्य होता है। इसके विपरीत जो भावरूप पदार्थ हेतुज अर्थात् कारणवान् होता है, वह अनित्य देखा जाता है" (शारीर० १।५९)। किसी पदार्थके नित्य होनेके लिए भावरूपता और अकारणवत्ता दोनों ही आवश्यक हैं। इसीलिए प्राग-भावमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि प्रागभाव अकारणवान् होनेपर भी भावरूप नही है। यही बात अत्यन्ताभावमें भी है। प्रध्वंसाभाव तो न अकारणवान् है और न भावरूप, इसलिए उसकी नित्यताका प्रश्न ही नहीं उठता है। राशिपुरुष भावरूप होनेपर भी हेतुजन्य है, अतः घटपटादिके समान अनित्य है। उत्पत्तिधर्मा और अनित्य होनेके कारण ही यह नित्य आत्माके समान अव्यक्त और अचिन्त्य नहीं है, प्रत्युत व्यक्त और चिन्त्य (बुद्धिगोचर) है। क्षेत्रज्ञ शाश्वत विभु और अव्यय आत्मा 'अव्यक्त' कहा जाता है तथा उससे भिन्न महदादि पदार्थ और उनका राशिरूप यह पुरुष 'व्यक्त' कहा जाता है, क्योंकि जो इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य है वह 'व्यक्त' है तथा उससे भिन्न जो अतीन्द्रिय और लिङ्गग्राह्य है वह 'अव्यक्त' है (शारीर० १।६०-६२)। श्रीमद्भगवद्गीता(२।२५)में भी आत्माको अव्यक्त तथा अचिन्त्य और प्राणियोंको 'व्यक्तमध्यानि' (२।२८) कहा गया है।

राशिपुरुषका अधिष्ठानभूत आत्मा राशिपुरुषमें रहनेपर भी नित्य अजन्मा अविनाशी अविकृत निर्विशेष अकारण अव्यक्त और अचिन्त्य ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जन्म-मरण विकृतिविशेष और अनित्यतादि धर्म अनात्मभूत जडशरीरादिसे ही सम्बद्ध हैं। राशिपुरुष यद्यपि जड और चेतन भावोंका समुदायरूप है, तथापि उसकी राशिरूपता जडपदार्थोंके समुच्चयसे सिद्ध होती है, अतः जडपदार्थोंके अनित्यत्वादिधर्मोंका व्यपदेश राशिपुरुषके लिए भी किया जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी इसी राशिपुरुषमें है। महर्षि चरक कहते हैं—"शरीरेन्द्रियादिके विना अकेला भूतात्मा (भूतोंका अधिष्ठाता चेतनाधातु) न तो किसी कर्मको करनेमें प्रवृत्त होता है, और न उसका फल ही भोगता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब कुछ संयोगसे ही होता है। संयोगके विना कुछ भी नहीं है।"[१] यह राशिपुरुष ही कर्म करता है, और यही उसका फल भोगता है — **"स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च"** (सूत्र० २५।१९)। इस राशिपुरुषसे सम्बद्ध होनेके कारण ही निष्क्रिय और वेदनारहित होनेपर भी आत्माको कर्त्ता और सुखदुःखका भोक्ता कहा जाता है। कठोपनिषद्(१।३।४)में भी शरीर इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको

---

१. **नैकः प्रवर्त्तते कर्त्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।**
संयोगाद्वर्त्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन॥ —(शारीर० १।५७)

भोक्ता कहा गया है। श्वेताश्वतर(४।६) तथा मुण्डकोपनिषद्(३।१।१)में **"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"**के द्वारा इसी शरीरेन्द्रियादिसे सम्बद्ध जीवात्माके ही भोक्तृत्वका कथन किया गया है, क्योंकि **"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"**के द्वारा परमात्माको अभोक्ता तथा साक्षिमात्र बताया गया है। अतः आत्माका कर्तृत्व और भोक्तृत्व औपचारिक है, राशिपुरुषका वास्तविक है। इसीलिए महर्षिने कहा है—"कर्म और उसका फल इसी राशिपुरुषमें प्रतिष्ठित है। ज्ञान (विषयज्ञान) भी इसीके आश्रित है। मोह-ममता सुख-दुःख तथा जीवन-मरण सब इसीमें प्रतिष्ठित हैं। जो भिषक् इस राशिपुरुषको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है, वही जीवन और मरणको, शरीरपरम्पराको, तात्कालिकी और नैष्ठिकी दोनों प्रकारकी चिकित्साको, तथा जो कुछ भी ज्ञातव्य है उस सबको यथार्थरूपसे जानता है" (शारीर० १।३७-३८)। सारा चिकित्साशास्त्र इसी राशिपुरुषके योगक्षेमके लिए प्रवृत्त हुआ है। इस राशिपुरुषका ज्ञान करानेके लिए तथा उसके स्वास्थ्यरक्षण और विकारप्रशमनकी प्रक्रियाका बोध करानेके लिए ही आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें द्रव्यादि षट्पदार्थोंका निरूपण किया गया है। यही वह केन्द्रबिन्दु है, जिसके चतुर्दिक् चिकित्साशास्त्र घूमता है।

हेतुज होनेके कारण, जन्ममरणवान् होनेके कारण, तथा महदादि कार्योंका समुदायरूप होनेके कारण, इसे कार्यपुरुष भी कहा जा सकता है। और इन्हीं कारणोंसे इसका बद्धपुरुष होना भी सिद्ध होता है। कहा गया है—"यह राशिपुरुष अव्यक्ततासे व्यक्तताको प्राप्त होता है और व्यक्ततासे पुनः अव्यक्ततामें चला जाता है। रजस् और तमस्से आविष्ट होकर यह पुरुष जनन-मरणके चक्रमें घूमता रहता है। रजस्तमोरूप द्वन्द्वमे जिनकी बड़ी आसक्ति है, और जो अहङ्कारसे भरे हुए हैं, उन्हींका जन्म और मरण होता है। उनका नहीं होता, जो अन्यथा है" (शारीर० १।६८-६९)। अर्थात् रागद्वेषसे रहित तथा निरहङ्कार लोग जन्म-मरणसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं। गीता(२।२८ तथा ८।१८)में भी सभी प्राणियोंको अव्यक्तसे व्यक्तभावको प्राप्त होनेवाला तथा पुनः अव्यक्तमें लीन हो जानेवाला कहा गया है।

शुद्धपुरुष या आत्मा

राशिपुरुषको अधिष्ठित करनेवाला जो चेतनाधातु है, जिसका एकधातुक पुरुषके रूपमें पहले निरूपण किया जा चुका है, और जिसे चरकमुनिने श्रुति-स्मृतियोंका अनुसरण करते हुए **"चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसञ्ज्ञकः"** (शारीर० १।१६) कहकर पुरुष सञ्ज्ञा प्रदान की है, वह चेतनाधातु ही शुद्ध-पुरुष या आत्मा है। **ब्रह्म** तथा अव्यक्त इत्यादि नामोंसे भी उसका व्यपदेश किया गया है। निर्विकार होनेके कारण यह चिकित्साका विषय नहीं है, क्योंकि सत्त्व आत्मा और देहके राशिरूप पुरुषमें केवल सत्त्व और शरीरको व्याधियोंका आश्रय कहा गया है. और आत्माको निर्विकार अर्थात् रोगादि विकृतियोंसे सर्वथा असंस्पृष्ट बताया गया है (सूत्र० १।५५.२०।३; विमान० ६।३ तथा चिकित्सा० ३।१२)। यह समस्त प्राणियोंमें निर्विशेष (समान) रूपसे विद्यमान है (शारीर० ४।३४)। शरीरेन्द्रियादिके दुर्बल या सबल होनेसे आत्मापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सुखदुःखादिकी उपलब्धि भी शरीर

और मनके धर्मविशेषके कारण होती है (शारीर० ४।३४)। शुद्धात्मा तो सुखदु:खादिसे सर्वथा असंस्पृष्ट है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि गर्भोत्पत्तिके प्रकरणमें जिन सुखदु:खादि भावोकी उत्पत्तिका कारण आत्माको बताया गया है, वे भी वस्तुतः आत्माके विकार नही हैं, प्रत्युत सत्त्व रजस् और तमस्‌की प्रबलतासे क्षणानुक्षण विकृत होनेवाले मनसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूक्ष्मविचार करनेसे जो भाव आत्मज कहे गये है, वे भी वस्तुतः सत्त्वज ही सिद्ध होते हैं।

आत्माका लक्षण—चरकसंहिताके प्रथम अध्यायमें आत्माका लक्षण इस प्रकार उपन्यस्त किया गया है—"**निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥**" (१।५६) अर्थात् 'पर (श्रेष्ठ या सूक्ष्म) आत्मा निर्विकार है, अर्थात् सर्वविध विकृतियों और परिणामोंसे सर्वथा रहित है, करणभूत मन, भूतगुण शब्दादि, और इन्द्रियोंके द्वारा वह शरीरादिके चैतन्यका कारण बनता है। वह नित्य है तथा शरीरादिसे होनेवाली क्रियाओंको देखता है, इसलिए उनका द्रष्टा या साक्षी है।' यहाँ आत्माको पर, निर्विकार, चेतनताका कारण, नित्य और द्रष्टा कहा गया है। शारीरस्थानके कतिधापुरुषीयाध्यायमें आत्माका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"**निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम्। वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा॥**" (शारीर० १।५) अर्थात् "आत्मवेत्ता आत्माको निष्क्रिय स्वतन्त्र वशी सर्वगत विभु क्षेत्रज्ञ और साक्षी बताते हैं।" उसी अध्यायमें आगे चलकर आत्माको अक्षर अव्यय अनादि अप्रभव पर भूतात्मा एक प्रशान्त अव्यक्त अचिन्त्य अतीन्द्रिय लिङ्गग्राह्य निर्विशेष अलक्षण अलिङ्ग ज्ञ चेतनाधातु चेतनावान् सर्ववित् कारण नित्य शाश्वत कर्त्ता देही और ब्रह्म कहा गया है। खुड्डीकागर्भावक्रान्तिनामक अध्यायमें आत्माको गर्भात्मा अन्तरात्मा जीव शाश्वत अरुज अजर अमर अक्षय अभेद्य अच्छेद्य अलोड्य विश्वरूप विश्वकर्मा अव्यक्त अनादि अनिधन अक्षर अजात द्रष्टा ज्ञ प्रकृति और कारण बताया गया है। महतीगर्भावक्रान्तिनामक अध्यायमें उसे चेतनाधातु हेतु कारण निमित्त अक्षर कर्त्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूप पुरुष प्रभव अव्यय नित्य गुणी सर्वगुणवान् ग्रहण प्रधान अव्यक्त जीव ज्ञ पुद्गल चेतनावान् विभु भूतात्मा इन्द्रियात्मा अन्तरात्मा स्रष्टा निर्विकार पर और निर्विशेष इत्यादि पदोंके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इन विशेषणोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण चरकसंहितामें आत्माके लिए निरवयव सूक्ष्म शान्त सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगरहित चेतन चैतन्य प्रजापति विष्णु सहस्रशीर्षा चराचरपति अमृत प्रयोक्ता पुमान् सर्वशरीरभृत् भोक्ता मोक्ष अपवर्ग निवृत्ति विपाप विरज निर्दोष और निःस्पृह इत्यादि विशेषणोंका भी प्रयोग किया गया है। आत्माके लिए प्रयुक्त इस पदावलीका पर्यालोचन करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चरकमुनिको आत्माका वही स्वरूप अभिमत है, जैसा श्रुतियों स्मृतियों और वैदिकपरम्पराके पुराणेतिहासादि ग्रन्थोंमें वर्णित हुआ है। इनमें कुछ पद आत्माके स्वरूपको प्रकाशित करते है और कुछ उसके बाह्यरूपको। अथवा कुछ उसके निरुपाधिक निर्गुणस्वरूपको व्यक्त करते हैं और कुछ शरीरादि उपाधियोंके सम्बन्धसे उसके सोपाधिक सगुणरूपको।

ात्माकी सत्ता

आत्माके अस्तित्वके विपयमें सुदूर अतीतसे लेकर आजतक लोगोंके द्वारा ङ्काएँ उठाई जाती रही हैं। कठोपनिपद्(१।१।२०)में नचिकेता यमराजसे हता है—**"अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके"**, अर्थात् "कुछ लोगोंका मत है कि ात्मा है और कुछ लोगोंके मतानुसार आत्मा नहीं है।" आत्माके नास्तित्व-ा प्रतिपादन करनेवाला नास्तिकोंका सम्प्रदाय अत्यन्तप्राचीनकालसे मुखर हा है। चार्वाक या लोकायत स्वर्ग अपवर्ग तथा परलोकगामी आत्मामें वश्वास नहीं रखते थे। इस नास्तिकताका मूलकारण आत्माकी दुर्ज्ञेयता है, सािक ऋग्वेदके नासदीयसूक्त(१०।१२९।६)में कहा गया है—**"को अद्धा द क इह प्रवोचत्।"** अर्थात् "उसे साक्षात् कौन जानता है, इस लोकमें सका यथार्थस्वरूप कौन कह सकता है।" नास्तिकोंके इस मतका उल्लेख रते हुए चरकमुनि कहते हैं—"जगत्की उत्पत्तिको यादृच्छिक (अर्थात् ारणप्रतिनियमके विना ही) माननेके कारण जिसके लिए आत्मस्वरूप तरोहित हो गया है, उस नास्तिकके मतसे आत्माका अस्तित्व ही नहीं है" (सूत्र० ११।१५)। चरकमुनिने **"नास्तिको वर्ज्यानाम्"** (सूत्र० २५।४०)कहकर र्जनीय लोगोंमें नास्तिकोंकी गणना करके तथा नास्तिकबुद्धिको सभी पापोंकी प्रपेक्षा परमपातक उद्घोषित करके परित्याग करनेका सत्परामर्श दिया है—**'पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः"** (सूत्र० ११।१५)। उनके मतानुसार "जिन सब आगमों(प्रमाणों)से अन्य प्रमेयपदार्थोंका ज्ञान होता है, उन्हीं सब आगमों(प्रमाणों)से कारणभूत पुरुप(आत्मा)की उपलब्धि होती है" (शारीर० १।४५)। अतः आत्माके अस्तित्वमें संशय करनेके लिए कोई अवकाश हीं है।

चरकसंहितामें आत्माकी क्षणिकविज्ञानरूपताका भी खण्डन किया गया है। विज्ञानवादी बौद्धोंके निरात्मवादकी उत्थापना इस प्रकार की गयी है—"सदृश विज्ञानसन्तानपरम्परासे प्रतिक्षण समुद्भूत होनेवाले जो नये-नये भाव, सारूप्यके कारण 'ये वही हैं' इस प्रकार निर्दिष्ट किये जाते हैं, वे वस्तुतः वही (पूर्वानुभूत) नहीं हैं, प्रत्युत उन पूर्वानुभूत भावोंसे भिन्न, किन्तु उनके सदृश, ये दूसरे ही भाव होते हैं। इन क्षणिक भावोंका सन्तानपरम्परारूप समुदाय ही 'सत्त्व(प्राणी)' इस सञ्ज्ञासे व्यवहृत होता है। यह निरीश अर्थात् किसी स्थायी आत्मासे रहित होता है। यही कर्त्ता और भोक्ता बनता है। यह कोई (स्थायी) आत्मा या पुरुष नहीं है। ऐसा कुछ लोग मान बैठे हैं" (शारीर० १।४६–४७)। क्षणभङ्गवादी बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक भावपदार्थ केवल एक क्षण रहता है, और विनष्ट होते हुए उत्तरक्षणविशिष्ट स्वसदृश भावको जन्म देता है। इन उत्तरोत्तरक्षणवर्ती भावोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी नैरन्तर्य सातत्य और सादृश्यके कारण उनमें एकत्वकी प्रतीति होती है, जिस प्रकार दीपककी ज्योति प्रतिक्षण भिद्यमान होनेपर भी वही जान पड़ती है। बौद्धोंके इस क्षणिकविज्ञानवादका प्रत्याख्यान करते हुए चरकमुनि कहते हैं—"जो स्थायी आत्माके अस्तित्वको नहीं स्वीकार करते हैं और विज्ञानको क्षणिक मानते हैं, उनके अनुसार अन्य भावोंके द्वारा किये गये कर्मोंका फल उनके

सदृश अन्य नवीन भाव भोगते हैं, यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ।"[१] किन्तु यह निष्कर्ष युक्ति तथा अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि लोकमें यज्ञदत्तके द्वारा किये गये कर्मका फल यज्ञदत्तके द्वारा ही भोगा जाता हुआ देखा गया है, देवदत्तके द्वारा नहीं। अतः आत्मा या विज्ञानको क्षणिक माननेपर कृतविप्रणाश तथा अकृताभ्यागम दोष उत्पन्न होंगे। इनके अतिरिक्त अन्य दोष भी प्राप्त होते है। बाल्यावस्थाके अनुभवका यौवन और वार्धक्यादि उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें स्मरण सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यके अनुभवको कोई अन्य स्मरण नहीं कर सकता है। इस प्रकार बौद्धोंके मतमें दोष दिखाकर आचार्यने अपने मतकी स्थापना इस प्रकार की है—"कर्त्ता जिन करणोंकी सहायतासे कार्य करता है, वे करण तो भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं और बदलते रहते हैं, किन्तु कर्त्ता वही रहता है, वह बदलता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि एक ही कर्त्ता अनेक करणोंसे युक्त होकर अपने सभी कर्मोंका कारण बनता है।"[२] जिस प्रकार एक बढ़ई आरी बसूला इत्यादि अनेक औज़ारोंकी सहायतासे अपना कार्य करता है। औज़ार बदलते रहते हैं, किन्तु वह स्वयं नहीं बदलता है। उसी प्रकार कर्त्ता आत्मा भी एक है। वह चक्षुरादि अनेक करणोंसे अलग-अलग काम लेता है। इन्द्रियाँ बदलती रहती हैं, किन्तु कर्त्ता आत्मा नहीं बदलता है, क्योंकि वह स्थायी है। आत्माको स्थायी माने विना पूर्वोक्त दोषोंसे छुटकारा नहीं है।

चरकमुनि आत्माके अतिरिक्त अन्य सभी शरीरादिभावोंकी क्षणिकताको स्वीकार करते हैं—"शरीरके आरम्भक भूत-भौतिक पदार्थोंका विनाश करनेमें काल पलक भाँजनेकी अपेक्षा भी अधिक शीघ्रता करता है, अर्थात् अपनी अग्निसे प्रतिक्षण पच्यमान शरीरका एक निमेषकालसे भी अधिक शीघ्र विनाश हो जाता है। जिस भावका एक बार विनाश हो जाता है, वह पुनः अस्तित्वको नहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार शरीरके प्रतिक्षण भिद्यमान होनेके कारण यद्यपि एक शरीरके द्वारा किये गये कर्मका फलभोग उस शरीरके द्वारा नहीं किया जा सकता है, तथापि किया गया कर्म दूसरेको नहीं प्राप्त होता है। चूँकि यह तत्त्ववेत्ताओंका मत है, इसलिए प्राणियोंकी क्रियामें तथा उसका फल भोगनेमें नित्यपुरुष ही कारण है।"[३] शरीरादिके प्रतिक्षण परिवर्तित होनेपर भी उनका अधिष्ठाता आत्मा स्थायी और नित्य है। वही कर्तृत्व और भोक्तृत्वका कारण है। अतः **"कृत नान्यमुपैति"** वचन सर्वथा समीचीन है। आत्माका सद्भाव इससे भी प्रमाणित होता है, कि प्राणियोंके

---

१. **तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवाः फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते॥** —(शारीर० १।४८)

२. **करणान्यान्यता दृष्टा कर्त्तुः कर्त्ता स एव तु।
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥** —(शारीर० १।४९)

३. **निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसञ्ज्ञकः॥** —(शारीर० १।५०-५१)

देहसे अतिरिक्त कारणके होनेपर ही अहङ्कार, कर्मफल, एक देहसे दूसरे देहमें गमन, और स्मृति सम्भव होते हैं।[1] यह देहव्यतिरिक्त कारण स्थायी आत्मा ही है। उस स्थिर परमात्माके होनेपर ही अहङ्कारादि सम्भव होते हैं, क्योंकि ये सभी पूर्वापरकालावस्थायि वस्तुके धर्म हैं।

आत्माकी नित्यता

चरकके मतानुसार अनादि पुरुष नित्य है, क्योंकि जो पदार्थ सत् और कारणरहित होता है वह नित्य होता है (शारीर० १।५९)। यही कारण है कि हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाला राशिपुरुष अनित्य होता है। "नित्यता किसी भी उत्पत्तिधर्मा भावपदार्थमें मिलनी असम्भव है, और यह किसी हेतुसे उत्पन्न नहीं होती है" (शारीर० १।६०)। वह तो स्वयंसिद्ध होती है। सभी उत्पत्तिधर्मा भावपदार्थोंसे निरपेक्ष होनेके कारण आत्मा उनकी उत्पत्तिके पूर्व भी विद्यमान था, और उनका विलय होनेके पश्चात् भी विद्यमान रहेगा। अतः त्रिकालाबाधित होनेके कारण आत्मा नित्य और सत् सिद्ध होता है। चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर उसे नित्य (सूत्र० १।५६; शारीर० ४।८, ५।१९) और शाश्वत (शारीर० १।६१, ३।१४) कहा गया है। पूर्वावस्थामें अनुभूत अर्थका उत्तरावस्थामें स्मरण और प्रतिसन्धान होनेके कारण आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है। ज्ञाताके अनित्य होनेपर पूर्वानुभूत अर्थका उत्तरकालीन ज्ञाताके द्वारा प्रतिसन्धान नहीं किया जा सकता है।

जो वस्तु नित्य होती है, वह उत्पत्ति और विनाशसे रहित होती है। यही कारण है कि चरकतन्त्रमें आत्माकी उत्पत्ति और विनाशका निषेध किया गया है। अनादि (सूत्र० ११।१३; शारीर० १।५३,५६,८२; ३।१४) तथा अजात (शारीर० ३।१४) प्रभृति विशेषणोंसे आत्माकी उत्पत्तिका प्रतिषेध और अनिधन अमर अमृत अक्षय तथा अक्षरादि विशेषणोंसे (शारीर० १।१५६; ३।१४; ४।७; ५।११,२२) उसके विनाशका प्रतिषेध किया गया है। कहा गया है—**"प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः"** (शारीर० १।५३)। अनादि होनेके कारण उसका जन्म नहीं होता है, तथा अमर अमृत अनिधन अक्षय तथा अक्षर होनेके कारण उसकी मृत्यु नहीं होती है। अतः जन्म और मृत्युसे रहित होनेके कारण आत्मा नित्य शाश्वत चिरन्तन और अविनाशी है। यदि कोई तार्किक आत्माको विनाशी सिद्ध करनेका दुराग्रह करे, तो उससे पूछना चाहिए कि आत्माके विनाशका कोई साक्षी है अथवा नहीं है। यदि वह कहता है कि साक्षी है, तो साक्षीके आत्मरूप होनेके कारण, उसके रहते हुए आत्माका विनाश कहाँ हुआ? और यदि वह कहता है कि आत्मनाशका कोई साक्षी नहीं है, तो असाक्षिक होनेके कारण आत्मनाश अप्रामाणिक हुआ, तथा अप्रामाणिक बातको स्वीकार करनेपर अतिप्रसङ्ग होगा। उस दशामें किसी भी अप्रामाणिक कथनको अस्वीकार न किया जा सकेगा। अतः आत्मा नित्य है।

---

१. **अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।**
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा॥ —(शारीर० १।५०)

आत्माकी चैतन्यरूपता

चरकसंहितामें आत्माको चेतनाधातु चैतन्य चेतना चेतनावान् ज्ञ द्रष्टा साक्षी क्षेत्रज्ञ मन्ता वेदिता बोद्धा और सर्ववित् कहा गया है। इन विशेषणोंसे आत्माकी चैतन्यरूपता या ज्ञानरूपता सिद्ध होती है। दीर्घञ्जीवितीय(सूत्र० १।५६)में **"सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः चैतन्ये कारणम्"** अर्थात् शरीरादिकी चेतनताके प्रति आत्माको कारण कहा गया है। दूसरेको चेतनता वही प्रदान कर सकता है, जो स्वयं चेतनस्वरूप हो। चक्रपाणिने इस अंशकी व्याख्या करते हुए लिखा है—**एतैः करणभूतैः चैतन्ये कारणं भवत्यात्मा। चैतन्यं चात्मनि जायते व्यज्यते वा।** इसका तात्पर्य यह है कि करणभूत सत्त्वेन्द्रियादिके द्वारा आत्मा (शरीरादिके) चैतन्यका कारण बनता है। करणोंकी सहायतासे आत्मामें चैतन्यकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति होती है। जो चैतन्य नित्य आत्माका स्वरूप है, उसकी उत्पत्तिका अर्थ अभिव्यक्तिमात्र ही हो सकता है। नित्य आत्माका स्वरूपभूत ज्ञान इन्द्रियसम्बन्धसे अभिव्यक्त हो उठता है। यहाँतक चक्रपाणिका कथन सर्वथा युक्तियुक्त है, किन्तु आगे उन्होंने जो यह लिखा है—**'नित्यस्याप्यात्मनो ज्ञानमनित्यम्'** अर्थात् आत्माके नित्य होनेपर भी उसका ज्ञान अनित्य है। पता नहीं उन्होंने यह बात किस आधारपर कही है। चेतनाधातु आत्माका स्वरूपभूत ज्ञान अनित्य है, ऐसा सिद्धान्त तो चरकतन्त्रमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया गया है। हाँ, आत्माके चैतन्यकी शरीरादिमें जो अभिव्यक्ति होती है, वह भले ही अनित्य हो, किन्तु उस चैतन्यकी अभिव्यक्तिका हेतुभूत आत्मा कभी 'ज्ञ' और कभी 'अज्ञ' नहीं हो सकता है। कतिधापुरुषीयमें आये हुए "आत्मा ज्ञ है, किन्तु इसका ज्ञान इन्द्रियोंके सम्बन्धसे प्रवृत्त होता है"[१] इस कथनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यद्यपि आत्मा ज्ञानरूप है, तथापि उसके ज्ञानकी अभिव्यक्ति विषयज्ञानके रूपमें इन्द्रियोंके सम्बन्धसे ही होती है। ज्ञानशब्दसे यहाँपर शास्त्रकारको विषयज्ञान ही अभिमत है, स्वरूपभूत ज्ञान नहीं। यदि ज्ञानसे स्वरूपभूत ज्ञान(चैतन्य)को ग्रहण किया जायगा, तो इन्द्रियसम्बन्धके होनेपर ही उसकी प्रवृत्ति होनेसे इन्द्रियोंके अभावमें आत्मा अपने स्वरूपभूत ज्ञानसे विरहित माना जायगा। उस अवस्थामें आत्माको ज्ञ अथवा चेतनाधातु कहना सङ्गत नहीं होगा, प्रत्युत उसे चेतनाचेतन या ज्ञानाज्ञानरूप कहना ही अधिक उचित होगा। चूंकि आत्माको सर्वत्र ज्ञ और चेतना ही कहा गया है, जो सार्वकालिक चैतन्यरूपताके अभावमें सम्भव नहीं है, इसलिए चक्रपाणिका कथन चिन्त्य है। हाँ, यदि ज्ञानशब्दसे उन्हें भी विषयज्ञान ही अभिमत हो, तो उनका कथन निर्दोष है, क्योंकि विषयज्ञानकी अनित्यता सभीको स्वीकार्य है। चरकसंहिताका आत्मा न्यायदर्शनका आत्मा नहीं है, जहाँपर ज्ञानको आत्माका स्वरूप न मानकर इच्छाद्वेषादिके समान केवल एक कादाचित्क गुण माना गया है,[२] प्रत्युत

---

१. **आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्त्तते।** —(शारीर १।५४)

२. **इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।** —न्यायसूत्र (१।१।१०)

चरकका आत्मविषयक सिद्धान्त उपनिषदोंके **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि मन्त्रोंसे प्रभावित और अनुप्राणित है।

आत्माके ज्ञानकी अनित्यताका खण्डन चरकमुनिने बड़े यत्नसे किया है। आयुर्वेदज्ञोंके एक सम्मेलनमें भरद्वाजने अपनी शङ्का उपस्थित की—मनुष्यकी इन्द्रियाँ आत्मकर्मोपार्जित हैं, मातापितृज नहीं हैं। यही कारण है कि उसकी इन्द्रियाँ माता-पिताकी इन्द्रियोंके समान नहीं होती हैं। इसीलिए अन्धेसे अन्धी तथा बहरेसे बहरी सन्तान नहीं होती है। यदि यह सिद्धान्त निर्दोष माना जाय तो आत्माके ज्ञ और निर्विकार होनेकी जो प्रतिज्ञा है, वह बाधित हो जायगी। यदि इन्द्रियाँ आत्मकर्मोपार्जित हैं, तो इन्द्रियोंके उत्पन्न होनेपर आत्मा ज्ञ होगा, और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके पूर्व इन्द्रियोंके न होनेसे अज्ञ होगा। यदि आत्मामें ज्ञत्व और अज्ञत्व दोनों ही धर्म सम्भव हैं, तो आत्माका सविकार होना दुर्वार हो जायगा। यदि चक्षुरादि इन्द्रियोंके कारण आत्मा ज्ञ है, तो इनका अभाव होनेपर वह अज्ञ हो जायगा, और अज्ञ होनेसे उसका कारणत्व (जगत्कारणत्व अथवा ज्ञानपूर्वकशरीरादिप्रेरकत्व) व्याहत हो जायगा। कारणत्वका बाध होनेपर आत्माका अस्तित्व बाधित होगा, क्योंकि शरीरके प्रेरण-धारणादिका कारण होनेसे ही आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। जब आत्मा कारण ही नहीं है, तो उसका अस्तित्व मानना ही व्यर्थ है (शारीर० ३।२१)। भरद्वाजकी इस शङ्काका उत्तर देते हुए आत्रेयने कहा—'ऐसा नहीं है कि इन्द्रियोंके होनेपर आत्मा ज्ञ होता है, और उनके अभावमें अज्ञ हो जाता है, प्रत्युत वह सर्वदा ज्ञ ही रहता है, क्योंकि आत्मा कभी सत्त्व(मन)से रहित नहीं होता है। चूँकि सत्त्व भी एक करण है, अतः **'करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्त्तते'** इस सिद्धान्तके अनुसार, करणविशेषकी विद्यमानताके कारण आत्मामें सर्वदा ज्ञानविशेषकी उपलब्धि होती रहती है।[1] चूँकि आत्मा मोक्षपर्यन्त सर्वदा समनस्क रहता है, इसलिए बाह्यइन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी अन्तः-करणरूप मनका नित्यसम्बन्ध होनेसे आत्मा नित्यज्ञानवान् सिद्ध होता है। बाह्य विषयोंका ज्ञान तो मनके द्वारा इन्द्रियोंको अधिष्ठित करनेपर उत्पन्न होता है, इसलिए इन्द्रियोंके अभावमें इन्द्रियजन्य विशिष्टज्ञान सम्भव नहीं है। किन्तु मनोजन्य ज्ञान सर्वदा होता रहता है। यहाँपर चक्रपाणिने भी अपने पूर्वकथनके विरुद्ध **'इन्द्रियभावे तथेन्द्रियाभावेऽपि नित्यं ज्ञानवानेवात्मा'** तथा **'तस्माद्यन्नित्यभावि मनोसन्निधिमात्रजन्यमात्मज्ञानं तद् भवत्येव सर्वदा'** इत्यादि वाक्योंके द्वारा आत्मामें नित्यज्ञान स्वीकार किया है।

यहाँपर यह शङ्का की जा सकती है कि इस प्रकरणमें जिस ज्ञानकी नित्यता प्रतिपादित की गयी है, वह तो मनोजन्य विषयज्ञान ही है। आत्माका स्वरूपभूत ज्ञान नहीं है। मनोसन्निधिमात्रजन्य ज्ञानकी नित्यतासे आत्माकी नित्यज्ञानरूपता नहीं सिद्ध हो सकती है। यदि मोक्ष तथा निद्रामें मनकी निवृत्ति हो जानेपर भी आत्मामें ज्ञान सिद्ध किया जा सके, तो आत्माकी

---

१. **न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः असत्सु वा भवत्यज्ञः। न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा, सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति।** —(शारीर० ३।२६)

नित्यज्ञानरूपता प्रमाणित हो सकती है। किन्तु मोक्षके विषयमें कहा गया है—"उस चरमसंन्यासमें अपने कारणोंसहित समस्त वेदनाएँ पूर्णरूपसे निवृत्त हो जाती हैं। और वेदनाओंकी निवृत्तिके साथ ही सञ्ज्ञा(आलोचनात्मक निर्विकल्पकज्ञान), ज्ञान(सविकल्पकज्ञान), तथा विज्ञान(बुद्धिका अध्यवसाय अथवा शास्त्रीयज्ञान) भी पूर्णतया निवृत्त हो जाते हैं। उसके अनन्तर भूतोंका अधिष्ठाता वह चेतनाधातु ब्रह्मरूप होकर किसी भी लिङ्गसे उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई लिङ्ग (चिह्न) रह ही नहीं जाता है। वह सभी भावोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है। ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्तिम गति ब्रह्म है, और ब्रह्म अक्षर तथा अलक्षण है। ब्रह्मवेत्ता ही उसको समझ सकते हैं, अज्ञ जन नहीं।"[1] इस वर्णनके अनुसार मोक्षमें सञ्ज्ञा ज्ञान विज्ञान लिङ्ग तथा समस्त भावोंकी निवृत्ति हो जाती है, अतः उस अवस्थामें आत्माकी ज्ञानरूपता असिद्ध होती है। इस शङ्काका उत्तर यह है कि मोक्षमें जिन सञ्ज्ञा ज्ञान और विज्ञानकी पूर्णतः निवृत्ति बतायी गयी है, टीकाकारोंके अनुसार उनका अर्थ क्रमशः निर्विकल्पक सविकल्पक और शास्त्रीयज्ञान है। ये सभी विषयज्ञान हैं, अतः मोक्षमें विषयज्ञानकी ही निवृत्ति बतायी गयी है, विषयी आत्माके चैतन्यकी नहीं। मोक्षमें शरीरादिके आश्रित रहनेवाले आत्मलिङ्गोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेसे लिङ्गोंसे उसकी अग्राह्यताका कथन सर्वथा युक्तिसङ्गत है। समस्त भावोंकी निवृत्तिका तात्पर्य बुद्धयादि समस्तभावोंकी निवृत्ति है, न कि आत्माके चैतन्यकी निवृत्ति। आत्मा या ब्रह्मकी चैतन्यरूपताकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अक्षर है। **'न क्षरति अन्यथात्वं गच्छति'** इस व्युत्पत्तिसे अक्षर वही हो सकता है, जिसके स्वरूपका कभी अन्यथाभाव न हो। अतः यह सम्भव नहीं है कि जो आत्मा मोक्षके पूर्व चेतनाधातुस्वरूप था, वह मोक्षमें अचेतन हो जाय। अलक्षण कहनेका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि मुक्तावस्थामें लिङ्गोंका सर्वथा अभाव होनेके कारण, आत्माका न तो तटस्थलक्षण बन सकता है, और न स्वरूपलक्षण, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ही उसके यथार्थस्वरूपको समझते हैं, अज्ञानी नहीं। अथवा **'ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति'**का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—**'अत्र मोक्षे ब्रह्मविदां यज्ज्ञानं ज्ञानरूपत्वं तदज्ञः अब्रह्मविद् न ज्ञातुमर्हति'** अर्थात् इस मोक्षमें ब्रह्मवेत्ताओंकी जो ज्ञानरूपता है, उसे अज्ञ नहीं समझ सकते हैं। इस प्रकार मोक्षमें भी आत्माकी ज्ञानरूपता सिद्ध होती है।

जहाँपर यह कहा गया है कि आत्मा यद्यपि ज्ञ है, तथापि उसका ज्ञान करणोंके सम्बन्धसे प्रवृत्त होता है, वहाँपर करणोंकी तुलना दर्पण तथा जलसे की गयी है। जिस प्रकार दर्पणके मलिन होनेपर अथवा दर्पणके टूट जानेपर

---

१. **तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।**
ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥
अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति॥—(शारीर० १।१५४-१५६)

आँखवालोंके द्वारा आँखसे देखे जानेपर भी प्रतिबिम्बका यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता है, उसी प्रकार चित्तादि करणोंके मलिन होनेपर अथवा उपहत होनेपर अथवा आत्मासे सम्बन्ध न होनेपर आत्मज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो पाती है।[१] इससे यह सिद्ध होता है कि आत्माका चित्तादि करणोंसे योग होनेपर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है, करणोंके दर्पणस्थानीय होनेसे वह ज्ञान प्रतिबिम्बरूप है। बिम्बभूत आत्माके ज्ञानस्वरूप न होनेपर प्रतिबिम्बकी ज्ञानरूपता कथमपि सम्भव नहीं है। जब उस आत्माका प्रतिबिम्ब भी ज्ञानरूप है, तो उसकी ज्ञानरूपता तो स्वतःसिद्ध है।

सुषुप्तिमें मनके क्लान्त (निष्क्रिय) हो जानेपर इन्द्रियाँ भी श्रान्त होकर मनके सहित विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं।[२] उस समय मन और इन्द्रियोंके निष्क्रिय हो जानेपर भी आत्माका ज्ञान जागरूक रहता है, अन्यथा मैं इतने समयतक सोया रहा, यह परामर्श जागनेपर सम्भव नहीं है। इस प्रकार मोक्ष और सुषुप्तिमें भी ज्ञानके विद्यमान होनेसे आत्माकी नित्यज्ञानरूपता सिद्ध होती है। सूर्यके नित्य प्रकाशके समान आत्माके नित्यज्ञानस्वरूपको ज्ञानके साधनोंकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं है, जैसा कि ब्रह्मसूत्रभाष्य(१।१।५)में आचार्यशङ्करने कहा है—**सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञान-साधनापेक्षानुपपत्तेः**। आत्माकी नित्यज्ञानस्वरूपताको प्रमाणित करनेके लिए महर्षि चरकने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं :—

(१) यद्यपि यह बात बिल्कुल ठीक है कि कर्ता आत्माको इन्द्रियोंके अभावमें बाह्यविषयोंका ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि जिन भावोंके होनेपर ही जो क्रिया होती है, उन भावोंके विना वह क्रिया नहीं हो सकती है। इस प्रकार बाह्यविषयज्ञानकी अनित्यता सिद्ध होती है। तथापि इन्द्रियोंके अभावमें आत्माकी ज्ञानशक्ति पराहत नहीं होती है। इन्द्रियोंके अभावमें भी आत्मामें निर्विषय ज्ञान रहता है। जिस प्रकार कुम्भकार घड़ा बनाना जानते हुए भी मिट्टी न मिलनेपर नहीं बना सकता है, उसी प्रकार आत्मामें ज्ञान होते हुए भी इन्द्रियोंके अभावमें बाह्यविषयोंका ज्ञान नहीं हो पाता है।[३]

(२) इस आत्मविषयक सिद्धान्तको सुनो। आत्मज्ञानका बल महान् होता है। इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे हटाकर और चञ्चल मनको निगृहीत करके

---

१. **आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्त्तते।**
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्त्तते॥
पश्यतोऽपि यथादर्शे सङ्क्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा॥—(शारीर० १।५४-५५)

२. **यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।**
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ —(सूत्र० २१।३५)

३. **न कर्त्तुरिन्द्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्त्तते।**
या क्रिया वर्त्तते भावैः सा विना तैर्न वर्त्तते॥
जानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भकृन्न प्रवर्त्तते।—(शारीर० ३।२७-२८)

योगी जब आत्मस्वरूपमें प्रवेश करता है, उस समय वह आत्मज्ञ योगी स्वात्मभूत ज्ञानमें स्थित होकर सर्वत्र अप्रतिहतज्ञानवाला बन जाता है, और विना इन्द्रियोंके केवल समाधिबलसे ही सभी भावोंकी परीक्षा करनेमें समर्थ होता है।[1] इससे सिद्ध होता है कि निरिन्द्रिय होनेपर भी आत्मा ज्ञानस्वभाव ही रहता है।

(३) इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय), वाक् (कर्मेन्द्रिय), और उनकी चेष्टाओंसे निवृत्त होकर पुरुष जिस समय सो जाता है, उस समय भी स्वप्नगत विषयोंका तथा सुख-दुःखका ज्ञान करता रहता है, इससे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंके अभावमें पुरुषमें ज्ञानका अभाव नहीं होता है। नित्य आत्मज्ञानके विना कोई भी विषयज्ञान अकेला (असहाय) प्रवृत्त नही हो सकता है। विषयज्ञानकी उत्पत्तिके लिए तो आत्मा मन और इन्द्रिय इन तीनों कारणोंका साहाय्य अपेक्षित है, किन्तु आत्मज्ञानके नित्य होनेके कारण उसे किसीकी सहायता अपेक्षित नही है। कोई भी भाव अर्थात् उत्पत्तिधर्मा पदार्थ अकेला अर्थात् कारणोंके विना नहीं होता है, और अहेतुक अर्थात् कर्त्ताके विना भी नहीं हो सकता है।[2] कर्त्ता कुम्भकारके द्वारा अधिष्ठित किये जानेपर ही मिट्टी और चाक इत्यादि घट-निर्माणमें प्रवृत्त होते हैं। उसी प्रकार कर्त्ता आत्माके द्वारा अधिष्ठित किये जानेपर ही मन और इन्द्रियाँ विषयज्ञानमें प्रवृत्त होती हैं। इसीलिए आत्माको विभु भूतात्मा इन्द्रियात्मा तथा अन्तरात्मा कहा गया है (शारीर० ४।८)। इससे केवल विषयज्ञानकी उत्पत्तिधर्मता और अनित्यता सिद्ध होती है। आत्मज्ञान तो अनादि होनेके कारण नित्य है—**"तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते"** (शारीर० १।५३)।

आत्माके चेतनस्वरूप होनेके कारण स्थान-स्थानपर उसे द्रष्टा (सूत्र० १।५६; शारीर० ३।१३, ४।८), मन्ता, वेदिता, बोद्धा (शारीर० ४।८), सर्ववित् (शारीर० १।१४) और साक्षी (सूत्र० १।५६; शारीर० १।५,८३) कहा गया है। द्रष्टा और साक्षी पर्याय है। जिस प्रकार कोई तत्त्वदर्शी परमशान्त यति साक्षी बनकर जगत्‌की समस्त क्रियाओंको देखता हुआ रागद्वेषादिसे युक्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा सुखदुःखादिको उपलब्ध करता हुआ भी रागद्वेषादिसे युक्त नहीं होता है। दृश्यमान रागादि विकार अन्तःकरणके धर्म हैं। **"साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते ?"** (शारीर० १।१०), अर्थात् यदि आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरा कर्त्ता है ही नहीं, तो यह किसका साक्षी है ? अग्निवेशकी इस शङ्काका निवारण करते हुए कहा गया है—'जो ज्ञ

---

१. **श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत्।
इन्द्रियाणि च सङ्क्षिप्य मनः सङ्क्षिप्य चञ्चलम्॥
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः।
सर्वत्रावहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते॥**—(शारीर० ३।२८-३०)

२. **निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतान् यदा।
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः॥
नात्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किञ्चित्प्रवर्त्तते।
न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः॥**—(शारीर० ३।३१-३२)

(चेतन) होता है, उसीको लोकमें साक्षी कहा जा सकता है अज्ञको नहीं। अतः चेतन होनेके कारण आत्माको ही साक्षी माना गया है। समस्त प्राणिवर्गके सभी दर्शनयोग्य भावोंका साक्षी और द्रष्टा यह आत्मा ही है।[१] इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है, तथापि पञ्चभूतों-से लेकर महत्तत्त्वपर्य्यन्त शरीरगत तथा शरीरबाह्य समस्त अचेतनभावोंका साक्षी यह आत्मा ही बनता है। आत्माके अतिरिक्त सम्पूर्ण जडजगत् दृश्य है और आत्मा उसका द्रष्टा है। इसीलिए **"द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः"** (सूत्र० १।५६) यह वचन है। इन सब विशेषणोंसे आत्माकी चैतन्यरूपता निर्विवाद सिद्ध होती है। इन विशेषणोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थमें आत्माके लिए प्रयुक्त चेतन (सूत्र० १।४७), चैतन्य (सूत्र० ३०।७), चेतनावान् (शारीर० १।७६; ४।८), चैतन्यका कारण (सूत्र० १।५६), चेतनाधातु (सूत्र० ११।१३, २५।६; शारीर० १।१६, २।३२, ४।८) तथा ज्ञ (शारीर० १।५४,८३,९७,१५३; ३।१३; ४।८; ५।१०) इत्यादि पदसमूह आत्माकी चैतन्यरूपताको प्रमाणित करनेमें पर्याप्त है।

आत्माकी निर्विकारता

राशिपुरुषमें व्याधिरूप दुःख तथा आरोग्यरूप सुखका आश्रय शरीर और मनको बताया गया है, और आत्माको निर्विकार कहा गया है (सूत्र० १।५५-५६)। आत्मा न तो रोगोंका आश्रय है और न आरोग्यका। रोग तथा आरोग्य और तज्जन्य सुखदुःख शरीर और मनके आश्रित रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—**"संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः"** (शारीर० १।८५), अर्थात् वेदनाकृत विशेषता जिसमें उपलब्ध होती है, वह संयोगपुरुष अर्थात् राशिपुरुष है। राशिपुरुषमें आत्माका संयोग होनेपर भी सुखदुःखरूप वेदना वस्तुतः शरीर और मनमें ही होती है। मनसे सम्बद्ध होनेके कारण उपचारसे आत्मामें भी सुखदुःखका व्यपदेश किया जाता है। अतः **"निर्व्यथे चान्तरात्मनि"**(सूत्र० २२।३५)का अर्थ आयुर्वेदज्ञोंके द्वारा **निर्व्यथे मनसि** ही किया जाता है। राशिपुरुषमें आत्माके विद्यमान होनेपर भी सुखदुःखादिरूप वेदना जिन बुद्ध्यादिमें नियत (व्यवस्थित) है, उन्हीं बुद्ध्यादिमें वेदनाके कार्यभूत दैन्य-हर्षादि भी प्रतिनियत हैं (शारीर० १।८५)। इसलिए आत्मा उनसे असंस्पृष्ट रहता है। तात्पर्य यह है कि बुद्ध्यादिमें रहनेवाले, गुणत्रयके परिणामरूप, सुखदुःखादिसे आत्मा वस्तुतः सुखी या दुःखी नहीं होता है, प्रत्युत बुद्ध्यादिके सम्बन्धसे वह सुखी या दुःखी जैसा प्रतीत होता है। "समस्त प्राणिसमूहके भीतर निवास करनेवाला परमात्मा निर्विकार है। वह सभी प्राणियोंमें निर्विशेष अर्थात् समानरूपसे विद्यमान है। उस परमात्मामें जो सुखदुःखादिरूप विशेषकी उपलब्धि होती है, वह शरीर और मनकी विशेषताओंके कारण होती है।"[२] चरकमुनिके इस कथनसे भी यह बात सिद्ध होती है कि सुख-

१. **ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः।**
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः॥ —(शारीर० १।८३)

२. **निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः। सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः।** —(शारीर० ४।३४)

दुःखादि विकारोंका वास्तविक अधिष्ठान शरीर और मन है, किन्तु साहचर्यके कारण आत्माके लिए उनका व्यपदेश किया जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं—'सुखादि परमात्माके विकार नहीं हैं, किन्तु बुद्धयादिके धर्म है, ऐसा प्रदर्शित किया गया है। खुड्डीकागर्भावक्रान्तिनामक अध्यायमें गर्भके जिन-जिन भावोंको आत्मज कहा गया है, वे भी वस्तुतः परमात्माके कार्य नहीं हैं, किन्तु सत्त्व रजस् और तमस्की प्रबलतासे विकृत होनेवाले मनके द्वारा जो धर्म और अधर्म किये जाते हैं, उन्हीं धर्माधर्मसे उन भावोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूक्ष्मविचार करनेसे जिन भावोंको आत्मासे उत्पन्न होनेवाला कहा गया है, वे भी वस्तुतः मनसे ही उत्पन्न होनेवाले सिद्ध होते हैं।' यदि आत्मासे उन भावोंकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो आत्माका सविकार होना दुर्वार हो जायगा, क्योंकि निर्विकारतामें कारणता और कार्यता दोनोंका प्रतिषेध है।

आत्माके निर्विकार होनेसे उसमें क्रियाका भी निषेध किया गया है। जिसमें क्रिया होती है, उसमें क्रियाजन्य परिणाम अवश्यम्भावी होनेसे उसका निर्विकार रहना असम्भव है। अग्निवेशने महर्षि आत्रेयसे पूछा—**"निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथम्?"** (शारीर० १।६), 'भगवन्! यदि आत्मा निष्क्रिय है, तो उसमें क्रिया कैसे होती है?' आत्रेयने उत्तर दिया—'मन अचेतन और क्रियावान् है, उसको चेतना प्रदान करनेवाला आत्मा है। क्रियावान् मनसे युक्त होनेके कारण उस विभु आत्मामें उपचारसे क्रियाका निर्देश किया जाता है। चूँकि आत्मा चेतनावान् है, इसलिए निष्क्रिय होनेपर भी उसे कर्त्ता कहा जाता है, और मन अचेतन होनेके कारण क्रियावान् होनेपर भी कर्त्ता नहीं कहा जाता है।'[१] चूँकि मन आत्मासे अधिष्ठित होकर ही क्रियामें समर्थ होता है; इसलिए उपचारसे मनकी क्रिया आत्माकी ही क्रिया कहलाती है। क्रिया जिसके कारण होती है, उसीकी कहलाती है। आचार्य शङ्करने भी कहा है—'हम यह नहीं कहते हैं कि जिसमें प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है, वह प्रवृत्ति उसकी नहीं है। वह उसीकी रहे। किन्तु हमारा कहना तो यह है कि वह प्रवृत्ति चेतनके कारण होती है, क्योंकि चेतनके होनेपर ही होती है, और न होनेपर नहीं होती है।'[२] इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे समस्त प्रवृत्तिका मूलकारण होनेसे चेतन आत्माको कर्त्ता कहा जाता है। स्वरूपसे आत्मा निष्क्रिय है। आत्माकी निष्क्रियताका कारण उसका निरवयव होना है। तिस्रैषणीय(सूत्र० ११।१०)में कहा गया है—**"नावयवः कश्चित् सूक्ष्मस्य चात्मनः"** अर्थात् सूक्ष्म होनेके कारण आत्मामें कोई अवयव नहीं है। पृथिव्यादि

---

१. **अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।**
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥ —(शारीर० १।७५–७६)

२. **न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद् भवतीति ब्रूमः। तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्।**
—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (२।२।२)

स्थूल पदार्थोंमें अवयव होते हैं, फलतः उनमें क्रिया भी होती है। आत्मा सूक्ष्म होनेके कारण निरवयव है, अतः निष्क्रिय है । निरवयवत्व और निष्क्रियत्वमें व्याप्तिसम्बन्ध है ।

उत्पत्ति विनाश जरा रोग अपक्षय छेदन भेदन व्यय और आलोडन (क्षोभ) इत्यादिका अभाव होनेसे भी आत्मा निर्विकार है । अजात अनादि अनिधन अमर अमृत अक्षर शाश्वत और नित्यादि विशेषणोंसे उसका जन्ममरणराहित्य, अजर(शारीर० ३।१४; ५।१९)से जरा-राहित्य, अरुज(शारीर० ३।१४)से रोगराहित्य, अक्षयसे अपक्षयराहित्य, अच्छेद्य अभेद्य और अलोड्यादि विशेषणों-से क्रियाविषयत्वका अभाव, तथा अव्यय(शारीर० १।६१; ४।८; ५।१९,२३) शब्दसे आत्मामें सर्वविध विक्रियाका अभाव द्योतित होता है । ब्रह्मात्मभावका साक्षात्कार कर लेनेसे जब मनुष्य ब्रह्मभूत होकर मोक्षमें अवस्थित होता है, तो उस मुक्तावस्थाके स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिए उसके अनेक पर्याय दिये गये हैं, जिनमें विपाप और विरज भी हैं (शारीर० ५ २३) । विपापसे समस्त पापकल्मषसे आत्माका असम्बन्ध, तथा विरजसे रजोगुणसे उपलक्षित गुणत्रयका अभाव लक्षित होता है । मुक्त पुरुषको निर्दोष निःस्पृह शान्त और पुनर्भवरहित कहा गया है (**निर्दोषो निस्स्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः**—शारीर० ७।२०), और मोक्षमें शुद्ध चेतनाधातुरूप आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है, अत. पूर्वोक्त विशेषणोंसे आत्मामें दोष स्पृहा क्षोभ और पुनर्भवादिका अभाव होनेसे उसकी निर्विकारता सिद्ध होती है ।

आत्माका परत्व

शङ्कराचार्यके अनुसार 'परत्व'में तीन अर्थ अन्तर्निहित है—सूक्ष्मत्व महत्त्व और प्रत्यगात्मस्वरूपत्व (कठोपनिषद्भाष्य १।३।१०) । इसलिए आत्माके परत्वका अर्थ है, शरीरेन्द्रियमनोबुद्धयादि समस्त बाह्य और आन्तर भावोंकी अपेक्षा उसका सर्वाधिक सूक्ष्म होना, सर्वाधिक महान् होना, तथा सर्वाधिक प्रत्यक्(आन्तरिक) होना । सूक्ष्मतम और महत्तम होनेके कारण ही उपनिषदोंमें आत्माको '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (कठ० १।२।२०; श्वेता० ३।२०) कहा गया है । चरकसंहितामें भी आत्माको 'सूक्ष्म' तथा 'अचिन्त्य' कहकर यही भाव प्रदर्शित किया गया है । आत्माकी सूक्ष्मता ऐसी है कि उसमें अवयवोंकी कल्पना नहीं की जा सकती है (सूत्र० ११।१०) । इससे आत्मामें अद्वैतसम्मत स्वगतभेदका अभाव द्योतित होता है । आत्माके एकत्व-का प्रतिपादन होनेसे (**एकः प्रशान्तो भूतात्मा**–शारीर० १।१४) उसमें सजातीय और विजातीय भेद भी निरस्त हो जाते हैं, और इस प्रकार भेदत्रैविध्यका निरसन होनेसे आत्माकी अखण्डता अपरिच्छिन्नता और परात्परता सिद्ध होती है । चरकसंहितामें आत्माके लिए भूतात्मा(भूतोंका अधिष्ठाता), इन्द्रियात्मा (इन्द्रियोंका अधिष्ठाता), गर्भात्मा(गर्भशरीरका अधिष्ठाता), तथा अन्तरात्मा इत्यादि पदोंका प्रयोग (शारीर० १।५७,८४,१५५; ३।१४; ४।८; ५।५) होनेसे भूत-भौतिक शरीरेन्द्रियादिकी अपेक्षा उसका परत्व (सूक्ष्मत्व महत्त्व तथा सर्वान्तरत्व) सिद्ध होता है । उपनिषदोंमें भी **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा** (कठ० २।३।१२), **यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, यन्मनसा न**

मनुते येनाहुर्मनो मतम् (केन० १।४,५), तथा **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ० २।२।१५; श्वेता० ६।१४; तथा मुण्डक० २।२।१०) इत्यादि वचनोंके द्वारा आत्माका सर्वाधिष्ठातृत्व प्रतिपादित हुआ है। आत्माको अतीन्द्रिय (शारीर० १।६२; २।३२) कहनेसे उसका इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य न होना अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाणका विषय न बनना सिद्ध होता है। इससे भी उसकी सूक्ष्मता और सर्वान्तरता प्रमाणित होती है। चरकसंहितामें छः स्थलोंपर आत्माके लिए 'पर' शब्दका प्रयोग मिलता है।[१] चक्रपाणिके अनुसार 'पर' शब्दका अर्थ सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ है। इसलिये इस शब्दके द्वारा संयोगरूप षड्धातुक या चतुर्विंशतिधातुक आत्माका व्यावर्त्तन किया गया है। शरीरादिके लिए भी आत्मा शब्दका प्रयोग देखा जाता है, जैसा कि धरणिकोशमें कहा गया है—**"आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च"** इन सबका व्यवच्छेद करनेके लिए आत्माके साथ 'पर' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। समस्त भावोंका द्रष्टा और साक्षी होनेके कारण भी आत्माका परत्व है।

चरकमुनिके अनुसार आत्मा सभी भूतोंमें निर्विशेष है (शारीर० ४।३४)। इसका तात्पर्य यह है कि लोकमें प्राणियोंका जो पारस्परिक भेद दिखाई पड़ता है, वह उन प्राणियोंके शरीर इन्द्रिय मन और बुद्ध्यादिमें रहनेवाले विशेषसे सिद्ध है। किन्तु उन प्राणियोंके भीतर विद्यमान जो आत्मतत्त्व है, उसमें किसी प्रकारका विशेष नहीं है। वह समानरूपसे सबके भीतर है। सर्वविध विशेषोंसे रहित होनेके कारण आत्माका कोई लक्षण भी नहीं बन सकता है। कहा गया है—"भूतोंका अधिष्ठाता यह आत्मा उपाधियोंसे रहित होकर अपने एकाकी शुद्धरूपमें प्राणापानादि पूर्वोक्त लक्षणों(लिङ्गों)से उपलब्ध होने योग्य नहीं है। क्योंकि एकाकी(निरुपाधिक) आत्मामें कोई विशेष होता ही नहीं है।"[२] यदि कोई विशेष होता, तो उसकी उपलब्धि होती। लक्षणों और विशेषोंसे सर्वथा अस्पृष्ट होनेके कारण आत्मा 'पर' है।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा लक्षणों अथवा लिङ्गोंसे उपलभ्य नहीं है, तो उसके प्राणापानादि लिङ्गोंका परिगणन क्यों किया गया है? अग्निवेशके द्वारा **"किं लिङ्गं पुरुषस्य च ?"** यह प्रश्न पूछे जानेपर महर्षि आत्रेयने बताया—"परमात्माके लिङ्ग हैं, प्राण-अपान, निमेषोन्मेष, जीवन, मनकी गति अर्थात् मनके द्वारा ही किसी स्थानपर जाना, मनका एक इन्द्रियसे दूसरी इन्द्रियमें सञ्चरण करना (जैसे चक्षुको छोड़कर स्पर्शनेन्द्रियको अधिष्ठित करना), मनका प्रेरित किया जाना, धारण किया जाना, स्वप्नमें देशान्तरगमन करना, पञ्चत्व(मरण)का ज्ञान, दाहिनी आँखसे देखे गये पदार्थका बायीं आँखसे 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति और अहङ्कार। चूँकि ये सभी लिङ्ग जीवित(आत्मसंयुक्त) प्राणीमें

---

१. **द्रष्टव्यम्**—(सूत्र० १।५६; शारीर० १।३५,७५; ४।३४ तथा ५।११,२३)

२. **नैकः कदाचिद् भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते।**
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते॥ —(शारीर० १।८४)

पाये जाते हैं, मृतमें नहीं, इसीलिए महर्षियोंने इन्हें आत्माका लिङ्ग कहा है।"[1] आत्माके इन लिङ्गोंमें पञ्चत्व अर्थात् मरण यद्यपि जीवित प्राणीमें उपलब्ध नहीं होता है, तथापि मृतशरीरमें उपलब्ध होनेवाला पञ्चत्व वैधर्म्य-से जीवित शरीरका लिङ्ग बन जाता है। तात्पर्य यह है कि मरण उसीका होता है, जो पहले जीवित रहा हो, और जीवितका अर्थ है आत्मसंयुक्त। इसलिए मरण भी जीवन(आत्मसंयोग)का ज्ञापक है। इसीलिए आचार्यने इसके बाद तुरन्त कहा है—**शरीरं हि गते तस्मिञ्शून्यागारमचेतनम्। पञ्च-भूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥** (शारीर० १।७४)। जीवितशरीर षड्-धातुक होता है। उन धातुओंमेंसे चेतनाधातुरूप आत्माके चले जानेपर शरीर पञ्चभूतमात्रात्मक रह जाता है। इस प्रकार पञ्चत्वका ग्रहण भी जीवितशरीरमें आत्माका अनुमान कराता है। अथवा **पञ्चत्वग्रहणम्**का अर्थ है, पञ्चभूतोंका ग्रहण किया जाना। आत्माके द्वारा पञ्चभूतोंके ग्रहण किये जानेका वर्णन शारीरस्थानके महतीगर्भावक्रान्तिनामक अध्यायमें किया गया है। यदि आत्मा न हो, तो देहनिर्माणके लिए पञ्चभूतोंका उपादान कौन करेगा? याज्ञवल्क्यस्मृति(३।१७५)में आत्माके इस पञ्चत्वग्रहणरूप लिङ्गको **'आदानं पाञ्चभौतिकम्'** कहकर स्पष्ट कर दिया गया है। प्राणापान निमेषो-न्मेष और जीवन भूतमात्रमें उपलब्ध नहीं होते हैं, क्योंकि निरात्मक ईंट-पत्थर तथा मृतशरीरमें उनका दर्शन नहीं होता है। इसलिए जहाँ जीवितशरीरमें इनकी उपलब्धि होती है, वहाँ आत्माके अस्तित्वका अनुमान होता है।

मनको भूतव्यतिरिक्त आत्मा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह करण-रूप है। उसकी गति, उसका एक इन्द्रियसे दूसरी इन्द्रियमें सञ्चरण, उसका प्रेरण और धारण इत्यादि कर्त्ता आत्माके द्वारा ही किया जाता है। यदि मनको ही आत्मा माना जाय, तो सब इन्द्रियोंका अधिष्ठाता होनेसे सभी इन्द्रियोंके साथ उसका युगपत् सम्बन्ध होगा, और उस स्थितिमें सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंको एक ही कालमें ग्रहण कर सकेंगी। परन्तु लोकमें ऐसा नहीं देखा जाता है। शब्दस्पर्शादिका ज्ञान पृथक् पृथक् और क्रमसे होता है। इसलिए मन अधिष्ठाता या कर्त्ता नहीं हो सकता है। इन्द्रियोंको भी आत्माके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस स्थितिमें प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा होनेके कारण स्वतन्त्र होगी। अतः जिस प्रकार यज्ञदत्तके द्वारा अनुभूत अर्थका प्रतिसन्धान देवदत्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार एक इन्द्रियके द्वारा उपलब्ध अर्थका प्रतिसन्धान दूसरी इन्द्रिय नहीं

---

१. **प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।**
इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः॥ —(शारीर० १।७०–७३)

कर सकेगी। किन्तु लोकमें इन्द्रियान्तरोपलब्ध अर्थका प्रतिसन्धान होता है, जैसे "मैं सुगन्धित चन्दनका स्पर्श कर रहा हूँ।" इस प्रकार भूत इन्द्रिय और मनसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है।

इच्छा द्वेष सुख दुःख और प्रयत्नादि आत्माके गुण हैं। गुणसे गुणीका अनुमान होता है। गुण भी अनुमापक होनेसे लिङ्ग कहलाते हैं। मृतशरीरमें इच्छाद्वेषादिकी उपलब्धि नही होती है, अतः जहाँ इनकी उपलब्धि होती है, वहाँ आत्माका अस्तित्व अनुमेय होता है। यहाँपर 'बुद्धि'शब्दसे यद्यपि चेतना धृति स्मृति और अहङ्कार भी बुद्धिके प्रकार होनेसे गृहीत हो जाते हैं, तथापि भिन्न-भिन्न अर्थके बोधक होनेसे उनका पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है। चेतना, अचेतन आकाशादिके धर्मोंसे विपरीत होनेके कारण, आत्माकी गमक है। धृति नियमात्मिका होनेसे नियन्ता आत्माका ज्ञापन करती है। बुद्धि ऊहापोहज्ञानरूपा होनेके कारण ऊह और अपोह दोनोंके कारणभूत एक ही आत्माका बोध कराती है। इसी प्रकार स्मृति पूर्वानुभूत अर्थका स्मरण करनेवाले स्थायी आत्माका अनुमान कराती है। न्यायदर्शनमें इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान आत्माके लिङ्ग कहे गये हैं,[1] और वैशेषिकसूत्रमें प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और प्रयत्न आत्माके लिङ्ग बताये गये हैं।[2] याज्ञवल्क्यस्मृतिमें इनके अतिरिक्त कुछ और लिङ्ग गिनाये गये हैं—"अहङ्कार स्मृति मेधा द्वेष बुद्धि सुख धृति इन्द्रियान्तरसञ्चार इच्छा धारण जीवन स्वर्ग स्वप्न प्रेरण मनोगति निमेष चेतना यत्न तथा पञ्चभूतोंका आदान(ग्रहण)—चूँकि ये परमात्माके लिङ्ग देखनेमें आते हैं, अतः इन लिङ्गोंसे देहादिकी अपेक्षा पर सर्वगत ईश्वर-रूप आत्माका अस्तित्व प्रमाणित होता है।"[3] चरकमुनिने भी एक-दोके हेर-फेरके साथ प्रायः इन्हीं लिङ्गोंका परिगणन किया है।

चरकसंहितामें आत्माके अनुमापक इन बीस लिङ्गोंका परिगणन उपलब्ध होनेपर भी सूक्ष्मदृष्टिके द्वारा अवलोकन करनेसे शुद्ध आत्माका इन लिङ्गोंसे सर्वथा असंस्पर्श सिद्ध होता है। वस्तुतः ये सभी राशिपुरुषके धर्म हैं। प्राणापान और निमेषोन्मेषादि स्पष्टतया शरीरसे सम्बद्ध हैं। मनकी गत्यादिक

---

१. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।—न्यायसूत्र (१।१।१०)

२. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। —वैशेषिकसूत्र (३।२।४)

३. अहङ्कारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः।
इन्द्रियान्तरसञ्चार इच्छा धारणजीविते॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः।
निमेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम्॥
यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः।
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वग ईश्वरः॥
—याज्ञवल्क्यस्मृतिः (३।१७४-१७६)

समस्त क्रियाएँ तथा इच्छा द्वेष सुख दुःख तथा प्रयत्नादि मनसे सम्बद्ध हैं। चेतना धृति स्मृति और अहङ्कार बुद्धिके अवान्तरभेद हैं। इस प्रकार इनमें एक भी लिङ्ग ऐसा नहीं है, जिसका आत्मासे वास्तविक और अविच्छेद्य सम्बन्ध हो। चेतनासे यहाँपर वैषयिक बोध ही ग्राह्य है, स्वरूपभूत चेतना नहीं। और और वैषयिक बोधका आत्मासे सार्वकालिक सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत कादाचित्क है। अतः चेतना भी आत्मासे अविच्छेद्य नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मोक्षमें जो शुद्ध ब्रह्मात्मभाव होता है, उसे लक्षणोंसे अग्राह्य कहा गया है। मुक्तपुरुषके विषयमें महर्षि चरक कहते हैं—"उस चरम संन्यासमें अपने कारणोंके सहित सम्पूर्ण वेदनाएँ सञ्ज्ञा ज्ञान और विज्ञानके साथ पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाती हैं। उसके अनन्तर भूतोंका अधिष्ठाता वह आत्मा ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। फिर लक्षणोंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि महदादि सभी भावोंसे विनिर्मुक्त हो जानेके कारण उसमें प्राणापानादिरूप कोई भी चिह्न (लक्षण) नहीं रह जाता है। ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्तिम गति यह ब्रह्म (ब्रह्मभावापत्ति) ही है, और ब्रह्म अक्षर (अपने स्वरूपसे च्युत न होनेवाला) तथा अलक्षण है।"[1] यदि पूर्वोक्तलक्षण आत्माके ही अविच्छेद्यधर्म होते, तो मुक्तावस्थामें भी इनकी उपलब्धि होनी चाहिए थी, किन्तु नहीं होती है, अतः आत्मासे इनका असम्बन्ध सिद्ध होता है। राशिपुरुषसे सम्बद्ध आत्मा लिङ्गग्राह्य है, किन्तु शुद्धात्माके कोई भी लिङ्ग न होनेसे वह लिङ्गग्राह्य नहीं है।

इस प्रकार आत्मा निर्विशेष अतीन्द्रिय अलक्षण अचिन्त्य और लिङ्गोंसे अग्राह्य होनेके कारण प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणोंका विषय न बननेसे सर्वाधिक सूक्ष्म महान् और आन्तर सिद्ध होता है। चूंकि आत्मा समस्त कार्यकारणसङ्घातका कारण है और आत्माका कोई कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा अनादि है, इससे भी उसकी परात्परता सिद्ध होती है।

आत्माका स्वातन्त्र्य

स्वतन्त्र होनेके कारण भी आत्माका परत्व सिद्ध होता है। आत्मा स्वतन्त्र है, क्योंकि कोई अन्य उसका नियामक नहीं है। यदि कोई अन्य उसका नियमन करनेवाला होता, तो आत्मा उसके अधीन और परतन्त्र होता। उस स्थितिमें आत्मा 'अपर' और उसका नियन्ता 'पर' होता। किन्तु आत्मा ही समस्त भावोंका नियामक होनेसे स्वतन्त्र है, इसलिए वही पर है। इसपर अग्निवशने प्रश्न उठाया—"**स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते ?**" (शारीर० १।६), अर्थात् "यदि आत्मा स्वतन्त्र है, तो शूकर-कीटादि अनिष्ट योनियोंमें क्यों

---

१. **तस्मिश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।**
ससञ्ज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥
अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्। —(शारीर० १।१५४-१५६)

जन्म लेता है ?" अपनी इच्छासे कोई भी पुरुष अनिष्ट स्थानमें रहना पसन्द नहीं करता है। महर्षि आत्रेयने इसका उत्तर देते हुए कहा—"सभी प्राणी अपने द्वारा आचरित धर्म और अधर्मकी सहायतासे अपने द्वारा ही अपनेको सभी योनियोंमें प्राणोंसे संयुक्त करते है। उनको नियन्त्रित या प्रेरित करनेवाला कोई दूसरा नहीं है।"[1] अनिष्ट योनिमें जानेका हेतु है अधर्म, तथा धर्म या अधर्मका आचरण करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वाधीन है, इसलिए इष्ट या अनिष्ट योनिकी प्राप्तिमें भी वह स्वाधीन है। यदि वह देवादि उत्तमयोनि चाहता है, तो वह धर्म करनेमें स्वतन्त्र है; और यदि अधर्म करता है, तो न चाहते हुए भी उसे अनिष्ट योनिमें जाना पड़ता है। फलभोगके कर्माधीन होनेसे, और कर्ममें स्वातन्त्र्य होनेसे फलभोगमें भी स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है।

अग्निवेशने पुनः शङ्का उठायी—"**वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते बलात् ?**" (शारीर० १।७), "यदि आत्मा वशी अर्थात् इष्ट और अनिष्टके विषयमें स्वेच्छाधीन प्रवृत्तिवाला है, तो उसे दुःखकर भाव बलात् कैसे दबोच लेते हैं ?" महर्षि आत्रेयने कहा—"वशी (स्वतन्त्र) आत्मा जिस शुभ या अशुभ कर्मको करता है, उस कर्मके प्रभावसे शुभ या अशुभ फल प्राप्त करता है। (आत्माका वश केवल कर्त्तव्य कर्मके करनेमें है, किन्तु कर्मका फल न चाहते हुए भी उसे अवश्य मिलता है।) आत्मा वशी होनेके कारण ही अपने चित्तको समाहित कर सकता है, और वशी होनेके कारण ही सब शुभाशुभ फलोंका मनसे परित्याग कर सकता है।"[2] फलभोगके विषयमें यद्यपि आत्माका स्वातन्त्र्य या वशित्व नहीं माना गया है, तथापि वह जब चाहे सुखदुःखादिरूप कर्मफलसे अपने मनको निवृत्त कर सकता है, जिस प्रकार जीवन्मुक्त प्रारब्धफलसे संयुक्त होते हुए भी सुख और दुःखसे असंस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार कर्मफलके भोगनेमें भी आत्मा स्वतन्त्र तथा वशी सिद्ध होता है। वह जब चाहे सुखमें दुःखबुद्धि और दुःखमें सुखबुद्धि कर सकता है, अथवा सुखदुःख दोनोंसे उदासीन हो सकता है। स्वतन्त्र तथा वशी होनेसे आत्माका परत्व भी सिद्ध होता है।

मोक्षके प्रकरणमें भूतादिके अधिष्ठाता आत्माकी ब्रह्मभावापत्तिका निरूपण हुआ है, तथा ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्तिम गति अक्षर और अलक्षण ब्रह्म बताया गया है (शारीर० १।१५५,१५६)। इसके अतिरिक्त षड्धातुक पुरुषका निरूपण करते समय पाँच भूतोंके साथ कहींपर आत्मा और कहींपर ब्रह्मको गिनाया गया है। इससे आत्मा और ब्रह्मका तादात्म्य सिद्ध होता है। ब्रह्मको पुरुषका अन्तरात्मा कहा गया है (शारीर० ५।५)। मोक्षके पर्यायोंमें ब्रह्मको भी गिना

---

१. **यथास्वेनात्मनात्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु।**
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः॥ —(शारीर० १।७७)

२. **वशी तत्कुरुते कर्म यत्कृत्वा फलमश्नुते।**
वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति॥ —(शारीर० १।७८)

गया है, क्योंकि ब्रह्मरूपता ही मोक्ष है। उसीको पर कहा गया है।[1] इस प्रकार आत्मा ब्रह्म मोक्ष और परका एकत्व सिद्ध होता है। चरकका यह आत्मविषयक उपस्थापन शाङ्करवेदान्ताभिमत औपनिषद सिद्धान्तका ही परिपोषक है।

आत्माकी कारणता

चरकमुनिने आत्माको हेतु कारण निमित्त कर्त्ता धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा और प्रभव कहा है (शारीर० ४।८)। उसे प्रकृति प्रयोक्ता प्रधान प्रजापति विष्णु ग्रहण और सर्वशरीरभृत् कहा गया है। आत्मा विश्वकी उत्पत्तिका मूल है। "प्रलयके समाप्त होनेपर भूतोंकी सर्जना करनेकी इच्छासे युक्त होकर अक्षरस्वरूप परमात्मा सत्त्वकी सहायतासे सर्वप्रथम आकाशकी सृष्टि करता है, उसके अनन्तर क्रमशः व्यक्ततर गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंको उत्पन्न करता है।"[2] सिसृक्षा उस परमात्माका सृष्टिसङ्कल्प है, जिसे उपनिषदोंमें ईक्षण कहा गया है। परनिर्माणवादी नास्तिकोंके मतका प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया है—"परनिर्माणसे यदि अनादि चेतनाधातुरूप आत्माका किसी अन्यके द्वारा निर्मित किया जाना अभिप्रेत है; तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जो अनादि है, उसकी उत्पत्ति या निर्मितिका प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु परनिर्मितिसे **'परेण आत्मना निर्मितिः प्रपञ्चरचना'** इस व्याख्याके द्वारा यदि आत्माका प्रपञ्चहेतुत्व अभिप्रेत हो, तो हमें भी परनिर्मिति अभीष्ट है।"[3] स्पष्ट है कि चरकमुनि औपनिषद सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए आत्माको विश्वप्रपञ्चका कारण मानते हैं।

आत्मा गर्भका हेतु है। भरद्वाजने आत्माके गर्भहेतुत्वका प्रत्याख्यान करते हुए कहा—"आत्मा गर्भरूपमें अपनेको उत्पन्न नहीं कर सकता है। सूक्ष्म और निरवयव होनेके कारण आत्माके किसी अवयवसे गर्भोत्पत्ति असम्भव है। यदि आत्मा पूर्णतया अपनेको गर्भरूपमें उत्पन्न करता है, तो स्वयं उत्पन्न होकर करता है, अथवा विना उत्पन्न हुए ही करता है? दोनों ही पक्ष असङ्गत हैं। उत्पन्न होकर अपनेको उत्पन्न करना निरर्थक है, क्योंकि उत्पन्न होनेके कारण वह पहलेसे ही विद्यमान है; और विना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न करना असम्भव है, क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं है, वह उत्पत्तिका कर्त्ता कैसे बन सकता है? अच्छा इस बातको जाने दीजिए। यदि आत्मा अपनेको गर्भरूपेण उत्पन्न

---

१. **निवृत्तिरपवर्गः, तत्परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः।**
विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्य्यायैः शान्तिरुच्यते।। —(शारीर० ५।११,२३)

२. **प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः गुर्वत्तरमाकाशं सृजति; ततः क्रमेण व्यक्तरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः।**
—(शारीर० ४।८)

३. **अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।**
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टास्तु परनिर्मितिः।। —(सूत्र० ११।२३)

करनेमें समर्थ है, तो वह अपनेको देवादि अभीष्ट योनियोंमें ही क्यों नहीं उत्पन्न करता है ? आत्मा तो अपनेको वशी, अप्रतिहतगति, कामरूपी, तेज बल वेग वर्ण सत्त्व संहनन(शरीरकी गठन)आदिसे समृद्ध, जरारहित, नीरोग और मरणरहित चाहता है, अथवा इससे भी अधिक गुणोंसे अपनेको युक्त करना चाहता है। स्वयं अपना कर्त्ता होते हुए वह इन गुणोंके विपरीत जरा-मरण और रोगादिसे क्यों ग्रस्त होता है ?" (शारीर० ३।६)। भगवान् आत्रेयने भरद्वाजकी इस शङ्काका उच्छेद करते हुए कहा—"यह गर्भ अन्य हेतुओंके साथ-साथ आत्मासे भी उत्पन्न होता है, क्योंकि जो अन्तरात्मा है, वही गर्भका भी आत्मा है। उस गर्भात्माको जीव भी कहते हैं। वह आत्मा गर्भाशयमें प्रवेश करके शुक्रशोणितरूप बीजके साथ संयुक्त होकर अपनेको गर्भरूपमें अपने ही द्वारा उत्पन्न करता है, क्योंकि गर्भके लिए भी 'आत्म'-सञ्ज्ञा होती है। अनादि होनेके कारण आत्माका जन्म सम्भव नहीं है। इसलिए नित्य होनेके कारण अजात होकर ही यह अपने अजात (जनिष्यमाण) गर्भरूपको जन्म देता है। वही गर्भ कालान्तरमें बाल्य यौवन और वार्धक्यको प्राप्त होता है। वह जिस-जिस अवस्थामें वर्त्तमान होता है, उस-उस अवस्थामें उत्पन्न (जात) कहा जाता है। जैसे—**युवा जातः**, **वृद्धो जातः** इत्यादि। और जो अवस्था आगे आनेवाली होती है, उसमें जनिष्यमाण होता है। जैसे—**बालस्य युवत्वमजातं जनिष्यते**। इसलिए जातत्व और अजातत्व आत्मामें युगपत् सम्भव होते हैं। जिस आत्मामें जातत्व और अजातत्व (जनिष्यमाणत्व) दोनों ही धर्म युगपत् सम्भव हैं, वह जात भी उत्पन्न होता है और आगामिनी अवस्थाओंमें अजात होकर भी अपने द्वारा अपनेको उत्पन्न करता है। इसलिए **जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा** यह पूर्वपक्ष नहीं बनता है, क्योंकि अवस्था-भेदके कारण आत्माका जातत्व और अजातत्व है। परमार्थतः तो आत्मा नित्य होनेके कारण नित्य अजात है, वह अपनी अजात (आगामिनी) गर्भादि अवस्थाओं-को उत्पन्न करता है। सत् पदार्थका अवस्थान्तरको प्राप्त होना ही जन्म कह-लाता है। उस-उस वय और उस-उस अवस्थामें नित्य आत्माका पहुँचना ही उसका जन्म है। जिस प्रकार शुक्र शोणित और जीव ये तीनों संयोगके पूर्व भी सत् (विद्यमान) हैं, किन्तु इनको गर्भ नहीं कहा जाता है। संयोग होनेके पश्चात् ही इनको गर्भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इसलिए पूर्वसिद्ध शुक्र शोणित और जीव, संयोगसे पूर्व गर्भरूपसे अजात हैं, तथा संयोगके पश्चात् गर्भरूपसे जात होते हैं। अथवा जिस प्रकार कोई पुरुष विद्यमान होनेपर भी सन्तानकी उत्पत्तिके पूर्व पिता नहीं बन सकता है, सन्तान होनेके अनन्तर ही बनता है। उसी प्रकार सत् गर्भको भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें जात तथा अजात कहा जाता है। जिस अवस्थामें पहुँच गया है उसमें जात, तथा जिस अवस्थामें पहुँचनेवाला है उसमें अजात या जायमान होता है (शारीर० ३।१४)।

"सतो हि अवस्थान्तरगमनमात्रमेव जन्म चोच्यते" यह कथन साङ्ख्य और वेदान्तसम्मत सत्कार्यवादके सिद्धान्तका समर्थन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैशेषिकसम्मत षट्पदार्थोंका परिगणन करनेपर भी चरक-मुनिकी आस्था आरम्भवादमें नहीं है। जगत्का मूलकारण सत् पदार्थ ही विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ 'कार्य'सञ्ज्ञा प्राप्त करता है। कारण-

का यह अवस्थान्तरगमन ही कार्यका जन्म है। अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य(२।१।१८) में आचार्य शङ्करने अपने पूर्ववर्ती आचार्य चरकके इसी मतका समर्थन किया है—"अतः क्षीरादि द्रव्य ही दधि इत्यादिके रूपमें अवस्थित होते हुए 'कार्य' सञ्ज्ञाको प्राप्त करते हैं। कारणसे कार्य भिन्न है, यह बात सौ वर्षोंके प्रयाससे भी निश्चित नहीं की जा सकती है। इस प्रकार मूलकारणभूत सत्तत्त्व ही अन्तिम कार्यपर्यन्त उस-उस कार्यके आकारको नटके समान धारण करता हुआ जन्मादि समस्त व्यवहारोंका विषय बनता है।" इससे यह सिद्ध हुआ कि चरकके अनुसार कारणभूत आत्मा ही गर्भ बाल्य यौवन और वार्धक्यादि अवस्थान्तरोंको प्राप्त होता हुआ उन-उन अवस्थाओंमें 'जात' कहा जाता है, और जिस आगामिनी अवस्थाको अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उस अवस्थाको दृष्टिमें रखते हुए 'अजात' कहा जाता है।

अब भरद्वाजकी शङ्काके दूसरे अंशका परिहार किया जा रहा है—गर्भके समस्त भावोंके विषयमें माता-पिता और आत्माकी यथेष्टकारिता नहीं है, अर्थात् माता-पिता और आत्मा स्वेच्छानुसार गर्भके सभी भावोंका निर्माण कर सकें, यह उनके वशकी बात नहीं है। गर्भके कुछ भावोंको माता-पिता और आत्मा स्वाधीनतापूर्वक बनाते हैं, तथा कुछ भावोंको कर्माधीन होकर बनाते हैं। माता और पिता गर्भकारणभूत मैथुन तथा सात्म्यरसोंके सेवनके विषयमें स्वाधीन हैं, किन्तु जीवके द्वारा गर्भका अधिष्ठित किया जाना उनके वशकी बात नहीं है, क्योंकि यह कर्माधीन है। आत्मा(जीव) भी गर्भके चैतन्य-के विषयमें तथा धर्माधर्मकी हेतुभूता क्रियाका अनुष्ठान करनेमें स्वाधीन है, किन्तु इष्ट अथवा अनिष्ट योनियोंमें जाना उसके वशकी बात नहीं है, क्योंकि यह धर्माधर्मरूप कर्मसे जन्य होनेके कारण कर्माधीन है। इस प्रकार आत्मा-(जीव) गर्भविषयक कुछ भावोंमें स्वाधीन है, और कुछमें पराधीन है। सभी भावोंके विषयमें मातापित्रादिका यथेष्टकारित्व नहीं है, क्योंकि कुछ कार्योंमें इनके मन इत्यादि करण समर्थ होते हैं, और कुछमें नहीं। जिन कार्योंके विषयमें इनके मन इन्द्रिय शुक्र और शोणित इत्यादि करण श्रेष्ठगुण सम्पन्न होते हैं, उनके विषयमें अपने बलके अनुसार मातापित्रादि यथेष्टकारी होते हैं। इसका तात्पर्य यह है, यदि पुरुषगत शुक्र विशुद्ध तथा प्रचुर होता है, और स्त्रीकी योनि विशुद्ध होती है, तथा उन दोनोंका पुत्रप्राप्तिका हेतुभूत पूर्वकर्म-(अदृष्ट) बलवान् होता है, तो मैथुनके द्वारा वे दोनों अभीष्ट पुत्रको जन्म देते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी जब विशुद्धसत्त्वादिगुणोंसे युक्त होता है, तथा उसका कर्म शुभ और बलवान् होता है, तो अभीष्ट योनिका अभिध्यान करते ही उसको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस विशिष्ट परिस्थितिमें अभीष्ट-योनिगमन भी आत्माके स्वाधीन हो जाता है। इसके विपरीत होनेपर अर्थात् सत्त्वादिकरणोंके अशक्त अथवा उपहत होनेपर तथा दैवके प्रतिकूल होनेपर माता-पिता और आत्माका यथेष्टकारित्व सम्भव नहीं है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि सत्त्वादिकरणोंके दोष या उपघातके कारण किसी समय गर्भको उत्पन्न न करते हुए आत्माका गर्भकारणत्व व्यावृत्त हो जाता है, प्रत्युत उसका कारणत्व उस अवस्थामें भी अक्षुण्ण रहता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मृत्तिका दण्ड और चक्रादिका अभाव होनेसे घटका निर्माण

न करनेपर भी कुम्भकार घटका कारण होता है, क्योंकि उसमें घटनिर्माणकी शक्ति तो रहती ही है, उसी प्रकार आत्मा भी यदि करणोंके दोषसे किसी समय गर्भको नहीं उत्पन्न करता है, तो भी वह गर्भका कारण रहता है, क्योंकि गर्भजननकी शक्ति तो उसमें रहती ही है। आत्माके कारण होनेसे कहीं कहीं अभीष्टयोनिगमन भी उसमें सम्भव है, क्योंकि आत्मवेत्ताओंके द्वारा चेष्टा योनि ऐश्वर्य और मोक्ष आत्माके अधीन देखे गये हैं। आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरा सुख और दुःखका कर्ता नहीं है। आत्मा ही सुखदुःख तथा उसके साधनभूत इन्द्रिय कर्म और शरीरादिका कर्त्ता है। अतः सुखदुःखादिके आधार-भूत गर्भका कारण भी आत्मा ही है। उत्पन्न होता हुआ गर्भ आत्माको छोड़-कर किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि बीजको छोड़कर अङ्कुर-की उत्पत्ति किसी अन्य हेतुसे नहीं होती है।[1] बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्तिका दृष्टान्त, कार्यका कारणके साथ अविनाभाव सिद्ध करनेके लिए, तिस्रैषणीयमें भी प्रस्तुत किया गया है (सूत्र० ११।३२)। तथा आत्माके सुखदुःखकर्तृत्वका निरूपण पुरुषविचयशारीरमें भी उपलब्ध होता है।[2] आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरा सुखदुःखका कारण नहीं है, यह सिद्धान्त एक प्रसिद्ध आभाणकमें लोक-व्यवहारोपयोगी बनाकर इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः, स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

इस अवतरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गर्भके विषयमें यद्यपि आत्माका यथेष्टकारित्व नहीं है, क्योंकि अभीष्टयोन्यादिकी प्राप्ति प्रायेण कर्मा-धीन है, तथापि सत्त्वादिकी विशुद्धता होनेपर, और शुभकर्मोंके बलवान् होने-पर, गर्भके विषयमें भी आत्माका यथेष्टकारित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार भरद्वाजकी पूर्वोक्त शङ्का निरस्त हो जाती है। शङ्कराचार्यने भी ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।१।३४)में परमात्माके द्वारा प्राणियोंकी सृष्टि कर्मसापेक्ष मानी है। देवता और मनुष्यादिकी सृष्टिके विषयमें परमात्मा तो पर्जन्यके समान साधारण कारण बनता है, किन्तु उनके वैषम्यका कारण बनते हैं, उन-उन जीवोंके असाधारण कर्म।

---

१. **न खलु गर्भस्य न च मातुर्न पितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वमस्ति। ते किञ्चित् स्ववशात् कुर्वन्ति, किञ्चित् कर्मवशात्। क्वचिच्चैषां करण-शक्तिर्भवति, क्वचिन्न भवति। यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत्, तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्ययः। न च करणदोषादकारणमात्मा सम्भवति गर्भजनने। दृष्टं चेष्टायोनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मा-यत्तम्। न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्ता। न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः। न चाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्।** —(शारीर० ३।१५)

२. **सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता, नान्य इति।**

—(शारीर० ५।७)

आत्मा न केवल गर्भका कारण है, प्रत्युत वह सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण है। पुरुषको सम्पूर्ण जगत्का प्रधानभूत स्थायी कारण क्यों माना जाता है? अग्निवेशकी इस शङ्काका उत्तर महर्षि आत्रेयने इस प्रकार दिया—"यदि कर्त्ता और ज्ञाता पुरुष न हो, तो प्रकाश(ज्ञान), अन्धकार(अज्ञान), सत्य, अनृत, वेद तथा शुभाशुभ कर्मादि कुछ भी न हो। यदि पुरुष न हो, तो न आश्रय(शरीर), न सुख, न दुःख, न गमन, न आगमन, न वाणी, न विज्ञान, न शास्त्र, न जन्म, न मरण, न बन्धन और न मोक्ष ही सम्भव है। इसलिए कारणतत्त्वको सम्यक्तया जाननेवाले महर्षियोंके द्वारा पुरुषको कारण कहा गया है। यदि आत्मा कारण न हो, तो पूर्वोक्त प्रकाशादि कार्य अहेतुक हो जायँगे, और ज्ञाता आत्माके विना अज्ञात प्रकाशादिका न तो ज्ञान ही होगा और न इनसे कोई प्रयोजन ही सिद्ध होगा।"[१] आत्माकी अनिवार्य कारणता-का प्रतिपादन करते हुए महर्षिने दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। मृत्तिका दण्ड और चक्रके द्वारा, कुम्भकारके विना ही, घट बना लिया जाता है, मिट्टी तृण और काष्ठके द्वारा, गृहकारके विना ही, स्वयं गृहका निर्माण कर लिया जाता है—जो मूढ पुरुष अज्ञानके कारण इस प्रकारकी बात कहता है, युक्ति और आगम प्रमाणसे रहित हुआ वह मूढ पुरुष ही यह कह सकता है कि कर्त्ता आत्माके विना केवल महाभूतादि जड धातुएँ ही मिलकर देहका निर्माण कर लेती है।[२] जैसे कुम्भकारके विना घट नहीं बन सकता है, तथा गृहकारके विना गृहका निर्माण नहीं हो सकता है, उसी प्रकार कर्त्ता आत्माके विना शरीरका निर्माण नहीं हो सकता है। इसीलिए आचार्यने इस निष्कर्षका दोहन किया है—"जिन सब प्रमाणोंसे अन्य प्रमेयपदार्थोंका ज्ञान होता है, उन्हीं सब प्रमाणोंसे 'पुरुष कारण है' यह ज्ञान प्राप्त होता है।[३]

आत्माका कारणत्व और कर्तृत्व चरकके मतानुसार आरोपित या कल्पित है। वस्तुतः आत्मामें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं है। क्रियाका सम्बन्ध मनके

---

१. भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्त्ता न बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि॥
नाश्रयो न सुखं नार्त्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद्यदि।
कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः॥
न चेत्कारणमात्मा स्याद् भादयः स्युरहेतुकाः।
न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात्प्रयोजनम्॥—(शारीर० १।३९-४२)

२. कृतं मृद्दण्डचक्रैश्च कुम्भकारादृते घटम्।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद् विना गृहम्॥
यो वदेत्स वदेद्देहं सम्भूय करणैः कृतम्।
विना कर्त्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः॥ —(शारीर० १।४३-४४)

३. कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते।
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रमीयते॥ —(शारीर० १।४५)

साथ है, जो मोक्षपर्य्यन्त आत्मासे नित्यसम्बद्ध रहता है। मन अचेतन है और आत्मा चेतन है। अतः चेतन होनेके कारण अचेतन मनकी क्रियाओंका आरोप आत्मामें किया जाता है। कतिधापुरुषीयमें कहा गया है—मन अचेतन और क्रियावान् है। मनसे युक्त होनेपर उस विभु आत्मामें मनकी क्रियाओंका आरोप किया जाता है। अर्थात् आत्माके द्वारा अधिष्ठित मनकी ही क्रियाएँ उपचार-से आत्माकी क्रियाएँ कहलाती हैं। चूँकि आत्मा चेतनावान् है, इसलिए क्रिया-वान् न होनेपर भी कर्त्ता कहा जाता है, और मन अचेतन होनेके कारण क्रियावान् होनेपर भी कर्त्ता नहीं कहा जाता है (शारीर० १।७५,७६)। चेतन आत्मासे अधिष्ठित होकर ही मन क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है, चेतनसे अधिष्ठित हुए विना नहीं। अतः जिसके कारण क्रिया होती है, उसीको क्रिया-वान् कहना उचित है। अचेतन मनको नहीं, क्योंकि उसकी क्रिया पराधीन है। अतः परमार्थतः क्रियावान् होनेपर भी मनको कर्त्ता नहीं कहा जाता है। **"प्रवृत्तेश्च"** (ब्रह्मसूत्र २।२।२)के भाष्यमें आचार्यशङ्करने भी प्रवृत्ति(क्रिया)को अचेतनाश्रित स्वीकार करके भी उसका हेतु चेतनको ही माना है। देखिए—"हम यह नहीं कहते हैं कि जिस अचेतनमें प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है, वह उसकी नहीं है। वह उसीकी रहे। किन्तु वह प्रवृत्ति चेतनसे होती है, यह हमारा कहना है। क्योंकि प्रवृत्ति चेतनके होनेपर ही होती है, और न होनेपर नहीं होती है।" स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी आत्मा समस्त प्रवृत्तियोंका मूलकारण है। चरकदर्शन और शाङ्करदर्शनका इस विषयमें ऐकमत्य लक्षित होता है। इसी दृष्टिसे आत्माको चरकसंहितामें कारण प्रकृति हेतु निमित्त कर्त्ता प्रयोक्ता धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा स्रष्टा और सर्वशरीरभृत् कहा गया है।

वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्वका आश्रय राशिपुरुष है। शुद्ध आत्मामें न कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व, जैसा कि कहा गया है—"भूतोंका अधिष्ठाता आत्मा अकेला अर्थात् मन इन्द्रिय और शरीरादिके संयोगके विना न तो कोई कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है, और न कर्मफलका भोग ही करता है। यह सब (कर्तृत्व और भोक्तृत्व) संयोगसे होता है। संयोगके विना कुछ भी सम्भव नहीं है।"[1] तथा "मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इन करणोंके साथ कर्त्ता आत्माका संयोग होनेपर ही कर्म वेदना (feeling) तथा बुद्धि(ज्ञान)का उद्भव होता है।"[2] संयोगजन्य होनेपर भी कर्तृत्व और भोक्तृत्वका मूलकारण चैतन्यात्मा ही है, अतः उसे कर्त्ता और भोक्ता कहा जाता है। इसीलिए पारीक्षिमौद्गल्यका **"स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च"** (सूत्र० २५।९) यह कथन सर्वथा समीचीन है। चूँकि आत्माका कर्तृत्व औपचारिक है, अतः उसका भोक्तृत्व भी औपचारिक सिद्ध होता है। कर्तृत्वकी औपचारिकताको प्रसाधित किया जा चुका है, और भोक्तृत्वकी परमार्थता ग्रन्थके किसी भी

---

१. नैकः प्रवर्त्तते कर्त्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद् वर्त्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन॥ —(शारीर० १।५७)

२. करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्त्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च॥ —(शारीर० १।५६)

स्थलमें उपलब्ध नहीं है, फलतः भोक्तृत्वको भी आरोपित मानना पड़ता है। साङ्ख्यसम्मत पुरुषका पारमार्थिक भोक्तृत्व यदि चरकको अभिमत होता, तो उसका स्पष्टतया निरूपण कहीं न कहीं अवश्य किया होता। इस कारणसे भी चरकदर्शन अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा शाङ्करदर्शनके अधिक निकट है।

श्रुतिस्मृतिपरम्पराका अनुसरण करते हुए चरकमुनिने आत्माको पुरुष पुमान् देही और जीव पदोंसे अभिहित किया है (सूत्र० १।४७; शारीर० १।७६ २।३१, ३।१४, ४।८)। इन सबका अभिप्राय एक ही है। शरीरका उपादान करनेपर आत्मा इन नामोंसे अभिधेय होता है। **'पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः', 'देहोऽस्ति अस्येति देही', 'जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः'** इन व्युत्पत्तियोंसे शरीरधारीको ही पुरुष देही और जीव कहा जाता है। वेदान्तमें इसको आत्माका औपाधिक रूप कहा गया है। चरकने इसीको पूर्वनिरूपित 'राशि-पुरुष'सञ्ज्ञा प्रदान की है। राशिपुरुषगत पञ्चभूतात्मक गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण इसी आत्माको 'गुणी' तथा 'सर्वगुणवान्' भी कहा गया है (शारीर० ४।८,१०)।

आत्माका विभुत्व

चरकमुनिने आत्माकी सर्वव्यापकताको स्वीकार करते हुए उसे विभु सर्वग और सर्वगत कहा है।[1] जब अग्निवेशने आत्माकी व्यापकतापर आक्षेप करते हुए पूछा—**"सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ?"** (शारीर० १।७) अर्थात् यदि आत्मा सर्वगत है, तो सभी(सर्वाश्रयस्थ)वेदनाओंका ज्ञान उसे क्यों नहीं होता है ? तब महर्षि आत्रेयने उसका परिहार इस प्रकार किया—'सर्वव्यापक होनेपर भी (परिच्छिन्न देहादिका उपादान करनेके कारण) देही आत्मा अपने-अपने स्पर्शनेन्द्रिययुक्त शरीरमें ही होनेवाली सुखदुःखरूप वेदनाओं-को जानता है, सभी आश्रयोंमें रहनेवाली वेदनाओंको नहीं जान पाता है।'[2] जीवकी अल्पज्ञताका जो समाधान अद्वैतवेदान्तमें उपलब्ध होता है, वही समाधान यहाँ चरकमुनिने प्रस्तुत किया है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शङ्कराचार्यने किसी नवीन दर्शनका प्रणयन नहीं किया है, प्रस्तुत श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित, महाभारत तथा चरकसंहितादि प्राचीनग्रन्थोंमें निरूपित, औपनिषददर्शन ही शङ्कराचार्यका प्रतिपाद्य है। 'देही' यह आत्माका हेतुगर्भ विशेषण है, अर्थात् देहावच्छिन्न होनेके कारण। शरीरके लिए 'संस्पर्शनेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग यह प्रदर्शित करनेके लिए किया गया है कि अपने शरीरमें भी जहाँ केशनखादिमें स्पर्शनेन्द्रिय नहीं है, वहाँ आत्माको किसी भी प्रकारकी सुखदुःखरूप अनुभूति नहीं होती है। चूँकि आत्मा सर्वगत और महान् हैं, इसी-से उसका विभुत्व भी सिद्ध होता है।[3] विभुत्वका अर्थ है सर्वपरिमाणयोगी

---

१. **द्रष्टव्यम्**—(शारीर० १।५,६१,७५,७६,८०; २।३२ तथा ४।८)।

२. **देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये।**
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्मातो वेत्ति वेदनाः ॥ —(शारीर० १।७६)

३. **विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।** —(शारीर० १।८०)

होना, अर्थात् विश्वके सभी परिमाण इस आत्माके ही परिमाण हैं। जैसे हाथीके पैरमें सभीके पैर समा जाते हैं, वैसे ही विश्वके समस्त परिमाण आत्मामें समा जाते हैं। यद्यपि आकाश भी सर्वत्र उपलब्ध होनेके कारण सर्वगत कहा जाता है,[१] तथापि वह 'महान्' नहीं है। आकाशका व्यवच्छेद करनेके लिए भी यहाँ आत्माको सर्वगत होनेके साथ महान् कहा गया है। आत्माकी यह महत्ता ही ब्रह्म और भूमा इत्यादिके रूपमें पर्यवसित हुई है। आकाशादिमें यह बात नहीं है, वे तो आत्माके एक अंशमात्रमें स्थित हैं।[२]

आत्माके विभुत्वपर अग्निवेशने एक दूसरी शङ्का यह उठायी—"**न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् ?**" (शारीर० १।८) अर्थात् यदि आत्मा विभु है, तो पर्वत और दीवालके पीछे छिपी हुई वस्तुको क्यों नहीं देख पाता है ? आत्रेयने कहा—'मनको समाहित करनेके द्वारा योगियोंका आत्मा छिपी हुई वस्तुओंको भी देख सकता है। यद्यपि आत्मा सर्वयोनिगत अर्थात् सभी शरीरोंमें व्यापक है, तथापि देहोत्पादक कर्मका अनुसरण करनेवाले मनके साथ नित्यसम्बद्ध होनेके कारण उसे एक योनिमें स्थित अर्थात् एक शरीरसे सम्बद्ध समझना चाहिए।'[३] तात्पर्य यह है कि व्यापक होनेके कारण यद्यपि आत्माके लिए पर्वत या दीवाल इत्यादिका व्यवधान बाधक नहीं हो सकता है, तथापि उसकी उपलब्धिका साधनभूत जो मन है, वह एक शरीरमात्रमें व्यवस्थित है, अतः शैलकुड्यादिसे तिरोहित वस्तुको देखनेमें वही बाधक बनता है। मोक्षपर्य्यन्त आत्मा का मनसे नित्यसम्बन्ध रहता है, और मन देहनिर्वर्त्तक कर्मका अनुसरण करनेके कारण देहसे सम्बद्ध होता है। फलतः देह और मनसे सम्बद्ध होनेके कारण आत्माको उतनी ही सामर्थ्य रह जाती है, जितनी देह और मनकी होती है। किन्तु जब कोई योगी मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके देह तथा मनोवृत्तियोंके आभाससे रहित हो जाता है, उस समय देह और मनका व्यवधान हट जानेसे वह तिरोहित पदार्थोंको भी देखनेमें समर्थ हो जाता है।

आत्माको कई स्थलोंपर विश्वरूप कहा गया है।[४] "**विश्वानि रूपाणि यस्य स विश्वरूपः**" इस व्याख्यासे विश्वके सभी रूप उसीके रूप हैं। गिरि-समुद्रादि तथा ग्रहनक्षत्रादि सब उसीके रूप हैं। वह स्वयं ही विश्वके रूपमें हो गया है, जैसा कि उपनिषद् कहती है—"उसने सङ्कल्परूप तप करके, यह जो कुछ है, इस सबकी रचना की। इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया, और अनुप्रवेश करके वह सत्य आत्मा, यह जो कुछ है—मूर्त्त और अमूर्त्त,

---

१. **यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।** —गीता (१३।३२)

२. **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**—ऋक्संहिता (१०।९०।३)

३. **मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम्।**
नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना॥
सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्। —(शारीर० १।८०—८१)

४. **द्रष्टव्यम्**—(शारीर० २।३२, ३।१४, ४।८ तथा चिकित्सा० २।४।४९)।

निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, आश्रय और अनाश्रय, जड और चेतन, तथा सत्य और अनृत —इन सबके रूपमें हो गया।"[१] इसके अतिरिक्त **इदं सर्वं यदयमात्मा** (बृहदा० २।४।६), **आत्मैवेदं सर्वम्** (छान्दोग्य० ७।२५।२), **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छान्दोग्य० ३।१४।१), **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्** (मुण्डक० २।२।११), तथा **सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य० २) इन वाक्योंके द्वारा उपनिषदोंमें आत्माकी विश्वरूपताका गान किया गया है। अतः आत्माको विश्वरूप कहनेके कारण चरकसंहिता साङ्ख्य तथा न्यायवैशेषिकसे अपना मतभेद प्रकट करती है तथा श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सिद्धान्तका अनुवर्त्तन करती है। आत्माके विश्वरूप होनेसे **विश्वकर्मा सर्वशरीरभृत्** और **एकः** इत्यादि विशेषणोंकी भी सङ्गति लग जाती है।

शरीरेन्द्रियादिका प्रयोक्ता (प्रवर्त्तक या प्रेरक) होनेके कारण आत्माको तीन स्थलोंपर **प्रधान** भी कहा गया है। शारीरस्थान(४।८)में आत्माके पर्यायोंके बीच प्रधान भी गिना गया है। शारीरस्थान(७।१६)में **यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानम्** कहकर प्रधानसञ्ज्ञक आत्माका प्रेरकत्व बताया गया है। तथा शारीरस्थान(७।१८)में भी आत्माके लिए प्रधानशब्दका प्रयोग किया गया है। इससे भी साङ्ख्यदर्शनसे चरकमुनिका वैमत्य सिद्ध होता है। साङ्ख्यदर्शनमें त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृतिको प्रधान कहा गया है, और पुरुष या आत्माको उससे सर्वथा भिन्न तथा उदासीन बताया गया है। जबकि यहाँपर पुरुष या आत्माको प्रकृतिसे अभिन्न प्रधानके रूपमें स्वीकार किया गया है। मूलप्रकृति और पुरुष इन दोनोंको चरकसंहितामें एकत्वेन ग्रहण किया गया है। और उसे 'अव्यक्त'सञ्ज्ञा भी प्रदान की गयी है। चरकका यह सिद्धान्त उपनिषद् तथा महाभारतादि ग्रन्थोंका अनुगामी है, न कि परवर्ती साङ्ख्यका।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

चरकसंहिताकी रचनाके बहुत पहले श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेचन प्राप्त होता है। चरकसंहितामें उसी गीतोक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रविभागका प्रतिबिम्ब लक्षित होता है। आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत, बुद्धि, अव्यक्त और आठवाँ अहङ्कार—इन आठको समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी प्रकृति कहा गया है। इनके अतिरिक्त सोलहको 'विकार'सञ्ज्ञा दी गयी है। ये विकार हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच अर्थ (आकाशादि स्थूलभूत)। इन चौबीस तत्त्वोंमें अव्यक्तको छोड़कर शेष तेईसको क्षेत्र कहा गया है, तथा ऋषियोंने अव्यक्तको इस क्षेत्रका ज्ञाता

---

१. **स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्. निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञान च, सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्, यदिदं किञ्च।** —तैत्तिरीयोपनिषद् (२।६।१)

क्षेत्रज्ञ समझा है।[१] चरकसंहितामें 'अव्यक्त'पदसे अव्यक्तनाम्नी मूलप्रकृतिसे संयुक्त चेतनपुरुषको ग्रहण किया गया है, ऐसा हम पहले भी कह आये हैं। जब कि ईश्वरकृष्णकी साङ्ख्यकारिकामें 'अव्यक्त'पदसे त्रिगुणात्मक अचेतन मूलप्रकृतिमात्रको ग्रहण किया गया है। चरकका मत अद्वैतवेदान्तका अनुगामी है। अव्यक्तको क्षेत्रज्ञ कहनेसे उसका चेतन होना सिद्ध होता है। अन्य भी अनेक स्थलोंपर चेतनपुरुष या आत्माके लिए चरकने 'अव्यक्त'शब्दका प्रयोग किया है। शङ्कराचार्यने अव्यक्तसे परमात्माकी अव्याकृत मायाशक्तिको ग्रहण किया है।[२] मायाशक्ति परमेश्वरसे अभिन्न है, इसलिए चरकने एक कदम और आगे बढ़कर शक्ति और शक्तिमान्में अभेददृष्टि रखकर चेतनपुरुषके लिए ही अव्यक्तशब्दका प्रयोग किया है।

गीतामें अव्यक्तसे अव्याकृत मूलप्रकृतिको ग्रहण करके उसमें महदादि तेईस और इच्छा द्वेष सुख दुःख सङ्घात चेतना तथा धृति—इन क्षेत्रधर्मोंको सम्मिलित करके क्षेत्रकी व्याख्या की गयी है।[३] वहाँपर इन सबके सङ्घातरूप स्थूलशरीरको क्षेत्र तथा इस शरीरको जाननेवाले परमात्माको क्षेत्रज्ञ कहा गया है।[४] स्थावर-जङ्गम समस्त भूतसमुदायकी सृष्टिका हेतु क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग बताया गया है,[५] तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सम्यग्ज्ञान तत्त्वज्ञानरूप होनेके कारण मोक्षकारक है, ऐसा कहकर इस प्रकरणका उपसंहार किया गया है।[६]

---

१. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सञ्ज्ञिताः॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः॥ —(शारीर० १।६३–६५)

२. न व्यक्तम् अव्यक्तम् अव्याकृतम् ईश्वरशक्तिः 'मम माया दुरत्यया' इत्युक्तम्। —गीताभाष्य (१३।५)

३. महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ —गीता (१३।५–६)

४. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। —गीता (१३।१–२)

५. यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ॥ —गीता (१३।२६)

६. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ —गीता (१३।२)
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ —गीता (१३।३४)

गीता तथा चरकके क्षेत्रविषयक सिद्धान्तमें केवल अव्यक्तको लेकर मतभेद है। गीतामें उसे मूलप्रकृति या अव्याकृत मायाशक्तिके रूपमें ग्रहण करके क्षेत्रके अन्तर्गत गिनाया गया है, किन्तु चरकसंहितामें प्रकृतिव्यतिरिक्त उदासीन पुरुषको अव्यक्तत्वरूप साधर्म्यके कारण अव्यक्त प्रकृतिमें ही प्रक्षिप्त करके अव्यक्तशब्दसे ग्रहण किया गया है।[1] इसीलिए अव्यक्तको यहाँपर क्षेत्रज्ञ कहा गया है। वस्तुतः क्षेत्रज्ञके स्वरूप-निर्धारणके लिए प्रयुक्त पदावलीमें भेद होनेपर भी दोनों ग्रन्थोंमें क्षेत्रज्ञके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। चरकने अव्यक्त आत्माको क्षेत्रज्ञ कहा है और भगवान् वासुदेवने अपनेको अर्थात् परमात्माको क्षेत्रज्ञ कहा है।[2] अव्यक्त आत्मा और परमात्मामें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

चरकसंहितामें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको लेकर एक मौलिक प्रश्न उठाया गया है। क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र इन दोनोंमें पहले कौन हुआ? यदि क्षेत्रज्ञको पूर्व-भावी मानें, तो यह बात ठीक नहीं जँचती, क्योंकि क्षेत्रज्ञ शब्द क्षेत्रसापेक्ष है। क्षेत्र ज्ञेय है, उसके अस्तित्वपर ही उसके ज्ञाता क्षेत्रज्ञकी क्षेत्रज्ञताका अस्तित्व अवलम्बित है। क्षेत्रके न होनेपर क्षेत्रज्ञानका अभाव होनेसे क्षेत्र-ज्ञताकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके विपरीत यदि क्षेत्रको पूर्ववर्त्ती माना जाय, तो क्षेत्रज्ञ आत्मा सादि होनेसे अशाश्वत अर्थात् अनित्य हो जायगा।[3] इसलिए संशय होना स्वाभाविक है। अग्निवेशकी इस शङ्काका उत्तर इस प्रकार है—"क्षेत्रज्ञ आत्माका आदि नहीं है अर्थात् वह अनादि है, और क्षेत्रोंकी प्रवाहरूप परम्परा भी अनादि है। अतः क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र-परम्परा दोनोंके अनादि होनेके कारण 'कौन पहले हुआ' यह प्रश्न ही नहीं उठता है।"[4] इसपर एक दूसरी शङ्का उठती है—यदि क्षेत्रपरम्परा अनादि है, तो आत्माके समान उसका भी विनाश नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो अनादि है, वह नित्य है, जैसे आत्मा। यदि क्षेत्रपरम्परा भी आत्माके समान नित्य है, तो मोक्ष कभी नहीं हो सकता है। इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिए—यद्यपि आत्मा और क्षेत्रपरम्परा दोनों ही अनादि हैं, तथापि नित्यता केवल आत्मामें ही है। तत्त्वसाक्षात्कारसे मोक्ष होनेपर क्षेत्रपरम्परा निवृत्त हो जाती है। अतः अनादि होनेपर भी क्षेत्रपरम्परा सान्त

---

१. इह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति। —चक्रपाणिः (शारीर० १।१७)

२. अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। —(शारीर० १।६१)
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा। —(शारीर० १।५)
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। —गीता (१३।२)

३. क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः।
ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते॥
क्षेत्रं च यदि पूर्वं स्यात्क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः॥ —(शारीर० १।८-९)

४. आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्।
अनादित्वात्तयोरस्माद् किं पूर्वमिति नोच्यते॥ —(शारीर० १।८२)

होनेके कारण नित्य नहीं हो सकती है। अनादिता भी केवल क्षेत्रपरम्पराकी है, क्षेत्रगत बुद्ध्यादिकी नहीं, क्योंकि बुद्ध्यादि उत्पत्तिविनाशधर्मा हैं। वस्तुतः क्षेत्रके अनित्य होनेके कारण क्षेत्रपरम्परा भी अनित्य है, क्योंकि सन्तान सन्तानियोंसे अभिन्न होती है। जब व्यष्टिभूत क्षेत्र उच्छित्तिधर्मा हैं, तो क्षेत्रसन्तानपरम्परा भी उच्छित्तिधर्मा ही सिद्ध होती है। इसलिए उसकी अनादिता भी आत्माके समान मुख्य न होकर भाक्त है। मोक्षका प्रतिपादन करनेवाले आगम क्षेत्रपरम्पराके उच्छेदमें प्रमाण हैं। गीता (१३।१९)में प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि कहा गया है। प्रकृतिसे बुद्ध्यादिसङ्घातरूप क्षेत्रपरम्परा तथा पुरुषसे क्षेत्रज्ञ आत्मा उपलक्षित होता है।

ईश्वर

यथा स्वेनात्मनात्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः॥

चक्रपाणिने इस श्लोक(शारीर० १।७७)की व्याख्या करते हुए लिखा है—'यह प्राणी स्वयं ही अपने धर्माधर्मकी सहायतासे अपनेको सभी योनियोंमें ले जाता है, किसी दूसरेसे प्रेरित होकर नहीं जाता है, क्योंकि कोई दूसरा पुरुष इसका प्रेरक नहीं है, और ईश्वरका अस्तित्व नहीं है। अथवा यदि ईश्वर है, तो वह भी कर्मपराधीन है।'[१] उनका यह कथन अविचारित प्रतीत होता है, क्योंकि चरकमुनिको न तो ईश्वरका अभाव अभिप्रेत है, और न उसका कर्मपराधीन होना। एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करनेवाला जो जीव या पुरुष है, चरकमुनिने ब्रह्मको उसका अन्तरात्मा कहा है।[२] अनेक धातुओंके सङ्घातरूप पुरुषमें जो चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसीको कहींपर ब्रह्म, कहींपर आत्मा, और कहीं परमात्मा कहा गया है। परमात्मा परमेश्वर ईश्वर और ब्रह्म समानार्थक हैं। यही वह तत्त्व है जिसे उपनिषदोंमें सम्पूर्णविश्वका अधिष्ठान मूलकारण और स्रष्टा कहा गया है। उपनिषत्प्रतिपादित यह तत्त्व चरकमुनिको सर्वथा मान्य है। स्रष्टा परमेश्वरके रूपमें ही उन्होंने आत्माका प्रतिपादन किया है। देखिये—'प्रलयके समाप्त होनेपर अक्षरभूत आत्मा भूतविषयक सर्जनेच्छासे युक्त होकर मनकी सहायतासे सबसे पहले आकाशकी सृष्टि करता है, उसके अनन्तर क्रमशः अधिक व्यक्त गुणोंवाली वायु इत्यादि चार धातुओंको उत्पन्न करता है' (शारीर० ४।८)। अक्षरभूत परामात्माकी इस सिसृक्षाको उपनिषदोंमें ईक्षण या कामना कहा गया है। तथा तैत्तिरीयोपनिषद्(२।१)में आत्मासे आकाशादिकी उत्पत्ति भी इसी क्रमसे बतायी गयी है।

---

१. आत्मनैवायं धर्माधर्मसहायेनात्मानं सर्वयोनिषु नयति, न परप्रेरितो याति, यतोऽन्यः पुरुषोऽस्य प्रेरको नास्ति, ईश्वराभावात्। किंवा, सत्यपि ईश्वरे तस्यापि कर्मपराधीनत्वात्।

२. (तस्य पुरुषस्य) ब्रह्मान्तरात्मा। —(शारीर० ५।५)

चरकके अनुसार पुरुषका अन्तरात्मा ब्रह्म है, और उपनिषदोंमें ब्रह्मसे ही समस्त भूतवर्गकी उत्पत्ति, उसीमें स्थिति, और उसीमें विलय बताया गया है।[१] अतः भूतोंकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेपर भी चरकको निरीश्वरवादी कहना किसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है। चरकमुनि ब्रह्मवादी हैं, तथा पौराणिक मान्यताएँ भी प्रतीकात्मक रूपमें उन्हें स्वीकार्य हैं। पुरुष और लोकके साधर्म्यका प्रतिपादन करते हुए चरकने कहा है कि लोकमें जितने मूर्तिमान् भावविशेष हैं, उतने ही पुरुषमें हैं। तथा पुरुषमें जितने भावविशेष हैं, उतने ही लोकमें हैं।[२] इसके अनन्तर उन्होंने लोकमें ब्राह्मी विभूतिका और पुरुषमें आन्तरात्मिकी विभूतिका समानान्तर वर्णन किया है—"जिस प्रकार लोकमें ब्रह्म(परमेश्वर)की विभूति (ऐश्वर्य) है, उसी प्रकार पुरुषमें भी आन्तरात्मिकी विभूति है। जैसे लोकमें ब्रह्मकी विभूति प्रजापति है, उसी प्रकार पुरुषमें अन्तरात्माकी विभूति सत्त्व (मन) है। लोकमें जो इन्द्र है, पुरुषमें वह अहङ्कार है। लोकमें जो आदित्य है, पुरुषमें वह आदान (रसशोषणशक्ति) है। लोकमें जो रुद्र है, पुरुषमें वह रोष है। लोकमें जो सोम (चन्द्रमा) है, पुरुषमें वह प्रसाद (प्रसन्नता) है। वसुगण सुख हैं, अश्विनीकुमार कान्ति हैं, मरुद्गण उत्साह हैं, विश्वेदेव सब इन्द्रियाँ और उनके विषय हैं, अन्धकार मोह है, और प्रकाश ज्ञान है। जैसे लोकमें सर्गका प्रारम्भ है, वैसे ही पुरुषका गर्भाधान है। जैसे लोकमें सत्ययुग है, वैसे ही पुरुषका बचपन है त्रेता यौवन है, द्वापर बुढ़ापा है, कलियुग बीमारी है, और युगान्त मृत्यु है" (शारीर० ५।५)। विभूति ऐश्वर्यका पर्याय है। ईश्वरके धर्मोंको ऐश्वर्य कहा जाता है। सारा लोक जिसकी विभूतिके रूपमें वर्णित हुआ है, उस परमेश्वरके अस्तित्वमें चरकका विश्वास नहीं है ऐसी शङ्का करना युक्तियुक्त नहीं है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस प्रकरणमें चक्रपाणि भी अपने पूर्वोक्त कथनके विरुद्ध 'ब्राह्मीति आत्मविशेषस्य जगत्स्रष्टुर्विभूतिः' कहकर जगत्स्रष्टा परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर भगवान् महेश्वर विष्णु सहस्रशीर्षा चराचरपति कृष्ण वासुदेव कर्त्ता ब्रह्मा तथा विश्वकर्मादि शब्दोंका प्रयोग प्राप्त होनेसे ग्रन्थकारकी ईश्वरके अस्तित्वमें आस्था सुस्पष्ट व्यक्त होती है (द्रष्टव्य–निदान० १।४० तथा ८।१५; शारीर० २।३२, ३।१४ तथा ४।८; चिकित्सा० ३।३११ तथा २३।९१-९३)।

तिस्रैषणीयमें परनिर्माणवादियोंका खण्डन करते हुए कहा गया है—"अनादि चेतनाधातुरूप आत्माका किसी अन्यके द्वारा निर्मित किया जाना सम्भव नहीं है, किन्तु परनिर्मितिसे यदि परमात्माका प्रपञ्चहेतुत्व अभिप्रेत हो, तो हमें भी परनिर्मिति अभीष्ट है" (सूत्र० ११।१३)। इससे सिद्ध होता है कि चरकमुनि औपनिषदसिद्धान्तका अनुसरण करते हुए पर आत्माको विश्व-प्रपञ्चका कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलोंपर इस आत्मा-

---

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति। —तैत्तिरीय० (३।१।१)

२. यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके। —(शारीर० ५।३)

को हेतु निमित्त कारण कर्त्ता धाता प्रयोक्ता ब्रह्मा विश्वकर्मा प्रजापति और सर्वशरीरभृत् इत्यादि कहा गया हैं। यह आत्मा ही ईश्वर या ब्रह्म है।

न्याय-वैशेषिक साङ्ख्य-योग तथा पाशुपतदर्शनमें ईश्वरका जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, वह चरकमुनिको अभीष्ट नहीं है। इन दर्शनोंमें ईश्वर-को प्रकृति तथा पुरुषवर्ग या पशुवर्गसे भिन्न और तटस्थ माना गया है, जब कि प्रस्तुत ग्रन्थमें ब्रह्म या आत्माको जीवका अन्तरात्मा माना गया है, और अव्यक्त प्रकृतिको भी पुरुषसे अभिन्न मानकर पुरुषके लिए अव्यक्तशब्दका प्रयोग किया गया है। सम्भवतः चरकसंहितामें वैशेषिक तथा साङ्ख्यदर्शनकी प्रचुरतासे उपलब्धि होनेके कारण चक्रपाणिको पूर्वोक्त भ्रान्ति हुई होगी। तटस्थ ईश्वरका प्रतिपादन न करनेके कारण उन्होंने साङ्ख्यके समान चरकको भी निरीश्वरवादी समझ लिया होगा। पुरुष और प्रकृतिसे अभिन्न अद्वैत परमात्मतत्त्वकी ओर उनकी दृष्टि क्यों नहीं गयी, यह बात समझमें नहीं आती है। सम्भवतः वे ईश्वरशब्दकी तलाशमें रहे होंगे, जो चरकसंहितामें कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। यद्यपि महेश्वर शब्दका प्रयोग अनेक स्थलोंपर (निदान० १।४० तथा ८।१५) हुआ है।

रही ईश्वरके कर्मपराधीन होनेकी बात, सो ईश्वरको कर्मपराधीन मानना दर्शनशास्त्रविषयक घोर अज्ञानका परिचायक है, क्योंकि उस स्थितिमें ईश्वर-की ईश्वरता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं रह जायगी। जो पराधीन है, वह ईश्वर कैसा ? यह बात लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। किन्तु तटस्थेश्वरवादमें कर्मपराधीनताका दोष अपरिहार्य है, क्योंकि यदि ईश्वरको कर्मपराधीन नहीं माना जायगा, तो उसमें कर्मनिरपेक्ष होकर हीन मध्यम और उत्तम प्राणियों-की सृष्टि करनेसे हमलोगोंके समान रागद्वेषादि दोषोंकी प्रसक्ति होगी, और ईश्वरका ईश्वरत्व नष्ट हो जायगा। यदि उसे कर्मापेक्षया सृष्टिकर्त्ता माना जाय, तो कर्म और ईश्वरके परस्पर प्रवर्त्तक और प्रवर्त्य होनेसे अन्योन्याश्रय-दोष होगा। अतः तटस्थेश्वरवादमें अनेक दोष होनेके कारण ग्रन्थकारने उसे हेय समझकर श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित ब्रह्मवादका आश्रय ग्रहण किया है। ब्रह्म-वादमें प्राणियोंका ब्रह्मसे अभेद होनेके कारण, तथा संसारके अनादि होनेसे सृष्टि और कर्ममें बीजाङ्कुरके समान कार्यकारणभाव होनेके कारण, पूर्वोक्त दोषोंके लिए अवकाश नहीं है।



सप्तम अध्याय

बन्ध और मोक्ष

चरकसंहिता चिकित्साशास्त्रका ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें दो प्रकारकी चिकित्सा बताई गई है—(१) शारीरिक और मानसिक दोषोंकी चिकित्सा, तथा (२) नैष्ठिकी चिकित्सा। दुःखरूप संसारबन्धनसे विनिर्मुक्त होनेके लिए जो उपाय बताए गए हैं, उन्हें चरकमुनिने नैष्ठिकी चिकित्सा कहा है। उन्होंने न केवल शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे छूटनेका उपाय बताया है, प्रत्युत सर्वविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय भी प्रदर्शित किया है। प्रथम अध्यायमें हम प्रदर्शित कर चुके हैं कि चिकित्साशास्त्रका प्रयोजन केवल तात्कालिक दुःखनिवृत्ति ही नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधानलक्ष्य दुःखकी आत्यन्तिकनिवृत्ति भी है। इसीलिए आयुर्वेदको **'लोकयोरुभयोर्हितम्'** (सूत्र० १।४३) तथा **'अनन्त-पार'** (सूत्र० १।२५) इत्यादि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है।

दुःखके हेतु—चरकमुनिने कहा है कि जो चिकित्सा उपधा(तृष्णा)से रहित होती है, वह नैष्ठिकी चिकित्सा कहलाती है।[1] वैशेषिकदर्शनमें इच्छा राग द्वेष प्रमाद अश्रद्धा मद मान और असूया इत्यादि भावदोषोंको उपधा कहा गया है।[2] "यह उपधा ही दुःख और दुःखके आश्रयभूत शरीरको देनेवाला मूलकारण है, और समस्त उपधाओंका परित्याग ही समस्त दुःखोंका निवारक है। जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने मृत्युकारक रेशोंको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अविवेकी मनुष्य विषयोंसे उपधारूप तृष्णाको ग्रहण कर लेता है, और इससे सदा दुःखमें पड़ा रहता है। किन्तु जो विवेकी पुरुष विषयोंको अग्निके समान अनिष्टकारक समझकर उनसे निवृत्त हो जाता है, उसके पास दुःख फटक भी नहीं सकता है, क्योंकि वह आरम्भशून्य अर्थात् रागद्वेषात्मिका प्रवृत्तिसे रहित हो जाता है, और आरम्भशून्य होनेके कारण धर्माधर्मका विनाश हो जानेसे उसका तज्जन्य शरीरसे संयोग भी नहीं होता है।"[3] इस प्रकार दुःखोंका मूलकारण उपधा है। जब मनुष्य भोगतृष्णासे प्रवृत्त होता है, तो धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है, और धर्माधर्मसे दुःख तथा दुःखाश्रयभूत शरीरकी प्राप्ति होती है। समस्त उपधाओंका परित्याग कर देनेसे मनुष्यकी रागद्वेषात्मिका प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है। प्रवृत्तिके अभावसे धर्माधर्मकी उत्पत्ति ही नहीं होती है, और इस प्रकार अनागत धर्माधर्मसे मुक्ति मिल

---

१. **चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्।** —(शारीर० १।९४)

२. **भावदोष उपधादोषोऽनुपधा।** —वैशेषिकसूत्र (६।२।४)

३. द्रष्टव्य—पृष्ठ ३२ पादटिप्पणीसङ्ख्या ८।

जाती है। पूर्वोपात्त धर्माधर्मका विनाश भोग करनेसे हो जाता है। अन्तमें धर्माधर्मरूप कर्मका सर्वथा विनाश हो जानेसे तज्जन्य दुःख और शरीरका भी सर्वथा अभाव हो जाता है।

दुःखके कारणोंको गिनाते हुए आचार्य कहते हैं—"बुद्धि धृति और स्मृति-के विभ्रंशको, काल और कर्मकी सम्प्राप्तिको, तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगको दुःखके हेतु समझना चाहिए।"[1] नित्य-अनित्य तथा हित-अहितके विषयमें जो विषम(विपरीत)ज्ञान है, अर्थात् अनित्यमें नित्यबुद्धि तथा नित्यमें अनित्य-बुद्धि होना, और हितमें अहितबुद्धि तथा अहितमें हितबुद्धि होना, उसे **बुद्धि-विभ्रंश** समझना चाहिए, क्योंकि प्रकृतिस्थ बुद्धि यथार्थदर्शन करती है। **धृति-भ्रंश** उस अवस्थाका नाम है, जब विषयोंकी ओर अभिमुख चित्त अहितकर विषयोंकी ओर जानेसे रोका नहीं जा सकता है। धृति नियमात्मिका अर्थात् नियन्त्रण करनेवाली होती है। रजोगुण और तमोगुणसे अन्तःकरणके आच्छा-दित हो जानेपर तत्त्वज्ञानविषयक स्मृतिका नष्ट हो जाना **स्मृतिभ्रंश** है। प्रशस्त स्मृतिमें स्मर्त्तव्य तत्त्वज्ञान सदैव उपस्थित रहता है। बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश हो जानेपर मनुष्य जिन अशुभकर्मोंको करता है, वे शरीर और मनके समस्त दोषोंको प्रकुपित करते हैं। उन्हें आयुर्वेदमें 'प्रज्ञापराध' सञ्ज्ञा दी गई है।[2] बुद्धि धृति और स्मृति प्रज्ञाके भेद हैं। अतः इनके विभ्रंशसे होनेवाले पापकर्म प्रज्ञासे ही होनेवाले पापकर्म अथवा अपराध हैं। आगे कहा गया है—"प्रज्ञा अथवा बुद्धिके द्वारा होनेवाला जो विषम अर्थात् अनुचित ज्ञान है, तथा उस अनुचित ज्ञानके कारण होनेवाली जो अनुचित प्रवृत्ति है, उसे प्रज्ञापराध समझना चाहिए, ये दोनों मन अथवा प्रज्ञाके कार्य हैं।"[3] अपने लक्षणोंके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगसे युक्त होकर ऋतुओं-का आना दुःखका दूसरा हेतु है। पूर्वजन्मोंमें किए गए दैवसञ्ज्ञक अशुभ कर्मोंकी प्राप्ति अर्थात् उनका फलोन्मुख होना दुःखका तीसरा हेतु है। ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जिसका फल भोगना नहीं पड़ता है। कर्मज रोग चिकित्साकर्मके विनाशक होते हैं, चिकित्सासे साध्य नहीं होते हैं। भोगनेसे

---

१. धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः॥ —(शारीर० १।९८)

२. विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥
विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका॥
तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्॥
धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥—(शारीर० १।९९–१०२)

३. बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्त्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥ —(शारीर० १।१०९)

जब कर्मोंका क्षय होता है, तभी तज्जन्य रोगोंका विनाश होता है।[1] अहितकर विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग दुःखका चतुर्थ हेतु है। दुःखके इन सभी हेतुओंमें प्रज्ञापराधकी प्रधानता है, क्योंकि प्रज्ञापराधके विना न तो पूर्वजन्ममें अशुभकर्मोंका सम्पादन ही सम्भव था और न इस जन्ममें इन्द्रियोंका असात्म्य विषयोंसे संयोग ही सम्भव है। कालजन्य रोग भी प्रज्ञापराधमूलक अधर्माचरणसे होते हैं। जनपदोद्ध्वंसनीयमें कहा गया है—"जनपदके विनाशकालमें वायु इत्यादिमें जो विगुणता उत्पन्न हो जाती है, उसका मूल अधर्म है। अथवा पहले जो असत् कर्म किए गए हैं, वे उस विगुणताके मूल हैं, और इन दोनोंका मूलकारण प्रज्ञापराध ही है।"[2] इस प्रकार दुःखका मूलकारण प्रज्ञापराध सिद्ध होता है। जिस उपधाको पहले दुःख और दुःखाश्रय शरीरका मूलकारण कहा गया है, तृष्णारूप वह उपधा भी प्रज्ञापराधके विना सम्भव नहीं है। क्योंकि बुद्धि, नियमात्मिका धृति और तत्त्वस्मृतिका विभ्रंश होनेपर ही सांसारिक विषयभोगोंके प्रति तृष्णा तथा राग-द्वेषकी समुत्पत्ति होती है। रागद्वेषात्मिका तृष्णाके वशीभूत होकर जब मनुष्य विषयोपभोग करता है, तो उसे सुख और दुःखकी अनुभूति होती है। अनुकूल विषयोंसे सुख और प्रतिकूल विषयोंसे दुःखकी उपलब्धि होती है। जिन विषयोंसे सुख मिलता है, उनके प्रति रागात्मिका तृष्णा उत्पन्न होती है, और जिनसे दुःख मिलता है उनके प्रति द्वेषबुद्धि उत्पन्न होती है। इसीलिए कहा गया है—"सुख-दुःखसे रागद्वेषात्मिका तृष्णा(उपधा)की प्रवृत्ति होती है, और तृष्णाको सुख-दुःखका कारण कहा गया है, क्योंकि यह तृष्णा ही दुःखके कारणरूपसे कहे गए असात्म्येन्द्रियार्थादि भावोंको ग्रहण करती है। सुख-दुःखकी अनुभूतिके विना अर्थसे मन और इन्द्रियोंका संस्पर्श सम्भव नहीं है, और विना संस्पर्शके सुख और दुःखकी अनुभूति सम्भव नहीं है।"[3] अतः सिद्ध होता है कि तत्त्वस्मृतिविभ्रंशरूप प्रज्ञापराधसे जब विषयोंके प्रति तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तो तृष्णासे सुख-दुःख तथा सुख-दुःखसे पुनः तृष्णा उत्पन्न होती है। इस प्रकार चक्रवत् इनकी आवृत्ति होती रहती है, और मनुष्य इनसे उबर नहीं पाता है। यही बन्धन है।

बन्धका हेतु और स्वरूप—तृष्णासे युक्त होकर मनुष्य विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है। उसकी यह प्रवृत्ति बदलेमें उसे सुख और दुःख प्रदान करती है। विषयजन्य सुख भी दुःखरूप ही है, क्योंकि अन्तवान् होनेसे वह अपने

---

१. न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥—(शारीर० १।११७)

२. वाय्वादीनां यद् वैगुण्यमुत्पद्यते, तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वा असत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। —(विमान० ३।२४)

३. इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्त्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसञ्ज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः॥—(शारीर० १।१३४-१३५)

विनाशके पूर्व मनुष्यको विनाशभयसे आक्रान्त करके दुःख देता है और विनाश होनेपर साक्षात् दुःख देता है। मनुष्यकी यह तृष्णाजन्य प्रवृत्ति ही समस्त दुःखोंकी जननी और बन्धका कारण है। आचार्य कहते हैं—"प्रवृत्ति ही सारे जरामरणादि दुःखोंका मूल है, तथा निवृत्ति शान्तिस्वरूपा है, अर्थात् निवृत्तिसे ही त्रिविध दुःखोंकी शान्ति होती है। प्रवृत्ति दुःख है, निवृत्ति सुख है—ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही वस्तुतः सत्यज्ञान है।"[1] प्रवृत्तिके कारणोंकी व्याख्या करते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—"मोह (बुद्धिधृतिस्मृतिविभ्रंश), इच्छा (राग) और द्वेषसे किया गया कर्म प्रवृत्तिका कारण है। जैसे अतिविशाल शाखाओंवाले वृक्ष नए वृक्षको दबाकर स्वयं बढ़ते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले अहङ्कार सङ्ग संशय अभिसम्प्लव अभ्यवपात विप्रत्यय अविशेष तथा अनुपाय पुरुषके स्वरूपको दबाकर बढ़ते रहते हैं। इनसे अभिभूत हुआ पुरुष संसार-बन्धनसे छुटकारा नहीं पाता है, और संसार-चक्रमें भ्रमित होता रहता है" (शारीर० ५।१०)। अहङ्कारादिका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—"मैं इस जाति रूप धन आचार बुद्धि शील विद्या कुल वय वीर्य और प्रभावसे सम्पन्न हूँ, यह **अहङ्कार** है। मन वाणी और शरीरसे किए जानेवाले जो कर्म अपवर्गके हेतु नहीं हैं, उन्हें **सङ्ग** समझना चाहिए। कर्मफल मोक्ष पुरुष और प्रेत्यभाव (परलोक-पुनर्जन्म) इत्यादि होते हैं अथवा नहीं, यह **संशय** है। शरीरकी सब अवस्थाओंमें षड्धातुसमुदायरूप मैं अनन्य (अभिन्न) हूँ, मैं स्रष्टा हूँ, मैं स्वभावसंसिद्ध हूँ अर्थात् मेरा उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है, मैं शरीर इन्द्रिय बुद्धि और स्मृतिकी राशिविशेष हूँ—इस प्रकारका ज्ञान **अभिसम्प्लव** है, अर्थात् अनात्मभूत अचेतन शरीरादिमें अहङ्कारके कारण चेतनत्वका अभिमान करना अभिसम्प्लव है। माता पिता भाई पत्नी सन्तान बन्धु मित्र और भृत्यजनोंका समुदाय मेरा है और मैं उनका हूँ, अर्थात् परमार्थतः अनात्मीय पदार्थोंमें ममता होना **अभ्यवपात** है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यमें, हित और अहित में, तथा शुभ और अशुभमें विपरीत अभिनिवेश होना, अर्थात् कर्त्तव्यको अकर्त्तव्य, हित को अहित, तथा शुभको अशुभ समझना **विप्रत्यय**(उलटा ज्ञान) है। ज्ञ(चेतन) और अज्ञ(अचेतन)में, प्रकृति(कारण) और विकार(कार्य)में, तथा प्रवृत्ति और निवृत्तिमें समानता देखना **अविशेष** है। प्रोक्षण, अनशन, अग्निहोत्र, त्रिकालस्नान, अभ्युक्षण-(अभिमन्त्रित जलादिको छिड़कना), देवताओंका आवाहन, यजन(यज्ञ करना), याजन(यज्ञ करवाना), याचन(प्रार्थना), पानी और अग्निमें प्रवेश इत्यादि कर्म **अनुपाय** हैं, अर्थात् कर्मकाण्डसम्बन्धी समस्त अनुष्ठान स्वर्गादिके उपाय होनेपर भी मोक्षमें सहायक न होनेके कारण अनुपाय हैं। इस प्रकार यह पुरुष बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश हो जानेसे उनसे रहित होकर अहङ्कारसे जकड़ा हुआ, विषयोंमें आसक्त, संशयसे युक्त, अभिसम्प्लव और अभ्यवपातसे गृहीत, विपरीतदर्शनके कारण अन्यथादृष्टि, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिको समान देखनेवाला, उलटे मार्गपर चलता हुआ, रजस्तमोरूप मनोदोषों तथा वातपित्तश्लेष्म-

---

१. तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः। निवृत्तिरुपरमः। प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत्सत्यम्। —(शारीर० ५।८)

वैषम्यरूप शरीरदोषोंसे उत्पन्न होनेवाले समस्त दुःखोंका निवासवृक्ष (आश्रय-स्थान) बन जाता है। इस प्रकार अहङ्कारादिदोषोंसे संसारचक्रमें निरन्तर घुमाया जाता हुआ यह पुरुष प्रवृत्तिका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। प्रवृत्ति ही समस्त पापोंकी जड़ है।"[1]

बुद्धि धृति और स्मृतिके भ्रष्ट हो जानेपर मोह इच्छा और द्वेषकी उत्पत्ति होती है। इनसे मनुष्यकी अधर्माचरणमें प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति अहङ्कारादि पूर्वोक्त आठ दोष उत्पन्न होते हैं। इनसे मनुष्य विमार्गगामी हो जाता है, जिससे शरीर और मनमें रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जो समस्त दुःखोंके मूल हैं। जिसे पहले राशिपुरुष कहा गया है, उसकी उत्पत्ति मोहेच्छाद्वेषपूर्वक किए गए कर्मोंसे होती है (शारीर० १।५३)। इसीलिए राशिपुरुष संसारचक्रमें पड़ा हुआ बद्ध पुरुष है। इसी राशिपुरुषमें आत्मा इन्द्रिय मन तथा विषयोंके सन्निकर्षसे सुख और दुःखकी प्रवृत्ति होती है।[2] राशिपुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता है। जबतक शरीर और मनका अस्तित्व है, तबतक रोग और दुःखसे छुटकारा नहीं मिल सकता है, क्योंकि रोग शरीर और मनमें ही जन्म लेते हैं—**"वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः"** (शारीर० १।१३६)। इसलिए जबतक शरीर और मनकी निवृत्ति नहीं होती है, तबतक रोगोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इन दोनोंकी निवृत्ति हो जानेपर फिर रोग नहीं होते हैं—**"शरीरसत्त्वप्रभवास्तु रोगास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः"** (शारीर० २।४१)। शरीर और मनमें प्राधान्य मनका है। शरीर मनका अनुगामी है। मनकी निवृत्तिसे शरीरकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। अतः मुख्यरूपसे मन ही मनुष्यके बन्धनका कारण है। "यह मन सदैव रजोगुण और तमोगुणसे अनुबद्ध रहता है। सत्त्वगुणका धर्म जो ज्ञान है, उसके विना वह सारे दोषोंका आश्रय बन जाता है। सदोष मन और पूर्वकृत बलवान् कर्मको मनुष्यकी देहान्तरगति और धर्माधर्मरूप प्रवृत्तिका हेतु

---

१. **तत्रैवंजातिरूपवित्तवृत्तशीलविद्याभिजनवयोवीर्यप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहङ्कारः। यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः। कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति वा नेति संशयः। सर्वावस्थास्वनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरीरेन्द्रियबुद्धिस्मृतिविशेषराशिरिति ग्रहणमभिसम्प्लवः। मम मातृपितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः। कार्याकार्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः। ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः। प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रत्रिषवणाभ्युक्षणावाहनयजनयाजनयाचनसलिलहुताशनप्रवेशादयः समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्यनुपायाः। एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः सक्तः ससंशयोऽभिसम्प्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्त्वशरीरदोषमूलानां सर्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिम्, सा च मूलमघस्य।**
—(शारीर० ५।१०)

२. **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते सुखदुःखम्।**
—(शारीर० १।१३८)

कहा गया है।"[1] विशुद्धसत्त्वप्रधान मन मोक्षकी ओर ले जानेवाला होता है। विशुद्ध मन कल्याणकारक होनेके कारण निर्दोष कहा गया है। राजस मन रोषांशसे युक्त होनेके कारण सदोष कहा गया है, और तामस मन भी मोहांश-से युक्त होनेके कारण सदोष कहा गया है (शारीर० ४।३७)। सत्त्वगुणके उत्कर्षसे रजस् और तमस्का पराभव तथा अन्ततः निवृत्ति हो जाती है। कहा गया है—"जिस पुरुषका मन रजस् और तमस्से आक्रान्त रहता है, उसके लिए चौबीस धातुओंकी राशिरूप यह संयोग अनन्तवान् होता है, अर्थात् उसके शरीर और मनकी निवृत्ति न होनेसे वह सर्वदा बन्धमें पड़ा रहता है। किन्तु सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर रजस् और तमस्की निवृत्ति हो जानेके कारण संयोगकी भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उसका मोक्ष हो जाता है।"[2] सत्त्वगुण विशुद्धज्ञानका जनक होनेके कारण संसारके हेतुभूत रजस् और तमस्पर विजय प्राप्त करके विवेकज्ञानसे मोक्षका आवहन करता है। "रजस् और तमस्से आविष्ट हुआ यह राशिपुरुष अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको प्राप्त होता है, तथा व्यक्तावस्थासे पुनः अव्यक्तावस्थामें चला जाता है। इस प्रकार चक्रके समान जन्ममरणरूप संसारमें घूमता रहता है। जिन लोगोंकी रजस् और तमस्के जोड़ेमें अत्यन्त आसक्ति है और जो रातदिन अहङ्कारमें डूबे रहते हैं, उन्हींका उदय(जन्म) और प्रलय(मरण) होता है। किन्तु जो लोग इनसे भिन्न प्रकारके हैं, अर्थात् रजस्तमोरूप द्वन्द्व और अहङ्कारसे रहित हैं, उनका उदय और प्रलय नहीं होता है, अर्थात् वे लोग जन्ममरणके बन्धनसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं।"[3] तिस्रैषणीयमें भी कहा गया है—"जिन पुरुषोंके मानसदोष रजोगुण और तमोगुण शान्त नहीं हुए हैं, उनके लिए निर्दोष महर्षियोंके द्वारा धर्मशास्त्रोंमें अपुनर्भव(मोक्ष)का उपदेश नहीं किया गया है।"[4]

मोक्षका स्वरूप

पहले कहा गया है कि प्रवृत्ति दुःखरूप है और निवृत्ति सुखरूप है, यही यथार्थज्ञान है। निवृत्तिजन्य सुख निरपेक्ष और नित्य है, जबकि विषयजन्य

---

१. रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानाद्विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म॥
—(शारीर० २।३८)

२. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्त्तते॥ —(शारीर० १।३६)

३. अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्त्तते॥
येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥—(शारीर० १।६८–६९)

४. न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते।
—(सूत्र० ११।२८)

सुख सापेक्ष और विनाशी है। विषयजन्य सुख वस्तुतः दुःखसे भिन्न नहीं है, जबकि निवृत्तिका सुख परमानन्दरूप है। निवृत्तिको चरकमुनिने मोक्षके पर्यायोंमें गिना है—"निवृत्ति अपवर्ग है, वह परम (सर्वोत्कृष्ट) पुरुषार्थ है, वह अत्यन्त शान्त है, वह अक्षर (अविनाशी) है, वह ब्रह्म है, और वही मोक्ष है। इसी मोक्षको पर्यायशब्दोंके द्वारा विपाप विरज शान्त पर अक्षर अव्यय अमृत ब्रह्म निर्वाण और शान्ति कहा जाता है।"[1] जिस प्रकार अद्वैतवेदान्तमें ब्रह्म और मोक्ष समानार्थक हैं, उसी प्रकार चरकमुनिने ब्रह्म और मोक्षके पर्यायोंको एकत्र कर दिया है। मोक्षको निवृत्ति कहनेका कारण यह है क्योंकि मोक्षमें शरीर इन्द्रिय मन कर्म कर्मफल सुख दुःख मोह जीवन मरण और अहङ्कारादि निखिल बन्धनकारक भावोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति हो जाती है। मोक्ष तो चरम फल है, उसकी प्राप्तिके लिए जो योगसाधन किया जाता है, उसके द्वारा समाधिमें पहुँचनेपर ही समस्त वेदनाओंकी निवृत्ति हो जाती है। कहा गया है—"योग और मोक्षमें समस्त वेदनाओंकी प्रवृत्ति रुक जाती है। इन दोनोंमें अन्तर यह है कि मोक्षमें समस्त वेदनाओंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति हो जाती है, और योग मोक्षका प्रवर्त्तक साधन है, अर्थात् योगसे निवृत्त हुई वेदनाएँ समाधिसे उठनेपर पुनः प्रवृत्त हो जाती हैं।"[2] योगसे वेदनाओंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति नहीं होती है क्योंकि वह साधन है, जबकि मोक्षमें पहुँचकर दुःखका अत्यन्ताभाव हो जाता है, क्योंकि वह सिद्धावस्था है।

पहले कहा जा चुका है कि संसारबन्धनके मुख्यकारण रजोगुण और तमोगुण हैं. इसलिए योगसाधनाके द्वारा जब विशुद्ध अन्तःकरण समाधिनिष्ठ हो जाता है, तब रजोगुण और तमोगुणका अभाव हो जानेसे पुरुषका मोक्ष हो जाता है। किन्तु पूर्णमोक्ष तभी होता है, जब पुरुषके अवश्य भोक्तव्य बलवान् प्रारब्धकर्मोंका भोग करनेसे पूर्णतया क्षय हो जाता है। कहा गया है—"रजस् और तमस्का सर्वथा अभाव होनेसे, तथा बलवत् प्रारब्धकर्मका पूर्णतया क्षय होनेसे मोक्ष होता है। समस्त संयोगोंसे वियोग ही अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष कहा जाता है।"[3] राशिपुरुषमें शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि और अहङ्कारका आत्मासे जो संयोग है, उस संयोगकी मोक्षमें निवृत्ति हो जाती है। फिर आत्माका शरीरादिसे कभी सम्बन्ध नहीं होता है, इसीलिए मोक्षको अपुनर्भव कहा जाता है।

---

१. निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः।
विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥ —(शारीर० ५।११,२३)

२. योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्त्तकः॥ —(शारीर० १।१३७)

३. मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥ —(शारीर० १।१४२)

सङ्क्षेपमें संसारका हेतु अज्ञान है, और मोक्षका हेतु सम्यग्ज्ञान है। इसको प्रदर्शित करते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—"संसारके समस्त उत्पत्ति-धर्मा कारणवान् पदार्थ दु:खरूप हैं। वे आत्मासे भिन्न हैं और अनित्य हैं। उदासीन आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। किन्तु अज्ञानके कारण इन अनात्मभूत बुद्धयादिमें स्वता (ममता) उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् 'यह बुद्धयादि मैं हूँ' अथवा 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी ममत्वबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यह अज्ञानजन्य भ्रान्ति तबतक दूर नहीं होती है, जबतक सत्यबुद्धि अर्थात् सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। सम्यग्ज्ञानके द्वारा 'यह बुद्धयादि मैं नहीं हूँ' अथवा 'ये बुद्धयादि मेरे नहीं हैं' ऐसा जानकर तत्त्वज्ञ पुरुष बुद्धयादि समस्त भावोंका अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।"[1] उस मोक्षरूप चरमसंन्यासमें (बुद्धयादि समस्तभावोंका परित्याग कर देनेसे) सुखदु:खरूप समस्तवेदनाएँ अपने कारणसहित पूर्णरूपसे निवृत्त हो जाती हैं, और वेदनाओंकी निवृत्तिके साथ ही सञ्ज्ञा ज्ञान और विज्ञान भी पूर्णतया निवृत्त हो जाते हैं।"[2] समस्तवेदनाओंका मूलकारण अज्ञान है। अज्ञानसे मनोदोष रजस् और तमस्का प्राबल्य हो जाता है। उससे धी धृति और स्मृतिका विभ्रंश होता है, तथा उससे मोह इच्छा और द्वेषके रूपमें नानाप्रकारकी उपधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उपधाओंसे रागद्वेषात्मिका प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिसे पुरुषविचयनामक शारीराध्यायमें कहे गए अहङ्कारादि आठ दोष उत्पन्न होते हैं। इनसे मनुष्यका मन और शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। इन रोगोंको ही वेदना कहा जाता है। इनकी निवृत्तिकी प्रक्रिया इस प्रकार है—सत्या बुद्धि अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे वेदनाओंके मूलकारण अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। उसकी निवृत्तिसे उसके कार्योंकी भी निवृत्ति हो जाती है, जिस प्रकार तन्तुओंके विनाशसे पटका विनाश हो जाता है। शरीर और मन वेदनाओंके अधिष्ठान है। मोक्षरूप चरमसंन्यासमें वेदनाओंके कारण और अधिष्ठान दोनोंका पूर्ण परित्याग हो जाता है, अतः वेदनाओंकी नि:शेष निवृत्ति प्रतिफलित होती है। सञ्ज्ञा ज्ञान और विज्ञानसे ग्रन्थकारको क्रमशः निर्विकल्पक सविकल्पक और शास्त्रीय ज्ञान अभिप्रेत हैं। पूर्ण परित्यागके कारण मोक्षमें इनका भी सर्वथा अभाव हो जाता है। इस सर्वसंन्याससे बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं है[3], क्योंकि यह सुख सर्वथा निरपेक्ष और अनन्त है। मोक्ष हो जानेपर पुरुष अपने विशुद्ध 'चेतनाधातुमात्र'स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। सारे संयोग हट जाते हैं। उस समय उस ब्रह्मभूत

---

१. सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।
नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्त्तते॥—(शारीर० १।१५२-१५३)

२. तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
ससञ्ज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥ —(शारीर० १।१५४)

३. सर्वसंन्यासः सुखानाम् (श्रेष्ठः)। —(सूत्र० २५।४०)

पुरुषकी उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि उपलब्धिके साधनभूत समस्तलिङ्गोंका अभाव हो जाता है। चरकमुनि कहते हैं—"मोक्ष हो जानेपर भूतोंका (भूतपूर्व) अधिष्ठाता वह चेतनाधातुरूप आत्मा ब्रह्मरूप होकर किसी भी लिङ्गसे उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई चिह्न (लिङ्ग) रह ही नहीं जाता है। वह समस्तभावोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है। मोक्षही ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्तिम गति है, वही ब्रह्म है, और ब्रह्म अक्षर तथा अलक्षण है। उसका यथार्थ ज्ञान ब्रह्मवेत्ताओंको ही होता है, अज्ञजन उसे नहीं समझ सकते हैं।"[१]

आगे चलकर मुक्तावस्थाका निरूपण करते हुए कहा गया है—"जो पुरुष अपने आत्माको सम्पूर्णलोकमें व्याप्त तथा सम्पूर्णलोकको आत्माके भीतर(व्यवस्थित) देखता है, उस परावरदर्शी(कारणकार्यरूप सर्वात्मकब्रह्मका दर्शन करनेवाले) जीवन्मुक्तकी ज्ञानमूला शान्ति कभी नष्ट नहीं होती है।"[२] चरकदर्शनके अनुसार आत्मा कारण है, और लोक उसका कार्य है। कारण और कार्यमें अर्थात् आत्मा और लोकमें अभेदका दर्शन करनेवालेको 'परावर-दर्शी' कहा जाता है। इस प्रकार यह चरकदर्शन **'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दा-दिभ्यः'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) इत्यादिमें प्रतिपादित अद्वैतवादी औपनिषददर्शनका अनुगामी है। गीतामें भी इसी विश्वात्मवादका प्रतिपादन किया गया है।[३] जीवन्मुक्त संसारमें विचरण तथा व्यवहार करता हुआ भी धर्माधर्म तथा तज्जन्य सुख-दुःखसे अस्पृष्ट रहता है। महर्षि आत्रेय कहते हैं—"समस्त भावोंको सभी अवस्थाओंमें (रागद्वेषसे रहित होकर केवल साक्षिभावसे) सर्वदा देखते हुए जो पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, अपने शुद्धस्वरूपमें प्रतिष्ठित उस ब्रह्मभूत पुरुषका किसीके साथ संयोग नहीं बनता है।"[४] अर्थात् बन्धनके हेतुभूत रजस् तमस् धर्माधर्म तथा सुख-दुःखादि किसीके साथ उसका सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

जीवन्मुक्तका जब शरीरपात होता है, तो देहेन्द्रियादिका सर्वथा अभाव हो जानेसे उसके किसी भी लिङ्गकी उपलब्धि नहीं होती है। वह सब प्रकारके बन्धनोंसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाता है। "उस अवस्थामें करणोंका अभाव होनेसे आत्माका (पूर्वोक्त प्राणापानादिलिङ्गोंमेंसे) कोई भी लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता है। समस्त करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण उसे 'मुक्त'

---

१. **अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।**
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति॥—(शारीर० १।१५५-१५६)

२. **लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।**
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति॥ —(शारीर० ५।२०)

३. द्रष्टव्य—गीता (६।२९-३२; ९।४,६; १३।२७-२८; १५।१५)

४. **पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।**
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥ —(शारीर० ५।२१)

कहा जाता है।"[१] मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियको करण कहा जाता है।[२] मन इत्यादिका मुक्तावस्थामें अभाव होनेसे शरीरका अभाव भी अर्थत: प्राप्त होता है। आत्माके अतिरिक्त सभीका अभाव हो जानेसे आत्माका कोई लक्षण भी नहीं रह जाता है, अत: उसके विषयमें अनुमानप्रमाण निरवकाश हो जाता है। तथा स्वरूपसे आत्मा अतीन्द्रिय है, अत: प्रत्यक्षप्रमाण भी उसके विषयमें सर्वथा निष्फल है।

मोक्षप्राप्तिके उपाय

जो मनुष्य संसारके दु:ख-बन्धनसे विनिर्मुक्त होना चाहता है, ऐसे मुमुक्षुको एक विशेष प्रकारकी चर्या और एक विशेष मन:स्थितिका अनुवर्त्तन करना होता है। इसीका नाम मोक्षकी साधना है। मुमुक्षुओंके जीवनस्तरको ऊँचा उठाकर मोक्षकी ओर ले जानेवाले साधनोंकी व्याख्या चरकसंहितामें विस्तारसे उपलब्ध होती है। आचार्यने शारीरस्थान(५।१२)में प्रवृत्ति और निवृत्तिका निरूपण करनेके अनन्तर मुमुक्षुओंको अहन्ता और ममताके निम्नधरातलसे ऊपर उठानेवाले साधनोंकी व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रतिदिन दु:खसे आक्रान्त लोकका दर्शन करनेके कारण जब मनुष्यको उत्कट वैराग्य हो जाय, तो उसे सर्वप्रथम मोक्षशास्त्रका उपदेश देनेवाले तत्त्वदर्शी आचार्यके पास जाना चाहिए। वह जैसा उपदेश करे, उसके अनुकूल आचरण करना चाहिए (क्योंकि **"आचार्यवान् पुरुषो वेद"** (छान्दोग्य० ६।१४।२) इस श्रुतिके अनुसार आचार्यके उपदेशका अनुपालन करनेवाला अधिकारी ही उस परमतत्त्वको जानता है)। अग्निके समीप रहकर उसीकी सेवा करनी चाहिए। धर्मशास्त्रोंका अनुशीलन करना चाहिए। उसके अभिमत अर्थको सम्यक् प्रकारसे समझना चाहिए और उसीका आश्रय लेना चाहिए। शास्त्रके सम्यग् अर्थावबोधसे तत्त्वज्ञान और उसके साधनोंमें साधककी आस्था दृढ होती है, और उसे विश्वास हो जाता है कि इस साधनासे मैं अवश्य मोक्षको प्राप्त करूँगा। धर्मशास्त्रोंमें जो कर्त्तव्यरूप कियाएँ कही गई हैं, उन्हें करना चाहिए। सत्पुरुषोंके सङ्गका सेवन, असत्पुरुषोंका परित्याग, दुर्जनोंकी सङ्गतिसे बचना, उचित अवसरपर सब प्राणियोंके लिए हितकर सत्य तथा मधुर वचन सोच-विचारकर बोलना, समस्त प्राणियोंको अपने समान देखना, सभी स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्मरण सङ्कल्प प्रार्थना और सम्भाषणका सर्वथा अभाव अर्थात् पूर्ण-ब्रह्मचर्यका पालन करना, समस्त परिग्रहोंका त्याग करना, शरीरको ढकनेके लिए कौपीन पहनना, गेरुए वस्त्र धारण करना, कथरी सीनेके लिए सुईका पात्र रखना, शौच तथा नहाने-धोनेके लिए जलपात्र (कमण्डलु या तूँबी) रखना, दण्ड धारण करना, भिक्षा माँगनेके लिए भिक्षा-पात्र रखना, प्राण धारण करनेके लिए केवल एक समय यदृच्छाप्राप्त अग्राम्य (विना जोता-बोया हुआ वन्य कन्दमूलादि) भोजन करना, थकावट दूर करनेके लिए स्वयं गिरे

---

१. **नात्मन: करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते।**
स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते॥ —(शारीर० ५।२२)

२. **करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।** —(शारीर० १।५६)

हुए सूखे पत्तोंसे तथा घास-फूससे बिछौना और तकिया बना लेना, ध्यान करनेके लिए योगपट्ट (समाधिके समय योगीके द्वारा अपनी पीठ और घुटनोंपर डाला जानेवाला एक कपड़ा) रखना, वनोंमें बिना घर बनाए हुए निवास करना, तन्द्रा निद्रा और आलस्यादि कर्मोंका परित्याग, इन्द्रियोंके गन्धादि-विषयोंमें राग और द्वेषका निग्रह, सोना बैठना चलना देखना आहार-विहार और प्रत्येक अङ्गकी चेष्टा इत्यादि क्रियाओंमें पहले तत्त्वका स्मरण करना तब प्रवृत्त होना (अर्थात् 'मेरा स्वरूप क्या है' 'मैं किस प्रयोजनसे रागद्वेषादिका परित्याग कर रहा हूँ, इत्यादि तत्त्वस्मरणपूर्वक प्रत्येक क्रियाको आरम्भ करना), सम्मान स्तुति निन्दा और अपमानको (अविचलितभावसे) सहन करनेमें अभ्यस्त होना, भूख-प्यास मेहनत-थकावट शीत-उष्ण वायु-वर्षा और सुख दुःखके संस्पर्शको सहन करना, शोक दैन्य मान उद्वेग मद लोभ राग ईर्ष्या भय और क्रोध इत्यादिसे विचलित न होना, पूर्वोक्त अहङ्कारादि आठ दोषोंको उपसर्ग अर्थात् अनर्थका हेतु समझना, लोक और पुरुषमें सृष्टि इत्यादिकी समानताका दर्शन करना, कार्यका समय बीतनेमें भय होना (अर्थात् मोक्षोपयोगी कर्त्तव्यकर्मको उचित समयपर करनेमें कहीं चूक न जाऊँ ऐसा भय होना), मोक्षसाधनभूत योगाभ्यासमें सदैव निर्वेदसे रहित रहना, मनमें उत्साह होना, अपवर्गके लिए बुद्धि धृति और स्मृतिका बल अपनेमें उत्पन्न करना, इन्द्रियोंका मनमें, मनका आत्मा(बुद्धि)में और आत्माका प्रत्यगात्मामें नियमन करना, वैराग्यकी दृढताके लिए रस-रक्तादि धातुओंके भेदसे शरीरके अवयवोंपर बार-बार विचार करना, सभी कारणवान् पदार्थ दुःखरूप अनात्मरूप और अनित्य हैं—ऐसा मानना, समस्त प्रवृत्तियोंको पाप समझना, और सबका परित्याग (सर्वसंन्यास) कर देनेमें ही सुख है—ऐसा अभिनिवेश(आग्रह) होना। यह मोक्षके लिए मार्ग है। इसके विपरीत आचरण करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है। इस प्रकार मोक्षके साधनोंकी व्याख्या की गई" (द्रष्टव्य—पृष्ठ ३४ पादटिप्पणी १)।

मोक्षके इन साधनोंमें अग्निचर्या और धर्मशास्त्रानुगमनादि जो अनेकविध कर्मोंका विधान किया गया है, वह चित्तशुद्धिके लिए आवश्यक है। नित्यादि कर्त्तव्यकर्मोंके अनुष्ठानसे रागादिकल्मषकी निवृत्ति होकर अन्तःकरणकी निर्मलता प्राप्त होती है। स्त्रियोंके स्मरणादिका जो निषेध किया गया है, उसका भी कारण यही है। जबतक नारीशरीरके प्रति रागात्मिका बुद्धि रहती है, तबतक चित्तका निर्मल और एकाग्र होना असम्भव है। स्त्रियोंमें आसक्त पुरुष तत्त्वज्ञान और मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता है। मोक्षके लिए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना अनिवार्य है। मोक्षकामीके लिए यद्यपि समस्त परिग्रहोंके त्यागका उपदेश किया गया है, तथापि ऐसी वस्तुएँ जो साधन-पथमें किसी प्रकार प्रतिबन्धक नहीं हैं, प्रत्युत सहायक हैं, उनका परित्याग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गई है। कौपीन सूचीपात्र जलपात्र भिक्षापात्र दण्ड और योगपट्टादि संन्यासकी आरम्भिक अवस्थामें सहायक होते हैं, अतः आचार्यने उनको रखनेका उपदेश दिया है। मोक्षार्थीको योगका अभ्यास करना आवश्यक है, क्योंकि योगको मोक्षका प्रवर्त्तक कहा

गया है—"**योगो मोक्षप्रवर्त्तकः**" (शारीर० १।१३७)। योगके लक्षण स्वरूप और ऐश्वर्यका निरूपण इस प्रकार किया गया है—"आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे सुख और दुःखकी प्रवृत्ति होती है। आसक्तिपूर्वक किए जानेवाले कर्मोंका परित्याग कर देनेसे जिस समय साधकका मन आत्मामें लगकर स्थिर हो जाता है, उस समय सुख और दुःख दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं, तथा शरीरयुक्त होनेपर भी साधकमें वशित्व (आठ प्रकारका ऐश्वर्य-बल) आ जाता है। योगविद् महर्षि उसीको योग कहते हैं।"[1] वैशेषिक-दर्शनमें भी इसी प्रकारका भाव प्रकट किया गया है—"आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे सुख और दुःख होते हैं। (विषयोंकी ओरसे उदासीन हुए मनके द्वारा) कर्मोंका आरम्भ न किए जानेपर जब मन आत्मामें सुस्थिर हो जाता है, उस समय शरीरके दुःखका अभाव हो जाता है। इसीको योग कहते हैं।"[2] अष्टविध ऐश्वर्य इस प्रकार है—"अपने चित्तको दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट कर देना, दूसरेके चित्तकी बात जान लेना अथवा अतीत और अनागत-को जान लेना, स्वेच्छासे जो चाहे कर लेना (जैसे आकाशगमनादि), अतीन्द्रियपदार्थोंको देखनेवाली दिव्यदृष्टि होना, अतीन्द्रियशब्दोंको सुननेवाला दिव्यश्रोत्र होना, समस्त भावोंका जो तत्त्व है उसकी स्मृति होना, शरीरमें दिव्यकान्ति होना, तथा इच्छानुसार अदृश्य हो सकना—यह आठ प्रकारका योगियोंका ऐश्वर्यबल कहा गया है। रजस् और तमस्से रहित शुद्ध चित्तकी एकाग्रतासे इस ऐश्वर्यकी उत्पत्ति होती है।"[3] योगियोंको प्राप्त होनेवाला यह ऐश्वर्यबल पूर्णवैराग्यके अभावमें अधःपतनका भी कारण बन सकता है, किन्तु वैराग्यसम्पन्न अधिकारीके लिए यह ऐश्वर्यबल साधक ही बनता है बाधक नहीं। योगके महत्त्वको प्रकट करते हुए शारीरस्थान(३।२६-३०)में आचार्य कहते हैं—"इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे हटाकर और चञ्चल मनको आत्माके अतिरिक्त सभी विषयोंसे निगृहीत करके जब योगी आत्मामें प्रवेश करता है, उस समय अपने स्वरूपभूत ज्ञानमें स्थित होकर वह सर्वत्र अप्रति-हतज्ञानवाला बन जाता है, और (विना इन्द्रियोंके केवल समाधिबलसे ही) सभी भावोंकी परीक्षा कर लेता है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २५६ पादटिप्पणी १)। इस मनःसमाधिरूप योगकी प्रशंसा करते हुए चिकित्सास्थान(२४।५२)में

---

१. **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।**
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥—(शारीर० १।१३८-१३९)

२. **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे। तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः।** —वैशेषिकसूत्र (५।२।१५-१६)

३. **आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।**
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥—(शारीर० १।१४०-१४१)

कहा है—"समस्त प्राणियोंके लिए इस लोकमें तथा मरनेके अनन्तर परलोकमें जो कल्याण है, एवं मोक्षमें जो परमकल्याण है, वह सब मनस्समाधिके ऊपर अवलम्बित है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ ४१ पादटिप्पणी १)। इस प्रकार योग परमकल्याणरूप मोक्षका साधक सिद्ध होता है।

लोक और पुरुषमें समानताका दर्शन सम्यग्ज्ञानका जनक होनेसे मोक्षका साधक माना गया है। पुरुषविचय(शारीर० ५।३-५)में विस्तारसे लोक और पुरुषकी समानताका निरूपण किया गया है। अग्निवेशके द्वारा लोक और पुरुषके सामान्योपदेशका प्रयोजन पूछे जानेपर भगवान् आत्रेयने कहा—"सुनो अग्निवेश ! समस्तलोकको अपनेमें और अपनेको सम्पूर्णलोकमें समभाव-से देखनेवाले पुरुषमें सत्याबुद्धि(सम्यग्ज्ञान)का आविर्भाव होता है। अपनेमें सम्पूर्णलोकको देखनेवालेकी दृष्टिमें(अपनेसे भिन्न व्यक्तिका अभाव होनेके कारण) आत्मा ही सुख और दुःखका कर्त्ता होता है, कोई दूसरा नहीं हो सकता है। कर्मपरवश होनेके कारण यह पुरुष हेतु जन्म वृद्धि दुःख और मरणसे आक्रान्त रहता है, किन्तु अपवर्गकी प्राप्तिके लिए 'सम्पूर्णलोक मैं ही हूँ' ऐसा समझकर तत्त्वज्ञानको उभाड़ा जाता है।"[१] जब मनुष्यकी लोक और पुरुषमें अभेद-बुद्धि हो जाती है, तब अपने तथा पराए सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। अपने सुख-दुःखके लिए दूसरोंको जिम्मेदार ठहरानेकी आदत छूट जाती है। **"न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता"** इस कथनपर दृढविश्वास हो जाता है। लोक और पुरुषमें अभेददर्शन करनेसे सुख और दुःखके कारणके विषयमें जो मिथ्याधारणाएँ बनी हुई थीं—मुझे अमुकने दुःख दिया है, मैं अमुकको सुख पहुँचा रहा हूँ इत्यादि—वे नष्ट हो जाती हैं, और उसे इस प्रकारका तत्त्वबोध होता है—"प्रवृत्ति ही षड्धातुकपुरुष तथा उसके समस्त दुःखोंका मूल है, तथा निवृत्ति शान्तिरूपा है, अर्थात् निवृत्तिसे ही दुःखोंका शमन होता है। प्रवृत्ति दुःख है, निवृत्ति सुख है—ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही सत्यज्ञान है। इस सत्यज्ञानका हेतु है समस्तलोककी समानताका ज्ञान।"[२] इस प्रकार लोक और पुरुषकी समानताका ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा मोक्षका कारण बनता है।

मोक्षके लिए साधकको अपने भीतर बुद्धि धृति और स्मृतिके बलका आधान करना आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश समस्त दुःखोंका मूल है। ये तीनों प्रज्ञाके भेद हैं। मोक्षमार्गमें अग्रसर होनेके लिए तत्त्वस्मृतिकी उपादेयता सर्वोपरि और निर्विवाद है।

---

१. **श्रुणवग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः सत्या बुद्धिः समुत्पद्यते। सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्त्ता, नान्य इति। कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः, सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गाय।** —(शारीर० ५।७)

२. **तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः, प्रवृत्तिर्दुःखम्, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम्। तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्य-ज्ञानम्। एतत्प्रयोजनं सामान्योपदेशस्य।** —(शारीर० ५।८)

बुद्धि और धृति इसी तत्त्वस्मृतिको अहर्निश जागरूक रखनेमें सहायक बनती हैं। इस तत्त्वस्मृतिको जगानेके लिए चरकमुनिने कुछ उपाय बताए हैं, जो इस प्रकार हैं—"सत्पुरुषोंकी सम्यक्प्रकारसे उपासना करना, अर्थात् उनके साथ बैठना उठना सम्भाषण और उनकी सेवा इत्यादि करना, असत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे बचना, ब्रह्मचर्यादिव्रतोंका पालन करना, उपवास करना, अनेक प्रकारके नियमोंका पालन करना, धर्मशास्त्रोंके अर्थको धारण करना, तत्त्वको समझना, निर्जन एकान्तस्थानसे प्रीति होना, विषयोंमें प्रीति न होना अर्थात् वैराग्य होना, मोक्षके लिए निश्चयपूर्वक प्रयत्नशील होना और सर्वोत्कृष्ट कोटिकी धृति होना अर्थात् मनको नियन्त्रित करनेकी प्रकृष्ट क्षमता होना। इन उपायोंका अभ्यास करनेसे मनुष्यकी खोयी हुई स्मृति पुनः जागरूक हो जाती है। सत्पुरुषोंके सेवनसे आरम्भ करके धृतिपर्यन्त जो उपाय बताए गए हैं, उन उपायोंका अभ्यास करनेसे स्मृति उत्पन्न होती है, और स्मृतिके द्वारा भावपदार्थोंके विनाशित्वादि स्वभावका स्मरण करते हुए मनुष्य दुःख-बन्धनसे छूट जाता है।"[1] सांसारिक पदार्थोंकी अनित्यता और दुःख-रूपताका स्मरण करते रहनेसे किसी भी वस्तुके लिए मनुष्यकी स्पृहा नहीं होती है। स्पृहाके अभावसे प्रवृत्तिका अभाव होता है, और प्रवृत्तिके अभावसे दुःखका मूलोच्छेद हो जाता है। स्मृतिके उत्पन्न होनेमें आठ कारण बताए गए हैं—"कारणको ग्रहण करनेसे (जैसे तन्तुरूप कारणको देखकर पटरूप कार्यका स्मरण करना), रूप अथवा आकारको ग्रहण करनेसे (जैसे गवयका रूप देखकर गौका स्मरण करना), सादृश्यसे (जैसे पिताके सदृश किसी पुरुषको देखकर पिताका स्मरण करना), वैलक्षण्यसे (जैसे अत्यन्तकुरूपको देखकर अत्यन्तसुरूपका स्मरण करना), मनको एकाग्रतापूर्वक लगा देनेसे, अभ्याससे, तत्त्वज्ञान हो जानेसे, और दुबारा श्रवण करनेसे, पहले देखे गए, सुने गए, तथा अनुभव किए गए भावोंका स्मरण होनेके कारण इसे स्मृति कहा जाता है।"[2] आत्मा बुद्धि मन इन्द्रिय शरीर और अर्थादिके वास्तविक यथार्थ स्वरूपका स्मरण करना तत्त्वस्मृति है। संसारके समस्त कारणवान् पदार्थ अनात्मरूप होनेसे दुःखरूप और अनित्य हैं, इस ज्ञानको जागरूक रखना तत्त्व-स्मृति है। प्रवृत्ति दुःखरूप है, निवृत्ति सुखरूप है, इस ज्ञानका स्मरण तत्त्व-स्मृति है। स्मृतिके पूर्वोक्त हेतुओं और उपायोंसे जब तत्त्वस्मृति स्थैर्यको प्राप्त हो जाती है, तो नवीनकर्मोंका आरम्भ नहीं बन पाता है, जिससे अनागत

---

१. सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥
स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते॥
—(शारीर० १।१४३–१४४, १४७)

२. निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्।
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्॥
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते।—(शारीर० १।१४८-१४९)

धर्माधर्मकी उत्पत्ति रुक जाती है। दूसरे जन्मोंमें तथा इस जन्ममें किए गए कर्मोंका फलोपभोगके कारण क्षय हो जाता है। संसारचक्रसे निकल भागनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है तथा कर्मानुष्ठानसे विरक्ति हो जाती है। अहङ्कार-का अभाव हो जाता है। सभी प्रकारके संयोगोंमें भय दिखाई पड़ता है। मन और बुद्धि आत्मामें एकाग्रतासे स्थिर हो जाते हैं। तथा अर्थसमूहके तत्त्व-(वास्तविकता)का परीक्षण सम्भव हो जाता है। ये सब उत्तमभाव तत्त्वस्मृति-की स्थिरतासे उत्पन्न होते हैं।[1] तत्त्वस्मृतिका बल महान् है। केवल इसी एक बलका अवलम्ब लेकर भवार्णवका सन्तरण किया जा सकता है। "यह जो तत्त्वस्मृतिका बल है, इसीको जीवन्मुक्त महापुरुषोंने मोक्षके एकमात्र श्रेष्ठमार्गके रूपमें प्रदर्शित किया है। इस मार्गसे गए हुए लोग फिर लौटकर नहीं आते हैं। योगियोंने भी इसी तत्त्वस्मृतिबलको योगका श्रेष्ठमार्ग कहा है। समस्त धर्मोंको जाननेवाले तत्त्वज्ञानियों और जीवन्मुक्त महापुरुषोंने इसी-को मोक्षका मार्ग बताया है।"[2]

संसारके समस्तदुःखोंका अधिष्ठान शरीर और मन है। शरीर और मनकी निवृत्ति हो जानेपर आश्रयनाशसे तदाश्रित दुःखोंका भी विनाश हो जाता है। शरीर और मनकी परम्परा यद्यपि अनादि है, तथापि अनन्त नहीं है। समुचित उपायोंसे इस परम्पराका उच्छेद किया जा सकता है। आचार्य कहते हैं—"रूप(शरीर) और सत्त्व(मन)की जो परम्परा अविच्छिन्नप्रवाह-रूपसे चली आ रही है, उसका आदि(आरम्भ) नहीं कहा गया है, क्योंकि उसका आदि है ही नहीं। तथापि उत्कृष्टकोटिकी धृति और स्मृतिके द्वारा तथा श्रेष्ठबुद्धिके द्वारा इन दोनोंकी निवृत्ति की जा सकती है।"[3] इस प्रकार उत्कृष्ट बुद्धि धृति और स्मृतिके बलका आधान करनेसे शरीर और मनकी निवृत्ति हो जानेसे मोक्षका द्वार खुल जाता है।

मोक्षसाधनोंमें वैराग्यका प्रधान स्थान है। धातुभेदसे शरीरके अवयवोंपर अलग-अलग पौनःपुन्येन विचार करनेसे वैराग्य दृढताको प्राप्त होता है। प्रायः

---

१. कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः।
नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम्॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते॥—(शारीर॰ १।१४५-१४६)

२. एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं येन गता न पुनरागताः॥
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
सङ्ख्यातधर्मैः साङ्ख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥
—(शारीर॰ १।१५०-१५१)

३. रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या, नोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां, धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च॥
—(शारीर॰ २।४२)

सांसारिकजन शरीरके प्रति एकत्वबुद्धि रखते हुए उसीके पोषण और सुख-सुविधामें लगे रहते हैं, किन्तु विवेकीजन तत्त्वस्मृतिके बलसे सम्पन्न होकर शरीरके एक-एक अवयवकी वास्तविकतापर विचार करके शरीरकी मलिनता और क्षणभङ्गुरताका निश्चय करते हुए उसकी ओरसे विरक्त हो जाते हैं। इसीलिए मोक्षके साधनोंमें धातुभेदसे शरीरके अवयवोंपर अलग-अलग विचार करनेको कहा गया है। शारीरस्थान(७।१८)में इसकी व्याख्या की गई है—"यह शरीर अनेक अवयवोंवाला कहा गया है। इसका एकत्वेन दर्शन करना सङ्ग(आसक्ति)का कारण बनता है, और पृथक्त्वेन (अलग-अलग अवयवोंके रूपमें) दर्शन करना अपवर्गका कारण बनता है। पृथक्त्वभावना होनेपर प्रधानभूत आत्मा आसङ्गसे रहित होकर समस्त सन्तानों(भावों)की निवृत्ति हो जानेपर जन्ममरणरूप संसारचक्रसे निवृत्त हो जाता है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २०६ पादटिप्पणी १)। परमार्थतः यह शरीर अनेक अवयवोंका सङ्घातमात्र है, किन्तु मोहके कारण मनुष्य इसको एकत्वबुद्धिसे देखता है। एकत्वबुद्धि होनेपर शरीरके प्रति अहन्ता और ममता उत्पन्न होती है। तदनन्तर उसका उपकार करनेके लिए जब मनुष्य प्रवृत्त होता है, तो राग और द्वेषमें बँधता है। अलग-अलग अवयवोंके रूपमें भावना करनेसे शरीर अहन्ता और ममताका पात्र नहीं बन पाता है, फलतः उसके उपकारक भावोंके प्रति राग और अपकारक भावोंके प्रति द्वेष उत्पन्न नहीं होता है। रागद्वेषका अभाव होनेसे प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। प्रवृत्तिके शान्त होनेपर धर्माधर्मका अभाव हो जानेसे अपवर्ग सिद्ध होता है। इसी भावको महर्षिने इस प्रकार सङ्गृहीत किया है—"जो चिकित्सक समस्त अवयवोंके भेदसे शरीरसङ्ख्याको जानता है, वह शरीरसङ्ख्याको न जाननेके कारण उत्पन्न होनेवाले अर्थात् शरीरके एकत्वरूप मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले मोहसे युक्त नहीं होता है। (मैं स्थिर-शरीरवाला एक व्यक्ति हूँ; ये भाव मेरे उपकारक हैं और ये अपकारक हैं—इस प्रकारकी बुद्धि ही मोह है।) मोहसे रहित होकर वह भिषक् मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषादिदोषोंसे अभिभूत नहीं होता है। निर्दोष होनेपर वह निःस्पृह हो जाता है, क्योंकि रागद्वेषरूप दोषोंके कारण ही स्पृहा उत्पन्न होती है। अतः रागद्वेषकी निवृत्ति होनेपर स्पृहा भी निवृत्त हो जाती है। निःस्पृह होनेके कारण समस्त क्रियाओंसे उपरत होकर वह शान्त हो जाता है। शान्त होकर वह संसरणसे विश्राम ले लेता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २०६ पादटिप्पणी २)

पुरुषविचयनामक शारीराध्यायमें आचार्याभिगमनसे लेकर सर्वसंन्यासको सुख समझनेतक जो साधन मुमुक्षुओंके लिए गिनाए गए हैं, आचार्यने उनका क्रियाकारित्व इस प्रकार दर्शाया है—"अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले इन उपायोंके द्वारा मलिन मन उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार तेल कपड़ा और बाल इत्यादिके द्वारा माँजनेसे दर्पण स्वच्छ हो जाता है। जिस प्रकार ग्रह मेघ धूल धुआँ और कोहरेके आवरणसे रहित होकर सूर्यमण्डल प्रकाशित होता है, उसी प्रकार रागद्वेषादिकल्मषोंसे रहित हुआ निर्मल मन प्रकाशित होता है। शुद्ध स्थिर और उज्ज्वल शिखावाला दीप बन्द दीपाशयके भीतर जैसा चमकता है, रुद्ध इन्द्रियद्वारवाला, आत्मामें निरुद्ध, निर्मल मन

भी वैसा ही प्रकाशित होता है" (शारीर० ५।१३-१५)। जब अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो जाता है, तब मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति और सम्यग्ज्ञानका आविर्भाव होता है। यह सम्यग्ज्ञान ही मोक्षरूप परमपुरुषार्थपर पहुँचानेवाला अन्तिम सोपान है। इसकी प्रशंसा करते हुए महर्षि कहते हैं—"शुद्ध अन्तः-करणमें जो निर्मल सत्यबुद्धि (सम्यग्ज्ञान) आविर्भूत होती है, जिससे मनुष्य महामोहमय अज्ञानान्धकारको छिन्न-भिन्न कर देता है, जिससे सब पदार्थोंके स्वभावको जानकर निःस्पृह हो जाता है, जिसके द्वारा मनुष्य योगकी साधना करता है और साङ्ख्य(विवेकज्ञानी) हो जाता है, जिससे पुनः अहङ्कारको नहीं प्राप्त होता है, जिससे कारण(माया या प्रकृति)की उपासना करना बन्द कर देता है, जिससे किसी अनात्मवस्तुका आश्रय नहीं लेता है, जिसके कारण सब कुछ त्याग दिया जाता है, जिसके द्वारा नित्य जरारहित शान्त एकरस ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसी सत्यबुद्धिको विद्या सिद्धि मति मेधा प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है। हे सौम्य ! यह वह विज्ञान है, जिसे जानकर संशयरहित मुनियोंने मोह रजस् और स्पृहासे रहित होकर परमशान्ति प्राप्त की है" (शारीर० ५।१६-१९,२४; द्रष्टव्य–पृ० ३६)। यहींपर नैष्ठिकी चिकित्साका पर्यवसान है।



अष्टम अध्याय

कर्मसिद्धान्त

भारतीय चिन्तनप्रणाली सर्वदा इस विचारसे अनुप्राणित रही है कि मनुष्यके जीवनमें कर्मका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यका समग्रजीवन मरण और मरणोत्तरजीवन कर्मतन्तुसे बँधा हुआ है। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है, क्योंकि कर्म प्रवृत्तिका पर्याय है, और प्रवृत्तिको संयोगपुरुषके जन्म वृद्धि जरा मरण तथा रोगादि समस्त उपद्रवोंका कारण कहा गया है—**"तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां प्रवृत्तिः"** (शारीर० ५।८)। न्यायसूत्र(१।१।२)में भी जन्म और दुःखका हेतु प्रवृत्तिको ही माना गया है। यज्जःपुरुषीय(सूत्र०२५।१६)में राशि-पुरुषकी उत्पत्तिके कारणोंपर विचार करते समय कर्मको प्रमुखस्थान दिया गया है। भद्रकाप्यने कहा—**कर्मजस्तु मतो जन्तुः कर्मजास्तस्य चामयाः। न ह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य च ॥** अर्थात् "प्राणी कर्मसे उत्पन्न होनेवाला माना गया है। उसके रोग भी कर्मसे ही उत्पन्न होते हैं। कर्मके विना न तो पुरुषका जन्म हो सकता है और न उसके रोगोंका।" तिस्रैषणीय(सूत्र० ११।१२)में भी कहा गया है—"पृथ्वी जल तेज वायु आकाश और आत्मा इन छः धातुओंका जो अपना-अपना लक्षण है, वह स्वाभाविक है, किन्तु गर्भके रूपमें राशिपुरुष-की उत्पत्तिके समय इन धातुओंका जो परस्पर संयोग होता है, और मरणके समय इन धातुओंका जो वियोग(विघटन) होता है, उसका हेतु पूर्वजन्ममें किया गया कर्म ही है" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २४४ पादटिप्पणी १)। विश्वका इतिहास प्राणियोंके जीवन और मरणका इतिहास है, और जीवन तथा मरण कर्मके आश्रित हैं, अतः सम्पूर्ण विश्व कर्मसूत्रमें बँधा हुआ है। विश्वके समस्त अतीत इतिवृत्त और वर्त्तमानकालिक घटनाओंका सूत्रधार यह कर्म ही है। इसीकी पृष्ठभूमिमें राष्ट्रोंके उत्थान और पतन होते हैं, इसीके अनुशासनमें महामारी तथा भूकम्पादि प्राकृतिक विपत्तियाँ आविर्भूत होती हैं और जनपदों-का विध्वंस हो जाता है। महर्षिचरक कहते हैं—**"वाय्वादीनां यद् वैगुण्यमुत्पद्यते, तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतम्"** (विमान० ३।२४), अर्थात् "जन-पदोद्ध्वंसके समय जल और वायु इत्यादिमें जो विगुणता उत्पन्न हो जाती है उसका मूलकारण (जन्मान्तरकृत) अधर्म है, अथवा (इसी जन्ममें) पहले जो असत्कर्म किए गए हैं, वे उस विगुणताके मूलकारण हैं।" इतना ही नहीं कर्मके भ्रूभङ्गमात्रसे सृष्टि और प्रलय होते हैं। ग्रह नक्षत्र और तारागणकी स्थिति गति और विनाश कर्मके अधीन हैं। इसीलिए भर्तृहरिने गाया है—"जिस कर्मके द्वारा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा इस ब्रह्माण्डके भीतर कुम्हारके समान नियुक्त कर दिए गए हैं, पालनकर्त्ता विष्णु दशावतारके महासङ्कटपूर्ण अरण्यमें फेंक दिए गए हैं, संहारकर्त्ता रुद्रसे हाथमें खोपड़ी लेकर जिसने भीख मँगवाई

है, और जिसके कारण सूर्य सर्वदा आकाशका चक्कर लगाता रहता है, उस कर्मको हमारा प्रणाम है।"[१]

स्वकृतकर्मका सुखदुःखहेतुत्व—जन्मान्तरोपार्जित कर्मसे राशिपुरुषकी उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होकर उसके द्वारा नवीनकर्म किए जाते हैं, जो उसके अगले जन्मके कारण बनते हैं। इस प्रकार कर्मसे पुरुषकी और पुरुषसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। बीजाङ्कुरन्यायसे कर्म और पुरुषकी यह परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है। इसलिए इनमें कौन पहले हुआ, यह प्रश्न नहीं बनता है। जिस प्रकार पुरुषकी उत्पत्ति कर्मके अधीन है, उसी प्रकार कर्मकी उत्पत्ति पुरुषके अधीन है। कर्म और कर्मफल (सुख-दुःख) राशिपुरुषके आश्रित रहते हैं। महर्षि कहते हैं—"कर्म और उसका फल इसी राशिपुरुषमें प्रतिष्ठित है, ज्ञान भी इसीमें प्रतिष्ठित है। मोह-ममता सुख-दुःख तथा जीवन-मरण सब इसीमें प्रतिष्ठित हैं।"[२] चूंकि कर्म और कर्मफल दोनों ही पुरुषके आश्रित हैं, इसलिए प्राणीको जो भी सुख या दुःख होता है, उसका हेतु उसका अपना ही कर्म होता है। **"नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा"** (चिकित्सा० ३।१३) इस कथनसे सिद्ध होता है कि ज्वरादिक्लेश मनुष्यको अपने ही कर्मोंसे मिलते हैं। असत्यभाषण, कृतघ्नता, देवताओंकी निन्दा, गुरुओंका अपमान, इस जन्मकी पापक्रियाएँ, पूर्वजन्मकृत कर्म और विरोधी अन्न—ये किलासनामक श्वित्र-(श्वेतकुष्ठ)के हेतु हैं।[३] पापकर्म करनेवालोंके उदररोग उत्पन्न हो जाते हैं—**"पापं कर्म च कुर्वतामुदराण्युपजायन्ते"** (चिकित्सा० १३।१५)। देवगन्धर्वादिके कारण जो उन्मादप्रभृति रोग होते हैं, उनका भी वास्तविककारण रोगीके स्वयंकृत कर्म ही हैं—"जिस मनुष्यने स्वयं अशुभकर्मोंका आचरण नहीं किया है, उसे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस और न कोई दूसरा ही क्लेश पहुँचा सकता है। अपने ही कर्मोंसे क्लेश पाते हुए मनुष्यका अनुवर्त्तन जो देवादि करते हैं (अर्थात् उसके दुष्कर्मोंसे प्रेरित होकर जो देवादि उसको आविष्ट कर लेते हैं), वे देवादि उस क्लेशके कारण नहीं होते हैं, क्योंकि जो अशुभकर्म उसके द्वारा किया जा चुका है, वह देवता इत्यादिके करनेको नहीं बचा है।"[४] यदि देवता देवताप्रभृति कर्मनिरपेक्ष होकर उन्मादादिरोगोंको

---

१. **ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे।**
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाटनं कारितः।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥ —(नीतिशतक ९६)

२. **अत्र कर्म फलञ्चात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम्।**
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता॥ —(शारीर० १।३७)

३. **वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।**
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्॥
—(चिकित्सा० ७।१७७)

४. **नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।**
न चान्ये स्वयमक्लिष्टं उपक्लिश्नन्ति मानवम्॥
ये त्वेनमनुवर्त्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा।
न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता॥—(निदान० ७।२२-२३)

उत्पन्न करते हों, तो उन्हें सभीको समानरूपसे उन्मादग्रस्त करना चाहिए। इसलिए उन्मादादि देवादिकृत नहीं हैं, प्रत्युत रोगीके द्वारा आचरित पापकर्मों-के परिणाम हैं। देवता इत्यादि भी कर्मपराधीन हैं। जिसके द्वारा उन्मादजनक कर्म किया जाता है, वही कर्मपराधीन देवादिके द्वारा आविष्ट किया जाता है। अतः प्रज्ञापराधके कारण स्वयं किए गए कर्मसे उत्पन्न होनेवाले अपने रोगमें बुद्धिमान् मनुष्यको न तो देवताओंको उपालम्भ देना चाहिए, न पितरों-को, और न राक्षसोंको। अपनेको ही अपने सुख और दुःखका कर्त्ता समझना चाहिए। इसलिए श्रेयस्करमार्गपर चलना चाहिए और किसीसे भय नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो श्रेयोमार्गपर चलता है, देवादि उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते हैं। देवताओंकी पूजा करना अथवा उनका विरोध करना, तथा हितकर अथवा अहितकर भावोंका सेवन करना—सब कुछ अपने ही अधीन है।[1] अपने अतिरिक्त कोई दूसरा सुख-दुःखका कर्त्ता नहीं है, इस बातको चरकसंहितामें अनेक वार दुहराया गया है। देखिए **"दृष्टं चेष्टा योनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तम्। न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता।"** (शारीर० ३।१५) अर्थात् चेष्टा योनि ऐश्वर्य और मोक्षको आत्मवेत्ताओंने आत्माके ही अधीन देखा है। आत्मासे भिन्न कोई दूसरा सुख और दुःखका कर्त्ता नहीं है। **"सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्त्ता, नान्य इति"** (शारीर० ५।७), अर्थात् सम्पूर्णलोकको अपनेमें देखनेवालेकी दृष्टिमें अपनेसे भिन्न व्यक्तिका अभाव होनेके कारण आत्मा ही सुख और दुःखका कर्त्ता होता है, कोई अन्य नहीं। किसी दूसरेको सुख और दुःखका कर्त्ता माननेपर अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाशनामक दोषोंकी प्राप्ति होगी। जो भोजन करता है उसे ही भोजनजन्य तृप्तिका सुख मिलता है। ऐसा कभी नहीं होता कि भोजन कोई दूसरा करे और तृप्तिसुख किसी दूसरेको मिले। इसलिए जिसने सुखजनक कर्म किए हैं उसको सुख मिलता है, और दुःखजनक कर्म करनेवाले-को ही दुःख मिलता है। दूसरेके द्वारा किए गए कर्मका फल मुझे भोगना पड़ रहा है—ऐसी धारणा मोहमूलक (अज्ञानजन्य) है। मार्गपर बम-विस्फोट होने-के कारण गाड़ी चार घण्टे विलम्बसे गन्तव्यपर पहुँची, जिससे एक रोगी यात्री-की समयसे चिकित्सालय न पहुँचनेके कारण मृत्यु हो गई। इस घटनापर आपातदृष्टिसे विचार करनेवाले कहेंगे—बमविस्फोट करनेवाले नक्सलपन्थीके कर्मका फल बेचारे रोगीको भुगतना पड़ा। किन्तु उनका यह कथन अज्ञान-मूलक है। रोगीकी मृत्यु अपने दृष्ट अथवा अदृष्ट पूर्वकर्मोंके कारण हुई और नक्सलपन्थीको अपने इस अविचारित कर्मका फल आगे भुगतना पड़ेगा।

---

१. **प्रज्ञापराधात् सम्प्राप्ते व्याधौ कर्मज आत्मनः।**
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान्॥
आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुःखयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्॥
देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम्।
ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि॥—(निदान० ७।२४-२६)

कर्मसिद्धान्तको समझनेवाले सुधी इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे। चरकमुनिका कथन है—**"कृतस्य कर्मण: फलं, नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्। कर्मसदृशं फलं, नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति।"** (सूत्र० ११।३२), अर्थात् किए हुए कर्मका ही फल मिलता है, विना किए हुए कर्मका नहीं, क्योंकि बीजके विना अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं होती है। तथा कर्मके सदृश (अनुरूप) ही फल मिलता है, क्योंकि दूसरे बीजसे दूसरे फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। रोगीका मरण अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है, न तो विना किए हुए कर्मोंका फल है और न दूसरेके द्वारा किए गए कर्मोंका। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है। शुभकर्मोंका पुत्रधनादिकी प्राप्तिके रूपमें शुभफल मिलता है, तथा अशुभकर्मोंका रोगादिकी प्राप्तिके रूपमें अशुभफल मिलता है। शालिके बीजसे शालिका ही अङ्कुर निकलता है, जौ या गेहूँका नहीं। भारतीयपरम्परामें पले हुए लोगोंका इस कर्मसिद्धान्तमें सुदृढ विश्वास है। यह कर्मसिद्धान्त समग्र भारतीय लोकजीवनमें प्रतिबिम्बित हुआ है—**"सुखस्य दु:खस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। अहं करोमीति वृथाभिमान: स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक:॥"** सुख और दु:खको देनेवाला कोई अन्य नहीं है। कोई दूसरा सुख और दु:ख देता है—ऐसा सोचना कुबुद्धि है। मैं सुख और दु:खका कर्त्ता हूँ—यह मिथ्याभिमान है। सम्पूर्णलोक अपने कर्मसूत्रमें बँधा हुआ है। समस्त लोकजीवनमें परिव्याप्त यही कर्मविषयक धारण चरकसंहितामें भी प्रतिध्वनित हुई है।

कर्मफलकी अपरिहार्यता—भारतीय जनमानसमें जहाँ यह धारणा घर किए हुए है कि प्राणीके जीवनमें घटित होनेवाली प्रत्येक घटना उसके अपने ही कर्मोंका फल है, वहीं उनका यह भी दृढ विश्वास है कि प्राणियोंको अपने कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है। कोई भी कर्म अपना फल भुगाए विना नष्ट नहीं होता है। **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'**, **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** और **'नहि कर्म क्षीयते'** इत्यादि स्मृतिवाक्य इसी सिद्धान्तके पोषक हैं। महाभारत(३।१३८६८)में भी इसका समर्थन किया गया है—**"यत्तेन किञ्चिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाश:।"** अर्थात् प्राणीके द्वारा जो भी कर्म किया गया है, वह उसका भोग करता है, क्योंकि किए हुए कर्मका स्वत: नाश नहीं होता है। कर्मफलकी अपरिहार्यताका यह सिद्धान्त चरकसंहितामें भी मुखरित हुआ है—**"नहि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।"** (शारीर० १।११७), अर्थात् ऐसा कोई भी महत् कर्म नहीं है जिसका फल न भोगना पड़ता हो। 'महत्'विशेषणका प्रयोजन यह है कि 'अमहत्' (छोटे-छोटे) कर्मोंका फल प्रायश्चित्त करनेसे भले ही नष्ट हो जाय, किन्तु महत् कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। कुछ टीकाकारोंके अनुसार 'किञ्चित्'का अर्थ स्वल्प करना चाहिए। अर्थात् स्वल्प या महान्, छोटा या बड़ा, कोई भी कर्म ऐसा नहीं है, जिसका फल न भोगना पड़ता हो। इस अर्थमें अधिक स्वारस्य है। प्रायश्चित्त भी कर्मफलका स्वेच्छासे किया जानेवाला भोग ही है। प्रायश्चित्त करनेवाला सोचता है कि इस कर्मका न जाने क्या फल मुझे आगे चलकर भोगना पड़ेगा, इसलिए मैं स्वयं अपनी इच्छासे इस कर्मका शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तरूप भोग अभी

ही क्यों न कर लूँ। इससे सिद्ध होता है कि कर्म बड़ा हो या छोटा, विना भोगे उससे छुटकारा नहीं है। महर्षि चरक कहते हैं—**"क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्"**—(शारीर० १।११७), अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग चिकित्साकर्मको विफल कर देते हैं। कर्मका भोग पूरा होनेपर ही वे रोग शान्त होते हैं। जबतक फलोपभोगके द्वारा कर्मका विनाश नहीं होता है, तबतक लाख चिकित्सा करनेपर भी तज्जन्य रोगका प्रशमन नहीं होता है। इसका समर्थन अतुल्यगोत्रीय(शारीर० २।४३)-में भी प्राप्त होता है—**"जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्।"** अर्थात् यदि कोई रोगकारक दैवसञ्ज्ञक पूर्वकर्म विपाकको नहीं प्राप्त हुआ है, तो जितेन्द्रिय पुरुषको रोग नहीं सताते हैं। जितेन्द्रिय पुरुषको भी बलवान् दैवका विपाक होनेपर रोगोंका शिकार बनना पड़ता है। प्रज्ञापराध अपथ्यसेवनादि दृष्ट रोगकारणोंका अभाव होनेपर भी अदृष्ट पूर्वकर्मोंके कारण रोगादि अवश्य उत्पन्न होते हैं। जबतक उन कर्मोंका क्षय नहीं होता, तबतक कोई चिकित्सा सफल नहीं होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि रोगोंकी उत्पत्ति कर्मके कारण होती है, और कर्मका क्षय होनेपर ही रोगोंकी शान्ति होती है, तो फिर चिकित्साका क्या प्रयोजन है? यदि रोगके विषयमें चिकित्सा अकिञ्चित्कर है, तो यह चिकित्साशास्त्रका उपदेश भी निष्प्रयोजन तथा व्यर्थ है। महाचतुष्पादाध्यायमें पुनर्वसु आत्रेयने जब चार पादोंवाली तथा सोलह कलाओंवाली भेषजकी प्रशंसा करते हुए उसे आरोग्यदात्री कहा, तो मैत्रेयने इसका निषेध करते हुए आक्षेप किया — "उपकरणोंसे सम्पन्न, परिचारकयुक्त, आत्मवान् (संयमी), तथा कुशलवैद्योंके द्वारा चिकित्सित कुछ रोगी तो अच्छे होते देखे जाते हैं, किन्तु उसी प्रकारके कुछ दूसरे रोगी मरते हुए देखे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भेषज कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। रोग या आरोग्य दैवसञ्ज्ञक कर्मपर आश्रित है। जिस प्रकार गड्ढे अथवा तालमें डाला गया थोड़ा सा जल निष्फल होता है। उससे गड्ढा या तालाब भरता नहीं है। अथवा जिस प्रकार बहती हुई नदीमें अथवा बालुकाराशिपर बिखराई गई मुट्ठीभर बालू व्यर्थ होती है। उससे न तो नदीका प्रवाह रुक सकता है और न बालुकाराशिमें प्रथिमा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार कर्महेतुक रोगके प्रवाहमें दी गई थोड़ी सी औषध निष्फल होती है। इसके विपरीत दूसरी ओर कुछ ऐसे रोगी देखनेमें आते हैं, जिनके पास न तो उपकरण हैं, न परिचारक हैं, संयम भी नहीं है, और कुशल वैद्य भी जिनको नहीं मिले हैं, किन्तु फिर भी अच्छे हो जाते हैं। तथा इसी प्रकारके कुछ रोगी मरते हुए भी देखनेमें आते हैं। चूँकि व्याधिका प्रतीकार करते हुए कभी सफलता मिलती है और कभी आदमी मर जाता है, तथा प्रतीकार न करनेपर भी कभी रोगी चंगा हो जाता है और कभी मर जाता है, इससे यह संशय होता है कि भेषज अभेषजके तुल्य है, अर्थात् चिकित्सा करना या न करना बराबर है।"[१] तात्पर्य यह है कि दैवनामक कर्मके वशीभूत होकर ही मनुष्यका जीवन

१. दृश्यन्ते ह्यातुराः केचिदुपकरणवन्तश्च परिचारकसम्पन्नाश्चात्मवन्तश्च कुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानास्तथा युक्ताश्चापरे म्रियमाणाः।

अथवा मरण होता है; भेषज इस विषयमें अकिञ्चित्कर है।

मैत्रेयकी इस शङ्काका निराकरण इस प्रकार किया गया है—"यह कहना ठीक नहीं है कि कुछ रोगी सोलह गुणोंवाली इस प्रशस्तभेषजके द्वारा चिकित्सा किए जानेपर भी मर जाते हैं। जो व्याधियाँ भेषजसाध्य हैं, उनके निवारणमें भेषज अकारण नहीं होती है अर्थात् भेषजसाध्य व्याधियाँ भेषजसे अवश्य ही निवृत्त होती हैं। जो रोगी सम्पूर्ण भेषज(चिकित्सा)के विना ही उठ खड़े होते हैं उनको सम्पूर्णभेषज देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा नहीं, अर्थात् उनको भी सम्पूर्णभेषज देना चाहिए। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार किसी गिरे हुए तथा स्वयं उठनेमें समर्थ पुरुषको भी सहारा देकर उठानेवाला पुरुष उसे बल प्रदान करता है, और वह विना किसी क्लेशके शीघ्रतर उठ खड़ा होता है, उसी प्रकार सम्पूर्णभेषजके मिलनेसे रोगी शीघ्रतर उठ खड़ा होता है। तात्पर्य यह है कि रोगीके अच्छे होनेमें यद्यपि मुख्यकारण अदृष्ट ही है, तथापि भेषजादि दृष्टकारण भी यदि अनुकूल मिल जायँ, तो दृष्टादृष्ट दोनों कारणोंके बलसे आरोग्यलाभ शीघ्रतर होता है। जो रोगी सम्पूर्णभेषज मिलनेपर भी मर जाते हैं, उनके विषयमें यह बात अवधेय है कि सभी प्रकारके रोगी भेषजसे अच्छे नहीं होते हैं। जिनका रोग साध्य होता है, वे सम्पूर्णभेषजके प्रभावसे उठ खड़े होते हैं, किन्तु जिनका रोग असाध्य होता है, वे सम्पूर्णभेषज मिलनेपर भी अच्छे नहीं होते हैं। सभी रोग उपायसाध्य नहीं होते हैं, तथा जो रोग उपायसाध्य होते हैं, उनकी भी भेषजरूप उपायके विना सिद्धि नहीं होती है। असाध्यरोगोंके लिए यह भेषजसमुदाय नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिनका रोग उपायसाध्य है, वे षोडशगुणयुक्त भेषजके मिलनेपर आरोग्यलाभ करते हैं, और भेषजके न मिलनेपर तथा जीवनदायक बलवान् कर्मका अभाव होनेपर उनकी मृत्यु हो जाती है। ज्ञानवान् चिकित्सक भी मरणोन्मुख रोगीको बचानेमें समर्थ नहीं होता है। रोग और रोगीकी परीक्षा करके चिकित्सा करनेवाले ही कुशल चिकित्सक होते हैं। जिस प्रकार योगको जाननेवाला और नित्य अभ्यास करनेवाला धनुर्धर जब थोड़ी दूरपर स्थित किसी बड़ी आकृतिवाली वस्तुपर धनुष लेकर बाण फेंकता है, तो चूकता नहीं है और लक्ष्यवेधरूप अपने इष्टकार्यका सम्पादन कर लेता है, उसी प्रकार श्रेष्ठवैद्यके गुणोंसे सम्पन्न तथा चिकित्साके उपकरणोंको रखनेवाला वैद्य जब चिकित्साकर्मका समुचित विचार करके किसी साध्यरोगकी चिकित्सा करना प्रारम्भ करता है, तो विना चूके हुए रोगीको आरोग्यसम्पन्न कर ही देता है।

तस्माद् भेषजमकिञ्चित्करं भवति, तद्यथा श्वभ्रे सरसि वा प्रसिक्तमल्पमुदकं, नद्यां वा स्यन्दमानायां पांसुधाने वा पांसुमुष्टिः प्रकीर्णं इति। तथापरे दृश्यन्तेऽनुपकरणाश्चापरिचारकाश्चानात्मवन्तश्चाकुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः, तथायुक्ता म्रियमाणाश्चापरे। यतश्च प्रतिकुर्वन् सिध्यति, प्रतिकुर्वन्नपि म्रियते, अप्रतिकुर्वन्नपि सिध्यति, अप्रतिकुर्वन् म्रियते। ततश्चिन्त्यते भेषजमभेषजेनाविशिष्टमिति मैत्रेयः।

—(सूत्र० १०।४)

इसलिए भेषज अभेषजके तुल्य नहीं है।"[१]

इस प्रकरणकी व्याख्या करते हुए महामहोपाध्याय श्रीचक्रपाणिने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं — अदृष्ट कर्म दो प्रकारका होता है, बलवान् और निर्बल। इनमें बलवान् कर्मका विपाक नियत समयपर होता है। मारक होनेपर यह कर्म नियत समयपर ही मारता है। निर्बल मारककर्म मारता तो अवश्य है, किन्तु उसमें समयका नियम नहीं होता है। उसे जब अपथ्यसेवन और औषधाभाव इत्यादि अनुकूल दृष्टसामग्री मिलती है, तब मारता है, और जब अनुकूल सामग्री नहीं मिलती है, तो नहीं मारता है। जैसा कि जनपदोद्ध्वंसनीय(विमान० ३।४१)में कहा गया है — **"कर्म किञ्चित्क्वचित्काले विपाके नियतं महत्। किञ्चित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥"** अर्थात् किसी बलवान् कर्मका किसी विशेष समयपर विपाक होना निश्चित होता है, और किसी (निर्बल)कर्मके विपाकका समय निश्चित नहीं होता है, वह अपथ्यसेवनादि अनुकूल दृष्टकारणोंके द्वारा जगाया जाता है। इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि अदृष्ट ही सर्वत्र कारण है, और उसका विपाक निश्चित समयपर ही होता है, जैसा कि कहा गया है—**"नाकाले जायते कश्चिन्नाकाले म्रियते तथा। जगत्कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥"** अर्थात् 'अकालमें न तो किसीका जन्म होता है और न किसीकी मृत्यु होती है, सारा जगत् कालके वशमें है, और सर्वत्र काल ही कारण बनता है।' यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जिसे अदृष्ट कहा जाता है वह भी यज्ञादि तथा ब्रह्मवधादि दृष्टकर्मोंसे ही उत्पन्न होनेवाला कुछ है। जिसकी सिद्धि दृष्टसे न हो, उसके विषयमें अदृष्टकी कल्पना प्रामाणिक होती है। किन्तु जो दाह इत्यादि दृष्ट अग्निसम्बन्धसे ही सिद्ध हो जाते हैं, उनके विषयमें उस अदृष्टके लिए अवकाश कहाँ है, जो दृष्टकार्यके अन्यथा सिद्ध न होनेसे कल्पित किया जाता है। इससे सिद्ध होता है, जो रोग दुर्बल अदृष्टके द्वारा, बलवान् अपथ्यसेवनादि दृष्टकर्मोंसे उत्पन्न हुए दोषोंके बलसे, उत्पन्न किए जाते हैं, वे रोग

---

१. ये ह्यातुराः षोडशगुणसमुदितेनानेन भेषजेनोपपद्यमाना म्रियन्त इत्युक्तं तदनुपपन्नम्। नहि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति। ये पुनरातुराः केवलाद् भेषजादृते समुत्तिष्ठन्ते, न तेषां सम्पूर्णभेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषो नास्ति। यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्, स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत्, तद्वत् सम्पूर्णभेषजोपलम्भादातुराः। ये चातुराः केवलाद्भेषजादपि म्रियन्ते, न च सर्वे एव ते भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्। नहि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः, न चोपायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति। न ह्यलं ज्ञानवान् भिषङ् मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुम्। परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति। यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यम्, तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण। तस्मान्न भेषजमभेषजेनाविशिष्टं भवति। —(सूत्र० १०।५)

बलवान् और चतुष्पादसम्पन्न भेषजके द्वारा, दोषोंको दूर करनेवाले उपायसे, सर्वथा साध्य होते हैं। किन्तु इन उपायोंके अभावमें दुर्बल अदृष्टके द्वारा भी, दृष्ट दोषोंके बलसे, उत्पन्न किए गये रोग दूर होनेका नाम नहीं लेते हैं। जैसा कि कहा गया है—"पौरुषके द्वारा दुर्बल दैवका विनाश कर दिया जाता है, और बलवान् दैवके द्वारा पौरुषको नष्ट कर दिया जाता है" (विमान० ३।३८)। निष्कर्ष यह है कि चिकित्सा और चिकित्साशास्त्र व्यर्थ नहीं हैं। चिकित्सा केवल उस अवस्थामें निष्फल होती है, जब बलवान् दैवके द्वारा असाध्यरोग उत्पन्न कर दिए जाते हैं। किन्तु जब निर्बलदैव व्याधियोंका कारण बनता है, तो चतुष्पादसम्पन्न भेषजके द्वारा उसका प्रतीकार किया जा सकता है। उस अवस्थामें भेषजके न मिलनेसे रोगकी अवधि बढ़ सकती है और मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए भेषजके द्वारा रोगका प्रतीकार अवश्य करना चाहिए।

दैव और पुरुषकार

इस प्रकरणको सम्यक्तया समझनेके लिए दैव(अदृष्टकर्म) तथा पौरुष-(दृष्टकर्म)के स्वरूप और क्रियाको समझना अत्यन्त आवश्यक है। चरकमुनि-ने शास्त्रकी अपेक्षाके अनुसार इनका निरूपण किया है—"**दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत्पौर्वदेहिकम्। स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्॥**" (विमान० ३।३६), अर्थात् "अपने द्वारा पूर्वशरीरमें जो कर्म किया गया है, उसे दैव समझना चाहिए, और जो नया कर्म इस जन्ममें किया जाता है, उसे पौरुष जानना चाहिए।" पूर्वजन्ममें किया गया कर्म अस्थिर होनेके कारण यद्यपि नष्ट हो जाता है, तथापि उससे उत्पन्न होनेवाला अदृष्ट आगामी जन्मोंमें तबतक अनुवर्त्तित होता रहता है जबतक उसका फल भोग नहीं लिया जाता है। "**निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदेहिकम्**" (शारीर० १।११६) अर्थात् जो कर्म पौर्वदेहिक है, उसका निर्देश 'दैव'शब्दके द्वारा किया गया है। अतुल्यगोत्रीय(शारीर० २।४४)में भी इसी बातको दुहराया गया है — "**दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तत्तत्पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।**" अर्थात् "जो कर्म इस जन्मके पूर्व किया गया है, वह दैव कहलाता है, और जो दृष्टकर्म इस जन्ममें किया जाता है, वह पौरुष कहा जाता है।" तिस्रैषणीय(सूत्र० ११।३१)में दैवसञ्ज्ञक अदृष्टकर्म-को 'स्वकृत' और 'पौर्वदेहिक' कहनेके अतिरिक्त 'अपरिहार्य' 'अविनाशी' और 'आनुबन्धिक' विशेषणोंसे भी विशिष्ट किया गया है। चूँकि दैवसे किसी भी प्रकार बचना असम्भव है, इसलिए उसे अपरिहार्य कहा गया है। उपभोग-के विना विनष्ट न होनेके कारण उसे अविनाशी कहा गया है। और भावी जन्मोंमें अनुवर्त्तित होनेके कारण उसे आनुबन्धिक कहा गया है।

दैव और पौरुष दोनों प्रकारके कर्मोंमें परस्पर बलाबल हुआ करता है। अर्थात् कभी दैव बलवान् होता है और पौरुष निर्बल, कभी पौरुष बलवान् होता है और दैव दुर्बल। कभी दोनों बलवान् होते हैं, और कभी दोनों निर्बल होते हैं। ये दोनों प्रकारके कर्म हीन मध्यम और उत्तमके भेदसे तीन-तीन प्रकारके देखे गए हैं—"**बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः। दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम्।**" (विमान० ३।३७)॥

आयुके विषयमें निर्णय—अग्निवेशने भगवान् आत्रेयसे पूछा—भगवन् ! क्या सभीकी आयुका प्रमाण निश्चित होता है अथवा अनिश्चित ? भगवान् आत्रेयने उनसे कहा—"अग्निवेश ! प्राणियोंकी आयु दैव और पौरुषके योगकी अपेक्षा रखती है। आयुकी सबलता (नियत होना) और दुर्बलता (अनियत होना) दैव तथा पौरुषके आश्रित है। उत्कृष्टकोटिके दैव और पौरुषका योग दीर्घ सुखपूर्ण और नियत आयुका कारण होता है, तथा इसके विपरीत योग विपरीत आयुका कारण बनता है, अर्थात् हीनकोटिके दैव और पौरुषका योग अल्प दुःखपूर्ण तथा अनियत आयुका कारण बनता है। इसी प्रकार मध्यमकोटिके दैव और पौरुषका योग मध्यम आयुका कारण बनता है।"[१] चूँकि मनुष्यकी आयु दैव और पौरुषके योगपर अवलम्बित है, इसलिए केवल दैवके भरोसे ही नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत उत्तमकोटिका पौरुष अर्जित करनेके लिए सदा सचेष्ट रहना चाहिए। संयत तथा नियमित आहार-विहारसे और रसायनादिका सेवन करनेसे आयुकी वृद्धि होती है। याज्ञवल्क्य भी इसका समर्थन करते हैं—"**दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।**" (१।३४९), अर्थात् कार्यमें सफलताकी प्राप्ति दैव और पौरुष दोनोंके आश्रित है। दैव और पौरुष एक दूसरेके पूरक हैं। जिस प्रकार एक पहिएसे रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार पौरुषके विना दैवकी सिद्धि नहीं होती है—"**यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥**" (याज्ञवल्क्यस्मृति १।३५१)।

आत्रेयने अग्निवेशसे कहा—"आयुके नियत और अनियत होनेका एक और कारण सुनो। दुर्बलदैव पौरुषके द्वारा बाधित कर दिया जाता है और पौरुष बलवान् दैवके द्वारा बाधित कर दिया जाता है। बलवान् दैवके द्वारा पौरुषके इस पराभवको देखकर ही कुछ लोग आयुके प्रमाणको निश्चित मान बैठे हैं।"[२] आयुकी वृद्धि करनेवाला दैव जब दुर्बल होता है, तो अपथ्यभोजनादि बलवान् तथा मारक दृष्टकर्मके द्वारा उसका उपघात कर दिया जाता है, और प्राणीकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु जब आयुर्वर्धक दैव बलवान् होता है, तो अपथ्यभोजनादि दृष्टकर्म उसके द्वारा अभिभूत कर लिए जाते हैं, और वे प्राणीका कुछ बिगाड़ नहीं पाते हैं। इस प्रकार दैवके द्वारा दृष्टकर्मोंके अभिभवको देखकर कुछ लोग सोचते हैं कि यदि दृष्टकर्म ही आयुका कारण होता, तो भेषजादिके द्वारा सम्यक् चिकित्सा किए जानेपर प्राणियोंकी मृत्यु नहीं

---

१. **इहाग्निवेश भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते।**
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्॥
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य ससुखस्य च।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा॥
मध्यमा मध्यमस्येष्टा............... । —(विमान० ३।३५,३८–३९)

२. **दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।**
दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते॥
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः॥ —(विमान० ३।३९–४०)

होती। चूँकि चिकित्सा करनेपर भी कर्मवशात् मृत्यु होती है, इसलिए जहाँपर चिकित्सासे जीवनकी अनुवृत्ति देखनेमें आती है, वहाँपर भी अदृष्ट कर्म ही जीवनका कारण है, ऐसा निश्चिय होता है। इस प्रकार अदृष्टकी प्रधानताको कल्पितकर वे सबकी आयुका प्रमाण निश्चित मानते हैं। किन्तु उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ एक ओर बलवान् दैव दृष्टकर्मका बाधक बनता है, वहाँ दूसरी ओर बलवान् दृष्टकर्म भी निर्बलदैवका बाधक बनता है। इसलिए आयु नियत है या अनियत है, इनमेंसे किसी एक पक्षको ऐकान्तिकपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसका समर्थन करते हुए आचार्य कहते—"कुछ बलवान् कर्मोंका तो किसी विशेषकालमें परिपाक होना निश्चि होता है, और कुछ (निर्बल) कर्मोंका विपाककाल अनिश्चित होता है, वे अपथ्यसेवनादि अनुकूल दृष्टकारणोंके द्वारा जगाए जाते हैं" (विमान० ३।४१)। इनमें प्रथम प्रकारके कर्म **नियतविपाककाल** कहलाते हैं। इनका दृष्टकर्मके द्वारा बाध नहीं किया जा सकता है, इसलिए इनको बलवान् माना गया है। दूसरे प्रकारके कर्म अनियतविपाककाल कहलाते हैं। ये दुर्बल होते हैं। इनके विपाकका समय निश्चित नहीं होता है। ये तभी फलोन्मुख होते हैं, जब अनुकूल पौरुषरूप दृष्टकारणोंके द्वारा जगाए जाते हैं, अन्यथा सोते रहते हैं। इस प्रकार कर्मके परिपाककालके नियत और अनियन होनेसे आयु भी नियत और अनियत दोनों प्रकारकी होती है। दैवका पुरुषकारके द्वारा और पुरुषकारका दैवके द्वारा बाध देखे जानेसे तथा कर्मका परिपाककाल नियत और अनियत दोनों प्रकारका होनेसे 'आयु नियत है' अथवा 'अनियत है' इनमेंसे किसी एक पक्षको ग्रहण करना ठीक नहीं है। न तो यह मानना ठीक है कि सब प्राणियोंकी आयु निश्चित होती है, और न यही मानना ठीक है कि निश्चित आयु होती ही नहीं है। आयु नियत भी होती है और अनियत भी होती है।

जो लोग सबकी आयुको नियत मानते हैं उनकी खबर इस प्रकार ली गई है—"यदि सभीकी आयुका कालप्रमाण नियत हो, तो दीर्घायुकी कामना करनेवालोंके लिए मन्त्र ओषधि मणि मङ्गल बलि उपहार होम नियम प्रायश्चित्त उपवास स्वस्त्ययन प्रणिपात और गमनादि क्रियाओं तथा यज्ञोंका प्रयोग (अनुष्ठान) नहीं कराया जाना चाहिए। बौखलाकर इधर-उधर दौड़ते हुए, उग्रस्वभाववाले और चञ्चल, साँड़ हाथी ऊँट गधे घोड़े और भैंसे इत्यादि पशुओंसे तथा दूषित वायु इत्यादिसे अपनेको नहीं बचाना चाहिए। इसी प्रकार न तो प्रपात पर्वत और ऊँचे-नीचे दुस्तर जलप्रवाहोंके वेगसे, न प्रमत्त(असावधान) उन्मत्त(पागल) उद्भ्रान्त(बौखलाए हुए) उग्र चञ्चल और मोह तथा लोभसे व्याप्त बुद्धिवालोंसे, न शत्रुओंसे, न बढ़ी हुई अग्निकी लपटोंसे, न अनेक प्रकारके विषैले रेंगनेवाले जन्तुओं और सर्पोंसे, न साहसिक कर्मोंसे, न देश और कालके विरुद्ध आचरणसे. और न राजाओंके प्रकोपसे अपना बचाव करना चाहिए, क्योंकि आयुका कालप्रमाण निश्चित होनेसे ये समस्त भाव आयुका अभाव करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं।"[1] सभी

1. यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदायुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः

प्रामाणिकजनोंका इस विषयमें कोई विवाद या मतभेद नहीं हैं कि आयुको बढ़ानेवाले दृष्टहेतुओंका सेवन करना चाहिए, तथा आयुको क्षीण करनेवाले हेतुओंका परित्याग करना चाहिए। आयुके निश्चित होनेपर यह सब करना व्यर्थ होगा। यदि आयु अनिश्चित हो, तभी इन सबकी सार्थकता हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि सभीकी आयुका कालप्रमाण निश्चित नहीं होता हैं, अनिश्चित कालप्रमाणवाली आयु भी होती है। उन्हींके लिए हितकर भावोंके सेवन और अहितकर भावोंके परित्यागका उपदेश किया जाता है।

यदि सभी प्राणियोंकी आयु निश्चित हो और अकालमें किसीकी मृत्यु न होती हो, तो "जिन प्राणियोंने कभी भी अकालमृत्युसे होनेवाले भयके निवारक प्रयोगोंका अभ्यास नहीं किया है, उन्हें अकालमें मरनेका भय ही न होना चाहिए। आयुके नियत होनेपर रसायनके विषयमें महर्षियोंकी क्रियाएँ कथाएँ प्रयोग और ज्ञान भी व्यर्थ हो जाएँगे। निश्चित आयुवाले शत्रुको इन्द्र भी अपने वज्रसे न मार सकेंगे। नियत आयुवाले रोगीकी चिकित्सा अश्विनीकुमार भी नहीं कर सकेंगे। महर्षिगण तपश्चर्याके द्वारा मनचाही आयु भी न प्राप्त कर सकेंगे। यदि आयु निश्चित होती, तो सम्पूर्ण ज्ञातव्यको जाननेवाले महर्षि और इन्द्र न तो भेषज और रसायनादिका सम्यग्दर्शन करते, न उसका उपदेश करते, और न स्वयं उसका प्रयोग करते। महर्षियोंकी और इन्द्रकी भैषज्यादिके विषयमें जो यह दिव्य दृष्टि है वह सब दृष्टियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म और उत्कृष्ट है। यह बात हमलोगोंको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है कि प्रतिदिन उठ-उठकर युद्ध करनेवालोंकी तथा युद्ध न करनेवालोंकी आयु समान नहीं होती है। इसी प्रकार उत्पन्न होते ही जिनके रोगोंका प्रतीकार कर दिया जाता है और जिनके रोगोंका प्रतीकार नहीं किया जाता है, उनकी आयु समान नहीं होती है। विष खानेवालों तथा न खानेवालोंकी आयु भी समान नहीं होती है। पानी भरनेके काम आनेवाले तथा चित्रमें बने हुए दोनों प्रकारके घड़ोंके विनाशी होनेपर भी उनका योगक्षेम समान नहीं होता है। पानी भरनेवाला घड़ा जलके सम्बन्धसे तथा गिरने-फूटने इत्यादिके द्वारा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जबकि चित्रित घट एक स्थानपर टँगा रहनेसे प्रत्यवायका अभाव होनेके कारण चिरकालतक बना रहता है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणियोंका जीवन हितोपसेवनपर अवलम्बित है, इसके विपरीत आचरण करनेसे मृत्यु होती है। जो कर्म आहार और विहार, देश काल तथा आत्मगुणोंके विपरीत हैं, विवशता होनेपर जीवनकी सुरक्षाके लिए उनका समुचितरूपसे क्रमशः धीरे-धीरे उपयोग करना चाहिए। सब प्रकारके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगका त्याग करना चाहिए। सभी

क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन्। नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः, तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयः, न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं, नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति। एवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात्। —(विमान० ३।४२)

अतियोगोंको विशेषरूपसे बचाना चाहिए। प्रवृत्त एवं गतिशील वेगोंको नहीं रोकना चाहिए। साहसिक कर्मोंका परित्याग करना चाहिए। इन सभी बातों-को हम आरोग्यके अनुवर्त्तनमें कारण पाते हैं, इन्हीका सम्यक् उपदेश देते हैं, और इन्हींको ठीक समझते हैं।"[१]

कालमृत्यु और अकालमृत्यु

अग्निवेशने पूछा—भगवन्! यदि सभी प्राणियोंकी आयुका कालप्रमाण अनि-यत है, तो फिर कालमृत्यु अथवा अकालमृत्यु कैसे होती है? यदि आयुकी अवधि निश्चित होती, तो अवधिपर मरनेवालोंकी कालमृत्यु कही जाती, और अवधिके पूर्व अथवा अवधि बीतनेके पश्चात् मरनेवालोंकी अकालमृत्यु कही जाती। किन्तु आयुकी अवधि अनिश्चित होनेके कारण, कालका नियम न होनेसे, कालमृत्यु अथवा अकालमृत्युका प्रश्न ही नहीं उठता है। महर्षि पुनर्वसु आत्रेयने कहा—"सुनो अग्निवेश! जिस प्रकार गाड़ीमें लगा हुआ धुरा यदि स्वभावसे ही धुरेके गुणोंसे युक्त हो, और अपने समस्तगुणोंसे युक्त हुआ वह धुरा प्रयोगमें लाया जाता हो, तो समय आनेपर अपने प्रमाणका क्षय होनेसे घिसकर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार शरीरको प्राप्त हुई आयु यदि स्वभावसे ही बलवती हो और सद्वृत्तपालनरूप यथोचित विधिसे उसका परिपालन किया जा रहा हो, तो अपने (युगानुरूप वर्षशतादि) प्रमाणका क्षय होनेपर समाप्त हो जाती है। इसीको समयपर होनेवाली मृत्यु या कालमृत्यु कहा जाता है। और जिस प्रकार वही धुरा, अत्यधिक भारसे आक्रान्त होनेके कारण, विषम-मार्ग तथा अमार्गपर चलनेके कारण, अक्षचक्र(नाभि)के टूट जानेके कारण, ढोये जानेवाले तथा हाँकनेवालेके दोषके कारण, कीलके निकल जानेके कारण, यानके उलट जानेके कारण, और तेल न देनेके कारण अपने समयसे पहले ही टूटकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आयु भी अपने बलके अनुरूप कार्य न

---

१. न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनाम्, व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्त्तं भेषजेनोपपादयेताम्, न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः, न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा। अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं यद् दिव्यं चक्षुः। इदं चाप्यस्माकं तेन प्रत्यक्षं, यथा—पुरुषसहस्राणा-मुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वम्, तथा जातमात्राणा-मप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च। अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वमेव। न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदताम्। तस्माद्धितो-पचारमूलं जीवितम्। अतो विपर्यासान्मृत्युः। अपि च देशकालात्मगुण-विपरीतानां कर्मणामाहारविहाराणां च क्रमोपयोगः सम्यक्, त्यागः सर्वस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगानाम्, सर्वातियोगसन्धारणम्, असन्धारण-मुदीर्णानां च गतिमताम्, साहसानां च वर्जनम्। आरोग्यानुवृत्तौ हेतुमुप-लभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति। —(विमान० ३।४२)

करनेसे, अपनी अग्निके अनुरूप भोजन न करनेसे, विषम भोजन करनेसे, शरीर-को विषमरूपमें रखनेसे, अत्यधिक मैथुन करनेसे, असत्पुरुषोंका आश्रय ग्रहण करनेसे, उदीर्ण वेगोंको रोकनेसे, रोकने योग्य वेगोंको न रोकनेसे, भूत विष वायु और अग्निके द्वारा सताए जानेसे, चोट लगनेसे, भोजन छोड़ देनेसे, और रोगका प्रतीकार न करनेसे, समय आनेके पहले जब बीचमें ही समाप्त हो जाती है, तो इसीको असमयमें होनेवाली मृत्यु या अकालमृत्यु कहा जाता है। इसी प्रकार जिन ज्वरादि रोगोंकी सम्यक् चिकित्सा न होकर उलटी चिकित्सा हुई हो, तो उन्हें भी हम अकालमृत्युके रूपमें देखते हैं क्योंकि उनसे भी प्रायः असमयमें मृत्यु हो जाती है।"[१]

कालमृत्यु और अकालमृत्युका विवेचन महर्षिने शारीरस्थानके शरीर-विचयनामक अध्यायमें और अधिक विस्तारसे किया है। लोकप्रसिद्ध मतोंका पर्यालोचन करके उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला है कि कालमृत्यु और अकाल-मृत्यु दोनों ही होती हैं। "कालमृत्यु और अकालमृत्युके भावाभावके विषयमें हमारा निर्णय इस प्रकार है—कुछ लोग कहते हैं कि जो कोई मरता है वह कालमें ही मरता है, क्योंकि कालके बीचमें कोई ऐसा छिद्र (अवकाश) नहीं है जिसे अकाल कहा जा सके (और उस कालशून्य अवकाशको प्राप्त करके प्राणीकी मृत्यु होनेपर अकालमृत्यु कही जाय)। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कालका स्वभाव निरवयव होनेके कारण उसका छिद्रयुक्त या छिद्ररहित होना सम्भव नहीं है।"[२] जो सावयव द्रव्य सान्तर अर्थात् अवकाश-युक्त होता है उसे सच्छिद्र कहा जाता है, और जो सावयव द्रव्य निरन्तर अर्थात् अवकाशरहित होता है उसे अच्छिद्र कहा जाता है। चूंकि काल निरवयव

---

१. श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः, स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथायुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति; स मृत्युः काले। यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्वि-षमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गात् पर्यसनाच्चा-न्तरावसानमापद्यते, तथायुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विष-माभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगनिग्रहाद्विधार्य - वेगाविधारणाद्भूतविषवाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्च यावदन्तरावसानमापद्यते, स मृत्युरकाले। तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान् मिथ्यो-पचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति। —(विमान० ३।३८)

२. कालाकालमृत्य्वोस्तु खलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः—"यः कश्चि-न्म्रियते स काल एव म्रियते, न हि कालच्छिद्रमस्ति" इत्येके भाषन्ते। तच्चासम्यक्। न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते, कालस्वलक्षण-स्वभावात्। —(शारीर० ६।२८)

द्रव्य है, इसलिए उसके अच्छिद्र या सच्छिद्र होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः कालकी अच्छिद्रताके आधारपर अकालमृत्युका निषेध नहीं किया जा सकता है। "कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि जो जिस समय मरता है, वही उसका निश्चित मृत्युकाल है। यह मृत्युकाल सभी प्राणियोंके लिए समान क्रियावाला होनेसे सत्य अर्थात् रागद्वेषसे रहित है। तात्पर्य यह है कि समक्रिय और रागद्वेषशून्य होनेके कारण काल सभीके साथ एक-सा व्यवहार करता है। किसीको रागके कारण समयपर और किसीको द्वेषके कारण असमयमें मारना उसका स्वभाव नहीं है, प्रत्युत सभीको निश्चित समयपर ही मारता है। यह पक्ष भी सत्यको सम्यक्तया ग्रहण नहीं करता है। कालके समक्रिय होनेका अभिप्राय यह है कि वह सभी प्राणियोंको मारता है, ऐसा नहीं कि वह किसी प्राणीको मारता हो और किसीको न मारता हो। इस समक्रियताके आधारपर मृत्युकालको निश्चित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आयुके प्रमाणको दृष्टिमें रखकर 'काल' शब्दका व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि सौ वर्षके आयुर्मानके विषयमें भी यदि कालको समक्रिय माना जायगा, तो किसी भी मनुष्यको सौ वर्षसे पहले या बादमें नहीं मरना चाहिए। किन्तु इस प्रकारसे लोग मरते हुए देखे जाते हैं। इसलिए समक्रियताके आधार-पर भी अकालमृत्युका निषेध नहीं किया जा सकता है। और जिसको यह पक्ष अभीष्ट है कि जो जिस समय मरता है, वही उसका निश्चित मृत्युकाल है, उसके अनुसार तो भोजन-वचन इत्यादि सभी भाव अपने निश्चित समयपर ही होंगे। किन्तु यह युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता है। यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष है कि अकालमें किए गए भोजन, बोले गए वचन, और किए गए कर्मका फल अनिष्टकारक होता है, तथा इसके विपरीत होनेपर अभीष्ट होता है। विषय-विशेषको दृष्टिमें रखकर उन-उन अवस्थाओंमें काल और अकालकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है। जैसे—यह इस व्याधिका काल है और यह अकाल है, अर्थात् इसी समय यह रोग होता है और अमुक समयमें नहीं होता है। यह इस आहारका काल है और यह अकाल है। यह इस औषधको देनेका काल है और यह अकाल है। यह इस चिकित्साका काल है और यह अकाल है। यह इस रोगसे मुक्त होनेका काल है और यह अकाल है। लोकमें भी ऐसा ही देखा जाता है—कालमें वर्षा हो रही है, अकालमें वर्षा हो रही है। कालमें जाड़ा है, अकालमें जाड़ा है। कालमें गर्मी पड़ रही है, अकालमें गर्मी पड़ रही है। कालमें फूल और फल आ रहे हैं, अकालमें फूल और फल आ रहे हैं। इन उदाहरणोंमें 'काल'से उचित काल, और 'अकाल'से अनुचित कालको ग्रहण किया गया है। इसलिए दोनों ही बातें हैं, कालमें भी मृत्यु होती है, और अकालमें भी मृत्यु होती है। किसी एक ही पक्षको ऐकान्तिक-रूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यदि अकालमें मृत्यु न होती हो, तो सबकी आयुका कालप्रमाण निश्चित होना चाहिए। किन्तु ऐसा होनेपर हिता-हितका ज्ञान निष्प्रयोजन हो जायगा, क्योंकि आयुके निश्चित होनेपर अहित-कर भाव भी आयुका कुछ बिगाड़ न सकेंगे। तथा प्रत्यक्ष अनुमान और उपदेश, जिन्हें सभी शास्त्रोंमें प्रमाण माना गया है तथा जिनके द्वारा आयुष्य और अनायुष्य भावोंका ज्ञान होता है, वे सभी अप्रमाण हो जायँगे, क्योंकि आयुके निश्चित होनेपर उनके द्वारा ज्ञातव्य आयुष्य और अनायुष्य भावोंका अभाव

हो जायगा। इसलिए जो यह कहा जाता है कि अकालमृत्यु नहीं होती है, इसे ऋषिगण केवल कहने भरकी बात मानते हैं, वस्तुतः ऐसा नहीं है।"[१]

---

१. तथाहुरपरे—यो यदा म्रियते, स तस्य नियतो मृत्युकालः। स सर्वभूतानां सत्यः समक्रियत्वादिति। एतदपि चान्यथार्थग्रहणम्। न हि कश्चिन्न म्रियत इति समक्रियः। कालो ह्यायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते। यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकाल इति, तस्य सर्वे भावा यथास्वं नियतकाला भविष्यन्ति। तच्च नोपपद्यते। प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टं विपर्यये चेष्टम्। प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालव्यक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य। तद्यथा—कालोऽयमस्य व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य, अकालो वेति। लोकेऽप्येतद्भवति—काले देवो वर्षत्यकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीतम्, काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च, नैकान्तिकम्। यदि ह्यकाले मृत्युर्न स्यान्नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्। एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्, प्रत्यक्षानुमानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युर्ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु, यैरायुष्याण्यनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते। वाग्वस्तुमात्रमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते यदुच्यते नाकालमृत्युरस्तीति। —(शारीर० ६।२८)



नवम अध्याय

परलोक और पुनर्जन्म

मानव-मन अनादिकालसे इस बातको जाननेके लिए व्याकुल रहा है कि इस प्रत्यक्ष अनुभूयमान जीवनके परे अर्थात् मृत्युके अनन्तर क्या होता है? क्या मृत्यु प्राणीके अस्तित्वको सर्वदाके लिए समाप्त कर देती है अथवा मृत्युके पश्चात् भी कुछ अवशिष्ट रह जाता है? कठोपनिषद्(१।१।२०)में नचिकेता अपने तृतीय वरके रूपमें यमराजसे इसी बातको जानना चाहता है—**"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥"** अर्थात् "मृत मनुष्यके विषयमें जो यह संशय है कि कुछ लोग तो कहते हैं कि (मृत्युके पश्चात् प्राणीका) अस्तित्व रहता है, और कुछ लोग कहते हैं कि मरनेके बाद कुछ भी नहीं रहता है, इस बातको मैं आपके उपदेशसे जानना चाहता हूँ। वरोंमें यह मेरा तीसरा वर है।" अत्यन्तप्राचीनकालसे आस्तिकों और नास्तिकोंके ये दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं। इनमें आस्तिकजनोंकी परलोक पुनर्जन्म कर्मफल और आत्मा इत्यादिके अस्तित्वमें दृढ आस्था है, किन्तु नास्तिकजन हमेशासे इनका मखौल उड़ाते रहे हैं। इन नास्तिकोंका सबसे प्रमुख प्रतिनिधि चार्वाकदर्शन है। आधुनिक कालमें यह काम साम्यवादियोंने सँभाल लिया है। चार्वाकको छोड़कर भारतीयदर्शनके सभी प्रस्थानोंमें परलोक और पुनर्जन्मको मान्यता दी गई है। यहाँतक कि जैन और बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनोंमें भी पुनर्जन्मका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। भारतीय जन-जीवनमें परलोक और पुनर्जन्मकी धारणा इतनी दृढमूल है कि इस देशकी संस्कृतिका प्रत्येक अवयव इस विश्वास-से ओतप्रोत है। इस विश्वासका आदिस्रोत हमारा वैदिक वाङ्मय है, जहाँ पदे-पदे परलोक और पुनर्जन्मविषयक आस्था प्रतिबिम्बित हुई है—**"अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे"** (कठोपनिषद् १।२।६)। आत्माकी अमरतामें अविचल विश्वास ही परलोक और पुनर्जन्मविषयक विश्वासका मूल है।

चरकसंहिताके तिस्रैषणीयनामक अध्यायमें प्रमाणोंके द्वारा परलोक और पुनर्जन्मकी स्थापना की गई है। प्राणैषणा धनैषणा और परलोकैषणा इन त्रिविध एषणाओंमेंसे परलोकैषणाकी व्याख्या करते समय परलोक और पुनर्भव-के विषयमें पहले संशय और पूर्वपक्षकी उन्थापना की गई है, फिर यथासम्भव सभी प्रमाणोंके द्वारा इनको सिद्ध करनेका प्रयास किया गया है। संशय इस प्रकार है—"परलोकके विषयमें संशय होता है कि यहाँसे मर जानेके बाद हम रहेंगे या नहीं रहेंगे।" संशयका हेतु है—प्रन्यक्षको ही एकमात्र प्रमाण माननेवाले कुछ ऐसे लोग हैं, जो पुनर्जन्मके परोक्ष होनेके कारण नास्तिक बन बैठे हैं। तथा दूसरे

कुछ ऐसे लोग हैं, जो शास्त्रप्रामाण्यमें विश्वास रखनेके कारण पुनर्जन्मको मानते हैं। अतः इन वादियोंकी विप्रतिपत्तिसे पुनर्जन्मके विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है। विभिन्न वादियोंके शास्त्रोंमें परस्पर मतभेद होनेके कारण भी सन्देह होता है। कुछ लोग माता और पिताको प्राणिमात्रके जन्मका कारण मानते हैं, कुछ स्वभावको, कुछ परनिर्माणको, तथा दूसरे कुछ लोग यदृच्छा(आकस्मिक संयोग)को जन्मका कारण मानते हैं। इसीलिए संशय उत्पन्न होता है कि पुनर्जन्म वस्तुतः होता है अथवा नहीं।"[1]

नास्तिकोंके सम्प्रदाय—इस प्रकार परलोक और पुनर्जन्मविषयक संशयकी उत्थात्पनाके अनन्तर पूर्वपक्षके रूपमें मातृपितृवाद स्वभाववाद परनिर्माणवाद और यदृच्छावाद इस वादचतुष्टयका उपस्थापन किया गया है। (१) **मातृपितृवादियों**के अनुसार सन्तानके उत्पादनमें केवल माता और पिता ही कारण होते हैं। अपने अतिरिक्त उन्हें आत्मादि किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए पूर्वशरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको ग्रहण करनेके लिए आत्माका परलोकगमन नहीं होता है, यह इन लोगोंका अभिप्राय है। (२) **स्वभाववादियों**के अनुसार परिदृश्यमान पृथिव्यादिभूतोंका ही यह स्वभाव है कि संयोगविशेषके द्वारा परस्पर संयुक्त होकर ये चेतन पुरुषशरीरको उत्पन्न कर देते हैं, जिस प्रकार सुरा बनानेमे प्रयुक्त बीज इत्यादिमेंसे प्रत्येक मदकारक न होनेपर भी उनके संयोगविशेषके द्वारा मादक मदिरा उत्पन्न हो जाती है। इनके अनुसार स्वभावके अतिरिक्त आत्मा इत्यादि कोई अन्य कारण नहीं है। वस्तुतः कारणाभावका ही दूसरा नाम स्वभावकारणता है। (३) **परनिर्माणवादियों**के अनुसार ऐश्वर्यादिगुणोंसे युक्त जो परसञ्ज्ञक आत्मविशेष (ईश्वर) है, उसके द्वारा जो प्राणियोंका निर्माण किया जाता है, वह परनिर्माण है। **परेण निर्माणमिति परनिर्माणम्**। उस परसञ्ज्ञक आत्मविशेषके प्रभावसे ही प्राणियोंमें चेतना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि परके अतिरिक्त कोई दूसरा अनादिचेतनाधातुरूप आत्मा नहीं है। इसलिए परलोक और पुनर्जन्म भी नहीं होता है। (४) कारणनियमके विना जो उत्पत्ति होती है, उसे **यदृच्छा** कहा जाता है। **यदृच्छावादियों**के अनुसार कारणनियमपूर्वक कार्यकी उत्पत्तिका निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि निश्चायक प्रमाणोंका प्रामाण्य ही अनिश्चित है। इसलिए आत्माका पुनर्जन्म होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार नास्तिकोंके इन पूर्वपक्षोंकी स्थापना करके महर्षिने अपना सत्परामर्श इस प्रकार दिया है—

---

१. संशयश्चात्र, कथम्? भविष्याम इतश्च्युता न वेति। कुतः पुनः संशय इति? उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः। सन्ति चापरे ये त्वागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति। श्रुतिभेदाच्च—'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्। स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः॥' इति। अतः संशयः—किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति। —(सूत्र० ११।६)

"बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि इस विषयमें नास्तिक्यबुद्धिका परित्याग कर दे और सन्देहमें न पड़े, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वल्प है, और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) बहुत अधिक है, जिसकी उपलब्धि हमें आगम अनुमान और युक्त्यादिप्रमाणोंसे होती है।"[1] तात्पर्य यह है कि परलोक और पुनर्जन्मकी सिद्धि यथासम्भव सभी प्रमाणोंसे होती है। इसलिए 'आत्माका अभाव होनेके कारण परलोक तथा पुनर्जन्म नहीं होते हैं' इस विपरीतज्ञानरूप नास्तिक्यबुद्धिका तथा 'परलोक है अथवा नहीं है' इस संशयज्ञानका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि परलोक-विषयक संशय और विपर्यय दोनों ही धर्मानुष्ठान तथा तज्जन्य कल्याण-के विरोधी हैं।

नास्तिक मतोंका प्रत्याख्यान—आचार्यने परलोकगामी आत्माके अस्तित्वमें विश्वास न रखनेवाले पूर्वोक्त चतुर्विध नास्तिकोंके मतोंका खण्डन करके उनकी प्रबल निन्दा की है।

(१) **मातृपितृवादका खण्डन** — "यदि माता या पिताकी ही आत्मा सन्तानमें भी गमन करती है, तो यह दो प्रकारसे ही गमन कर सकती है, सम्पूर्णरूपसे अथवा अंशरूपसे। यदि माता-पिताकी सम्पूर्ण आत्मा पुत्रमें गमन करती है, तो माता-पिताकी तत्काल मृत्यु हो जानी चाहिए। और अंशतः गमन कर ही नहीं सकती है, क्योंकि आत्मा सूक्ष्म और निरवयव है। इसी प्रकार बुद्धि और मन भी इन्हीं कारणोंसे न तो पूर्णतया गमन कर सकते हैं और न अंशतः, क्योंकि वे भी आत्माके समान सूक्ष्म और निरवयव हैं। दूसरी बात यह है कि जो माता-पिताको ही अपत्यका कारण मानते हैं, उनके अनुसार योनियोंका चतुर्विधत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियोंके माता-पिता नहीं होते हैं।"[2] इस प्रकार आत्माका साकल्येन अथवा अंशतः सञ्चरण असम्भव होनेसे, तथा चतुर्विध योनियोंकी उपलब्धि होनेसे मातृपितृकारणवाद असङ्गत है।

(२) **स्वभाववादका खण्डन**—"पृथ्वी जल तेज वायु आकाश और आत्मा—इन छः धातुओंका जो अपना-अपना लक्षण है (जैसे पृथ्वीका काठिन्यादि, जलका द्रवत्वादि, तेजका उष्णत्वादि, वायुका तिर्यग्गमनादि, आकाशका अप्रतीघातादि और आत्माका ज्ञानादि), उसे तो स्वाभाविक समझना चाहिए, किन्तु इन धातुओंका संयोग और वियोग स्वाभाविक नहीं है। गर्भो-

---

१. तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते। —(सूत्र० ११।७)

२. आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि सञ्चरेत्।
द्विविधं सञ्चरेदात्मा सर्वो वावयवेन वा॥
सर्वश्चेत् सञ्चरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्।
निरन्तरं, नावयवः कश्चित् सूक्ष्मस्य चात्मनः॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा॥—(सूत्र० ११।९-११)

त्पत्तिके समय होनेवाले इन धातुओंके संयोगमें, और मृत्युके समय होनेवाले इन धातुओंके वियोगमें पूर्वजन्मोंमें किया गया शुभाशुभ कर्म ही कारण बनता है।"[१] इस प्रकार गर्भोत्पत्तिके समय जन्मान्तरोपार्जित कर्मको धातुसंयोगका कारण स्वीकार करनेसे स्वभावकी कारणताका खण्डन होता है, और प्रेत्यभाव परलोक तथा पुनर्भवका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

(३) **परनिर्माणवादका खण्डन**—परनिर्माणका तात्पर्य यदि यह है कि परसञ्ज्ञक ऐश्वर्यादिगुणसम्पन्न आत्मविशेषके द्वारा प्राणियोंके चेतनाधातुरूप आत्माका निर्माण कर दिया जाता है, तो यह पक्ष हमको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि चेतनाधातुरूप आत्मा अनादि (नित्य) है, और अनादिका उत्पादक कारण नहीं होता है। हाँ, परसञ्ज्ञक आत्माके द्वारा यदि कर्मापेक्षया प्राणियों-के शरीरादिमात्रका निर्माण अभिप्रेत हो, तो हमें भी इस प्रकारका परनिर्माण अभीष्ट है, क्योंकि हमारे सिद्धान्तके अनुसार पर आत्मा ही जन्मान्तरकृत धर्माधर्मकी अपेक्षासे शरीरादिका निर्माण करता है।[२]

(४) **यदृच्छावादका खण्डन**—"जगत्की उत्पत्तिको यादृच्छिक (आकस्मिक अर्थात् कारणप्रतिनियमविरहित) माननेके कारण जिसके लिए आत्मस्वरूप तिरोहित हो गया है, उस नास्तिकके मतसे प्रमाणोंका अभाव होनेके कारण न कोई परीक्षा है, न कुछ परीक्ष्य है, न कर्त्ता है, न कारण है, न देवता हैं, न ऋषि हैं, न सिद्ध हैं, न कर्म है, न कर्मफल है, और न आत्माका ही अस्तित्व है। यह नास्तिक्यबुद्धि ब्रह्मवधादि सभी पापोंकी अपेक्षा बढ़कर महापातक है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको इस विपथगामिनी विपरीतबुद्धिका परित्याग करके सत्पुरुषोंके बुद्धिरूपी प्रदीपसे अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे संसारके समस्त-भावोंका यथार्थदर्शन करना चाहिए।"[३] यदृच्छावादी एक भी प्रमाणका अनुमोदन नहीं करता है, इसलिए उसके अप्रामाणिक होनेके कारण, और प्रमाणके विना ही मनचाही बकवास करके शेखी बघारनेके कारण उसके वचनोंमें कदापि श्रद्धा नहीं की जा सकती है। चरकमुनिने "**नास्तिको वर्ज्यानाम्**" (सूत्र० २५।४०) कहकर वर्जनीय लोगोंमें इन नास्तिकोंको अग्रणी बताया है।

---

१. **विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम्।**
संयोगे च विभागे च तेषां कर्मैव कारणम्॥ —(सूत्र० ११।१२)

२. **अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।**
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः॥ —(सूत्र० ११।१३)

३. **न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्त्ता कारणं न च।**
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः॥
तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथातथम्॥ —(सूत्र० ११।१४-१६)

प्रमाणोंसे पुनर्जन्मकी सिद्धि

तिस्रैषणीयमें आचार्यने प्रत्यक्ष अनुमान आगम और युक्ति इस प्रमाण-चतुष्टयके द्वारा कर्मानुरूप जन्मान्तरप्राप्तिको सिद्ध किया है। सर्वप्रथम आप्तागम अर्थात् वेदके प्रामाण्यसे पुनर्जन्मकी स्थापना की गई है। "वेदसे हमें यह ज्ञान होता है कि दान तप यज्ञ सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य, अभ्युदय तथा निःश्रेयस-के जनक हैं। जिन पुरुषोंके मानसदोष रजोगुण और तमोगुण शान्त नहीं हुए हैं, उनके लिए निर्दोष महर्षियोंने धर्मशास्त्रोंमें अपुनर्भव(मोक्ष)का उपदेश नहीं किया है। तपोदानादि धर्मद्वारोंमें तत्पर (अथवा धर्मशास्त्रोंमें एकाग्रचित्त), भय राग द्वेष लोभ मोह और मानसे सर्वथा रहित, ब्रह्मपरायण (अध्यात्मज्ञानपरायण), आप्त, कर्मके रहस्यको जाननेवाले, सत्त्वगुणके उपघातसे रहित हुई बुद्धिके द्वारा विचार करनेवाले, पूर्वकालके तथा उनसे भी पहलेके महर्षियोंने अपनी दिव्यचक्षुओंसे देखकर पुनर्जन्मका उपदेश किया है, ऐसा निश्चयपूर्वक समझना चाहिए।"[1] इस प्रकार वेद और वेदानुकूल शास्त्रोंसे, तथा महर्षियोंके दिव्यानु-भवमूलक उपदेशसे, परलोक और पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है। समाधिके बलसे योगियोंको दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, जिसके द्वारा परलोक और पुनर्जन्म जैसे परोक्षभावोंका भी ज्ञान हस्तामलकवत् हो जाता है।

परलोक और पुनर्जन्मकी सिद्धिमें प्रत्यक्षप्रमाण भी उपलब्ध होता है। माता और पितासे भिन्नरूपवाली सन्तानका उत्पन्न होना, एक ही माता-पितासे उत्पन्न होनेवाली सन्तानोंके वर्ण स्वर आकृति मन बुद्धि और भाग्यमें भिन्नता होना, उच्च और नीच कुलमें जन्म होना, दासता और ऐश्वर्यकी प्राप्ति होना, आयुका सुखकर और दुःखकर होना, आयुर्मानमें विषमता होना, ऐसे फलकी प्राप्ति होना जिसका उत्पादक कर्म इस जन्ममें नहीं किया गया है, विना सिखाए ही नवजात शिशुमें रोने स्तन पीने हँसने और डरनेकी प्रवृत्ति होना, शरीरमें राज्यकारक अथवा दारिद्र्यकारक सामुद्रिकशास्त्रोक्त लक्षणोंकी उत्पत्ति होना, कर्मके समान होनेपर भी फलमें भिन्नता होना, किसी कर्ममें मेधाका विशेषरूपसे प्रवृत्त होना और किसी कर्ममें मेधाका बिलकुल ही प्रवृत्त न होना, कुछ लोगोंको पूर्वजन्मकी स्मृति होना कि मैं अमुक स्थानसे मरकर यहाँ आया हूँ, यमदूतोंके द्वारा यहाँसे भ्रमवशात् ले जाए गए लोगोंका फिर यहाँ लौट आना, जो प्राणी समान दिखाई पड़ते हैं, उनमें भी किसीका प्रिय लगना और किसीका अप्रिय लगना।[2] ये सभी भाव प्रत्यक्षके द्वारा

---

१. आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिःश्रेयसकराणीति। न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते। धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैः महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम्। —(सूत्र० ११।२७-२९)

२. प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते—मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च

ग्रहण किए जाते हैं। यद्यपि परलोक और पुनर्जन्म परोक्ष हैं, तथापि इन प्रत्यक्षगृहीत लिङ्गोंके द्वारा उनका अनुमान किया जा सकता है। सन्तान प्रायः माता-पिताके अनुरूप होती है, परन्तु कभी-कभी माता-पिताके सुन्दर होनेपर भी उनकी सन्तान कुरूप देखनेमें आती है। इसका कारण उस सन्तान-का पूर्वजन्मकृत कर्म ही हो सकता है। पूर्वजन्मके अपने शुभाशुभकर्मोंके कारण ही एक माता-पितासे उत्पन्न होनेवाली अनेक सन्तानोंमें वर्णस्वरादिकी भिन्नता लक्षित होती है। जिन्होंने पूर्वजन्ममें तपोदानादि शुभकर्मोंका आचरण किया है, उन्हें उच्चकुलमें जन्म ऐश्वर्य और सुखकर दीर्घायु प्राप्त होती है। किन्तु जिन्होंने पूर्वजन्ममें अधर्मकी ही पूँजी अर्जित की है, उन्हें इस जन्ममें नीचकुल दासता और दुःखकर अल्पायु प्राप्त होती हैं। पूर्वजन्ममें किए गए अभ्यासके विना नवजात शिशुके हँसने रोने और डरने इत्यादिकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। आचार्य गौतमने भी इसका समर्थन न्यायसूत्र(३।१।१८)में किया है—"**पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।**" अर्थात् पूर्व-जन्ममें जिनका अभ्यास किया गया है, उनकी स्मृतिके सम्बन्धसे, उत्पन्न हुए शिशुको हर्ष भय और शोककी प्राप्ति होती है। वात्स्यायनभाष्यमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह बालक पैदा होते ही इस जन्ममें हर्ष भय और शोकके हेतुओंको ग्रहण न करनेपर भी (मुसकान कम्पन और रोदनादि) लिङ्गोंसे अनुमेय हर्ष भय और शोकको प्राप्त होता है। इनकी उत्पत्ति स्मृतिके सम्बन्धसे ही होती है, किसी अन्य प्रकारसे नहीं हो सकती है। स्मृतिसम्बन्ध पूर्वाभ्यासके विना नहीं होता है, और पूर्वाभ्यास पूर्वजन्मके होने-पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य गौतम पुनः कहते हैं—"**प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्।**" (३।१।२१) अर्थात् मरनेके बाद पुनर्जन्म होनेपर, जो पूर्वजन्ममें भोजन करनेका अभ्यास किया गया है, उसीसे बालक-को दुग्धपान करनेकी इच्छा होती है। वात्स्यायनभाष्यमें इसकी व्याख्या देखिए—नवजात शिशुको दूध पीनेकी इच्छा हो रही है, इस बातको हम उसके हाथ पैर और मुखादिके चेष्टारूप लिङ्गोंसे ग्रहण करते हैं। उसकी यह दूध पीनेकी इच्छा आहाराभ्यासके विना नहीं हो सकती है। किस युक्तिसे ? भूखसे सताए हुए देहधारियोंमें आहाराभ्याससे उत्पन्न होनेवाले स्मरणके सम्बन्धसे आहारकी इच्छा देखी जाती है। जो बालक अभी-अभी पैदा हुआ है, उसमें यह दुग्धपान करनेकी इच्छा पूर्वशरीरमें किए गए अभ्यासके विना नहीं सिद्ध हो सकती है। इससे भूतपूर्व शरीरका अनुमान किया जाता है, जहाँ इसने आहारका अभ्यास किया था। वही आत्मा पूर्वशरीरसे मरनेके बाद दूसरे शरीरको प्राप्त होता है, और अपने पूर्वाभ्यस्त आहारका स्मरण करता हुआ दूध पीनेकी इच्छा करता है।

यदि पूर्वजन्मके कर्मोंका सम्बन्ध न हो, तो बालकके हाथ पैर और ललाट-प्रभृतिमें ऐश्वर्य अथवा दारिद्र्यादिके सूचक लक्षण शङ्ख चक्र और पद्मादिके

रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेधा क्वचित् क्वचित् कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्, इहागमनमितश्च्युतानां च भूतानां, समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्। —(सूत्र० ११।३०)

रूपमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? इसके अतिरिक्त पूर्वजन्मकी स्मृति रखनेवाले बालकोंके पूर्वजीवनकी सत्य घटनाएँ समाचारपत्रोंमें आए दिन प्रकाशित होती रहती हैं। आजकल पूर्वजन्मकी स्मृतिके सम्बन्धमें शोधकार्य करनेमें देश-विदेशके अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् उत्साहपूर्वक तत्पर हैं। विज्ञानकी इस शाखाका नाम अतीन्द्रियमनोविज्ञान (Para-psychology) रक्खा गया है। इस प्रकारकी घटनाएँ भी सुननेमें आई हैं कि कुछ लोग मर जानेके बाद फिर जी उठे हैं, और जीवित होनेके बाद उन्होंने बताया कि कुछ यमदूत उन्हें गलतीसे बाँधकर यमराजके पास ले गये थे, किन्तु यमराजके कहनेसे फिर वापस छोड़ गए हैं। इन सब बातोंसे परलोक और पुनर्जन्ममें मनुष्यको विश्वास करना ही पड़ता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा ग्राह्य लिङ्गोंको प्रदर्शित करके चरकमुनिने अनुमानप्रमाणके द्वारा भी पुनर्जन्मको सिद्ध किया है—"इस प्रत्यक्ष लिङ्गदर्शनके द्वारा ही अनुमान किया जाता है कि जो दैवसञ्ज्ञक कर्म पूर्वशरीरमें अपने द्वारा किया गया है, जिसका त्याग नहीं किया जा सकता है, विना भोग किए हुए जिसका विनाश नहीं होता है, और जो जन्मान्तरमें भी अनुवर्त्तित होता रहता है, उसीका फल हमारा यह वर्त्तमान जीवन है, और इस जीवनमें किए गए कर्मोंसे भविष्यमें दूसरा जीवन प्राप्त होगा। फलसे बीजका अनुमान किया जाता है और बीजसे फलका।"[1] इस प्रकार पूर्वजन्मकृत धर्माधर्मसे शरीरकी प्राप्ति होती है, और शरीरसे पुनः धर्माधर्म किए जाते हैं, जो आगामी शरीरके जनक बनते हैं। शरीर और धर्माधर्मका यह कारण-कार्यभाव बीजफलन्यायसे अनादिकालसे चला आ रहा है।

परलोकको प्रमाणित करनेके लिए तर्करूप युक्तिप्रमाणको भी प्रस्तुत किया गया है—(१) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत और आत्मा, इन छः धातुओंके संयोगसे गर्भकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् षड्धातुओंका संयोग पूर्वकर्मके विना नहीं हो सकता है,[2] और पूर्वकर्म पूर्वजन्मके विना सम्भव नहीं हैं, इससे पूर्वजन्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है। (२) कर्त्ता और करणके संयोगसे ही क्रिया होती है। अर्थात् गर्भाशयमें वीर्य और आर्त्तवकी जो संयोगरूप क्रिया होती है, उसका कर्त्ता परलोकस्थ आत्मा है और पूर्वजन्मकृत कर्म करण बनते हैं। अतः परलोक और पूर्वजन्मका अस्तित्व सिद्ध होता है। (३) किए हुए कर्मका ही फल मिलता है विना किए हुए कर्मका नहीं, क्योंकि बीजके विना अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् यह जन्म पूर्वजन्मके किए गए कर्मका फल है, अकृत कर्मका फल नहीं है। पूर्वजन्मका कर्म बीज है और यह जन्म उससे उत्पन्न होनेवाला अङ्कुर है। (४) कर्मके समान ही फल मिलता है, क्योंकि अन्य बीजसे अन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् पूर्वजन्मकृत

---

१. अत एवानुमीयते—यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसञ्ज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत्फलम्, इतश्चान्यद् भविष्यतीति। फलाद् बीजमनुमीयते फलं च बीजात्। —(सूत्र० ११।३१)

२. संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम्। —(सूत्र० ११।१२)

शुभकर्मोंसे पुत्रधनादिके रूपमें शुभफलकी प्राप्ति होती है और अशुभकर्मोंसे रोगदारिद्र्यादिके रूपमें अशुभफलकी प्राप्ति होती है, क्योंकि जौके बीजसे शालिका अङ्कुर नहीं निकल सकता है। यही युक्ति है।"[१]

इस प्रकार परलोकैषणाकी व्याख्याके प्रसङ्गमें चतुर्विध प्रमाणोंके द्वारा परलोक और पुनर्जन्मको प्रमाणित किया गया है। महर्षिचरकके मतानुसार पुनर्जन्ममें विश्वास होनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्माचरणकी ओर हो जाती है, जिससे वह तपोदानादि कर्मोंको करता हुआ इस लोकमें यश और समृद्धि प्राप्त करता है, और मरनेके अनन्तर स्वर्ग तथा मोक्षका लाभ करता है (द्रष्टव्य—सूत्र० ११।३३)।

देहान्तरगमनकी प्रक्रिया

शारीरस्थानके अतुल्यगोत्रीयनामक अध्यायमें "आत्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरको किस प्रकार प्राप्त होता है, और वे कौनसे भाव हैं जिनसे आत्माका सदा सम्बन्ध रहता है?"[२] इन प्रश्नोंका समाधान उपलब्ध होता है। आत्माके देहान्तरगमनका निरूपण इस प्रकार किया गया है—"मृत्युके अनन्तर कर्म-परवश हुआ आत्मा, पृथ्वी जल तेज और वायु इन अत्यन्तसूक्ष्म चार भूतोंके सहित, मनकी क्रियासे वेगवान् होकर, म्रियमाण शरीरसे उत्पद्यमान शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार आतिवाहिक(सूक्ष्म)शरीर से गमन करते हुए आत्माका दिव्यचक्षुओंके विना दर्शन नहीं हो सकता है।"[३] चूँकि आत्मा चार सूक्ष्मभूतोंसे तथा मनसे युक्त होकर शरीरान्तरगमन करता है, इसलिए इनको उसका आतिवाहिकशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। सर्वव्यापक होनेके कारण यद्यपि आत्माका देहान्तरगमन नहीं होता है, तथापि सूक्ष्मभूतोंके सहित मनकी जो गति है, उसीको उपचारसे आत्माकी गति कहा जाता है। सर्वव्यापक होनेपर भी आत्मा सूक्ष्मभूतों तथा मनसे विशिष्ट (उपहित) होकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करता है। पूर्वशरीरमें धर्माधर्मरूप जो भी शुभाशुभकर्म किए गए हैं, वे इस आत्माको प्रेरित करते हैं। उनके अधीन होकर यह आत्मा उन्हींके अनुरूप शरीरका उपादान करता है। जब यह आत्मा आतिवाहिक शरीरसे गमन करता है, तो अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारणजन उसको नहीं देख सकते हैं। किन्तु जिन योगियोंने समाधिबलसे दिव्यदृष्टि प्राप्त कर ली है, वे अवश्य उसका दर्शन कर सकते हैं।

---

१. युक्तिश्चैषा—षड्धातुसमुदायाद् गर्भजन्म; कर्तृकरणसम्प्रयोगात् क्रिया; कृतस्य कर्मणः फलं, नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्; कर्मसदृशं फलं, नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति युक्तिः। —(सूत्र० ११।३२)

२. देहात्कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च।—(शारीर० २।२८)

३. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्॥
—(शारीर० २।३१)

"आतिवाहिक शरीरमें रहनेवाले चार सूक्ष्मभूत सर्वदा आत्माके आश्रित रहते हैं, और आत्मा (देहान्तरगमनादि क्रियाओंको करनेके लिए) सर्वदा उन भूतोंमें स्थित रहता है।"[1] इस कथनसे सिद्ध होता है कि आत्माकी जो देहान्तरगति है, वह व्यापक आत्माकी गति नहीं है, प्रत्युत उन सूक्ष्मभूतोंमें व्यवस्थित होनेवाला जो लिङ्गविशिष्ट आत्मा है उसीकी वह गति है। "आत्मासे नित्यसम्बद्ध जो ये चार सूक्ष्मभूत कर्मसे उत्पन्न होनेवाले हैं, वे आत्मामें लीन हुए ही गर्भशरीरमें प्रवेश कर जाते हैं। यह आत्मलीन भूत-चतुष्टय बीजधर्मा है। जिस प्रकार बीज अङ्कुरका हेतु होता है, उसी प्रकार यह स्थूलशरीरका हेतु है। आत्माके साथ ही यह उत्तमाधम शरीरोंमें प्रविष्ट हो जाता है।"[2] पूर्वजन्ममें मनुष्यने जो कर्म किए हैं, उन्हींसे इन आत्मसम्बद्ध भूतोंकी उत्पत्ति होती है। कर्मानुसार इनका स्वरूप बदलते रहनेपर भी ये आत्मासे नित्यसम्बद्ध रहते हैं। इनको बीजधर्मा कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बीज अपने सदृश अङ्कुरको ही उत्पन्न करता है उसी प्रकार आत्माके आश्रित रहनेवाली यह भूतसन्तान जिस गर्भशरीरमें अपने सदृश भूतान्तरोंको पाती है, उसी गर्भशरीरमें बीजरूपसे प्रविष्ट हो जाती है। यही कारण है कि इन कर्मज भूतोंका जैसा रूप होता है, वैसा ही गर्भस्थ शिशुका रूप बनता है। आचार्य कहते हैं—"इन कर्मात्मक भूतोंके रूपसे ही भौतिक-शरीरकी उत्पत्ति (शास्त्रोंमें) प्रसिद्ध है, और मनसे मनकी उत्पत्ति प्रसिद्ध है, अर्थात् अव्यवहितपूर्वजन्ममें मृत्युसे पूर्व प्राणीका जैसा मन होता है, वैसा ही मन इस जन्ममें भी प्राप्त होता है। प्राणियोंमें (सूक्ष्मभूतोंकी कारणताके समान होनेपर भी) आकृति और बुद्धि इत्यादिकी जो भिन्नताएँ होती हैं, उनका हेतु मनोगत रजस् और तमस्का तारतम्य तथा पूर्वजन्मकृत कर्म होता है।"[3]

यहाँपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि इन अप्रत्यक्ष कर्मज भूतोंको भौतिकशरीरका कारण क्यों माना जाय, जबकि शुक्र और शोणितकी कारणता प्रत्यक्ष है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि शुक्र और आर्त्तव भौतिकशरीरके कारण हैं, तथापि जबतक कर्मज सूक्ष्मभूतोंसे बना हुआ आतिवाहिक शरीर उनको प्राप्त नहीं होता है, तबतक वे गर्भशरीरको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते हैं। यदि आतिवाहिक शरीरकी अपेक्षाके विना ही शुक्र और रजस् गर्भको उत्पन्न करने लगें, तो एक भी मैथुन व्यर्थ नहीं जाना

---

१. चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु।
—(शारीर० २।३३)

२. भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति॥
—(शारीर० २।३५)

३. रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः॥
—(शारीर० २।३६)

चाहिए और जीवाधिष्ठानके विना भी उन्हें गर्भोत्पादन करना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः सिद्ध होता है कि आत्मलीन बीजधर्मा भूत-चतुष्टय जब शुक्र-शोणितसे सम्बद्ध होते हैं, तभी गर्भकी उत्पत्ति होती है।

"वे कौन-कौनसे भाव हैं जिनसे आत्माका मोक्षपर्यन्त कभी वियोग नहीं होता है?" अब इस प्रश्नका उत्तर दिया जा रहा है—"अत्यन्तसूक्ष्म स्वरूपवाले उन अतीन्द्रियभूतोंसे आत्माका (अपवर्गपर्यन्त) कभी वियोग नहीं होता है। इसी प्रकार कर्म मन बुद्धि और अहङ्कारजन्य दोषोंसे भी आत्माका (मोक्षपर्यन्त) कभी वियोग नहीं होता है।"[१] सूक्ष्मभूत और मनोबुद्धयादि-भावोंसे अपवर्गपर्यन्त कभी वियुक्त न होनेके कारण ही आत्माको नित्ययुक् और सानुशय कहा गया है (शारीर० २।३२)। मनोगत रागद्वेषको अनुशय कहा जाता है। उनसे युक्त होनेके कारण आत्मा सानुशय है। वस्तुतः सूक्ष्मभूतोंसे मनका ही सम्बन्ध होता है, किन्तु उपचारसे आत्माका सम्बन्ध कहा जाता है—"रजोगुण और तमोगुणके द्वारा मन इन सूक्ष्मभूतादिसे सदा बँधा रहता है, क्योंकि तत्त्वज्ञानके विना मनमें सारे दोष विद्यमान रहते हैं। (तत्त्वज्ञानसे मन निर्दोष हो जाता है।) प्राणियोंका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जो गमन होता है, और धर्म तथा अधर्ममें उनकी जो प्रवृत्ति होती है, उन दोनोंका हेतु दोषयुक्त मन और पूर्वकृत बलवान् कर्मको बताया गया है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २८४ पादटिप्पणी १)। इससे सिद्ध होता है कि कर्मजन्य सूक्ष्मभूतोंसे सम्बद्ध हुआ मन ही प्राणियोंके देहान्तगमनका हेतु है। चरकमुनि कहते हैं—"निश्चयसे यह मन ही औपपादुक अर्थात् आत्माका शरीरान्तरसे सम्बन्ध करानेवाला है" (शारीर० ३।३)। आत्रेयके इस वचनपर आक्षेप करते हुए भरद्वाजने कहा—"पूर्वशरीरसे अनुवर्तित होनेवाला मन ही पर-लोकसे आकर गर्भमें अवक्रमण करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यदि पूर्वशरीरसे आया हुआ मन गर्भमें प्रवेश करे, तो पूर्वशरीरसे सम्बद्ध कोई भी बात उसे अज्ञात या अदृष्ट नहीं होनी चाहिए। किन्तु इसे तो पूर्वजन्म-का कुछ भी याद नहीं रहता है।"[२] अभिप्राय यह है कि यदि पूर्वजन्मका ही मन इस जन्ममें भी अनुवर्तित होता है, तो पूर्वजन्ममें जो अनुभव हुए हैं, उनका स्मरण इस जन्ममें भी होना चाहिए, जिस प्रकार बाल्यावस्थाके अनुभव यौवनमें भी स्मरण रहते हैं। पूर्वजन्मकी स्मृति न होनेके कारण पूर्वापर जन्मोंमें मनका एक होना सम्भव नहीं है। भरद्वाजके इस आक्षेपका समाधान इस प्रकार है—"मन निश्चय ही औपपादुक है, जो जीवात्माका

---

१. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः॥

—(शारीर० २।३७)

२. न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति। यदि हि एनमवक्रामेत्, नास्य किञ्चित् पौर्वदेहिकं स्यादविदितमदृष्टं वा, स च तच्च न किञ्चिदपि स्मरति। —(शारीर० ३।९)

आतिवाहिक शरीरके द्वारा स्पृक्शरीर(स्पर्श करने योग्य भोगायतनरूप गर्भ-शरीर)से सम्बन्ध कराता है।"[1] यदि आत्माका गर्भशरीरसे सम्बन्ध होनेमें मनको कारणरूपसे स्वीकार नहीं किया जायगा, तो आत्माके व्यापक होनेके कारण सुखादिकी उपलब्धि सर्वत्र होने लगेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जिस स्पर्शवान् शरीरसे मन सम्बद्ध होता है, उसी शरीरमें इसको सुखादिकी उपलब्धि होती है। शरीरके साथ 'स्पृक्' विशेषण लगानेका अभिप्राय यह है कि शरीरके केशनखादि जिन भागोंमें मनकी पहुँच नहीं है, वहाँ सुखादिके रूपमें आत्माकी भी उपलब्धि नहीं होती है। अतः यह स्पष्ट है कि मनके द्वारा ही आत्माका शरीरसे सम्बन्ध होता है। "जिस (मन)के देहान्तरमें जानेको उद्यत होनेपर मुमूर्षु पुरुषका स्वभाव बदल जाता है, रुचि उलट जाती है, सारी इन्द्रियाँ सन्तप्त होने लगती हैं, बल क्षीण हो जाता है, व्याधियाँ भरपूर हो जाती हैं; जिससे रहित होकर पुरुष प्राणोंका परित्याग कर देता है, जो इन्द्रियोंको अधिष्ठित करनेवाला है, वह 'मन' कहा जानेवाला अन्तःकरण तीन प्रकारका होता है, शुद्ध राजस और तामस। इन तीन गुणोंमेंसे जो गुण मनको पूर्वजन्ममें सबसे अधिक आक्रान्त किए रहता है, अगले जन्ममें मन उसी गुणकी अधिकता से युक्त हो जाता है।"[2] गीतामें भी कहा गया है—"दूसरे जन्ममें यह पुरुष वैसी ही बुद्धि प्राप्त करता है, जैसी इसने पूर्वशरीरमें बनाई थी।"[3] "हे कौन्तेय ! यह पुरुष मृत्युकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका परित्याग करता है, उस-उस भावसे भावित होकर अगले जन्ममें उसी-उसी भावको प्राप्त होता है।"[4]

भरद्वाजकी दूसरी शङ्काका उत्तर इस प्रकार है। यदि पूर्वजन्ममें सदाचार और ध्यानयोगका अभ्यास करनेसे किसीका मन विशुद्धसत्त्वगुणकी प्रधानतासे युक्त हो गया है, "तो दूसरे जन्ममें भी उसी विशुद्धसत्त्वप्रधान मनसे युक्त होनेके कारण उसे बीते हुए जन्मका भी स्मरण बना रहता है। आत्माका पूर्वजन्मकी स्मृतिसे सम्बद्ध जो यह ज्ञान है, वह उसी विशुद्धमनके सम्बन्धसे जन्मान्तरमें भी अनुवर्त्तित होता है, जिसके कारण पुरुष 'जाति-

---

१. अस्ति खल्वपि सत्त्वमौपपादुकम्, यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति।
(शारीर० ३।१९)

२. यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्त्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते, तत्त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं राजसं तामसमिति। येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं, तेन द्वितीयायामाजातौ सम्प्रयोगो भवति। —(शारीर० ३।१९)

३. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। —गीता (६।४३)

४. यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ —गीता (८।६)

स्मर' अर्थात् पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाला कहलाता है।"[१] जबतक मनुष्यका मन राजस या तामस रहता है, तबतक पूर्वजन्मकी स्मृति रखनेकी क्षमता उसमें नहीं होती है। प्रसवके समय योनियन्त्रमें दबकर बाहर निकलनेसे जो पीडा होती है, उससे तमोगुणका उद्रेक होता है। उससे आक्रान्त होकर मन अतीतजन्मकी बातें भूल जाता है। किन्तु जिसका मन पूर्वजन्ममें ही सत्त्वगुणके उद्रेकसे विशुद्ध हो गया है, उसके ऊपर प्रसवकालमें भी तमोगुणका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, और वह अतीतजन्मकी बातें स्मरण रखता है। याज्ञवल्क्यस्मृति(३।१६१)में भी कहा गया है—"**शरीरसङ्क्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम्। अविप्लुतस्मृतिः सम्यक् स जातिस्मरतामियात्॥**"

जीवका गर्भमें अवक्रमण

"जब शुद्धवीर्यवाले पुरुषका, तथा योनि आर्तव और गर्भाशयके दोषोंसे रहित स्त्रीका ऋतुकालमें समागम होता है, और जब उन दोनोंका समागम होनेपर गर्भाशयके भीतर वीर्य और रजस्का सम्मिश्रण होता है, तो उस मिश्रणमें मनका आगमन होनेसे (मनकी क्रियाको अपने ऊपर आरोपित करनेवाला) जीवरूप आत्मा अवक्रमण करता है, और गर्भकी उत्पत्ति होती है।"[२] आत्मासे अधिष्ठित कर्मज सूक्ष्मभूत और मन, आतिवाहिक शरीरके रूपमें, जीवशब्दवाच्य बनकर शुक्र और शोणितमें अवक्रमण करते हैं। स्त्रीकी कोखके भीतर होनेवाले शुक्र शोणित और जीवके संयोगकी गर्भसञ्ज्ञा होती है।[३] गर्भनिष्पत्तिकी इस प्रक्रियाको महतीगर्भावक्रान्तिनामक अध्यायमें कुछ अधिक विस्तारके साथ समझाया गया है—"पुराने रजस्के निकल जानेपर और नए रजस्के स्थित होने पर, स्नान करके शुद्ध हुई, तथा योनि रजस् और गर्भाशयके रोगोंसे रहित स्त्रीको ऋतुमती कहते हैं। उस स्त्रीके साथ बीजदोषोंसे रहित हुआ पुरुष जिस समय मैथुन करता है, उस समय हर्षके कारण प्रेरित होकर उस पुरुषकी शरीरधातुओंका सर्वोत्कृष्टसार शुक्रके रूपमें उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे उत्पन्न होता है। यह बीजरूप धातु, हर्षयुक्त आत्मासे प्रेरित होकर और उसीसे अधिष्ठित होकर, पुरुषके शरीरसे बाहर निकलकर, उचितमार्गसे गर्भाशयमें प्रवेश करके आर्त्तवके साथ संसृष्ट हो जाता है। उस समय उसमें अवक्रमण करनेवाला चेतनाधातु जीवात्मा मनरूपी करणसे युक्त होकर (और

---

१. **यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते, तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति। स्मार्त्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्त्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते।** —(शारीर० ३।१९)

२. **पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गं ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसम्प्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते।** —(शारीर० ३।३)

३. **शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसञ्ज्ञा भवति।** —(शारीर० ४।५)

उसीकी क्रियाका अपनेमें आरोप करके) गुणीभूत पञ्चभूतोंको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है।"[१]

यज्जःपुरुषीयमें भगवान् पुनर्वसुके पास समवेत हुए महर्षियोंने क्रमशः आत्मा मन रस षड्धातु माता-पिता कर्म स्वभाव प्रजापति और कालको पुरुषकी उत्पत्तिका कारण बताया है। इन मतोंकी व्याख्या राशिपुरुषकी उत्पत्तिके प्रकरणमें (पृष्ठ २४३पर) की जा चुकी है। पुनर्वसुने इनमेंसे किसी-की भी कारणताका खण्डन नहीं किया है, प्रत्युत उन्हें इन समस्तभावोंकी सम्मिलित कारणता अभीष्ट है। शारीरस्थान(३।५)में उन्होंने स्पष्टरूपसे माता पिता आत्मा सात्म्य रस और सत्त्वके समुदायसे गर्भनिष्पत्तिका प्रतिपादन किया है। इनका भी निरूपण शरीरके प्रकरणमें (पृष्ठ २००-२०२पर) विस्तारसे किया जा चुका है। अब इन भावोंकी कारणताको लेकर भरद्वाज-ने जो प्रश्न उठाए हैं, उनका समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक है।"भरद्वाजने कहा—(१) यदि यह गर्भ माता-पिता इत्यादि नानाप्रकारके गर्भोत्पादक भावों-के समुदायसे अभिनिष्पन्न होता है, तो इसका सन्धान किस प्रकारसे होता है? (२) यदि सन्धान मान भी लिया जाय, तो समुदायसे उत्पन्न होनेवाला गर्भ मनुष्यके रूपमें कैसे उत्पन्न होता है? (३) यदि आपको यह अभीष्ट हो कि जिस प्रकार गायसे गाय उत्पन्न होती है, और घोड़ेसे घोड़ा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्यसे मनुष्यकी उत्पत्ति होनेके कारण तज्जन्य गर्भ मनुष्यकी आकृतिमें उत्पन्न होता है, तो गर्भके समुदायात्मक होनेकी जो प्रतिज्ञा पहले की है, वह (मनुष्यत्वादि जातिको हेतुरूपसे स्वीकार करनेके कारण) बाधित हो जायगी, और यह प्रश्न भी उठेगा कि (४) यदि मनुष्यसे मनुष्य उत्पन्न होता है, तो जड अन्ध कुब्ज मूक वामन मिन्मिण(नाकसे बोलनेवाला) विकृताङ्ग कोढ़ी और श्वेतकुष्ठीसे उत्पन्न होनेवाले अपने पिताके समानरूप-वाले क्यों नहीं होते हैं?"[२]

---

१. गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणित-गर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे। तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्र-भूतोऽङ्गादङ्गात् सम्भवति। स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्त्त-वेनाभिसंसर्गमेति। तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्त्तते। —(शारीर० ४।७-८)

२. भरद्वाज उवाच—यद्ययमेषां नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदाया-दभिनिर्वर्त्तते गर्भः, कथमयं सन्धीयते? यदि चापि सन्धीयते कस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते? तत्र चेदिष्टमेतद्यस्मा-न्मनुष्यो मनुष्यप्रभवः तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते। यथा गौर्गोप्रभवः, यथा चाश्वोऽश्वप्रभव इति। एवं सति यदुक्तमग्रे समुदायात्मक इति तदयुक्तम्। यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्माज्जडान्धकुब्जमूकवामन-मिन्मिणव्यङ्गोन्मत्तकुष्ठिकिलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति। —(शारीर० ३।२१)

भगवान् आत्रेयने भरद्वाजके इन प्रश्नोंका समाधान इस प्रकार किया है—(१) "हम पहले ही यह प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि स्पर्शयोग्य गर्भशरीरसे जीवात्माका सम्बन्ध मनके द्वारा ही कराया जाता है।"[1] वही मन इस समुदायात्मक गर्भका सन्धान करता है। मनके द्वारा ही शुक्र शोणित और आत्माका सम्बन्ध होता है। यही सन्धानकी परिपाटी है। (२) "चतुर्विध प्राणियोंमें जरायुज और अण्डज प्राणियोंके शुक्रशोणितादि गर्भनिर्वर्त्तक भाव जिस-जिस योनिको प्राप्त होते हैं, उस-उस योनिमें उसी प्रकारका रूप धारण कर लेते हैं। जिस प्रकार पिघले हुए सोने चाँदी ताँबे टीन और सीसे इत्यादि जिस आकारके मोमनिर्मित साँचेमें ढाले जाते हैं उसी आकारको धारण कर लेते हैं। गर्भकर भाव जब मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं, तो मनुष्यके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि समुदायजन्य गर्भ मनुष्यके आकारमें उत्पन्न होता है, और मनुष्यको मनुष्यसे उत्पन्न होनेवाला कहा जाता है, क्योंकि वही उसकी योनि है।"[2] समुदायजन्य होनेपर भी गर्भ योनिरूप कारणकी महिमासे अपनी योनिके समान ही बनता है। इसीलिए अन्य कारणों-की अपेक्षा माता-पिताको गर्भकी सजातीयतामें विशेषरूपसे कारण माना जाता है। (३) मनुष्यसे मनुष्यकी उत्पत्ति योनिरूप कारणकी महिमासे होती है, जातिके कारण नहीं। इससे गर्भकी समुदायहेतुकताका खण्डन नहीं होता है। (४) आपने जो यह कहा था 'यदि मनुष्यसे मनुष्य उत्पन्न होता है, तो जडादिसे उत्पन्न होनेवाले अपने पिताके सदृश क्यों नहीं होते हैं?' उसका उत्तर सुनिए—शुक्रशोणितरूप बीजमें शरीरके जिस-जिस अवयवको उत्पन्न करनेवाला बीजभाग उपतप्त (दूषित) हो जाता है, गर्भशरीरके उस-उस अवयवमें विकृति उत्पन्न हो जाती है, और बीजभागके दूषित न होनेपर उस अवयवमें विकृति नहीं उत्पन्न होती है। इसलिए दोनों बातोंकी सङ्गति लग जाती है, अर्थात् अन्धेसे अन्धा भी उत्पन्न हो सकता है और आँखोंवाला भी। सभी प्राणियोंकी इन्द्रियाँ आत्मज (अर्थात् आत्मसम्बद्ध कर्मोंसे उत्पन्न होने-वाली) होती हैं। उन इन्द्रियोंके भाव या अभावका हेतु दैव (पूर्वजन्मकृत कर्म) है। इसलिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि जड इत्यादिसे उत्पन्न होनेवाले पिताके समानरूपवाले ही हों।[3]

---

१. पुरस्तादेतत्प्रतिज्ञातम्—सत्त्वं जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नातीति।
—(शारीर० ३।२२)

२. तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते, तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति; तद्यथा—कनकरजत-ताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु। तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते। तस्मात् समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते, तद्योनित्वात्।
—(शारीर० ३।२४)

३. यच्चोक्तं यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति, तत्रोच्यते—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते

ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि मनुष्यके बीजमें शरीरके प्रत्येक अवयवको उत्पन्न करनेवाला अंश रहता है। वह अंश जैसा दूषित या शुद्ध होता है, उससे उत्पन्न होनेवाला अवयव भी वैसा ही दूषित या शुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणियोंकी इन्द्रियाँ पूर्वजन्ममें किए गए आत्मसम्बद्ध कर्मोंसे उत्पन्न होती हैं। इससे सिद्ध होता है यदि बीजदाता पिता कुष्ठरोगी है, किन्तु कुष्ठकी आधारभूता त्वचाको उत्पन्न करनेवाला उसका बीजांश दूषित नहीं हुआ है, तो सन्तान कुष्ठरोगसे रहित ही उत्पन्न होती है। किन्तु जब बहुत पुराना कुष्ठ होनेसे माता-पितामें त्वग्जनक बीजांश भी कुष्ठजनक दोषसे दूषित हो जाता है, तो सन्तानकी भी त्वचा कुष्ठसे दूषित हो जाती है, जैसा कि सुश्रुतमें कहा गया है—"जब कुष्ठदोषके कारण स्त्री और पुरुषका शुक्रशोणितरूप बीज दूषित हो जाता है, तो उनसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसे भी कुष्ठरोगी समझना चाहिए।"[1] यहाँ इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि माता-पिताके बीजांशके दूषित होनेके कारण सन्तानके शरीरमें कुष्ठादिरोग और इन्द्रियोपघातादिका होना सर्वथा सुसङ्गत है, तथापि उसका प्रधानकारण पूर्वजन्ममें किया जानेवाला कर्म है, जो आत्मासे सम्बद्ध होकर आतिवाहिकशरीरके द्वारा गर्भको प्राप्त होता है। कर्मवशात् ही जीव तथाविध माता-पितासे जन्म लेता है।

चानुपतापात्। तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र। सर्वस्य चात्मजानीन्द्रियाणि, तेषां भावाभावहेतुर्दैवम्। तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति। —(शारीर० ३।२५)

१. स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्॥
—सुश्रुतसंहिता (निदान० ५।२८)



दशम अध्याय

सदाचार और धर्म

प्रत्येक राष्ट्रकी एक संस्कृति होती है, और प्रत्येक संस्कृतिकी पृष्ठभूमिमें एक दीर्घकालीन परम्परा होती है, जिसका आधार सुदूर अतीतमें बद्धमूल होता है। इस भूमण्डलपर अनेक संस्कृतियोंका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ है। भारतीयसंस्कृति विश्वकी प्राचीनतम संस्कृतियोंमेंसे एक है। इसकी विशेषता यह है कि जहाँ दूसरी प्राचीन संस्कृतियाँ या तो विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो चुकी है या फिर नाममात्रावशेष रह गई हैं, वहाँ भारतीयसंस्कृति प्राचीनतम होनेपर भी आजतक अपने जीवन्त रूपमें विद्यमान है। विश्वकी कोई भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन संस्कृति आदर्शोंकी गरिमा तथा विचारोंकी उच्चता और पवित्रताके विषयमें आज भी भारतीयसंस्कृतिकी समानता नहीं कर सकती है। भारतीयसंस्कृतिमें कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जो न केवल उसको मूर्धन्य बनानेमें पर्याप्त है, प्रत्युत उसके शाश्वत जीवनका मूलस्रोत हैं। इन विशेषताओंमें उसका दर्शन तथा धर्म सदाचार और कर्त्तव्यपालनपर विशेषबल देना सर्वाधिक प्रमुख हैं। भारतके समस्त प्राचीनग्रन्थ श्रुति स्मृति इतिहास और पुराण इत्यादि भारतीयसंस्कृतिकी इन्हीं विशेषताओंसे भरे पड़े हैं। चरकसंहिता भी इसी प्राचीन परम्पराका ग्रन्थ है, अतः उसमें भी भारतीयसंस्कृतिके ये सभी पहलू प्रतिबिम्बित हुए हैं। उसके दार्शनिक पक्षका विवेचन हम पिछले अध्यायोंमें प्रस्तुत कर चुके हैं। अब इस अध्यायमें धर्म सदाचार तथा कर्त्तव्यपालनादि क्रियात्मक पक्षका विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

चरकमुनिने स्मृतिग्रन्थोंकी शैलीमें मानवमात्रके कर्त्तव्याकर्त्तव्य हिताहित इत्यादि विषयोंका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। धर्म और सदाचारकी उपयोगितापर प्रकाश डालते हुए (सूत्र० २८।४८-४९में) वे कहते है—"जो मनुष्य सुखकी कामना करता है, उसका कर्त्तव्य है कि जो रोग उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न न होने देनेके लिए, तथा जो रोग उत्पन्न हो गए हैं उनकी निवृत्तिके लिए, आयुर्वेदादिशास्त्रोंमें जो विधि बताई गई है, उसके अनुसार आचरण करे (द्रष्टव्य पृष्ठ २९ टि० ३)। संसारके समस्त प्राणियोंकी सारी चेष्टाएँ सुखकी प्राप्तिके लिए होती हैं, किन्तु ज्ञान और अज्ञानकी विशेषताके कारण लोगोंकी सन्मार्ग अथवा कुमार्गमें प्रवृत्ति होती है" (द्रष्टव्य पृष्ठ २८ टि० १)। अर्थात् जो विवेकी हैं वे विचारपूर्वक सुखप्राप्तिके उचितमार्गका अनुसरण करते हैं, और जो अज्ञानी हैं वे समुचित विचार न कर सकनेके कारण दुःखसाधनको ही सुखका साधन समझकर कुमार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं। "जो परीक्षक हैं वे समुचितरूपसे परीक्षा करके हितके ही सेवन

पर विशेषबल देते हैं, अर्थात् जो भाव उस समय भले ही क्लेशकारक हो, किन्तु परिणाममें यदि सुख और शान्तिका जनक है, तो उसे हितकर समझकर उसीका सेवन करते हैं। इसके विपरीत रजोगुण तथा मोहात्मक तमोगुणसे जिनका अन्तःकरण आवृत है ऐसे लौकिक (अपरीक्षक) पुरुष हिताहितका विवेचन न करके जो पदार्थ तत्काल सुख देनेके कारण प्रिय लगता है, उसीके सेवनपर बल देते हैं। शास्त्रीयज्ञान, बुद्धि, स्मृति, दक्षता, धृति, हितसेवन, वाणीकी शुद्धि, शान्ति और धैर्य इत्यादि गुण परीक्षक पुरुषके ही आश्रित रहते हैं। मोह और रजोगुणके आश्रित रहनेवाले लौकिक पुरुषके पास ये गुण फटकते तक नहीं हैं, प्रत्युत मोह और रजस्से उत्पन्न होनेवाले शारीरिक और मानसिक विविध रोग उसको घेर लेते हैं, क्योंकि ऐसा अज्ञानी पुरुष प्रज्ञापराधके कारण अहितकर शब्दादिविषयोंका सेवन करता है, जिन वेगोंको नहीं रोकना चाहिए उन वेगोंको दबाकर रोकता है, साहसिक कर्म करता है और तत्काल सुख देनेवाले (किन्तु परिणाममें अहितकर) विषयोंमें अनुरक्त होता है। इसके विपरीत विज्ञाता अर्थात् परीक्षकपुरुष अपने विज्ञानको निर्मल बनाकर ऐसे सुखोंमें आसक्ति नहीं करता है अर्थात् उनसे दूर ही रहता है" (सूत्र० २८।५०-५४; द्रष्टव्य पृष्ठ २८ टि० १,३)। जो लोग चलात्मक रजोगुणसे युक्त होनेके कारण चञ्चलचित्तवाले हैं, और मोहात्मक तमोगुणके कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्य हैं, वे लोग अपनी रसलोलुप जिह्वाके वशीभूत होकर हिताहितका विचार न करके, **'सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाभ्यवहरेत्' 'न नक्तं दधि भुञ्जीत' 'मधुसर्पिषी समधृते मरणाय'** इत्यादि आचार्यवचनोंकी अवहेलना करते हैं, तथा प्रज्ञापराधके कारण सम्पूर्ण इन्द्रियग्रामके सहित भगवती रसनाको तृप्त करनेके लिए मोहसे प्रवृत्त होते हुए और उसीमें अपना कल्याण समझते हुए नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियोंके शिकार बनते हैं। "इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि यदि वह इस जीवनमें तथा मरनेके अनन्तर परलोकमें और जन्मान्तरमें भी सुख चाहता है, तो इन्द्रियलोलुपताका परित्याग कर भोजन आचार और चेष्टा इत्यादिमें जो वस्तुतः हितकर है उसीका सेवन करनेके लिए पूर्णरूपसे प्रयत्नशील हो।"[1] रोग उत्पन्न होनेके पूर्व ही बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि जिसमें वह अपना हित समझे उसी कामको करे।[2] किन्तु हितकर भावोंका सेवन करनेके साथ साथ अहितकर भावोंका परित्याग करना भी उतना ही आवश्यक है। अपने द्वारा अभ्यस्त किन्तु अहितकर आहार-विहारसे बुद्धिमान् मनुष्यको क्रमशः धीरे-धीरे निवृत्त होना चाहिए, और हितकर भावोंका भी क्रमशः ही अभ्यास करना चाहिए,[3] क्योंकि एकबारगी पूर्णरूपसे अहितका परित्याग और हितका

---

१. आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने॥ —(सूत्र० ७।६०)

२. प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः। —(सूत्र० ७।५४)

३. उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः। हितं क्रमेण सेवेत॥
(सूत्र० ७।३६)

सेवन पहले तो असम्भव ही है, किन्तु यदि कोई हठपूर्वक ऐसा करता भी है तो उससे लाभके स्थानपर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है।

चिकित्साशास्त्रमें धर्म और सदाचारका निरूपण करनेका क्या औचित्य है, यह शङ्का जो लोग करते हैं, वे अपनी अल्पज्ञता ही प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि आयुर्वेदमें समस्त शारीरिक और मानसिक रोगोंके जो तीन कारण बताए गए हैं, उनमें प्रज्ञापराधका प्राधान्य है। यह प्रज्ञापराध अधर्मका जनक है, और अधर्म ही मनुष्यके सारे कष्टोंका मूलकारण है। इससे मनुष्य तभी बच सकता है जब वह धर्मका आचरण और सदाचारका पालन करे। चरक-मुनि कहते हैं—धार्मिक क्रियाएँ हर्ष और सुखका कारण कही गई हैं, इसके विपरीत अधर्मजनक क्रियाएँ मनुष्यको शोक और दुःखके वशीभूत करती हैं।[1] जो जितेन्द्रिय है, उसके ऊपर रोगोंका आक्रमण नहीं होता है।[2] जो मनुष्य हितकर आहार-विहारका सेवन करता है, सोच-समझकर बुद्धिपूर्वक कार्य करता है, विषयोंमें आसक्त नहीं है, दान करता है, सभी प्राणियोंमें समदृष्टि रखता है, मन वचन और कर्मसे सत्यका पालन करता है, अपराध करनेवाले-को भी क्षमा कर देता है, और आप्तपुरुषोंका सङ्ग करता है, ऐसा मनुष्य सर्वदा नीरोग रहता है।[3] जिस मनुष्यकी मति वचन और कर्म सुखानुबन्धी हों अर्थात् भविष्यमें उत्तरोत्तर सुख देनेवाले हों, मन अपने वशमें हो, बुद्धि निर्मल हो, तत्त्वज्ञान और तपमें निष्ठा हो तथा योगाभ्यासमें तत्परता हो, ऐसा मनुष्य रोगोंका शिकार नहीं बनता है।[4]

प्रज्ञापराध और अधर्म

अग्निवेशके द्वारा 'वेदनाओंका कारण क्या है?' यह प्रश्न पूछे जानेपर महर्षि आत्रेयने (शारीर० १।९८में) कहा—बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश, काल और कर्मकी सम्प्राप्ति, तथा असात्म्य विषयोंका सेवन, इन्हें दुःख(रोग)का हेतु समझना चाहिए (द्रष्टव्य पृष्ठ २८० टि० १)। दूसरे स्थलोंपर भी व्याधियोंके यही तीन कारण बताए गए हैं—(१) शब्दादि इन्द्रियार्थोंका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग, (२) कर्मका अतियोग अयोग और मिथ्या-

---

१. धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
—(शारीर० २।४१)

२. जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगाः। —(शारीर० २।४२)

३. नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
—(शारीर० २।४६)

४. मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः॥
—(शारीर० २।४७)

योग, तथा (३) कालका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग।[1] इन्हींको क्रमशः असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम भी कहा जाता है।[2] दुःखके इन त्रिविध हेतुओंमें प्रज्ञापराधकी प्रधानता है, क्योंकि प्रज्ञापराधके विना न तो असात्म्य (अहितकर) विषयोंका सेवन ही सम्भव है, और न उसके विना कालका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग ही सम्भव है। इसको समझनेके लिए पहले प्रज्ञापराधको समझना आवश्यक है। "बुद्धि धृति और स्मृतिका विभ्रंश होनेपर मनुष्य जिस अशुभकर्मको करता है, उसे प्रज्ञापराध समझना चाहिए। यह शारीरिक और मानसिक सभी दोषोंको प्रकुपित करनेवाला है" (शारीर० १।१०२; द्रष्टव्य पृष्ठ २८० टि० २)। बुद्धि धृति और स्मृति प्रज्ञाके भेद हैं। इनका विभ्रंश होनेपर प्रज्ञा अपना कार्य समुचितरूपसे करनेमें असमर्थ हो जाती है और कर्मानुष्ठानमें उससे अपराध होने लगते हैं। इसलिए ऐसे अशुभकर्म जो प्रज्ञाके अपराधके कारण बनते हैं, प्रज्ञापराध कहलाते हैं। तिस्रैषणीयमें वाणी मन और शरीरके द्वारा किए जानेवाले त्रिविध कर्मोंके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगको प्रज्ञापराध कहा गया है।[3] "वाणी मन और शरीरकी अत्यधिकमात्रामें प्रवृत्ति होना उनका अतियोग है, और सर्वथा प्रवृत्ति न होना अथवा अत्यल्प प्रवृत्ति होना उनका अयोग है। प्रवृत्तवेगोंको धारण करना, अप्रवृत्तवेगोंको प्रवृत्त करनेकी चेष्टा करना, विषमस्थानपर लड़खड़ाकर गिरना, अङ्गोंको विषमरूपसे रखना, खुजलाने इत्यादिके द्वारा अङ्गोंको दूषित करना, चोट लगना, अङ्गोंको मसलना, श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक क्रियामें उपरोध पैदा करना, तथा मद्यपान और आतपादिके सेवनसे शरीरको क्लेश पहुँचाना इत्यादि शारीरिक मिथ्यायोग है। चुगली करना, झूठ बोलना, असमयमें बोलना, कलह करना, अप्रिय असम्बद्ध अननुकूल और कठोरवचनोंका प्रयोग करना वाणीका मिथ्यायोग है। भय शोक क्रोध लोभ मोह अभिमान ईर्ष्या और मिथ्यादर्शनादि मानसिक मिथ्यायोग कहलाते हैं। सङ्क्षेपसे अतियोग और अयोगको छोड़कर वाणी मन और शरीरके द्वारा होनेवाले जो भी कर्म अहितकर बताए गए हैं, उन्हें मिथ्यायोग समझना चाहिए" (सूत्र० ११।३९-४२)। इन अहितकर कर्मोंको कतिधापुरुषीय (शारीर० १।१०३-१०९)में सङ्क्षेपसे इस प्रकार गिनाया गया है—"मूत्रपुरीषादि गतिशील भावोंको बलात् प्रवृत्त करना, प्रवृत्त वेगोंका बलपूर्वक निग्रह करना, साहसिक कार्योंका सेवन करना, नारियोंका अतिमात्रामें सेवन करना, चिकित्सादि कर्मोंके समुचित कालका अतिक्रमण करना, वमनादि कर्मोंको यथोचित रूपसे न करना अर्थात् उनका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग

---

१. कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः॥ —(सूत्र० १।५४)
तथा—त्रीण्यायतनानीति अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः। —(सूत्र० ११।३७)

२. द्रष्टव्यम्—(सूत्र० ११।४३, निदान० १।३, तथा विमान० ६।६)

३. त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्।
—(सूत्र० ११।४१)

करना, विनय और सदाचारका लोप करना, पूज्यजनोंको सताना, अहितकर अर्थोंका जानबूझकर सेवन करना, उन्मादजनक हेतुओंका सेवन करना, वर्जित समयपर वर्जित स्थानोंमें विचरण करना, पापकर्म करनेवालोंके साथ मित्रता करना, इन्द्रियोपक्रमणीय(सूत्र० अध्याय ८)में वर्णित सद्वृत्तका पालन न करना, ईर्ष्या अभिमान भय क्रोध लोभ मोह मद और भ्रम, इनसे उत्पन्न होनेवाले निन्दित कर्म, शरीरसे होनेवाले निन्दित कर्म, तथा रजोगुण और तमोगुणके कारण होनेवाले इसी प्रकारके जो दूसरे निन्दनीय कर्म हैं, उन्हें शिष्टजन प्रज्ञापराध कहते हैं। ये कर्म नानाप्रकारकी व्याधियोंको उत्पन्न करते हैं।" सङ्क्षेपसे प्रज्ञा(बुद्धि)के द्वारा होनेवाला जो विषम (अनुचित) ज्ञान है, और उस विषमज्ञानके कारण जो विषमरूपसे कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उसे प्रज्ञापराध समझना चाहिए। विषमज्ञान और विषमप्रवृत्ति ये दोनों ही मन(प्रज्ञा)के विषय हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ २८० टि० ३)। मनमें वैषम्य उत्पन्न होनेपर तज्जन्य ज्ञानमें विषमता उत्पन्न होती है और ज्ञानमें विषमता होनेपर वाणी और शरीरकी प्रवृत्ति भी विषम हो जाती है। इसलिए प्रज्ञामूलक होनेके कारण इन कर्मोंको 'प्रज्ञापराध' सञ्ज्ञा दी जाती है।

शब्दस्पर्शादि पाँच इन्द्रियार्थोंका अतियोग अयोग और मिथ्यायोगरूप असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग भी प्रज्ञादोषमूलक होनेके कारण वस्तुतः प्रज्ञापराध ही है।[1] इसी प्रकार सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर कालका अतियोग अयोग और मिथ्यायोग, जो रोगोंका तीसरा हेतु है और जिसे 'परिणाम' कहा जाता है, वह भी प्रज्ञापराधमूलक है। "सर्दी गर्मी और बरसातके लक्षण-वाली हेमन्त ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन ऋतुओंको संवत्सररूप काल समझना चाहिए (द्रष्टव्य पृष्ठ २१५ टि० १)। किसी भी ऋतुमें अपने-अपने लक्षणका अत्यधिक मात्रामें होना कालका अतियोग, स्वल्पमात्रामें होना कालका अयोग, और अपने लक्षणके विपरीत लक्षणोंका होना कालका मिथ्यायोग कहलाता है" (द्रष्टव्य पृष्ठ २१८ टि० १)। जब किसी जनपदका विध्वंस होनेको होता है तो वहाँकी वायु और जलमें विगुणता उत्पन्न हो जाती है और कालका अतियोग अयोग अथवा मिथ्यायोग परिलक्षित होता है। भगवान् आत्रेय कहते हैं—"अग्निवेश! जनपदोद्ध्वंसके समय वायु इत्यादि समस्त भावोंमें जो विगुणता उत्पन्न हो जाती है, उसका मूल है इस जन्ममें किया गया अधर्म अथवा पूर्वजन्ममें किए गए असत् कर्म, और इन दोनोंका मूलकारण है प्रज्ञापराध।" (द्रष्टव्य पृष्ठ २८१ टि० १) इससे सिद्ध होता है कि परिणामका भी मूलकारण अन्ततोगत्वा प्रज्ञापराध ही है। मनुष्यके अधिकांश रोगोंका मुख्यकारण प्रज्ञापराध ही है। कहा गया है—"भूत विष वायु अग्नि और सम्प्रहारादिके कारण मनुष्यको जो आगन्तु रोग होते हैं, उनकी उत्पत्तिके मूलमें प्रज्ञाका ही अपराध होता है। ईर्ष्या शोक भय क्रोध अभिमान और द्वेष इत्यादि जो मनोविकार हैं, वे सभी प्रज्ञापराधसे उत्पन्न होने वाले कहे गए हैं।"[2] प्रज्ञापराधके कारण शारीरिक मानसिक और वाचनिक

---

१. प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते। —(सूत्र० २८।५३)

२. ये भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसम्भवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति ॥

कर्मोंका मिथ्यायोग होता है, जिससे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। यह अधर्म ही समस्त व्याधियों और दु:खोंका जनक है। यह समय आनेपर ही अपना फल प्रकट करता है।

अधर्मकी उत्पत्ति और विस्तार

सभी प्रकारके अशुभ और अमङ्गलकी उत्पत्ति अधर्मके अतिरिक्त अन्य किसी कारणसे न तो पहले ही कभी हुई है[1] और न आज ही हो सकती है। निदानस्थान(७।२२–२५)में कहा गया है — "जिस पुरुषने स्वयं अशुभ आचरण नहीं किया है, उसे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, और न कोई अन्य ही क्लेश पहुँचा सकता है। अपने अशुभकर्मोंके कारण क्लेश पाते हुए मनुष्यका जो ये देवगन्धर्वादि अनुवर्त्तन करते हैं, वे उस क्लेशके वास्तविक कारण नहीं हैं, क्योंकि जो उन्मादादिरोग अधर्मकेद्वारा उत्पन्न किया जा चुका है, वह देवादिके द्वारा करणीय होनेको कहाँ बचा है? (द्रष्टव्य पृष्ठ २९७ टि० ४)। प्रज्ञापराधके कारण किए गए अपने ही अशुभकर्मसे रोगके उत्पन्न होनेपर बुद्धिमान् मनुष्यको देवता पितर और राक्षसादिको दोष नहीं देना चाहिए। अपने सुख-दु:खका कर्त्ता अपनेको ही समझना चाहिए। इसलिए मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह श्रेयस्कर मार्गपर चले और किसीसे भी न डरे" (द्रष्टव्य पृष्ठ २९८ टि० १)।

चरकसंहिताके अनुसार अधर्मका युगपरम्पराके अनुरूप क्रमिक विस्तार हुआ है। कृतयुगमें अधर्म अत्यन्तस्वल्पमात्रामें था। उसके अनन्तर त्रेतादि-युगोंमें धर्मके एक-एक पादका क्रमशः ह्रास होनेसे अधर्मका विस्तार होता चला गया। सृष्टिके आदिकालमें जो लोग होते थे, वे देवताओंके समान ओजस्वी तथा बड़े ही निर्मल प्रभावसे सम्पन्न होते थे। देवता देवर्षि धर्म यज्ञ विधि और विधानादिका उन्हें प्रत्यक्षज्ञान था। उनके शरीर पर्वतके समान सारयुक्त, गठे हुए और स्थिर होते थे। उनका वर्ण और इन्द्रियाँ निर्मल होती थीं। वे वायुके समान बल वेग और पराक्रमसे युक्त, सुन्दर सुडौल नितम्बोंवाले, उपयुक्त शरीरप्रमाण आकृति प्रसन्नता और पुष्टतासे सम्पन्न, सत्य आर्जव दयालुता दान दम नियम तप उपवास तथा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले, भय राग द्वेष मोह लोभ क्रोध शोक मान रोग निद्रा तन्द्रा श्रम क्लम आलस्य तथा परिग्रहसे रहित और अत्यन्त दीर्घायु होते थे। उन उदारहृदय तथा श्रेष्ठ गुणकर्मोंवाले पुरुषोंके लिए कृतयुगके प्रारम्भमें पृथि-व्यादिके सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण जो शस्य उत्पन्न होते थे, उनका रस वीर्य विपाक प्रभाव और गुण अचिन्त्य होता था। किन्तु जैसे-जैसे कृतयुग क्षीण होता गया, वैसे-वैसे अत्यधिक आदान(विषयग्रहण)के कारण कुछ ऐश्वर्यसम्पन्न लोगोंके शरीरमें भारीपन उत्पन्न होने लगा। शरीरके भारी होनेसे

ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः॥ —(सूत्र० ७।५१-५२)

१. प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्योऽभूत्। —(विमान० ३।२८)

थकावट, थकावटसे आलस्य, आलस्यके कारण सञ्चय, सञ्चयके कारण परिग्रह, और परिग्रहके कारण लोभका प्रादुर्भाव कृतयुगके शेषकालमें हुआ। उसके अनन्तर जब त्रेतायुग आया, तो लोभके कारण एक दूसरेके प्रति द्रोहबुद्धि उत्पन्न हुई। द्रोहके कारण लोगोंने झूठ बोलना आरम्भ कर दिया, और झूठ बोलनेसे काम क्रोध अभिमान द्वेष निष्ठुरता प्रहार भय सन्ताप शोक चिन्ता और उद्वेग इत्यादि दुर्गुणोंकी प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार त्रेतामें धर्मके एक चरण(चतुर्थांश)का लोप हो गया। उसके लुप्त होनेसे युगके वर्षप्रमाणमें भी चतुर्थांशका ह्रास हुआ, अर्थात् सत्ययुगके ४८०० दिव्यवर्षोंमें एक-चौथाई १२०० दिव्यवर्षोंका ह्रास होकर त्रेताका प्रमाण ३६०० दिव्यवर्ष रह गया। इतना ही नहीं पृथिव्यादिके गुणोंमें भी चतुर्थांशकी कमी हो गई। उस कमीके कारण जो शस्य उत्पन्न हुए, उनके स्नेह निर्मलता रस वीर्य विपाक प्रभाव और गुणोंमें भी एक-चौथाई अंश नष्ट हो गया। इस प्रकार क्रमशः क्षीण होते हुए गुणोंवाले आहार-विहारके द्वारा लोगोंके शरीर, जैसे उसके पूर्व कृतयुगमें धातुसाम्यपूर्वक परिपालित होते थे और अग्नि तथा वायुसे युक्त रहते थे, अब न तो उतने परिपालित ही हो सके और न उतने अग्नि और वायुसे ही युक्त हो सके। अतः ज्वरादि व्याधियोंने उनपर आक्रमण कर दिया, और परिणाम यह हुआ कि प्राणियोंकी आयु क्रमशः ह्रासको प्राप्त होती चली गई।[1]

प्राचीनग्रन्थोंसे पता चलता है कि कृतयुगमें मनुष्योंकी आयु चार सौ वर्षकी होती थी। उसके अनन्तर आगामी युगोंमें क्रमशः चतुर्थांशका ह्रास होता गया और कलियुगमें केवल एक सौ वर्ष ही पूर्णायु रह गई। आयुके

---

१. आदिकाले हि अदितिसुतसमोजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः शैलेन्द्रसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः। तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत् सत्त्वानाम्। गौरवाच्छ्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः कृते। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः। ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्। तस्यान्तर्धानात् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः, पृथिव्यादीनां च गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति।

—(विमान० ३।२८-३०)

इस क्रमिक ह्रासका मूलकारण धर्मका क्रमिक ह्रास है। "इस क्रमसे प्रत्येक युगमें धर्मके एक-एक पादकी कमी होती जाती है, और साथ ही महाभूतोंके गुणोंमें भी एक-एक पाद कम होता जाता है। इस प्रकार धर्म और भूतगुणों-का क्रमशः ह्रास होते-होते एक दिन लोकका प्रलय हो जाता है। जिस युगमें आयुका जो प्रमाण निर्धारित है, उस युगका शतांश व्यतीत होनेपर आयुप्रमाणमें एक वर्ष कम होता जाता है।"[1] अन्तमें कलियुगकी समाप्तिके समय प्राणियोंकी आयु पूर्णतः क्षीण हो जाती है, और प्रलय हो जाता है।

इस प्रकरणका सूक्ष्मतया अवलोकन करनेसे अधर्मकी उत्पत्तिके विषयमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है, वह है "अधिक आदान करनेसे ऐश्वर्यसम्पन्न लोगोंके शरीरमें क्रमशः गौरव श्रम और आलस्यक उत्पन्न होना।" अधिक आदान करनेका अर्थ है—अपने शरीरकी आवाश्यकतासे अधिक, फलतः दूसरोंके प्राप्यांशका अपहरण करके अपनी रसनादि इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें प्रवृत्त होना। मूलमें 'अत्यादानात्' पद आया हुआ है, जिसका अर्थ केवल आवश्यकतासे अधिक भोजन करना ही नहीं, प्रत्युत अपनी आव-श्यकतासे अधिक वस्त्र, मकान, यान तथा अन्य सुख-सामग्रीको जुटाना भी है। यही वह मूलकारण है जो संसारकी सारी विपत्तियों दुःखों और पीडाओंका जन्मदाता है। संसारके समस्त अशुभ अमङ्गल अनिष्ट अनर्थ और दुर्गतिके मूलमें यह 'अत्यादान' ही है। इस अत्यादानके कारण सर्वप्रथम गुरुत्वादिकी उत्पत्तिके रूपमें शरीर दूषित होता है, जिसके फलस्वरूप सञ्चय और परिग्रह-बुद्धिके साथ-साथ लोभका प्रादुर्भाव होनेसे मनुष्यकी प्रज्ञा भी दूषित हो जाती है। कुछ श्रीमानोंके इस अत्यादानजन्य शरीरदोष और प्रज्ञादोषका समाजके ऊपर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उनकी परिग्रहबुद्धि और लोभबुद्धि दूसरोंको प्रभावित किए विना नहीं रह सकती है। फलतः सम्पूर्ण समाजमें स्वार्थबुद्धि-का उदय होनेसे क्रोध कलह हिंसा चोरी व्यभिचार मिथ्याभाषण शोषण अन्याय भ्रष्टाचार और अव्यवस्थाका नग्नताण्डव होने लगता है।

इस बीसवीं शताब्दीमें साम्यवादी विचारधाराके मूलचिन्तक विचक्षण-बुद्धि कार्लमार्क्सने संसारव्यापी विषमता और तज्जन्य पीडाका जो निदान प्रस्तुत किया है, क्या वह चरकमुनिके इस निदानसे भिन्न है? कार्लमार्क्सने भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारासे अपरिचित होनेपर भी स्वतन्त्ररूपसे जो इन तथ्योंका अन्वेषण किया है, इससे उनके ऋषितुल्य सहज प्रातिभज्ञानके समक्ष हम श्रद्धाविनत हैं। किन्तु इस जगद्व्यापी वैषम्यका निराकरण करनेके लिए साम्यवादमें जो हिंसा और रक्तपातका मार्ग अपनानेका सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है, वह भारतीय वैचारिक परम्परासे सर्वथा विपरीत है। अधर्मका

---

१. युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥ —(विमान० ३।३१-३२)

निराकरण अधर्मके द्वारा कदापि नहीं हो सकता है, उसके निवारणका एकमात्र उपाय धर्माचरण ही है।

पूँजीवादके जो समर्थक, भारतीय धर्म और संस्कृतिकी दुहाई देते हुए आर्थिक वैषम्य और शोषणको स्वाभाविक तथा शास्त्रानुमोदित सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें चरकसंहिताके पूर्वोक्त प्रकरणको आँखें खोलकर देखना चाहिए। भारतीयसंस्कृति भोगप्रधान नहीं है, प्रत्युत त्यागप्रधान है। **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'** (महानारा० १०।५), **'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'** (बृहदा० ३।५।१) तथा **'दाम्यत दत्त दयध्वम्'** (बृहदा० ५।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य इसके प्रमाण हैं। दान और त्यागसे समाजगत वैषम्यकी निवृत्ति होती है, और आर्थिक सन्तुलन बना रहता है। कठोपनिषद्में वाजश्रवसके द्वारा विश्वजित् यज्ञमें अपना सर्वस्व दान कर दिया जाना, रघुवंशके पञ्चमसर्गके अनुसार महाराज रघुके द्वारा विश्वजित् यज्ञमें अपना सम्पूर्णकोष लुटा दिया जाना और मिट्टीके पात्रोंमें भोजन करना, तथा इतिहासमें महाराज हर्षवर्धनके द्वारा प्रत्येक पाँचवें वर्ष त्रिवेणीके तटपर अपना सब कुछ दान कर दिया जाना—इस बातके ज्वलन्त उदाहरण हैं। आर्थिकवैषम्यकी निवृत्ति हिंसा अथवा बलप्रयोगसे नहीं हो सकती है। उसके लिए तो मनुष्यमें एकमात्र धर्मबुद्धिका उदय होना ही अपेक्षित है। हृदयपरिवर्त्तनके विना यह शुभकार्य पूर्ण नहीं हो सकता है।

किन्तु इस बातको भी नहीं भूलना चाहिए कि धर्मका क्रमशः क्षय होना और उसी अनुपातमें अधर्मकी वृद्धि होना सृष्टिका एक अपरिहार्य नियम है। संसारकी कोई भी शक्ति प्रकृतिके इस नियमको अन्यथा नहीं कर सकती है। क्रान्तदर्शी महर्षियोंने अपने ज्ञानचक्षुओंसे सृष्टि और प्रलयके इस निरन्तर आवर्त्तमान क्रमका प्रत्यक्षदर्शन करके शास्त्रोंकी रचना की थी। घटीयन्त्रके समान अहर्निश भ्रमित होनेवाले कालचक्रके इस सृष्टिप्रलयङ्कर ताण्डवमें गतिरोध उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य किसमें है? हम अपने सन्तोष और स्वान्तःसुखके लिए धर्माचरणमें प्रवृत्त हो सकते हैं, क्योंकि आत्मोन्नति और आत्मकल्याण करनेका अधिकार मनुष्यको सर्वदा प्राप्त है, तथापि जो एक व्यापक विश्वजनीन समष्टिगत प्रवाह है, वह निरन्तर ह्रासोन्मुख है, और हम सबको प्रलयोदधिकी ओर लिए जा रहा है। हम सबकी वही स्थिति है, जो पर्वतीय नदीके दुर्दान्त प्रवाहमें पड़ी हुई एक पिपीलिकाकी होती है। डार्विनका विकासवाद इस देशकी विचारधाराके अनुरूप नहीं है।

अत्यादानसे मनुष्यकी प्रज्ञा दूषित हो जाती है, और प्रज्ञादोष(प्रज्ञापराध)से अधर्मकी उत्पत्ति होती है। यह अधर्म ही सर्वविध अशुभ और अमङ्गलका हेतु है। आचार्यने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—"जब किसी देश नगर निगम अथवा जनपदपर शासन करनेवाले प्रधान लोग धर्मका अतिक्रमण करके प्रजाके साथ अधर्मपूर्वक व्यवहार करते हैं, तो उनके आश्रित और उपाश्रित रहनेवाले नगर तथा जनपद(ग्रामों)के निवासी तथा व्यवहार(वाणिज्य अथवा लेन-देन)से जीविका चलानेवाले उस अधर्मकी अभिवृद्धि करते हैं। वह अधर्म धर्मको बलात् तिरोहित कर देता है। इस प्रकार धर्मसे रहित हुए

वे पापीजन देवताओंके द्वारा भी छोड़ दिए जाते हैं। तब उन लुप्तधर्मा, अधर्मप्रधान, और देवताओंसे परित्यक्त देशों और जनपदोंकी ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि या तो वर्षा समयपर नहीं होती है, अथवा बिल्कुल ही नहीं होती हैं, अथवा विकृतरूपसे होती है। वायु भी ठीक प्रकारसे प्रवाहित नहीं होती है। भूमि बरबाद हो जाती है। पानी सूख जाते हैं। ओषधियाँ अपने स्वभावको छोड़कर विकृतिको प्राप्त हो जाती हैं। तब वायु इत्यादि स्पृश्य और अभ्यवहार्य अन्नजलादिके दूषित हो जानेसे समूचे जनपदोंका विध्वंस हो जाता है।"[1] वायु इत्यादिके वैगुण्यसे मनुष्यके उपयोगमें आनेवाली सभी वस्तुएँ दूषित हो जाती हैं। उन दूषित वस्तुओंका सेवन करनेसे महामारी इत्यादिका प्रकोप होता है, और पूरे गाँवके गाँव, नगरके नगर, और जनपदके जनपद उजड़ जाते हैं।

"जब शस्त्रोंसे होनेवाले युद्धके कारण जनपदोद्ध्वंस होता है, तो उसका भी मूलकारण अधर्म ही होता है। जिन लोगोंमें लोभ क्रोध मोह और अभिमान अत्यधिक मात्रामें बढ़ जाता है, वे अपनेसे निर्बल लोगोंको अपमानित करके अपना अथवा अपने बन्धुओंका अथवा शत्रुओंका विनाश करनेके लिए शस्त्रोंके द्वारा एक दूसरेपर आक्रमण करते हैं, शत्रुओंपर आक्रमण करते हैं, अथवा शत्रुओंके द्वारा उनके ऊपर आक्रमण किया जाता है।"[2] इस प्रकार आक्रमण तथा प्रत्याक्रमणसे होनेवाले भीषण नरसंहारसे जनपदोद्ध्वंस हो जाता है। जिस प्रकार पिछले महायुद्धमें हिरोशिमाका विनाश हो गया था। कभी कभी लोगोंके द्वारा आचरित उस अधर्मको अथवा किसी दूसरे अपचारको प्राप्त करके राक्षसगणोंके द्वारा अथवा विविध भूतप्रेतसङ्घोंके द्वारा जन-समुदायका विनाश कर दिया जाता है।[3] "इसी प्रकार अभिशापके कारण होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका भी मूलहेतु अधर्म ही है। जब धर्म-कर्मका लोप हो जानेसे लोग धर्मसे रहित हो जाते हैं, तो अपने गुरुजनों वृद्धजनों सिद्धजनों ऋषियों और पूज्यजनोंका अपमान करके अहितकर आचरण करने लगते हैं।

---

१. यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजानपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते। ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति, विकृता वा वर्षति। वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्। तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्। —(विमान० ३।२४)

२. तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभ[illegible] दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान् वाभिक्रामन्ति, परैर्वाभिक्राम्यन्ते।—(विमान० ३।२५)

३. रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते। —(विमान० ३।२६)

फलतः गुरु इत्यादिके शापसे अभिशप्त होकर भस्म हो जाते हैं।"[1] द्वापरके अन्तमें ऋषियों और ब्राह्मणोंके शापसे समस्त यदुवंशका विनाश हो गया था।

धर्मपालन और सदाचारका महत्त्व

संसारमें जहाँ भी दुःख और क्लेश है, चाहे वह जरा और व्याधिके रूपमें हो और चाहे वह वायु इत्यादिकी विगुणता युद्ध अथवा अभिशापके कारण होनेवाले जनपदोद्ध्वंसके रूपमें हो, सबका मूलकारण अधर्म है। अधर्मके अतिरिक्त मनुष्यकी विपत्तियोंका कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता है। स्वेच्छा परेच्छा और अनिच्छासे प्राप्त होनेवाला दुःखरूप प्रारब्ध मनुष्यके अपने ही अशुभकर्मोंका परिणाम है। इसलिए मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह अत्यन्त सावधान होकर अशुभ कर्मोंसे बचे, तथा उभयलोकमें कल्याण करनेवाले धर्ममें मनसा वाचा कर्मणा प्रवृत्त हो। जिस कर्मका फल तत्काल या कालान्तरमें अशुभ हो, उसे नहीं करना चाहिए।[2] अशुभकर्मसे बचनेवालेको भूतप्रेतादि कोई भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता है। जिस मनुष्यकी धर्माचरणमें प्रवृत्ति होती है, उसके लोक और परलोक दोनों ही बन जाते हैं। आचार्य कहते हैं—"धर्मके साधनोंमें मनुष्यको एकाग्रतापूर्वक तत्पर होना चाहिए। (ब्रह्मचर्याश्रममें) गुरुशुश्रूषा, अध्ययन, ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन; (गृहस्थाश्रममें) विवाह, सन्तानोत्पादन, भृत्योंका पालन, अतिथिसत्कार, दान, पराए धनकी इच्छा न करना; (वानप्रस्थाश्रममें) तपश्चरण, अनसूया, शरीर वाणी और मनसे होनेवाले क्लेशरहित कर्म; तथा (संन्यासाश्रममें) देह इन्द्रिय मन विषय बुद्धि और आत्माकी परीक्षा करना (अर्थात् परीक्षाके द्वारा देहादिकी अनित्यता और आत्माकी नित्यताका निश्चय करके विषयोंसे सर्वथा विरक्त हो जाना), और आत्मामें मनको समाहित कर देना—ये सब धर्मके साधन हैं। इनके अतिरिक्त इसी प्रकारके जो दूसरे कर्म, सत्पुरुषोंके द्वारा अनिन्दित, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले, तथा आजीविका और पुष्टता प्रदान करनेवाले हैं, उनको भी आरम्भ कर देना चाहिए। इस प्रकार कर्म करता हुआ मनुष्य इस लोकमें यश और मरनेके बाद स्वर्ग प्राप्त करता है।"[3]

---

१. तथाभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति। ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति। —(विमान० ३।२७)

२. तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम्।
कर्मणस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम्॥ —(विमान० ३।५४)

३. धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा—गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मानसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनोऽर्थबुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनःसमाधाविति। यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्त्तुम्। तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते, प्रेत्य च स्वर्गमिति। —(सूत्र० ११।३३)

धर्मोत्पादक कृत्योंकी सर्वत्र प्रशंसा की गई है। आप्तपरम्परासे प्राप्त होने-वाले शास्त्र हमें बताते हैं कि दान तप यज्ञ सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य, अभ्युदय तथा निःश्रेयसके जनक हैं।[१]

सदाचारका पालन करनेसे न केवल आरोग्यलाभ होता है, प्रत्युत जन-पदोद्ध्वंसक रोग भी शान्त हो जाते हैं। "माता और पिताके प्रति भक्तिभाव रखनेसे, गुरुजनोंका पूजन करनेसे, ब्रह्मचर्य तप सत्य और नियमका पालन करनेसे, जप होम और दानसे, वेदोंका श्रवण करनेसे, तथा साधुपुरुषोंका दर्शन करनेसे मनुष्य शीघ्र ही ज्वरसे विमुक्त हो जाता है।"[२] यहाँपर 'ज्वर' शब्द सामान्यरूपसे रोगका वाचक है। "उन्मादरोगसे मुक्त होनेके लिए पूजा बलि उपहार मन्त्रविधि अञ्जनविधि शान्तिकर्म यज्ञ होम जप स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्तादिका अनुष्ठान करना चाहिए। भूतोंके अधिपति, जगत्के स्वामी, प्रभु, परमात्मदेवका नित्य पूजन करता हुआ संयमी और जितेन्द्रिय पुरुष उन्मादजन्य भयपर विजय प्राप्त कर लेता है। रुद्रके जो प्रमथनामक गण लोकमें घूमते रहते हैं, उनकी पूजा करता हुआ मनुष्य उन्मादरोगोंसे मुक्त हो जाता है। बलि मङ्गलकर्म और होम करनेसे, ओषधि और अगद धारण करनेसे, सत्य आचार तप ज्ञान प्रदान नियम और व्रतोंसे, देवता गौ ब्राह्मण और गुरुओंका पूजन करनेसे, तथा सिद्ध मन्त्र और सिद्ध औषधियोंसे आगन्तुक उन्माद शान्त होता है" (चिकित्सा० ९।९६-१०१)। मनोवैज्ञानिक उपायोंसे तथा धर्म और सद्वृत्तका सेवन करनेसे राज्यक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोग दूर भाग जाते हैं—"मनमें हर्ष तथा आश्वासन उत्पन्न करनेसे, नित्य गुरुजनोंके समीप बैठनेसे, ब्रह्मचर्य दान तप देवतार्चन सत्य शुभ-आचरण मङ्गल-कार्य अहिंसा तथा वैद्यों और ब्राह्मणोंका पूजन करनेसे रोगराज यक्ष्माकी निवृत्ति हो जाती है। प्राचीनकालमें जिस इष्टि(यज्ञ)का प्रयोग करनेसे राजक्ष्माको जीत लिया गया था, आरोग्य चाहनेवालेको उसी वेदविहित इष्टिका प्रयोग करवाना चाहिए" (चिकित्सा० ८।१८७-१८९)। जनपदोद्ध्वंसरूप अत्यन्तदारुण कालमें, जिनकी मृत्यु नियत नहीं है, उनकी आयुका परिपालन करनेवाली भेषज इस प्रकार कही गई है—"सत्य, प्राणियों-पर दया, दान, बलि, देवताओंकी अर्चना, सदाचारका अनुवर्त्तन, मनःशान्ति, मन्त्र तथा औषधादिके द्वारा अपनी रक्षा करना, तथा कल्याणकारक जनपदों-का सेवन करना हितकर होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका सेवन, ब्रह्म-चारियोंका संसर्ग, धर्मशास्त्रोंकी कथाएँ, जितेन्द्रिय महर्षियोंके साथ वार्त्तालाप,

---

२. आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिःश्रेयस-कराणीति। —(सूत्र० ११।२७)

३. भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥—(चिकित्सा० ३।३१३-३१५)

तथा वृद्धजनोंके द्वारा अनुमोदित धार्मिक और सात्त्विक प्रकृतिवाले लोगोंके साथ बैठना कल्याणकारक होता है।"[१]

अकालमृत्युसे बचनेके लिए भी मनुष्यको सद्वृत्तका पालन करना चाहिए। अपने बलके अनुरूप कार्य न करनेसे, अपनी अग्निके अनुरूप भोजन न करनेसे, विषम भोजन करनेसे, शरीरको विषमरूपमें रखनेसे, अत्यधिक मैथुन करनेसे, असत्पुरुषोंके संसर्गसे, उदीर्णवेगोंको रोकनेसे, रोकने योग्य वेगोंको न रोकनेसे, भूत विष वायु और अग्निके द्वारा सताए जानेसे, चोट लगनेसे, भोजन छोड़ देनेसे और रोगका प्रतीकार न करनेसे मनुष्यकी आयु समय आनेके पहले ही समाप्त हो जाती है। इसीको असमयमें होनेवाली मृत्यु या अकाल-मृत्यु कहा जाता है। दीर्घायुकी कामना करनेवाले लोग अकालमृत्युसे बचनेके लिए मन्त्र ओषधि मणि मङ्गल बलि उपहार होम नियम प्रायश्चित्त उपवास स्वस्त्ययन और प्रणिपात इत्यादि क्रियाओंका तथा यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। विमानस्थान(३।४२)में महर्षिका कथन है—"प्राणियोंका जीवन हितोप-सेवनपर अवलम्बित है, इसके विपरीत आचरण करनेसे मृत्यु होती है। जीवनकी सुरक्षाके लिए जो कर्म आहार और विहार, देश काल तथा आत्म-गुणोंके विपरीत हैं, उनका समुचितरूपसे क्रमशः उपयोग करना चाहिए। सब प्रकारके अतियोग अयोग और मिथ्यायोगका त्याग करना चाहिए। अप्रवृत्त वेगोंको धारण करना चाहिए। प्रवृत्त एवं गतिशील वेगोंको नहीं रोकना चाहिए। साहसिक कर्मोंका परित्याग करना चाहिए। इन सभीको हम आरोग्यके अनुवर्त्तनमें कारण पाते हैं, इन्हींका सम्यक् उपदेश करते हैं, और इन्हींको ठीक समझते हैं" (द्रष्टव्य पृष्ठ ३०७ टि० १)।

धर्मके महत्त्वको प्रकाशित करते हुए महर्षि कहते हैं—"मनुष्यको जीविकाके उन्हीं उपायोंका सेवन करना चाहिए जिनका धर्मके साथ किसी प्रकारका विरोध न हो। शान्त रहने तथा अध्ययन करनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्य सुख प्राप्त करता है।"[२] तात्पर्य यह है कि कृष्यादि जीविकोपायोंसे अर्थकी प्राप्ति होती है, शान्ति और अध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है, तथा अर्थ और धर्मसे सुखरूप कामकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार त्रिवर्गकी सिद्धि होती है। प्रत्येक मनुष्यको त्रिवर्गसाधनमें प्रवृत्त होना

---

१. सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥ —(विमान० ३।१९-२२)

२. वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।
शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते॥ —(सूत्र० ५।१०४)

चाहिए। आचार्य कहते हैं—शारीरिक और मानसिक व्याधियोंसे आक्रान्त होनेपर भी बुद्धिमान् मनुष्यको अपनी बुद्धिके द्वारा हिताहितका बार-बार विचार करके जो धर्म अर्थ और काम अहितकर हों, उनके सेवनमें नहीं प्रवृत्त होना चाहिए, तथा जो हितकर हों, उन्हींके सेवनमें प्रयत्नशील होना चाहिए। इस त्रिवर्गके बिना लोकमें कोई भी मानसिकसुख अथवा दुःख निष्पन्न नहीं होता है। इसलिए इनका सेवन तो करना ही चाहिए, साथ ही ज्ञानवृद्ध पुरुषोंके पास रहकर उनका सेवन, तथा आत्मा देश काल बल और शक्तिका यथावत् ज्ञान प्राप्त करनेका भी प्रयत्न करना चाहिए।[1]

आगन्तुरोगोंसे बचनेके लिए मनुष्यको सद्वृत्तका पालन अवश्य करना चाहिए—"सर्वप्रथम समस्त प्रज्ञापराधोंका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि प्रज्ञापराधसे ही आगन्तुरोग उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियोंको संयत तथा स्मृतिको जागरूक रखना चाहिए। देश काल और आत्माको सम्यक् प्रकारसे समझना चाहिए, तथा इन्द्रियोपक्रमणीय(सूत्रस्थान अध्याय ८)में वर्णित सद्वृत्त(साधु-आचरण)का अनुपालन करना चाहिए। आगन्तु रोगोंकी उत्पत्तिको रोकनेके लिए यही मार्ग बताया गया है। रोग उत्पन्न होनेके पहले ही बुद्धिमान् मनुष्यको ऐसा कर्म करना चाहिए, जिसे वह अपने लिए हितकर समझता हो।"[2] देशका सम्यग्ज्ञान होनेसे शून्यगृह अरण्य और रोगाक्रान्त स्थानोंका परित्याग किया जाता है। कालका सम्यग्ज्ञान होनेसे, जिन पूर्णमासी इत्यादिमें भूतप्रेतोंके अभिघातकी अधिक सम्भावना होती है, और जिस ऋतुमें जो आहार-विहार अपथ्य होता है, उनका परित्याग किया जाता है। आत्मज्ञानसे अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तिको समझकर बलवान् पुरुषके प्रहारसे बचते हुए घूमना सम्भव होता है।

अपने शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धिको प्रकृतिभावमें रखनेके लिए तथा विकारोंसे बचनेके लिए अर्थात् सर्वविध स्वास्थ्य आरोग्य और सुखकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको सद्वृत्तका पालन करना चाहिए। इसीलिए सद्वृत्तको स्वस्थवृत्त भी कहा जाता है। चरकमुनिका आदेश है—"अपना हित चाहनेवाले सभी लोगोंको सर्वदा स्मृतिपूर्वक सम्पूर्ण सद्वृत्तका पालन करना चाहिए। सद्वृत्तका पालन करते हुए मनुष्य एक साथ दो अर्थोंका सम्पादन करता है—आरोग्य और इन्द्रियोंपर विजय। अग्निवेश ! उस सद्वृत्तका हम सम्पूर्णरूपसे उपदेश

---

१. तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्। न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा। तस्मादेतच्चानुष्ठेयम्, तद्विद्यवृद्धानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति।
—(सूत्र० ११।४६)

२. त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निर्दर्शितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः॥ —(सूत्र० ७।५३-५४)

करेंगे।"[१] सत्पुरुषोंके शरीर वाणी और मनसे होनेवाली प्रवृत्तियोंको सद्वृत्त कहा जाता है। जिन लोगोंने इस जन्ममें अथवा पूर्वजन्मोंमें शान्ति शौच और सदाचारादिका अभ्यास करनेसे धर्मको अर्जित किया है, और उसके प्रभावसे त्रिवर्गका शान्तभावसे उपभोग करते हुए स्थित हैं, उन्हें सत्पुरुष कहा जाता है। तथा जो लोग सत्य शौच और आचारादिसे रहित होनेके कारण अधार्मिक और उपेक्षणीय हैं, उनको विद्यमान होनेपर भी असत्पुरुष कहा जाता है। इन्हींको लोकभाषामें क्रमशः सन्त और असन्त कहते हैं।

सद्वृत्तका निरूपण

देवता गौ ब्राह्मण गुरुजन वृद्धजन सिद्धमहापुरुष और आचार्यकी पूजा-सेवा करनी चाहिए। अग्निकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् नित्य अग्निहोत्र करना चाहिए। दोषोंको नष्ट करनेवाली प्रशस्त ओषधियाँ धारण करनी चाहिए। सायं प्रातः दोनों समय स्नान करके सन्ध्योपासन करना चाहिए।[२] "स्नानं श्रमहराणाम्" (सूत्र० २५।४०) अर्थात् थकावट दूर करनेमें स्नानसे बढ़कर और कुछ नहीं है। स्नान शरीरको पवित्र करनेवाला है, वृष्य और आयुर्वर्धक है, थकावट पसीने और मैलको दूर करता है, शरीरमें बलका सन्धान करता है और सबसे अधिक ओजकी वृद्धि करता है।[३] गुदा इत्यादि मलमार्गोंकी तथा पैरोंकी वार-वार सफाई करनी चाहिए।[४] पैरों तथा मल-मार्गोंकी जल और मिट्टीके द्वारा पुनः पुनः सफाई करनेसे मनुष्यकी मेधा और आयुकी वृद्धि होती है, पवित्रताका सञ्चार होता है, और दरिद्रता पाप तथा दुःखका विनाश होता है।[५] एक पखवारेमें कमसे कम तीन वार अर्थात् प्रत्येक पाँचवें दिन शिरके बाल, दाढ़ी-मूँछ और नाखूनोंको कटवाना चाहिए। हमेशा स्वच्छ और विना फटे हुए कपड़े पहनना चाहिए। मनको प्रसन्न रखना चाहिए। पुष्पमालाओं तथा चन्दनादिकी सुगन्ध धारण करनी चाहिए। वेष भद्रपुरुषोंके समान होना चाहिए। केशोंको कंघी इत्यादिके द्वारा सँवार कर रखना चाहिए। शिर कान नाक और पैरोंमें प्रतिदिन तेल लगाना चाहिए। आयुर्वेदोक्त विधिसे धूमपान करना चाहिए।[६] केश श्मश्रु और नाखून कटवाने-

१. तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयम्—आरोग्यमिन्द्रियविजयं चेति। तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश। —(सूत्र० ८।१७-१८)

२. देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्। अग्निमुपचरेत्। ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्। द्वौ कालावुपस्पृशेत्। —(सूत्र० ८।१८)

३. पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्॥ —(सूत्र० ५।९४)

४. मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्। —(सूत्र० (८।१८)

५. मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम्।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः॥ —(सूत्र० ५।९८)

६. त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्। नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात् साधुवेशः प्रसाधितकेशः मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यो धूमपः। —(सूत्र० ८।१८)

से तथा केशोंका प्रसाधन करके भद्रवेष धारण करनेसे पुष्टि वृषता और आयुकी वृद्धि होती है, तथा पुरुष पवित्र और सुशोभित रूपवाला हो जाता है।[1] निर्मलवस्त्र धारण करनेसे मनुष्यकी कमनीयता (सौन्दर्य) यश एवं आयुकी वृद्धि होती है, दरिद्रताका विनाश होता है, मनमें प्रहर्ष उत्पन्न होता है, श्रीवृद्धि होती है, सभामें बैठनेकी योग्यता प्राप्त होती है और मनुष्य प्रशंसाका पात्र बनता है।[2] चन्दनादि सुगन्धितद्रव्योंका अनुलेपन तथा सुगन्धित पुष्पमालाओंका सेवन पुरुषको वृषता सुरभि आयु कमनीयता पुष्टि और बल प्रदान करनेवाला होता है, मनको प्रसन्न करता है, तथा अलक्ष्मी(दारिद्र्य)-का विनाश करता है।[3] जो पुरुष सदा अपने शिरको तेलसे चिकना रखता है, उसे कभी शिरोवेदनाका अनुभव नहीं करना पड़ता है। उसके शिरमें न तो कभी गंजापन होता है, न बाल सफेद होते हैं और न झड़ते हैं। उसके शिरकी अस्थियोंका बल विशेषरूपसे बढ़ जाता है। उसके केश मजबूत जड़ोंवाले लम्बे और काले हो जाते हैं। शिरपर तेलकी मालिश करनेसे इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं, चेहरेकी त्वचापर निखार आता है, अच्छी नींद आती है और सुख प्राप्त होता है।[4] पैरोंमें तेलकी मालिश करनेसे पैरोंका खुरदरापन सूखापन रूखापन थकावट तथा पैरोंका सो जाना शीघ्र ही शान्त हो जाता है, पैरोंमें सुकुमारता बल तथा स्थिरता आ जाती है, दृष्टि निर्मल हो जाती है और वायुका प्रकोप शान्त हो जाता है। पादाभ्यङ्गसे गृध्रसी इत्यादि वातरोग नहीं होते हैं, पैर फटते भी नहीं हैं तथा पैरोंकी नस-नाड़ियोंमें कभी सिकुड़न भी नहीं आती है।[5]

---

१. पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम्॥ —(सूत्र० ५।९९)

२. काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्॥ —(सूत्र० ५।९५)

३. वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम्।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्॥ —(सूत्र० ५।९६)

४. नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते।
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च॥
बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्धते।
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च॥
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात्॥ —(सूत्र० ५।८१-८३)

५. खरत्वं शुष्कता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः।
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात्॥
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः।
दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति॥
न च स्याद् गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च।
न शिरास्नायुसङ्कोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः॥ —(सूत्र० ५।९०-९२)

किसीसे सामना होनेपर पहले स्वयं सत्कारयुक्त वचन बोलना चाहिए, और प्रसन्नमुख रहना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुष प्रायः प्रसन्नवदन रहते हैं— **"प्रायेण सुमुखाः सन्तः"** (सूत्र० ३०।८०)। कठिन अवसरोंपर धैर्य धारण करना चाहिए, अथवा मुसीबतमें पड़े हुए लोगोंकी सहायता और रक्षा करनी चाहिए। हवन यज्ञ और दान करना चाहिए। चौराहोंको प्रणाम करना चाहिए। देवताओंको बलि (पूजोपहार) देना चाहिए, अथवा बलिवैश्वदेव- (भूतयज्ञ) करना चाहिए। अतिथियोंकी पूजा (नृयज्ञ) करनी चाहिए। पितरों- को पिण्डदान (पितृयज्ञ) करना चाहिए। उचित समयपर हितकर परिमित और मधुरवचन बोलना चाहिए, क्योंकि आचरणीय धर्मोंमें सद्वचनको प्रधानता दी गई है—**"सद्वचनमनुष्ठेयानाम्"** (सूत्र० २५।४०)। सत्यवाणी- को प्रकाशस्वरूप और अनृतवाणीको तमोरूप कहा गया है—**"वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता"** (शारीर० १।२६)। इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिए, क्योंकि किसी बलवान् अदृष्टकर्मके विपाकके विना जितेन्द्रिय पुरुषको रोग नहीं सताते हैं (शारीर० २।४३)। वह सौ वर्षतक जीवित रहता है। मनुष्यको आनन्दित करनेवाले भावोंमें इन्द्रियविजयको उत्कृष्टतम कहा गया है— **"इन्द्रियजयो नन्दनानाम्"** (सूत्र० ३०।१५)। जो बुद्धिमान् मनुष्य मद्यपानसे सर्वथा निवृत्त है और जितेन्द्रिय है, वह शारीरिक और मानसिक विकारोंसे युक्त नहीं होता है।[१] मनुष्यको धर्मप्राण होना चाहिए। हेतुके प्रति ईर्ष्यालु होना चाहिए, फलके प्रति नहीं। अर्थात् दूसरा मनुष्य जिन हेतुओंसे धनवान् बलवान् या विद्यावान् बना है, उन हेतुओंका ईर्ष्यापूर्वक सम्पादन करना चाहिए। किन्तु दूसरोंको जो धन बल या विद्यारूप फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रति ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिए। दूसरेको प्राप्त हुए धन बल या विद्याको नष्ट करनेका प्रयास नहीं करना चाहिए।[२]

मनुष्यको निश्चिन्त, निर्भीक, लज्जावान्, बुद्धिमान्, अत्यधिक उत्साही, कुशल, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक, विनय बुद्धि विद्या कुल और वयमें जो अपनेसे बड़े हैं उनका तथा सिद्धपुरुषों और आचार्योंका उपासक, छाता लगाने- वाला, दण्ड धारण करनेवाला, शिरपर पगड़ी इत्यादिको धारण करनेवाला, पैरोंमें जूता पहननेवाला, और चार हाथ आगे देखकर चलनेवाला होना

---

१. **निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः।**
शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते॥
—(चिकित्सा० २४।२०६)

२. **पूर्वाभिभाषी, सुमुखो, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्त्ता, बलीनामुपहर्त्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्षुः, फले नेर्षुः (स्यात्)।**
—(सूत्र० ८।१८)

चाहिए।[१] छाता लगानेसे ईतियों(रोगादि दुर्दैव)से बचाव होता है। छत्र-धारण बलकारक, रक्षा करनेवाला, आवरण करनेवाला, कल्याण करनेवाला, और धूप वायु धूल तथा वर्षासे बचाव करनेवाला कहा जाता है।[२] दण्डधारण लड़खड़ाकर गिरते हुएको बचानेवाला, शत्रुओंका विनाश करनेवाला, शरीर-को सहारा देनेवाला, आयुकी वृद्धि करनेवाला और भयको दूर करनेवाला होता है।[३] जूता पहनना आँखोंके लिए और त्वचाके लिए अत्यन्त हितकर है, शीत आतप और कण्टकादिके कारण पैरोंके ऊपर आनेवाली मुसीबतको दूर करता है, पैरोंको बल प्रदान करता है, चलनेमें सुख देता है और पौरुषकी वृद्धि करता है।[४]

मनुष्यको नास्तिक्यबुद्धिका परित्याग करना चाहिए। सभी पातकोंमें सबसे बड़ा पातक नास्तिक्यबुद्धि है (सूत्र० ११।१५)। क्योंकि इससे मनुष्य उच्छृङ्खल होकर किसी भी पापको करनेमें नहीं हिचकता है। वर्जनीय लोगों-में नास्तिकको प्रथमस्थान दिया गया है (सूत्र० २५।४०)।

मनुष्यका आचरण और शील (स्वभाव) कल्याणकारी होना चाहिए। जिस स्थान पर मैले-कुचैले चिथड़े, हड्डियाँ, काँटे, अपवित्र पदार्थ, बाल, भूसी-का ढेर, राख, फूटे हुए बर्त्तनोंके कपाल इत्यादि पड़े हों, और जहाँ लोग स्नान करते हों, उन स्थानोंपर नहीं जाना चाहिए। थकनेसे पहले ही व्यायाम बन्द कर देना चाहिए।[५]

सभी प्राणियोंके प्रति बन्धुभाव रखना चाहिए। प्राणियोंके प्राणोंकी वृद्धि करनेवाले भावोंमें अहिंसाको सर्वोत्कृष्ट कहा गया है—**"तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमा"** (सूत्र० ३०।१५), क्योंकि अहिंसासे धर्म होता है और धर्मसे आयुकी वृद्धि होती है। यद्यपि राजद्विष्ट और पतित लोगोंकी चिकित्सा करनेका विधान नहीं है, क्योंकि उससे अधर्म होता है, तथापि उनके प्रति भी करुणाका भाव रखना चाहिए, क्योंकि जो सत्पुरुष होते हैं उनका प्राणियोंके ऊपर अत्यधिक अनुग्रह करनेका भाव होना है और तत्त्वज्ञानके

---

१. निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री, दण्डी, मौली, सोपानत्को युगमात्रदृग्‌गनुचरेत्। —(सूत्र० ८।१८)

२. ईतेर्विधमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्।
धर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते॥ —(सूत्र० ५।१०१)

३. स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्॥ —(सूत्र० ५।१०२)

४. चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्॥ —(सूत्र० ५।१००)

५. मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नान-भूमीनां परिहर्त्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्। —(सूत्र० ८।१८)

देनेमें वे दयासे भरपूर होते हैं—**"परो भूतेष्वनुक्रोशस्तत्त्वज्ञाने परा दया"** (सूत्र० ३०।८२)। क्रोधी पुरुषोंको अनुनय-विनय द्वारा समझाना चाहिए। डरे हुए लोगोंको आश्वासन (सान्त्वना) देना चाहिए। दीन और असहाय लोगोंकी आगे बढ़कर सहायता और रक्षा करनी चाहिए। सत्यप्रतिज्ञ (वादेका पक्का) होना चाहिए। शान्तिको सबसे प्रधान समझना चाहिए। दूसरेके कठोरवचनोंको सहन करनेकी आदत डालना चाहिए। मनमें उठते हुए क्रोधको नष्ट कर देना चाहिए। शान्त रहनेमें जो गुण हैं उनको देखना चाहिए, क्योंकि पथ्य अर्थात् हितकर भावोंमें प्रशम(शान्ति)को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—**"प्रशमः पथ्यानाम्"** (सूत्र० २५।४०)। राग और द्वेषके कारणोंको नष्ट कर देना चाहिए।[1]

झूठ नहीं बोलना चाहिए। दूसरेकी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। परायी स्त्रीकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परस्त्रीगमनसे बढ़कर आयुका ह्रास करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है—**"परदाराभिगमनमनायुष्याणाम्"** (सूत्र० २५।४०)। दूसरेकी लक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। किसीसे वैर नहीं करना चाहिए, और न पाप करना चाहिए। पापीके भी प्रति पाप नहीं करना चाहिए, अर्थात् अपकार करनेवालेका भी अपकार नहीं करना चाहिए। दूसरेके दोषोंको नहीं कहना चाहिए। दूसरेके रहस्यको नहीं खोलना चाहिए। अधार्मिक तथा राजद्विष्ट लोगोंके साथ नहीं बैठना चाहिए। इसी प्रकार पागलों, पतितजनों, भ्रूणहत्या करनेवालों, क्षुद्रजनों और दुष्टोंके साथ भी नहीं बैठना चाहिए। दुष्ट सवारियोंपर नहीं चढ़ना चाहिए। घुटनोंके बल कष्टपूर्ण आसनसे नहीं बैठना चाहिए। जिस शय्यापर बिछौना न बिछा हो सिरहाने तकिया न लगा हो, छोटी हो तथा ऊँची-नीची हो, उसपर नहीं सोना चाहिए। पर्वतोंकी ऊबड़-खाबड़ चोटियोंपर नहीं घूमना चाहिए। पेड़पर नहीं चढ़ना चाहिए। उग्रवेगवाले जलमें स्नान नहीं करना चाहिए। नदीके कगारकी छायामें नहीं बैठना चाहिए। जहाँ अग्निका उत्पात हो, उसके चारों ओर नहीं घूमना चाहिए। जोरसे नहीं हँसना चाहिए। शब्दपूर्वक अपानवायु नहीं छोड़ना चाहिए, अर्थात् अपानवायु छोड़ते समय ऐसा प्रयास करना चाहिए कि शब्द न होने पाए। मुँहको विना ढके हुए न तो जमुहाई लेना चाहिए, न छींकना चाहिए और न हँसना चाहिए। नाकको उँगली डालकर नहीं कुरेदना चाहिए। दाँतोंको परस्पर रगड़ना नहीं चाहिए। नाखूनोंको बजाना नहीं चाहिए। हड्डियोंपर चोट नहीं करनी चाहिए, अथवा हड्डियोंको परस्पर टकराना नहीं चाहिए। भूमिको खरोंचना नहीं चाहिए। तिनका नहीं तोड़ना चाहिए। मिट्टीके ढेलोंको हाथसे नहीं फोड़ना चाहिए। अङ्गोंसे विगुण (बुरी) चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त तेजोयुक्त ज्योतियोंको तथा अनिष्ट अपवित्र और अप्रशस्त (निन्दित) वस्तुओंको नहीं देखना चाहिए।

---

१. सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्। क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, शमप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च।

—(सूत्र० ८।१८)

मुर्देको देखकर घृणापूर्वक हुङ्कार नहीं करना चाहिए। गाँवके प्रधानवृक्ष, ध्वजा, गुरु, पूज्य तथा अप्रशस्त वस्तुओंकी छायाको अतिक्रान्त नहीं करना चाहिए। रातके समय देवमन्दिर, चैत्य, खुले हुए चौक, चौराहे, बगीचे, श्मशानभूमि और वधस्थानमें नहीं जाना चाहिए। कभी भी सूने घरमें या जङ्गलमें अकेले प्रवेश नहीं करना चाहिए। पापाचरण करनेवाली स्त्री मित्र और नौकरके साथ नहीं रहना चाहिए। उत्तमजनोंसे विरोध नहीं करना चाहिए। हीनकोटिके मनुष्योंका सङ्ग नहीं करना चाहिए। कुटिल व्यक्तिके साथ प्रेम नहीं करना चाहिए। अनार्यका आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिए।[1] सदाचारी व्यक्ति यदि अल्पज्ञ भी हो, तब भी उससे विवाद या कलह नहीं करना चाहिए।[2]

किसीके मनमें भय नहीं उत्पन्न करना चाहिए। साहस, अत्यधिक निद्रा, अत्यधिक जागरण, अत्यधिक स्नान, अत्यधिक पान तथा अत्यधिक भोजन नहीं करना चाहिए। घुटने उठाकर देरतक नहीं बैठना चाहिए। सर्पोंके पास, व्याघ्रादि दंष्ट्रावाले जन्तुओंके पास, तथा वृषभादि सींगवाले पशुओंके पास नहीं जाना चाहिए। सामनेसे आनेवाली वायु धूप ओस और आँधीसे बचना चाहिए। कलह (झगड़ा) आरम्भ नहीं करना चाहिए। अच्छी तरह सावधान हुए विना अग्निके समीप नहीं बैठना चाहिए, अथवा समाहित हुए विना अग्निकी उपासना नहीं करनी चाहिए। हाथ-मुँह इत्यादिमें जूठन लगाए हुए नहीं तापना चाहिए। अग्निको नीचे करके भी नहीं तापना चाहिए। जबतक थकावट दूर न हो जाय, स्नान नहीं करना चाहिए। शिरको गीला किए विना भी स्नान नहीं करना चाहिए। नङ्गे होकर भी स्नान नहीं करना चाहिए। जिस अधोवस्त्रको पहनकर स्नान किया हो, उससे उत्तमाङ्ग(शिर)-

---

१. नानृतं ब्रूयात्। नान्यस्वमाददीत। नान्यस्त्रियमभिलषेत्। नान्यश्रियम्। न वैरं रोचयेत्। न कुर्यात्पापम्। न पापेऽपि पापी स्यात्। नान्यदोषान् ब्रूयात्। नान्यरहस्यमागमयेत्। नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत। नोन्मत्तैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः। न दुष्टयानान्यारोहेत्। न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत। नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत। न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत्। न द्रुममारोहेत्। न जलोग्रवेगमवगाहेत। न कूलच्छायामुपासीत। नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्। नोच्चैर्हसेत्। न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्। नानावृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत। न नासिकां कुष्णीयात्। न दन्तान् विघट्टयेत्। न नखान् वादयेत्। नास्थीन्यभिहन्यात्। न भूमिं विलिखेत्। न छिन्द्यात्तृणम्। न लोष्टं मृद्नीयात्। न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत। ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत। न हुङ्कुर्याच्छवम्। न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्। न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशा[illegible]सेवेत। नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्। पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत। नोत्तमैर्विरुध्येत। नावरानुपासीत। न जिह्मं रोचयेत्। नानार्यमाश्रयेत्। —(सूत्र० ८।१९)

२. सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद् भिषगल्पश्रुतैरपि। —(सूत्र० ३०।७९)

का स्पर्श नहीं करना चाहिए। केशोंके अग्रभागको झटकना नहीं चाहिए। स्नान करके उन्हीं वस्त्रोंको नहीं पहनना चाहिए, अर्थात् धुले हुए और सूखे वस्त्र पहनना चाहिए। रत्न घृत पूज्यजन पुष्प तथा दूसरे माङ्गलिक द्रव्योंका स्पर्श किए विना घरसे बाहर नहीं निकलना चाहिए। पूज्यजनों और माङ्गलिक पदार्थोंको बाईं ओर करके तथा अमाङ्गलिक और अशुभ पदार्थोंको दाहिनी ओर करके नहीं जाना चाहिए।[1] रत्नों और सुवर्णादिनिर्मित आभूषणोंको धारण करनेसे धन मङ्गल आयु तथा श्रीकी वृद्धि होती है, सर्प तथा पिशाचादिके कारण होनेवाले अनिष्टका विनाश होता है, मन प्रसन्न होता है, और सौन्दर्य तथा ओजकी वृद्धि होती है।[2]

शरीरको टेढ़ा करके न तो छींकना चाहिए, न भोजन करना चाहिए, और न शयन ही करना चाहिए। मलमूत्रादि किसी भी वेगके उत्पन्न होनेपर दूसरे काममें नहीं लगे रहना चाहिए, अर्थात् सब काम छोड़कर पहले वेगका निराकरण करना चाहिए। वायु अग्नि जल चन्द्रमा सूर्य द्विज और गुरुकी ओर अभिमुख होकर न तो थूकना चाहिए, और न अपानवायु मल तथा मूत्रका परित्याग करना चाहिए। रास्तेपर मूत्रत्याग नहीं करना चाहिए। जनसङ्कुल स्थानपर, भोजनके समय, तथा जप होम अध्ययन बलि और माङ्गलिक क्रियाओंके अवसरपर न तो खखारकर थूकना चाहिए, और न नाक ही छिनककर फेंकना चाहिए।[3]

सत्पुरुषों और गुरुजनोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। अपवित्र स्थितिमें अभिचारकर्म, चैत्य और पूज्यजनोंकी पूजा, तथा अध्ययन नहीं करना चाहिए। अपवित्र दशामें किया जानेवाला अभिचारकर्म प्रयोक्ताका ही विनाशक बन जाता है। अधिक समय नहीं गँवाना चाहिए। नियम कभी नहीं तोड़ना चाहिए। न तो रात्रिमें और न अनुपयुक्त स्थानमें विचरण करना चाहिए। दोनों सन्ध्याओंमें भोजन अध्ययन स्त्री और निद्राका सेवन नहीं करना

---

१. न भयमुत्पादयेत्। न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत। नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्। न व्यालानुपसर्पेत्, न दंष्ट्रिणः, न विषाणिनः। पुरोवातातपावश्यायप्रवातान् जह्यात्। कलिं नारभेत। नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत। नोच्छिष्टो नाधः कृत्वा प्रतापयेत्। नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्। न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम्। न केशाग्राण्यभिहन्यात्। नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्। नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्। न पूज्यमङ्गलान्नेयपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम्। —(सूत्र० ८।१९)

२. धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद्व्यसनसूदनम्।
हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम्॥ —(सूत्र० ५।९७)

३. नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत। न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्। न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्। न पन्थानमवमूत्रयेत्। न जनवति नान्नकाले न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्। —(सूत्र० ८।२१)

चाहिए। बालक वृद्ध लोभी मूर्ख निन्दितरोगसे पीडित तथा हीनसत्त्व नपुंसकके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए। मद्यपान द्यूतक्रीडा और वेश्यागमनमें रुचि नहीं रखनी चाहिए। अपने तथा दूसरोंके गुप्त रहस्यको नहीं खोलना चाहिए। किसीका अपमान नहीं करना चाहिए। अभिमानी नहीं बनना चाहिए। दक्षता और दाक्षिण्यसे विहीन नहीं होना चाहिए, और न दूसरोंसे असूया करनी चाहिए। ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। गायको मारनेके लिए डण्डा नहीं उठाना चाहिए। वृद्धों, समूहबद्ध लोगों, और राजाओंका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। बहुत अधिक नहीं बोलना चाहिए। भाई-बन्धु, प्रेमीजन, विपत्तिमें सहायक और रहस्य जाननेवालेका कभी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये लोग यदि प्रतिशोध लेनेपर उतारू हो जायँ, तो बड़ी आसानीसे प्रतिशोध ले सकते हैं।[1] मनुस्मृतिमें कहा गया है—अपमानित व्यक्ति तो सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है, और सुखपूर्वक इस लोकमें विचरण करता है, किन्तु अपमान करनेवालेका विनाश हो जाता है।[2]

मनुष्यको न तो अधीर होना चाहिए, और न अत्यधिक उत्साही होना चाहिए। अपने नौकर-चाकरोंका पालन-पोषण करनेसे नहीं कतराना चाहिए। स्वजनोंपर अविश्वास नहीं करना चाहिए। अकेले ही सुखका उपभोग नहीं करना चाहिए। अपना स्वभाव आचरण और बाह्य व्यवहार अपने लिए तथा दूसरोंके लिए दुःखजनक नहीं होना चाहिए। सभीका विश्वास नहीं करना चाहिए, और न सबके प्रति शङ्कालु ही होना चाहिए। हर समय सोच-विचारमें नहीं पड़े रहना चाहिए। कार्य करनेके उचित समयको किसी भी प्रकार बीतने नहीं देना चाहिए। विना परीक्षा किए हुए किसी कार्यमें नहीं लग जाना चाहिए। अपनी इन्द्रियोंके वशमें नहीं होना चाहिए। मनको भी चञ्चलतापूर्वक इधर-उधर नहीं घुमाना चाहिए। अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंपर बहुत अधिक भार नहीं डालना चाहिए। अत्यन्त दीर्घसूत्री नहीं बनना चाहिए। क्रोध और हर्षके वशीभूत होकर कोई काम नहीं करना चाहिए।

---

१. न सतो न गुरून् परिवदेत्। नाशुचिरभिचारकर्मचैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत्। नातिसमयं जह्यात्। न नियमं भिन्द्यात्। न नक्तं नादेशे चरेत्। न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्। न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्। न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात्। न गुह्यं विवृणुयात्। न कश्चिदवजानीयात्। नाहंमानी स्यात्, नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः। न ब्राह्मणान् परिवदेत्। न गवां दण्डमुद्यच्छेत्। न वृद्धान्न गणान्न नृपान् वाधिक्षिपेत्। न चातिब्रूयात्। न बान्धवानुरक्त[illegible]गुह्यज्ञान् बहिः कुर्यात्। —(सूत्र० ८।२३, २५)

२. सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ —मनुस्मृतिः (२।१६३)

चिरकालतक शोकके वशीभूत नहीं रहना चाहिए । सफलता मिलनेपर इतराना नहीं चाहिए, और असफल होनेपर दुःखी नहीं होना चाहिए ।[१]

प्रकृतिका वार-वार स्मरण करना चाहिए, अर्थात् अपने शरीरकी प्रकृतिको समझ करके ही प्रत्येक आहार-विहारमें प्रवृत्त होना चाहिए । शुभकर्मका फल शुभ और अशुभकर्मका फल अशुभ होता है, इस प्रकार हेतुके प्रभावको निश्चयपूर्वक समझना चाहिए । हमेशा शुभहेतुको लेकर कार्य करना चाहिए । मैंने 'इतना कर लिया है' ऐसा सोचकर आश्वस्त नहीं हो जाना चाहिए । वीर्य(शुक्र अथवा पराक्रम)का परित्याग नहीं करना चाहिए । दूसरोंके द्वारा की गई अपनी निन्दाका वार-वार स्मरण नहीं करना चाहिए । विना पवित्र हुए उत्तमाज्य(गोघृत) अक्षत तिल कुश और सरसोंसे अग्निमें आहुति नहीं देनी चाहिए । "अग्नि मेरे शरीरसे दूर न हो, वायुदेवता मेरे भीतर प्राणोंका आधान करें, विष्णु मेरे भीतर बलका आधान करें, इन्द्र मेरे भीतर वीर्यकी वृद्धि करें, कल्याणकारी जल मेरे भीतर प्रविष्ट हों" तथा "आपो हिष्ठा..." इत्यादि आशीर्वादात्मक मन्त्रोंके द्वारा अपने लिए मङ्गलकामना करते हुए जलका स्पर्श करना चाहिए । दोनों ओष्ठों और दोनों पैरोंको दो वार धोकर, शिरके ऊपर पानी छिड़ककर, शिरःस्थ इन्द्रियोंके छिद्रों तथा आत्मा हृदय और शिरका जलसे स्पर्श करना चाहिए । मनुष्यको ब्रह्मचर्य ज्ञान दान मैत्री करुणा हर्ष(मुदिता) उपेक्षा और शान्तिमें तत्पर रहना चाहिए । मैत्री करुणा हर्ष और उपेक्षाके भावोंको पातञ्जलयोगसूत्रमें इस प्रकार समझाया गया है—"सुखी दुःखी पुण्यात्मा तथा पापात्मा प्राणियोंके प्रति क्रमशः मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्तको निर्मल बनाया जाता है ।"[३]

---

१. नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्, नाभृतभृत्यो, नाविश्रब्धजनो, नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारो, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी । न कार्यकालमतिपातयेत् । नापरीक्षितमभिनिविशेत् । नेन्द्रियवशगः स्यात् । न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत् । न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् । न चातिदीर्घसूत्री स्यात् । न क्रोधहर्षावनुविदध्यात् । न शोकमनुवसेत् । न सिद्धावुत्सेकं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम् । —(सूत्र० ८।२७)

२. प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् । हेतुप्रभावनिश्चितः स्याद्धेत्वारम्भनित्यश्च । न कृतमित्याश्वसेत् । न वीर्यं जह्यात् । नापवादमनुस्मरेत् । नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयात् । आत्मानमाशीर्भिराशासानः "अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीरात् । वायुर्मे प्राणानादधातु । विष्णुर्मे बलमादधातु । इन्द्रो मे वीर्यम् । शिवा मां प्रविशन्त्वापः ।" आपो हिष्ठेत्यपः स्पृशेत् । द्विः परिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धानं खानि चोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च । ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति । —(सूत्र० ८।२८)

३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । —पातञ्जलयोगसूत्र (१।३३)

जो प्राणी सुखी हैं, उनके प्रति मैत्रीकी भावना करनी चाहिए, अर्थात् मनुष्य-की अपने प्रति जैसी अप्रतिकूल प्रवृत्ति होती है, वैसी ही सभी सुखी प्राणियोंके प्रति होनी चाहिए। जो प्राणी दुःखी हैं, उनके प्रति करुणाकी भावना करनी चाहिए अर्थात् उनके दुःखसे द्रवीभूत होकर उस दुःखको बँटाने या दूर करने-का प्रयास करना चाहिए। जो पुण्यात्माजन हैं, उनको देखकर हर्षित होना चाहिए कि संसारमें पुण्यकी वृद्धि हो रही है अथवा अब भी संसारमें पुण्य अवशिष्ट है। जो पापीजन हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना चाहिए। क्रोध या घृणाका भाव उनके प्रति करना उचित नहीं है, क्योंकि इससे अपना ही मन मलिन होता है, उनकी कोई हानि नहीं होती है।

यहाँपर कुछ लोग शङ्का करते हैं कि महर्षिचरकने जहाँ एक ओर समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव और अहिंसाका उपदेश दिया है, तथा प्राणियोंके प्राणोंकी वृद्धि करनेवाले भावोंमें अहिंसाको उत्कृष्टतम बताया है, वहाँ दूसरी ओर रोगनिवृत्ति और स्वास्थ्यलाभके लिए मांसभक्षणका उपदेश देते हुए हिंसा-का समर्थन किया है। इसका उत्तर यह है चूंकि हिंसापूर्वक मांसभक्षणके प्रति मनुष्यका स्वाभाविक राग है, इसलिये आयुर्वेदके आचार्योंने किसी-किसी रोगमें मांसके हितकर होनेके कारण केवल उसका निर्देश किया है, हिंसात्मक मांसभक्षणका विधान नहीं किया है। इसी प्रकार उन्होंने स्वस्थवृत्त और रोगिचर्यामें मदिराकी पथ्यताका निर्देशमात्र किया है, मदिरापानका विधान नहीं किया है। मांस और मदिराके संयत सेवनका उपदेश रोगनिवृत्तिके उद्देश्य-से किया गया है, किन्तु हिंसाजन्य अधर्मका निषेध नहीं किया गया है। मांस और मद्यका सेवन करनेसे रोगी नीरोग भले ही हो जाय, किन्तु हिंसाजन्य अधर्मका भागी उसे अवश्य ही होना पड़ेगा। जिस प्रकार **'श्येनेनाभिचरन् यजेत'** इस श्रुतिवाक्यमें, अभिचारकी रागतः प्राप्ति होनेके कारण, श्येनयागको अभिचारका साधनमात्र बताया गया है, किन्तु श्येनके द्वारा अभिचार करनेसे जो अनिवार्यरूपसे अधर्म होता है, उसका निषेध नहीं किया गया है। मनुने भी प्रकारान्तरसे इस तथ्यको स्वीकार किया है—"प्राणियोंकी हिंसाके विना किसी भी प्रकारसे मांसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, और प्राणियोंकी हिंसा स्वर्गप्रद नहीं है, इसलिए मांसभक्षणका परित्याग करना चाहिए। न तो मांस-भक्षणमें कोई दोष है, न मद्यपानमें, और न मैथुनमें, क्योंकि इनके प्रति प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु इनसे निवृत्त होना महाफलदायक है।"[१] चक्रपाणिका कथन है कि यदि मनुष्यकी जीवनरक्षा मांसोपयोगके विना सम्भव न हो, तो **'सर्वत्रात्मानं गोपायीत'** इस श्रुतिवचनके अनुसार हिंसो-पार्जित मांसभक्षण करनेमें अधर्म नहीं होता है। हाँ, यदि मांसभक्षणके अतिरिक्त दूसरे उपाय भी जीवनरक्षाके लिए सम्भव हों, तो केवल शरीरकी पुष्टिके प्रयोजनसे की जानेवाली हिंसा अवश्य अधर्मजनक होती है। अथवा

---

१. **नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।**
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥—मनुस्मृति (५।४८, ५६)

आयुर्वेदमें हिंसाको यदि विहित भी माना जाय, तो भी उसे दोषसे मुक्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि आयुर्वेदकी विधियाँ मुख्यतया आरोग्यसाधनका उपदेश करती हैं, केवल धर्मसाधनका ही उपदेश नहीं करती हैं। जैसा कि सूत्रस्थान-(१।५३)में कहा गया है—इस आयुर्वेदतन्त्रका प्रयोजन धातुओंमें साम्य उत्पन्न करना है।

पूर्ण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए मनुष्यको इस सद्वृत्तका पूर्णरूपसे पालन करना चाहिए। "जो पुरुष इस यथोक्त स्वस्थवृत्तका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान करता है, वह सर्वदा नीरोग रहता हुआ पूरे सौ वर्षतक जीवित रहता है। साधुजनोंके मध्य प्रशंसित होता हुआ वह पुरुष सम्पूर्ण मनुष्यलोकको अपने निर्मल यशसे आपूरित कर देता है, धर्म और अर्थको प्राप्त करता है तथा प्राणिमात्रका बन्धु बन जाता है। वह पुण्यकर्मा पुरुष मरनेके अनन्तर पुण्यशालियोंके उत्कृष्ट लोकोंको प्राप्त होता है। इसलिए सभी-के द्वारा इस सद्वृत्तका अनुष्ठान सदा ही किया जाना चाहिए।"[१] यद्यपि सद्वृत्तका अनुष्ठान करनेपर भी, दैवके विपरीत होनेपर, सौ वर्षके पहले बीचमें ही मृत्यु हो सकती है, तथापि बलवान् दैवका अन्तराय न होनेपर सदाचारपरायण मनुष्य प्रायः सौ वर्षतक अवश्य ही जीता है। इसलिए **"प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति"** इस नियमसे उसे शतायु कहा गया है।

इस प्रकरणमें सद्वृत्तके अन्तर्गत जिन कर्मोंका सन्निवेश किया गया है, उन कर्मोंके अतिरिक्त और भी जो साधुसम्मत कर्म तथा आचरण हैं, जिनका धर्मशास्त्रोंमें विस्तारसे निरूपण किया गया है, उनको भी सद्वृत्तमें सङ्गृहीत कर लेना चाहिए। सूत्रस्थान(८।३३)में महर्षि आत्रेय कहते हैं—इस सद्वृत्तमें निरूपित कर्मोंके अतिरिक्त और भी जो अनुक्त साधुसम्मत पूज्य कर्म हैं, आत्रेय सदैव उनका भी अनुमोदन करता है।

आचार-रसायन

चिकित्सास्थानके प्रथमाध्यायमें स्वस्थपुरुषको ऊर्जा प्रदान करनेवाले रसायनोंका विधिवत् निरूपण किया गया है। सभी रसायनोंका निरूपण करके प्रकरणके अन्तमें कहा गया है कि आचाररसायनसे बढ़कर संसारमें कोई भी रसायन नहीं है। इतना ही नहीं, आचाररसायनके अभावमें दूसरे रसायन भी अपना प्रभाव नहीं दिखाते हैं और निष्फल हो जाते हैं। देखिए—"जो पुरुष सत्यवादी, क्रोधरहित, मद्य तथा मैथुनसे निवृत्त, मन वचन और कर्मसे हिंसा न करनेवाला, आयासरहित, प्रशान्त, प्रियभाषी, जप एवं शौचमें तत्पर,

---

१. स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा॥ —(सूत्र० ८।३०-३२)

धीर, नित्य दान करनेवाला, तपस्वी, देवता गौ ब्राह्मण आचार्य गुरु और वृद्धजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर, सदा क्रूरतासे रहित, सदा प्राणियोंके प्रति करुणाभाव रखनेवाला, जागरण और निद्राका समभावसे सेवन करनेवाला, प्रतिदिन दूध और घीका भोजन करनेवाला, देश काल और प्रमाणको जानने-वाला, युक्तिको समझनेवाला, अहङ्काररहित, प्रशस्त आचरणवाला, वर्ण-सङ्करताके दोषसे रहित, अध्यात्मकी ओर इन्द्रियोंके झुकाववाला, वृद्धपुरुषों आस्तिकों और जितेन्द्रियपुरुषोंकी उपासना (सङ्ग) करनेवाला तथा धर्मशास्त्र-के अनुसार अपनी जीवनचर्या बनानेवाला है, उस पुरुषको नित्य रसायनका सेवन करनेवाला समझना चाहिए। जो पुरुष इन प्रशस्तगुणोंकी सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर रसायनका प्रयोग करता है, वह रसायनके जितने गुण बताए गए हैं उन सभी गुणोंको सम्यग्रूपसे प्राप्त करता है। कोई भी प्राणी अपने शारीरिक और मानसिकदोषोंको विना दूर किए हुए रसायनके यथोक्तगुणोंको नहीं प्राप्त कर सकता है। आयुको अत्यन्तदीर्घ करनेवाले, तथा बुढ़ापे और बीमारीको नष्ट कर देनेवाले रसायनयोग उन्हीं पुरुषोंको सिद्ध होते हैं, जिनका शरीर और मन शुद्ध हो गया है, तथा जो संयमी और जितेन्द्रिय हैं।"[१] इससे सिद्ध होता है कि सदाचारसे बढ़कर संसारमें शारीरिक और मानसिक रोगों-को दूर करनेवाली न तो कोई भेषज है, तथा जरा और व्याधिको दूर करने-वाला एवं आयुकी वृद्धि करनेवाला कोई रसायन भी नहीं है।

नीरोग रहकर अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए मनुष्यको मनमें दुःख उत्पन्न करनेवाले जितने भी कारण हैं, उनको विशेषरूपसे बचाना चाहिए। तथा जो जो भाव हृदयके लिए हितकर हैं, हृदयको बल प्रदान करनेवाले हैं, ओजकी वृद्धि करनेवाले हैं और ओजोवह स्रोतोंको निर्मल बनानेवाले हैं,

---

१. सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्।
शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥
गुणैरेतैः समुदितः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते॥
यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्छारीरमानसान्।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन॥
योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः।
मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम्॥—(चिकित्सा० १।४।३०-३७)

उन उन भावोंका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शान्ति और तत्त्वज्ञानका भी प्रयत्नपूर्वक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।[1] जो मनुष्य प्राणिमात्रका हितैषी है, दूसरेके धनको नहीं चाहता है, सत्य बोलता है, शान्तिपरायण है, अच्छी तरह विचार करके कार्य करता है। प्रमादरहित है, एक दूसरेको बाधा न पहुँचानेवाले धर्म अर्थ और काम—इस त्रिवर्गका सेवन करता है, पूज्यजनोंकी पूजा (सम्मान) करता है, ज्ञान-विज्ञानमें तत्पर तथा मनको शान्त रखनेवाला है, वृद्धजनोंका सङ्ग करता है, राग रोष ईर्ष्या मद और मानके वेगोंपर अच्छी तरह नियन्त्रण रखता है, सदा विविध वस्तुओंका दान करता है, तप ज्ञान और मनःशान्तिमें सदा तत्पर रहता है, अध्यात्मतत्त्वको जानता है और उसीके चिन्तनमें लगा रहता है, इस लोक और परलोक दोनोंका ध्यान रखता है तथा स्मृति और बुद्धिसे युक्त है, ऐसे मनुष्यकी आयुको महर्षि चरकने हितायु कहा है, क्योंकि उससे सभीका हित ही होता है। इसके विपरीत होनेपर आयुको अहितायु कहा जाता है (सूत्र० ३०।२४; द्रष्टव्य पृष्ठ २० टि० १)।

जिन लोगोंका आचरण वाणी और मन पापपूर्ण हैं, जो चुगुलखोर हैं, कलहप्रिय (झगड़ालू) हैं, दूसरोंको मर्मवेदना पहुँचानेवाला उपहास करते हैं, लोभी हैं, दूसरेकी वृद्धिसे द्वेष करते हैं, धूर्त्त हैं, दूसरेकी निन्दा करनेमें रस लेते हैं, चञ्चल स्वभावके हैं, शत्रुओंका साथ देते हैं, निष्ठुर हैं और धर्मका त्याग कर चुके हैं, ऐसे नराधमोंके सङ्गसे बचना चाहिए। तथा जो लोग बुद्धि विद्या वय शील धैर्य स्मृति और चित्तकी एकाग्रतामें बढ़े-चढ़े हैं, वृद्ध-जनोंकी सेवा करते हैं, सभी वस्तुओंके अनित्य स्वभावको जानते हैं, शोकादि व्यथाओंसे रहित हैं, सभी प्राणियोंके समक्ष प्रसन्नमुख तथा अत्यन्तशान्त रहते हैं, व्रत-नियमका पालन करते हैं, सन्मार्गका उपदेश करते हैं तथा जिनका दर्शन और जिनके वचनोंका श्रवण पुण्यकारक है, ऐसे श्रेष्ठपुरुषोंका सेवन करना चाहिए।[2]

---

१. परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥
हृद्यं यत्स्याद्यदोजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम् ।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥ —(सूत्र० ३०।१३-१४)

२. पापवृत्तवचःसत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः ।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः ॥
परापवादरतयश्चपला रिपुसेविनः ।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥
बुद्धिविद्यावयःशीलधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः ।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥ —(सूत्र० ७।५६-५९)

व्यायाम

शरीरमें स्थिरता (दृढता) लानेके लिए और बलवर्धनके लिए शरीरकी जो चेष्टाएँ अभीष्ट होती हैं, उनको शारीरिक व्यायाम कहा जाता है। इसको समुचितमात्रामें ही करना चाहिए। व्यायामसे शरीरमें हल्कापन, काम करनेकी शक्ति, स्थिरता, और कष्ट सहन करनेकी क्षमता आती है, दोषोंका शमन होता है तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मात्रासे अधिक अतिव्यायाम करनेसे शरीरमें थकावट, मन और इन्द्रियोंमें ग्लानि, धातुओंका क्षय, तृष्णा, रक्त-पित्त, प्रतामक नामका श्वासरोग (दमा), कास (खाँसी), ज्वर और छर्दिरोग (वमन) उत्पन्न होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि व्यायाम, हास्य, भाषण, रास्ता चलना, सम्भोग और रात्रिजागरणका अभ्यास होनेपर भी अधिक मात्रामें सेवन न करे। जो पुरुष इन कर्मोंका तथा इसी प्रकारके दूसरे कर्मोंका अतिमात्रामें सेवन करता है, वह उसी प्रकार सहसा विनष्ट हो जाता है, जैसे अपने द्वारा मारे गए हाथीको खींचकर ले जानेवाला सिंह नष्ट हो जाता है।[1]

सुश्रुतसंहितामें भी कहा गया है—अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको सभी ऋतुओंमें प्रतिदिन अपने शरीरके आधे बलसे व्यायाम करना चाहिए। जब व्यायाम करते समय प्राणीके हृदयदेशमें स्थित वायु मुँहतक आने लगे, तो उसे ही बलार्द्धका लक्षण समझना चाहिए।[2] व्यायामका लक्षण प्रस्तुत करते हुए सुश्रुतमें कहा गया है—शरीरमें आयास उत्पन्न करनेवाले कर्मको व्यायामकी सञ्ज्ञा दी गई है। व्यायाम करके सम्पूर्ण शरीरको सुखपूर्वक खूब मसलना चाहिए। व्यायाम करनेसे शरीरमें वृद्धि, कान्ति, अवयवोंकी

---

१. शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देह[illegible]ख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥
लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥
श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते॥
व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया॥
एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते।
गजं सिंह इवाकर्षन् सहसा स विनश्यति॥ —(सूत्र० ७।३१-३५)

२. सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः।
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा॥
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्धस्य लक्षणम्॥
—सुश्रुत० (चिकित्सित० २४।४६-४८)

सुविभक्तता, अग्निका प्रदीप्त होना, आलस्यराहित्य, स्थिरता, लघुता, निर्मलता, श्रम क्लम पिपासा गर्मी-सर्दी इत्यादिको सहन करनेकी क्षमता तथा उत्कृष्ट आरोग्य प्राप्त होता है। मोटापेको खींचकर निकालनेवाला व्यायामके समान दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। व्यायामशील पुरुषको शत्रुलोग भयके कारण कष्ट पहुँचानेका साहस नहीं करते हैं। बुढ़ापा भी सहसा आक्रमण करके उसके ऊपर चढ़ नहीं बैठता है। व्यायाम करनेवालोंका मांस कस जाता है और मांसपेशियाँ सुगठित हो जाती हैं। जिसका शरीर व्यायामके द्वारा कूटा हुआ है और पैरोंके द्वारा खूब रौंदा गया है, उस पुरुषके पास रोग उसी प्रकार नहीं फटकते हैं, जैसे सिंहके पास छोटे-छोटे पशु जानेका साहस नहीं करते हैं। रूप वय और गुणोंसे हीन पुरुषको भी व्यायाम दर्शनीय बना देता है। स्निग्ध भोजन करनेवालोंके लिए व्यायाम सदा ही पथ्य होता है, किन्तु जाड़े और वसन्तमें पथ्यतम कहा गया है।[1]

भोजन करनेकी विधि

हाथमें विना रत्न धारण किए हुए, विना स्नान किए हुए, मैले या फटे वस्त्र पहने हुए, विना जप किए हुए, देवताओंको विना आहुति दिए हुए, माता-पिताको विना भोजन कराए हुए, गुरुओं अतिथियों और आश्रितोंको विना खिलाए हुए, विना पवित्रगन्ध और माला धारण किए हुए, हाथ पैर और मुँहको विना धोए हुए, अशुद्ध मुखसे, उत्तरकी ओर मुख करके, खिन्नमनसे, अभक्त अशिष्ट अपवित्र तथा भूखे परिजनोंके द्वारा प्रस्तुत किया हुआ, विना बरतनोंके अथवा अपवित्र बरतनोंमें परोसा हुआ, अनुचित स्थानपर, असमयमें, बहुत लोगोंकी भीड़में, अग्निको विना अग्रभाग (अगरासन) दिए हुए, प्रोक्षणोदकसे विना विधिपूर्वक प्रोक्षण किए हुए, मन्त्रोंसे विना अभिमन्त्रित किए हुए,

---

१. शरीरायासजननं कर्म व्यायामसञ्ज्ञितम्।
तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः॥
शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो भयात्॥
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति।
स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च॥
व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्त्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव॥
वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्।
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम्।
स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः॥

—सुश्रुत० (चिकित्सित० २४।३८-४५)

भोजनको कोसते हुए, तथा निन्दित और प्रतिकूल अन्नको नहीं ग्रहण करना चाहिए।[1] शरीरको स्थिति प्रदान करनेवाले पदार्थोंमें अन्नको, और आश्वासन (सान्त्वना) देनेवाले पदार्थोंमें जलको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[2] अन्नकी स्तुति करते हुए चरकमुनि सूत्रस्थान(२७।३५१-३५३)में कहते हैं—"अन्न प्राणियोंका प्राण है, क्योंकि प्राणकी स्थिति अन्नपर ही अवलम्बित है। सारा लोक अन्न-की ओर दौड़ रहा है। वर्ण प्रसन्नता सुस्वरता जीवन प्रतिभा सुख सन्तोष पुष्टता बल और मेधा(धारणावती बुद्धि)—ये सब अन्नके ही आश्रित हैं। जीवनयात्राके लिए जो कृषि इत्यादि कर्म हैं, स्वर्गकी प्राप्तिके लिए वेदोंमें जो यज्ञादिकर्म विहित किए गए हैं, और मोक्षकी प्राप्तिके लिए मोक्षशास्त्रमें जो सत्य और ब्रह्मचर्यादिकर्म बताए गए हैं, ये सभी कर्म अन्नमें प्रतिष्ठित हैं" (द्रष्टव्य पृष्ठ १६५ टि० २)। अन्नसे जीवित रहनेवाले शरीरके विना कोई भी कर्म नहीं हो सकता है, इसलिए अन्न ही जीवन स्वर्ग और अपवर्गका कारण है। अतः अन्नपर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मांस, हरितकवर्गमें गिनाए गए अदरख गाजर और मूली इत्यादि, पत्तियों-वाले सूखे हुए शाक, सूखे हुए फल (मेवे) तथा लड्डू इत्यादि भक्ष्यपदार्थोंको छोड़कर और कोई भी बासी भोजन नहीं करना चाहिए। दही शहद नमक सत्तू और घीको छोड़कर अन्य वस्तुओंको निःशेष नहीं खाना चाहिए, अर्थात् कुछ शेष छोड़ देना चाहिए। रात्रिके समय दही नहीं खाना चाहिए। विना घी और शर्करा मिलाए केवल सत्तू नहीं खाना चाहिए। सत्तुओंको न तो रात-में, न भोजन करके, न बहुत अधिक मात्रामें, न दो बार, न बीच-बीचमें पानी पीते हुए, और न दाँतोंसे काट-काटकर ही खाना चाहिए।[3]

मनुष्यको मात्राशी अर्थात् उपयुक्त परिमाणमें भोजन करनेवाला होना चाहिए। भोजनकी मात्रा जाठराग्निके बलकी अपेक्षासे निर्धारित करनी चाहिए।[4] जाठराग्निका बल उत्कृष्ट मध्यम और अल्पके भेदसे तीन प्रकार-का होता है। उसीके अनुसार भोजनकी मात्रा भी उत्कृष्ट मध्यम और अल्प

---

१. नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ता-शिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो नापात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्वाग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत। —(सूत्र० ८।२०)

२. अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठमुदकमाश्वासकराणाम्। —(सूत्र० २५।४०)

३. न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः। नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः। न नक्तं दधि भुञ्जीत। न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून्न द्विर्नोदकान्तरितान्न छित्वा द्विजैर्भक्षयेत्। —(सूत्र० ८।२०)

४. मात्राशी स्यात्। आहारमात्रापुनरग्निबलापेक्षिणी। —(सूत्र० ५।३)

होनी चाहिए। किन्तु अग्निबलकी अपेक्षासे किसीके लिए जो आहारमात्रा एक वार निर्धारित कर दी जाती है, वह हमेशाके लिए नहीं होती है। क्योंकि ऋतुभेद और अवस्थाभेदसे जाठराग्निका बल घटता बढ़ता रहता है। हेमन्त-ऋतुमें और युवावस्थामें जाठराग्निके बलमें वृद्धि हो जाती है और वर्षाऋतुमें तथा वृद्धावस्थामें उसका ह्रास होता है। इसलिए अग्निबलमें एकरूपता न होनेके कारण आहारमात्रामें भी एकरूपता नहीं हो सकती है। जितने परिमाणमें खाया हुआ भोजन प्रकृति(वातादि और रसादिकी साम्यावस्था)में किसी भी प्रकारका विकार उत्पन्न किए विना ठीक समयपर पच जाता है, उतना ही परिमाण उस भोक्ताके लिए उचित समझना चाहिए।[१] आमदोषको उत्पन्न करनेवाले कारणोंमें अधिक मात्रामें भोजन करना प्रधान बताया गया है। और अपने अग्निबलके अनुसार भोजन करनेको अग्नि प्रदीप्त करनेवाले हेतुओंमें मुख्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त अनशनको आयुका ह्रास करने-वाले हेतुओंमें, तथा अतिस्वल्प मात्रामें भोजन करनेको कृश करनेवाले हेतुओं-में सबसे प्रमुख माना गया है।[२] समुचित मात्रामें खाया गया आहार प्रकृति-का उपघात न करके उपयोक्ताको बल वर्ण सुख तथा आयुसे अवश्य ही संयुक्त करता है।[३]

जिस आहार-विहारके द्वारा स्वास्थ्य(आरोग्य)का अनुवर्त्तन हो, और अनुत्पन्न विकारों(रोगों)की उत्पत्ति न होने पाए, उस आहार-विहारका प्रति-दिन सेवन करना चाहिए।[४] रागके कारण अथवा अज्ञानसे आहारका उपयोग नहीं करना चाहिए। सर्वदा आहारकी परीक्षा करके और हिताहितका विचार करके हितकर आहारका ही सेवन करना चाहिए क्योंकि शरीर आहारजन्य है।[५] कुछ लोग किसी वस्तुको अहितकर जानते हुए भी रागके कारण खाते हैं, और कुछ लोग अज्ञानके कारण अहितकरको ही हितकर समझकर सेवन करते हैं। अतः राग और अज्ञान दोनोंका परित्याग करना चाहिए। त्याज्य अपथ्यका परित्याग करता हुआ विवेकी मनुष्य साधुपुरुषोंके ऋणसे मुक्त हो जाता है।[६]

---

१. यावद्ध्यस्याशितमशनमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति, तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।　　—(सूत्र० ५।४)

२. अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनाम्। यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम्। अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्। प्रमिताशनं कर्शनीयानाम्।　　—(सूत्र० २५।४०)

३. मात्रावद्ध्यशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तार-मवश्यमिति।　　—(सूत्र० ५।८)

४. तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥　　—(सूत्र० ५।१३)

५. न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारमुपयोजयेत्।
परीक्ष्य हितमश्नीयाद् देहो ह्याहारसम्भवः॥　　—(सूत्र० २८।४५)

६. प[illegible] सदा परिहरन्नरः।
भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः॥　　—(सूत्र० २८।४७)

विमानस्थान(१।२५)में आठ आहारविधिविशेषायतन बताए गए हैं। अर्थात् आहार करनेसे जो शुभ(हित) या अशुभ(अहित)की उत्पत्ति होती है, उसके आठ विशेषकारण हैं—प्रकृति करण संयोग राशि देश काल उपयोग-संस्था और उपयोक्ता। इन प्रकृत्यादिके कारण ही कोई आहार हितकर अथवा अहितकर होता है। इनकी परीक्षा करके ही आहारका उपयोग करना चाहिए।[१]

(१) **प्रकृति**—आहारद्रव्य अथवा औषधद्रव्यका जो स्वभाव होता है, उसे उसकी प्रकृति कहा जाता है। जैसे उर्द स्वभावसे गुरु और मूंग लघु होता है, तथा शूकरका मांस स्वभावसे गुरु और हिरनका मांस लघु होता है।[२]

(२) **करण**—अपने स्वाभाविकगुणोंसे युक्त द्रव्योंमें संस्कारके द्वारा अन्य गुणोंका आधान करना करण कहलाता है। ये अन्य गुण, जल और अग्निके संयोगसे, प्रक्षालन करनेसे, मन्थन करनेसे, देश और कालके संयोगसे, वासना और भावना इत्यादि क्रियाओंसे, कालके प्रकर्षसे, और पात्र इत्यादिके द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं (विमान० १।२७; द्रष्टव्य पृष्ठ २२८ टि० १)।

(३) **संयोग**—दो या दोसे अधिक द्रव्योंके परस्पर मिलनको संयोग कहते हैं। यह संयोग उस विशेषताको उत्पन्न करता है, जिसे अकेला द्रव्य नहीं उत्पन्न कर सकता है। जैसे मधु और घृतका संयोग मारक हो जाता है, जबकि न तो अकेला मधु मारक है और न अकेला घृत। इसी प्रकार शहद मछली और दूध—इनमेंसे कोई भी कुष्ठकारक नहीं है, किन्तु इन तीनोंका संयोग कुष्ठ उत्पन्न करता है।[३]

(४) **राशि**—सर्वग्रह और परिग्रहको राशि कहते हैं। सम्पूर्ण आहारके प्रमाणको साकल्येन ग्रहण करना सर्वग्रह है, और प्रत्येक द्रव्यके प्रमाणको अलग-अलग ग्रहण करना परिग्रह है। उपयुक्त मात्रामें प्रयुक्त आहार और औषधका जो शुभफल होता है और अनुचित मात्रामें प्रयुक्त आहारादिका जो अशुभफल होता है, उसका निश्चय राशिके द्वारा ही किया जाता है।[४]

(५) **देश**—स्थानको देश कहते हैं। यह द्रव्योंके उत्पत्ति प्रचार और देशसात्म्यका बोध कराता है (विमान० १।३०)। जैसे—हिमालयमें उत्पन्न

---

१. आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसञ्ज्ञकाः।
शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्योपयोजयेत्॥ —(सूत्र० २८।५६)

२. तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, तद्यथा माषमुद्गयोः शूकरैणयोश्च। —(विमान० १।२६)

३. संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः। स विशेषमारभते यं नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते। तद्यथा—मधुसर्पिषोः मधुमत्स्यपयसां च संयोगः। —(विमान० १।२८)

४. राशिस्तु खलु सर्वग्रहपरिग्रहौ मा[illegible] विनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः, परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकत्वेनाहारद्रव्याणाम्। —(विमान० १।२९)

होनेवाले द्रव्य गुणवान् होते हैं, और मरुभूमिमें उत्पन्न होनेवाले लघु होते हैं। प्रचारसे भी गुणोंमें भिन्नता उत्पन्न होती है। लघुपदार्थ खानेवाले, मरुभूमिमें विचरण करनेवाले, और बहुत क्रियाओंको करनेवाले पशु-पक्षियोंका मांस लघु होता है, तथा इसके विपरीत होनेपर गुरु होता है। देशज्ञानसे सात्म्यज्ञान भी होता है। जैसे—आनूपदेशके निवासियोंके लिए उष्ण और रूक्षद्रव्य सात्म्य होते हैं, और मरुभूमिके निवासियोंके लिए शीतल और स्निग्धपदार्थ सात्म्य होते हैं।

(६) **काल**—काल दो प्रकारका होता है—नित्यग और आवस्थिक। इनमें आवस्थिककाल बाल्ययौवनादि अवस्थाओंके अनुरूप विकारकी अपेक्षा रखता है, और अहोरात्रादिरूप नित्यगकाल ऋतुओंके अनुरूप ऋतुसात्म्यकी अपेक्षा रखता है (विमान० १।३१)। अतः अवस्थाभेदसे और ऋतुभेदसे आहारको व्यवस्थित करना चाहिए।

(७) **उपयोगसंस्था**—आहारके उपयोग करनेका जो नियम है, उसे उपयोगसंस्था कहते हैं। प्रधानरूपसे नियम यह है कि पूर्वभोजनके जीर्ण हो जानेपर ही अगला भोजन करना चाहिए (विमान० १।३२)।

(८) **उपयोक्ता**—जो उस आहारको ग्रहण करता है उसे उपयोक्ता कहते है। ओकःसात्म्य(अभ्याससात्म्य) इसीके अधीन होता है (विमान० १।३३)। जो आहार-विहार केवल अभ्यास करनेके कारण भोक्ताके लिए हितकर और सुखकर हो जाता है, उसे ओकःसात्म्य कहा जाता है (सूत्र० ६।४६)।

इस प्रकार इन प्रकृत्यादि विशेषोंके कारण ही कोई आहार शुभ अथवा अशुभफल प्रदान करता है। ये परस्पर उपकारक बनते हैं। इनको ठीक प्रकारसे समझना चाहिए और समझकर हितकर आहार-विहारका ही सेवन करनेकी इच्छा करनी चाहिए। मोह अथवा प्रमादके कारण, प्रिय लगनेवाले, किन्तु अहितकर, तथा परिणाममें दुःख देनेवाले आहार-विहारका सेवन नहीं करना चाहिए।

स्वस्थपुरुषोंके लिए तथा कुछ रोगियोंके लिए भी महर्षिचरकने भोजन-विधिका निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) **गरम खाना चाहिए**—गरम भोजन स्वादिष्ट लगता है, जाठराग्निको उद्दीप्त करता है, जल्दी पच जाता है, वायुका अनुलोमन करता है, और कफको सुखाता है।[१]

(२) **स्निग्ध भोजन करना चाहिए**। घृतादिसे स्निग्ध हुआ भोजन स्वादिष्ट लगता है, अनुदीर्ण अग्निको उदीर्ण करता है, जल्दी पच जाता है, वायुका

१. उष्णमश्नीयात्। उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातं चानुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति।
—(विमान० १।३७)

अनुलोमन करता है, इन्द्रियोंको दृढ बनाता है, शरीरकी और बलकी वृद्धि करता है, तथा वर्णको भी निर्मल कर देता है।[1]

(३) **उचितमात्रामें खाना चाहिए।** उचित मात्रामें खाया हुआ भोजन वात पित्त और कफको पीडित नहीं करता है, केवल आयुकी ही वृद्धि करता है, सुखपूर्वक गुदामार्गसे बाहर निकल जाता है, अन्तरग्निको बाधित नहीं करता है, और विना किसी कष्टके पच जाता है।[2]

(४) **पूर्वभुक्त भोजनके पच जानेपर ही खाना चाहिए।** विना पचे हुए ही खानेवालेका खाया हुआ आहार पूर्वकृत आहारके अपरिणत रसको परवर्ती आहारके रसके साथ संसृष्ट करता हुआ सम्पूर्णदोषोंको शीघ्र ही प्रकुपित कर देता है। किन्तु पूर्वभोजनके जीर्ण हो जानेपर, वातादि दोषोंके अपने-अपने स्थानमें स्थित होनेपर, अग्निके उद्दीप्त होनेपर, भूख लगनेपर, स्रोतोंका मुँह खुल जानेपर, डकार और हृदयदेशके विशुद्ध होनेपर, वायुके अनुलोम होनेपर, तथा अपानवायु मल और मूत्रके आवेगोंका परित्याग कर देनेपर जो भोजन किया जाता है, वह शरीरकी किसी भी धातुको दूषित न करता हुआ केवल आयुकी ही वृद्धि करता है।[3] ग्रहणीको दूषित करनेवाले हेतुओंमें अजीर्ण-भोजनको प्रधानता दी गई है—**"अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम्"** (सूत्र० २५।४०)।

(५) **जो भोजन वीर्यविरुद्ध न हो, उसीको खाना चाहिए।** अविरुद्धवीर्य-वाले भोजनको करता हुआ मनुष्य विरुद्धवीर्यवाले भोजनसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका शिकार नहीं बनता है।[4] कुष्ठादि निन्दित व्याधियोंको उत्पन्न करने-वाले हेतुओंमें वीर्यविरुद्ध आहारको प्रथमस्थान दिया गया है—**"विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणाम्"** (सूत्र० २५।४०)।

---

१. **स्निग्धमश्नीयात्। स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्नि-मुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोतीन्द्रियाणि, शरीरोपचयं बलाभिवृद्धिं चोपजनयति, वर्णप्रसादमपि चाभिनिर्वर्तयति।** —(विमान० १।३८)

२. **मात्रावदश्नीयात्। मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानपीडयदायुरेव विवर्ध-यति केवलम्, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथं च परि-पाकमेति।** —(विमान० १।३९)

३. **जीर्णेऽश्नीयात्। अजीर्णे तु भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे, जातायां च बुभुक्षायां, विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु, विशुद्धे चोद्गारे, हृदये विशुद्धे, वातानुलोम्ये, विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातून-प्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्।** —(विमान० १।४०)

४. **वीर्याविरुद्धमश्नीयात्। अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि न विरुद्धवीर्याहारजैर्विका-रैरुपसृज्यते।** —(विमान० १।४१)

(६) **मनके अनुकूल स्थानपर तथा अभीष्ट उपकरणोंसे सम्पन्न होकर भोजन करना चाहिए।** अपने अभिमत स्थानपर भोजन करता हुआ मनुष्य, अनिष्ट स्थानपर होनेवाले, मनको खराब करनेवाले जुगुप्सादिभावोंसे आक्रान्त नहीं होता है। यही बात मनोऽनुकूल उपकरणोंके साथ भी होती है।

(७) **बहुत जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिए।** जल्दी-जल्दी खानेवालेका खाया हुआ अन्न अपना मार्ग छोड़कर उन्मार्गसे जाने लगता है, अवसाद उत्पन्न करता है, तथा आमाशयमें ठीकसे प्रतिष्ठित नहीं होता है, अर्थात् वमनादिके द्वारा निकल जाता है। इसके अतिरिक्त भोज्यपदार्थके दोषों और गुणोंकी उपलब्धि भी निश्चितरूपसे नहीं हो पाती है।

(८) **बहुत धीरे-धीरे भी नहीं खाना चाहिए।** बहुत धीरे-धीरे खानेवालेकी तृप्ति ही नहीं होती है, और बहुत अधिक खा जाता है। भोजन भी ठण्डा हो जाता है, तथा पचनेमें अड़चन होती है।

(९) **भोजन करते समय न तो बातचीत करना चाहिए और न हँसना चाहिए, प्रत्युत एकाग्रचित्त होकर भोजन करना चाहिए।** बातचीत करते हुए, हँसते हुए तथा चञ्चल मनसे भोजन करनेसे वे ही दोष उत्पन्न होते हैं, जो अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक खानेसे होते हैं।

(१०) **अपनेको सम्यक्तया परखकर भोजन करना चाहिए।** यह वस्तु मेरे लिए हितकर है और यह वस्तु हितकर नहीं है, ऐसा स्वयं विचार करके जो अन्न खाया जाता है, वह अपने लिए सात्म्य हो जाता।[१] जो भोजन और जो चेष्टाएँ अपने लिए सात्म्य हों, उनको सेवनीय कर्मोंमें प्रधानता दी गई है—**"यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारावुपसेव्यानाम्"** (सूत्र० २५।४०)।

इसी प्रकार **बँधे हुए समयपर ही नियमित रूपसे भोजन करना चाहिए,** क्योंकि आरोग्यकारक भावोंमें कालभोजनको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—**"कालभोजनमारोग्यकराणाम्"** (सूत्र० २५।४०)। मनुष्यको विषमभोजनसे अवश्य ही बचना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकृतिकरणादि अष्टविध हेतुओंकी विषमतासे, तथा **'उष्णमश्नीयात्'** इत्यादि नियमोंकी अवहेलना करके जो भोजन किया जाता है, उसे विषमभोजन कहते हैं। जाठराग्निमें वैषम्य उत्पन्न करनेवाले

---

१. इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्। इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति। तथैवेष्टैश्च सर्वोपकरणैः। नातिद्रुतमश्नीयात्। अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसदनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं च, भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता। नातिविलम्बितमश्नीयात्। अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु च भुङ्क्ते, शीतीभवति चाहारजातं, विषमं च पच्यते। अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत। जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति, य एवातिद्रुतमश्नतः। आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्। इदं ममोपशेते इदं नोपशेत इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति।

—(विमान० १।४२-४६)

हेतुओंमें विषमभोजनको सबसे बढ़कर बताया गया है—**"विषमाशनमग्निवैषम्यकराणाम्"** (सूत्र० २५।४०)। शोष अर्थात् फेफड़ेमें होनेवाले क्षयरोग (राजयक्ष्मा)-के जो चार हेतु बताए गए हैं, उनमें एक हेतु विषमाशन भी है।[1] इसलिए आचार्यका उपदेश है—"विषमभोजनसे उत्पन्न होनेवाले अनेक रोगों और बहुत से कष्टोंको देखते हुए बुद्धिमान् मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह जितेन्द्रिय बनकर हितकर भोजन करे, परिमित भोजन करे, और समयपर भोजन करे।"[2]

महर्षिने जप होम और दानादिके समान भोजनको भी एक धार्मिक क्रियाके रूपमें प्रतिष्ठापित किया है—"मनुष्यको चाहिए कि भोजनकी मात्रा और कालका ध्यान रखते हुए एकाग्रतापूर्वक हितकर अन्नपानरूपी समिधाओं-के द्वारा अन्तरग्निमें नित्य नियमितरूपसे हवन करता रहे। नित्य हवन करने-वाला जो आहिताग्नि पुरुष अपनी अन्तरग्निमें भी सदा पथ्यभोजनकी आहुति देता रहता है, प्रतिदिन प्रणवका जप करता है और यथाशक्ति दान देता है, कल्याणके साधनमें लगे हुए तथा भोजन-पानके विषयमें सात्म्यको जाननेवाले उस पुरुषको कारणका अभाव होनेसे भविष्यमें कोई भी रोग नहीं सताता है। सदा हितकर भोजन करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष सत्पुरुषोंका प्रशंसापात्र बनकर छत्तीस हजार रात्रियोंतक (अर्थात् सौ वर्षतक) नीरोग होकर जीवित रहता है।"[3] अपथ्यसेवन और अधर्म—रोगके यही दो कारण हैं। इन दोनों कारणों-का अभाव होनेसे इस प्रकारका मनुष्य कभी बीमार नहीं पड़ता है। खाया हुआ भोजन अधर्मरहित शरीरको ही उपचय बल और वर्णादिसे सम्पन्न करता है। अधर्मयुक्त शरीरमें सम्यग् अशितादि भी विफल हो जाते हैं।

अधारणीय वेग

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह मूत्र पुरीष वीर्य अपानवायु वमन छींक डकार हिचकी जमुहाई भूख प्यास आँसू (रुलाई) और निद्राके वेगोंको

---

१. इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति, तद्यथा—साहसं सन्धारणं क्षयो विषमाशनमिति। —(निदान० ६।३)

२. हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥ —(निदान० ६।१२)

३. हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥
आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने।
भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यन्तरादृते॥
षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्॥ —(सूत्र० २७।३४७-३५०)

तथा परिश्रमके कारण उत्पन्न होनेवाले श्वासके वेगको न रोके।[१] इन वेगोंको रोकनेसे जिन विविध रोगोंकी उत्पत्ति होती है, उनका नवेगान्धारणीयाध्यायमें विस्तारसे निरूपण किया गया है। आरोग्यका विनाश करनेवाले हेतुओंमें वेगधारण सबसे मुख्यहेतु कहा गया है—**"वेगसन्धारणमनारोग्यकराणाम्"** (सूत्र० २५।४०)। शोष(राजयक्ष्मा)के चतुर्विध हेतुओंमें वेगसन्धारणको भी गिनाया गया है। "जब कोई पुरुष, राजा स्वामी अथवा गुरुके चरणोंमें बैठा होता है, अथवा द्यूतसभामें, अथवा सज्जनोंकी किसी गोष्ठीमें, अथवा स्त्रियोंके मध्य प्रवेश करता है, अथवा ऊँची-नीची सवारियोंसे यात्रा करता है, तो उस समय भयके कारण, अथवा द्यूतादिका प्रसङ्ग होनेके कारण, अथवा लज्जालु होनेके कारण, अथवा जुगुप्साके कारण वात मूत्र और पुरीषके आए हुए वेगोंको दबाकर रोक लेता है। जिसके फलस्वरूप वायु प्रकुपित हो जाता है। प्रकुपित होकर पित्त तथा कफको प्रेरित करके शरीरमें ऊपर-नीचे आड़े-तिरछे सब प्रकारसे विचरण करने लगता है। जिससे शरीरमें नाना प्रकारके उपद्रव और पीडाएँ होने लगती हैं। तब शरीरको सुखानेवाले इन उपद्रवोंसे आक्रान्त होकर वह पुरुष शनैः शनैः सूखता चला जाता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि अपने शरीरका योग-क्षेम करनेवाले भावोंका सम्पादन करनेके लिए विशेषरूपसे प्रयास करे, क्योंकि शरीर ही पुरुषका मूल है, पुरुष शरीररूपी मूलवाला होता है।[२]

सन्धारणीय वेग

अब उन वेगोंको भी समझ लेना चाहिए, जिनका निग्रह करनेसे मनुष्यका सब प्रकारसे कल्याण होता है। "जो मनुष्य इस लोकमें और मरनेके बाद परलोकमें अपना हित चाहता है, उसे सभी प्रकारके साहसिक कर्मोंको करनेके लिए, तथा मन वाणी और शरीरसे होनेवाले निन्दनीय कर्मोंको करनेके लिए मनमें जो आवेग उठते हैं, उनका बलपूर्वक दमन कर देना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्यको मनमें उठनेवाले लोभ शोक भय क्रोध मान निर्लज्जता ईर्ष्या अतिराग और अभिध्या(दूसरेकी सम्पत्तिके लिए ललचाने)के वेगोंको

---

१. न वेगान् धारयेद्धीमान् जातान् मूत्रपुरीषयोः।
न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः।
न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च॥ —(सूत्र० ७।३-४)

२. यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तृसमीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसभामन्यं वा सतां समाजं स्त्रीमध्यं वा समनुप्रविश्य यानैर्वाप्युच्चावचैरभियान् भयात् प्रसङ्गाद् ह्रीमत्त्वाद् घृणित्वाद्वा निरुणद्ध्यागतान् वातमूत्रपुरीषवेगान्, तदा तस्य सन्धारणाद्वायुः प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ समुदीर्योर्ध्वमधस्तिर्यक्च विहरति। ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरेष्वेव योगक्षेमकरेषु प्रयतेत विशेषेण, शरीरं ह्यस्य मूलम्, शरीरमूलश्च पुरुषो भवति।
—(निदान० ६।७)

रोकना चाहिए। जो वचन कठोर, बहुत अधिक, सूचक, अनृत तथा अप्रासङ्गिक हों, उनको कहनेके लिए, परस्त्रीके साथ सम्भोग करनेके लिए, दूसरेका द्रव्य चोरीसे या बलपूर्वक छीननेके लिए, तथा प्राणियोंकी हिंसा करनेके लिए शरीरकी जो निन्दनीय प्रवृत्ति होती है, उसके वेगको रोक देना चाहिए। इस प्रकार मन वाणी और शरीरसे पापरहित हो जानेके कारण वह पुण्यशाली पुरुष धर्म अर्थ और कामका सुखपूर्वक उपभोग करता है, तथा आगेके लिए इनका सञ्चय भी करता है।"[1]

दाम्पत्यधर्म

स्त्रीका अपमान नहीं करना चाहिए। इनका अधिक विश्वास भी नहीं करना चाहिए। इन्हें अपनी गोपनीय बातें नहीं सुनाना चाहिए, और इनको सर्वत्र अधिकार भी नहीं देना चाहिए। जो स्त्री रजस्वला हो, रोगिणी हो, अपवित्र हो, कुष्ठादिसे पीडित होनेके कारण अप्रशस्त हो, अभीष्टरूप आचार एवं उपचारसे रहित हो, रतिक्रियामें चतुर न हो, अपने अनुकूल न हो, कामवासनासे रहित हो अथवा आपको चाहती न हो, दूसरे पुरुषकी कामना रखती हो, दूसरेकी पत्नी हो, उसके साथ सम्भोग नहीं करना चाहिए। नारीके अतिरिक्त किसी अन्य पशु इत्यादिकी योनिमें मैथुन नहीं करना चाहिए। योनिके अतिरिक्त किसी अन्य छिद्रमें मैथुन नहीं करना चाहिए। चैत्य चत्वर चतुष्पथ और उपवन इत्यादि सार्वजनिक स्थानोंमें, श्मशानभूमि और वधस्थानपर, पानीके भीतर, औषधालय और देवमन्दिरमें, तथा ब्राह्मण और गुरुके भवनमें स्त्रीसहवास नहीं करना चाहिए। दोनों सन्ध्याकालोंमें, अत्यधिक मात्रामें, पूर्णिमादि निषिद्ध तिथियोंमें, अशौचकी अवस्थामें, वाजीकरण औषधका विना सेवन किए हुए, विना सङ्कल्पके, विना प्रहर्ष(ध्वजोच्छ्राय)के, विना भोजन किए हुए, बहुत अधिक भोजन किए हुए, विषमरूपसे स्थित होकर, मल-मूत्रके आवेगसे पीडित होकर, परिश्रम व्यायाम उपवास और क्लान्तिका मारा हुआ होकर,

---

१. इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्॥
लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्॥
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्॥
देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्॥
पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥ —(सूत्र ७।२६-३०)

तथा विना एकान्तस्थानके स्त्रीप्रसङ्ग नहीं करना चाहिए।[१] मनुष्यको श्रीहीन कर देनेवाले जितने भी कारण हैं, उनमें सबसे प्रमुख है—रजस्वला स्त्रीके साथ मैथुन करना। स्त्रियोंके साथ अत्यधिक मात्रामें मैथुन करना क्षयरोगके कारणोंमें सर्वप्रधान है। विना सङ्कल्प किए हुए मैथुन नहीं करना चाहिए, क्योंकि मनुष्यको वृषता प्रदान करनेवाले कारणोंमें सङ्कल्प(मैथुनेच्छा)को तथा अवृष्यकारणोंमें दुर्मनस्ता(मनके दुःखी होने)को प्रथमस्थान दिया गया है।[२]

पत्नीके साथ सहवास करनेकी विधि शारीरस्थानके जातिसूत्रीयनामक अध्यायमें विस्तारसे वर्णित हुई है—रजोदर्शनके दिनसे लेकर तीन रात्रितक स्त्रीको ब्रह्मचारिणी रहना चाहिए। भूमिपर सोना चाहिए। विना फूटे हुए बरतनमें हाथोंसे भोजन करना चाहिए। इन दिनोंमें उबटन स्नान इत्यादि किसी प्रकारकी शरीरशुद्धि नहीं करनी चाहिए। उसके बाद चौथे दिन स्त्रीको उबटन लगवाकर शिरसे स्नान करवाना चाहिए और श्वेतवस्त्र पहनाना चाहिए। इसी प्रकार पुरुषको भी उबटन स्नान करवाकर श्वेतवस्त्र पहनाना चाहिए। तदनन्तर श्वेतवस्त्र पहने हुए, माला धारण किए हुए, प्रसन्न मनवाले, तथा एक दूसरेकी कामना करनेवाले उन दोनोंको सहवास करनेकी अनुमति देनी चाहिए। दम्पति यदि पुत्र प्राप्त करना चाहते हों, तो स्नानके दिनसे युग्म दिनोंमें, और यदि कन्या चाहते हों, तो अयुग्म दिनोंमें सहवास करना चाहिए।[३]

नीचेकी ओर मुँह करके लेटी हुई अथवा करवटसे लेटी हुई स्त्रीसे मैथुन नहीं करना चाहिए। अधोमुखी स्त्रीका वायु बलवान् होता है, वह योनिको पीडित करता है। करवटसे लेटी हुई स्त्रीके दक्षिणपार्श्वमें श्लेष्मा होता है, वह च्युत होकर गर्भाशयको आवृत कर लेता है, तथा वामपार्श्वमें पित्त होता है, वह पीडित होकर उसके रक्त और शुक्र दोनोंको जलाने लगता है। इसलिए स्त्रीको उत्तान होकर अर्थात् चित लेटकर बीज ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करनेसे वातादिदोष अपने-अपने स्थानपर ही स्थित रहते हैं। सम्भोग समाप्त हो जाने-

---

१. न स्त्रियमवजानीत, नातिविश्रम्भयेत्, न गुह्यमनुश्रावयेत्, नाधिकुर्यात्। न रजस्वलां नातुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षां नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यस्त्रियं नान्ययोनिं नायोनौ न चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरालयेषु न सन्ध्ययोर्नाति न निषिद्धतिथिषु नाशुचिर्नाजग्धभेषजो नाप्रणीतसङ्कल्पो नानुपस्थितप्रहर्षो नाभुक्तवान्नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रमव्यायामोपवासक्लमाभिहतो नारहसि व्यवायं गच्छेत्। —(सूत्र० ८।२२)

२. रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानाम्, स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकाराणाम्, सङ्कल्पो वृष्याणाम्, दौर्मनस्यमवृष्याणाम्। —(सूत्र० २५।४०)

३. पुष्पात्प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमजर्जरात् पात्राद् भुञ्जाना च। न च काञ्चिन्मृजामापद्येत। ततश्चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत्, पुरुषं च। ततः शुक्लवाससौ स्रग्विणौ सुमनसावन्योऽन्यमभिकामौ संवसेयाताम्, स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहःसु पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ। —(शारीर० ८।५)

पर स्त्रीके ऊपर शीतल जल छिड़कना चाहिए। जो स्त्री अत्यधिक भोजन किए हुए हो, भूखी, प्यासी, डरी हुई, उदास, शोकार्त्त और क्रुद्ध हो, दूसरे पुरुषको चाहती हो, अथवा मैथुनके लिए अत्यधिक कामना रखती हो, वह स्त्री या तो गर्भ ही नहीं धारण करती है, अथवा गुणहीन सन्तानको जन्म देती है। अत्यन्त कम उम्रवाली, अत्यन्त बूढ़ी, दीर्घकालसे रोगिणी, अथवा किसी अन्य विकारसे पीडित स्त्रीके साथ मैथुन नहीं करना चाहिए। पुरुषमें भी ये ही दोष वर्जनीय होते हैं। इसलिए सर्वदोषविनिर्मुक्त स्त्री-पुरुषको ही परस्पर संसृष्ट होना चाहिए।[१]

जब स्त्री और पुरुष दोनोंही प्रहर्ष(मैथुनेच्छा)से युक्त हों और सहवास करनेके लिए एक दूसरेके अनुकूल हों, तब अपने मनोऽनुकूल सुगन्धोंसे युक्त सुखदायक शय्याको अच्छी तरहसे बिछाकर, रुचिकर और हितकर भोजन करके, किन्तु अधिक भोजन न करके, दाहिने पैरसे पुरुषको और बाएँ पैरसे स्त्रीको पलँगपर चढ़ना चाहिए। उस समय इस मन्त्रका विनियोग करना चाहिए—'तुम सूर्य हो, तुम आयु हो, तुम सभी ओरसे मेरी प्रतिष्ठा हो, धाता तुम्हें सँभाले, विधाता तुम्हें सँभाले, तुम ब्रह्मतेजसे युक्त हो जाओ। ब्रह्मा बृहस्पति विष्णु चन्द्रमा सूर्य अश्विनीकुमार भगदेवता तथा मित्रावरुण मुझे वीरपुत्र प्रदान करें।' यह मन्त्र पढ़कर दोनोंको सहवास करना चाहिए।[२]

अध्ययन और अध्यापनकी विधि

जो बुद्धिमान् पुरुष भिषग् बननेकी इच्छा रखता हो, उसे सर्वप्रथम परीक्षा करके अपने अध्येय शास्त्रका चयन करना चाहिए और उसके अनन्तर परीक्षा करके आचार्यका वरण करना चाहिए, क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको समझनेमें आचार्यसे बढ़कर कोई दूसरा हेतु नहीं है—"**आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्**"(सूत्र० २५।४०)। शास्त्रमें जिन गुणोंको प्रशंसनीय माना जाता है, उनका निरूपण

---

१. न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान्, स योनिं पीडयति। पार्श्वगतायाः दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा, स च्युतः पिदधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं, तदस्याः पीडितं विदहति रक्तं शुक्रं च। तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्। तथा हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्। तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्त्ता क्रुद्धान्यं च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा न गर्भं धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति। अतिबालामतिवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत्। पुरुषेऽप्येत एव दोषाः। अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृजेयाताम्। —(शारीर० ८।६–७)

२. सञ्जातहर्षौ मैथुने चानुकूलाविष्टगन्धं स्वास्तीर्णं सुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनमशित्वा नात्यशितौ दक्षिणपादेन पुमानारोहेत् वामपादेन स्त्री। तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत—"अहिरसि, आयुरसि, सर्वतः प्रतिष्ठासि, धाता त्वा दधातु, विधाता त्वा दधातु, ब्रह्मवर्चसा भव" इति। "ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ। भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे॥" इत्युक्त्वा संवसेयाताम्। —(शारीर० ८।८-९)

आप्तोपदेशप्रमाणके प्रकरणमें (पृष्ठ ५७ पर) किया जा चुका है।

आचार्यपरीक्षा—आयुर्वेदके आचार्यमें जिन प्रशस्त गुणोंका होना अनिवार्य माना गया है, वे इस प्रकार हैं—जिसका शास्त्रीयज्ञान निर्मल हो, जिसने चिकित्साकर्मका प्रत्यक्षदर्शन किया हो और चिकित्साकर्ममें कुशल हो, अनुकूल हो, पवित्र हो, (शल्यक्रियामें) जिसका अपने हाथपर अधिकार हो, जिसके पास चिकित्साके सभी उपकरण हों, जो सब इन्द्रियोंसे युक्त हो, रोग और रोगीकी प्रकृतिको समझता हो, प्रतिपत्ति (चिकित्साविधि) को जानता हो, शास्त्रान्तरोंके अभ्यास-से जिसने अपनी विद्याको अलङ्कृत किया हो, जो अहङ्कार असूया और क्रोधसे रहित हो, क्लेशको सहनेवाला हो, शिष्योंके प्रति वात्सल्यभाव रखता हो, सुयोग्य अध्यापक हो और विषयको समझानेमें समर्थ हो, उसे ही अपने आचार्यके रूपमें वरण करना चाहिए। इन गुणोंवाला आचार्य उत्तमशिष्यको वैद्यके गुणोंसे शीघ्र ही सम्पन्न कर देता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतुमें बरसने-वाला मेघ अच्छे खेतको शस्यगुणोंसे सम्पन्न कर देता है।[1] उन प्रशस्तगुण-सम्पन्न आचार्यके समीप जाकर उनकी आराधना करनेकी इच्छासे पुरुषको प्रमादरहित होकर उनको अग्निके समान, देवताके समान, राजाके समान, पिताके समान और स्वामीके समान समझते हुए उनकी सेवा करनी चाहिए। तदनन्तर उनकी कृपासे सम्पूर्णशास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके, उसको दृढ बनानेके लिए, उसका कथन करनेमें सौष्ठव लानेके लिए, अर्थको ठीकसे समझनेके लिए, और अपनी वाक्शक्तिका विकास करनेके लिए बार-बार समुचित प्रयास करना चाहिए (विमान० ८।५)।

अध्ययनविधि—स्वस्थपुरुषको बँधे हुए समयपर प्रातःकाल अथवा कुछ रात्रि शेष रहनेपर शय्यासे उठकर, शौचादि आवश्यक कृत्य करके, जलसे स्नान करके, देवता ऋषि गौ ब्राह्मण गुरुजन वृद्धजन सिद्धपुरुष और आचार्यों-को प्रणाम करके, समतल और पवित्र स्थानपर सुखपूर्वक बैठकर, एकाग्रमनसे शास्त्रके अर्थतत्त्वमें प्रवेश करके तथा उसे ठीकसे समझकर, वाणीके द्वारा सूत्रोंका पाठ करते हुए बार-बार दोहराना चाहिए। इससे अपने अध्ययनमें होनेवाले दोषोंका परिहार होता है, और दूसरोंके अध्ययनगत दोषोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार मध्याह्नमें, अपराह्णमें, और रात्रिमें अध्ययनकी अवहेलना न करते हुए सदैव अभ्यास करना चाहिए।[2]

---

१. पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति। एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति।
—(विमान० ८।४)

२. कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्युषं वा कृत्वावश्यकमुपस्पृश्योदकं देवर्षि-गोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरस्सराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्तयेद् बुद्ध्वा सम्यगनु-प्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं परदोषप्रमाणार्थं च। एवं मध्यन्दिने-ऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येदित्यध्ययनविधिः।
—(विमान० ८।७)

बेमौसम बिजली चमकनेपर, दिशाओंके प्रज्वलित होनेपर, आस-पास कहीं अग्नि लग जानेपर, भूकम्पके समय, महोत्सवके समय, उल्कापात होने-पर, सूर्य और चन्द्रमामें ग्रहण लगनेपर, जिस तिथिमें चन्द्रदर्शन न हो अर्थात् अमावस्या और प्रतिपदामें, तथा दिन और रात्रिके सन्धिकालोंमें अध्ययनका अभ्यास नहीं करना चाहिए। विना गुरुमुखसे सुने हुए, बीचमें कुछ वर्णोंको छोड़ते हुए, अधिक मात्रामें, रूक्ष स्वरसे, अशुद्ध स्वरसे, पदोंकी व्यवस्थाके विना, बहुत जल्दी-जल्दी, बहुत धीरे-धीरे, अत्यन्तक्षीण स्वरसे, अत्यन्त ऊँचे स्वरसे, तथा अत्यन्त नीचे स्वरसे अध्ययनका अभ्यास नहीं करना चाहिए (सूत्र० ८।२४)।

अध्यापनविधि—जब आचार्य अध्यापन करनेका निश्चय कर लें, तो उन्हें सर्वप्रथम शिष्यकी परीक्षा करनी चाहिए। जो शिष्य प्रशान्त हो, आर्योंके समान स्वभाववाला हो, क्षुद्रकर्म न करता हो, जिसकी आँख मुख और नासिकामें ऋजुता हो, जिह्वा पतली लाल और निर्मल हो, दाँतों और ओष्ठों-में किसी प्रकारका विकार न हो, जो मिनमिनाकर न बोलता हो, धृतिसम्पन्न अहङ्काररहित और मेधावी हो, वितर्क तथा स्मृतिसे युक्त हो, उदारहृदय हो, आयुर्वेदज्ञ विद्वानोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हो अथवा उनके समान आचरणवाला हो, तत्त्वग्रहणमें जिसका अभिनिवेश हो, जो अविकल अङ्गोंवाला, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त, विनीत, अनुद्धत, अर्थतत्त्वपर विचार करनेवाला, क्रोध और व्यसनसे रहित, शील शौच आचार अनुराग दक्षता और अनुकूलतासे सम्पन्न तथा अध्ययनके लिए इच्छुक हो, जो शास्त्रके अर्थको समझनेमें तथा चिकित्सा-कर्मको देखनेमें अनन्यभावसे तत्पर हो, लोभहीन, आलस्यरहित, समस्त प्राणियोंका हितैषी, आचार्यके सभी अनुशासनोंका पालन करनेवाला तथा गुरुभक्त हो, इस प्रकारके गुणोंसे युक्त शिष्यको पढ़ाने योग्य कहा गया है (विमान० ८।८)।

जब इस प्रकारका कोई शिष्य अध्ययन करनेकी इच्छासे आचार्यके पास उपस्थित हो, तो आचार्यको उससे कहना चाहिए—तुम उत्तरायणकालमें शुक्ल पक्षमें, प्रशस्ततिथि और वारमें, तिष्य(पुष्य) हस्त श्रवण और अश्विनी नक्षत्रोंमें से किसी एक नक्षत्रके साथ कल्याणकर भगवान् चन्द्रमाका योग होनेपर, कल्याणकर करणमें, अनुकूल मुहूर्त्तमें, अपना मुण्डन कराकर, उपवास और स्नान करके, काषायवस्त्र धारण करके, हाथमें सुगन्धितद्रव्य लिए हुए, समिधा, अग्नि, घृत, अगुरु और कुंकुम इत्यादि उपलेपन द्रव्य, जलपूर्ण घट, पुष्पमाला, सूत्र, दीपक, हिरण्य, सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मूँगा, रेशमी वस्त्र, परिधि अर्थात् हवनकुण्डके चारो पार्श्वोंमें रखने योग्य हाथभर लम्बे पलाशादिके दण्ड, कुश, लाजा, सरसों, अक्षत, गूँथे हुए तथा विना गूँथे हुए श्वेतपुष्प, पवित्र खाद्यपदार्थ, और घिसे हुए गन्धद्रव्योंको लेकर हमारे पास उपस्थित होना (विमान० ८।६)। तब उस शिष्यको वैसा ही करना चाहिए।

पूर्वोक्तविधिसे अध्ययनार्थी शिष्यके उपस्थित होनेपर, पूर्व अथवा उत्तरकी ओर ढालवाले समतल और पवित्र स्थानमें, चार हाथ लम्बे और चार हाथ चौड़े चौकोर भूमिखण्डको गोबर और पानीसे लीपकर, उसके ऊपर कुश

बिछाकर, चारों ओर परिधियोंसे अच्छी तरह परिवेष्टित करके, यथोक्त चन्दन जलकुम्भ रेशमीवस्त्र हिरण्य सुवर्ण रजत मणि मुक्ता और प्रवालादिसे अलङ्कृत करके, पवित्र भोज्यपदार्थ, सुगन्ध, श्वेतपुष्प, लाजा, सरसों और अक्षतादिसे सजाकर, वहाँपर पलाश इङ्गुदी गूलर अथवा महुएकी समिधाओंके द्वारा अग्निका आधान करके, पवित्र होकर, पूर्वाभिमुख बैठकर, अध्ययनविधि-(वेदारम्भविधि)के अनुसार आशीर्वादात्मक मन्त्रोंसे ब्रह्मा अग्नि धन्वन्तरि प्रजापति अश्विनीकुमार इन्द्र और सूत्रकार महर्षियोंको अभिमन्त्रित करते हुए, **'ब्रह्मणे स्वाहा'** इत्यादि कहते हुए, मधु और घृतके द्वारा पहले आचार्यको अग्निमें प्रत्येक वार तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिए (विमान० ८।११)। गुरुके द्वारा होम किए जानेके अनन्तर शिष्यको भी इसी प्रकार होम करना चाहिए, और दाहिनी ओरसे अग्निकी परिक्रमा करनी चाहिए। परिक्रमा करनेके अनन्तर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराना चाहिए, और उपस्थित भिषग्जनोंका पूजा-सत्कार करना चाहिए (विमान० ८।१२)।

इसके अनन्तर आचार्यका कर्त्तव्य है कि उस शिष्यको अग्निके समक्ष, ब्राह्मणोंके समक्ष, तथा भिषक्समुदायके समक्ष इस प्रकार अनुशासन दें—तुम्हें ब्रह्मचारी, श्मश्रुधारी, सत्यवादी, मांसभक्षणसे विरत, पवित्रवस्तुओंका सेवन करनेवाला, मत्सररहित तथा शस्त्र न धारण करनेवाला होना चाहिए। राज-विरुद्ध, प्राणनाशक, अत्यन्त अधर्मजनक, तथा अनर्थकारक कर्मोंको छोड़कर तुम्हें मेरी आज्ञासे कोई भी कार्य करनेमें हिचकना नहीं चाहिए। मेरे प्रति समर्पणबुद्धिसे, मुझे प्रधान समझते हुए, मेरे अधीन रहते हुए तुम्हें सदा मेरे प्रिय और हितका ही अनुवर्त्तन करना चाहिए। तुम्हें पुत्रके समान, दासके समान, और अर्थी(याचक)के समान मेरे पास निवास करना चाहिए। घमण्ड-से रहित होकर, सावधान होकर, एकाग्रमनसे, विनम्रतापूर्वक, पुनः पुनः विचार करके, ईर्ष्यासे रहित होकर, तथा मेरी अनुमति प्राप्त करके ही तुम्हें चिकित्सार्थ विचरण करना चाहिए। मेरी आज्ञासे विचरण करते हुए तुम्हें सर्वप्रथम गुरुके लिए अभीष्टपदार्थ लानेका यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। कर्मसिद्धि अर्थसिद्धि यशःप्राप्ति और मरनेके अनन्तर स्वर्गकी इच्छा करते हुए तुम्हें सर्वप्रथम गौ और ब्राह्मणके लिए, फिर समस्तप्राणधारियोंके लिए सुख-शान्तिकी कामना करनी चाहिए। तुम्हें प्रतिदिन उठते हुए, बैठते हुए, सर्वतोभावेन, रोगियोंके आरोग्यके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। अपने जीवन अथवा प्राणोंके लिए भी रोगियोंसे द्रोह नहीं करना चाहिए। मनसे भी परस्त्रीगमनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार दूसरेका धन लेनेकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। विनम्रवेष और विनम्रतासूचक वस्त्रोंसे युक्त होना चाहिए। तुम्हें मद्यशालामें नहीं जाना चाहिए। पापसे बचना चाहिए। पापीकी न तो सहा-यता करनी चाहिए और न उससे सहायता लेनी चाहिए। तुम्हें कोमल निर्दोष धर्मयुक्त सुखद श्रेष्ठ सत्य हितकर और परिमित वचन बोलना चाहिए। तुम्हें देश और कालका विचार करके कार्य करनेवाला और स्मृतिमान् बनना चाहिए, तथा ज्ञान और अभ्युदयके उपकरणोंको प्राप्त करनेके लिए सदा सयत्न रहना चाहिए। जिन लोगोंसे राजा तथा श्रेष्ठपुरुष द्वेष करते हैं, तथा जो लोग राजा और श्रेष्ठपुरुषोंसे द्वेष करते हैं, उनकी चिकित्सा कदापि नहीं

करनी चाहिए। इसी प्रकार उन लोगोंकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, जिनका स्वभाव आचार और उपचार (बाह्यव्यवहार) अत्यन्तविकृत दुष्टतापूर्ण और दुःखकर है, जो वैद्यकी झूठी निन्दाका प्रतीकार नहीं करते हैं और जो मुमूर्षु हैं। इसी प्रकार जिन स्त्रियोंका पति या संरक्षक उनके पास न हो, उनकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। पति या अभिभावककी अनुमतिके विना स्त्रीके द्वारा दी गई कोई भी रिश्वत नहीं लेनी चाहिए। रोगीके घरमें प्रवेश करते समय, अपने परिचित तथा जिसे रोगीके घरवालोंने भीतर लानेकी अनुमति दे रक्खी है, ऐसे पुरुषके साथ, अच्छे प्रकारसे कपड़े पहने हुए, शिर झुकाए हुए, अपनी स्मृतिको जागरूक रखते हुए, स्थिरमनसे पुनः पुनः विचार करके ज्ञानपूर्वक सब कुछ करते हुए, सम्यक्प्रकारसे प्रवेश करना चाहिए। भीतर पहुँचकर रोगी और रोगीके उपकारके अतिरिक्त रोगीसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी अन्य भावमें अपनी वाणी मन बुद्धि और इन्द्रियोंको नियोजित नहीं करना चाहिए। रोगीके घरकी बातोंको बाहर नहीं प्रकाशित करना चाहिए। रोगीकी आयुके प्रमाणका ह्रास हो रहा है, इस बातको जानते हुए भी उस जगह नहीं कहना चाहिए, जहाँ इस बातको कहनेसे रोगी अथवा किसी दूसरेको आघात पहुँचे। ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होनेपर भी अपने ज्ञानकी अधिक डींग नहीं मारनी चाहिए; क्योंकि डींग मारनेवाले आप्तपुरुषसे भी अनेक लोग अत्यधिक उद्विग्न हो जाते हैं। आयुर्वेदविद्याका कहीं अन्त नहीं है, इसलिए सदा प्रमादरहित होकर इसको प्राप्त करनेके लिए निरन्तर उद्योगशील रहना चाहिए। यह सब तुम्हारे लिए करणीय है (विमान० ८।१३)। इन्हीं आचरणोंके सदृश साधुपुरुषोंके जो और भी श्रेष्ठ आचरण हैं, उनसे द्वेष या ईर्ष्या न करते हुए दूसरोंसे भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्णलोक बुद्धिमान् पुरुषोंका आचार्य होता है और मूर्खोंका शत्रु। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि समुचितरूपसे विचार करके शत्रुके भी श्रेष्ठ यशोवर्धक आयुर्वर्धक पौष्टिक और लोकसम्मत वचनोंको सुनना चाहिए तथा तदनुकूल आचरण करना चाहिए।[1]

इसके अनन्तर शिष्यसे यह कहना चाहिए—तुम्हें देवता अग्नि द्विज गुरु वृद्ध सिद्ध और आचार्यके प्रति हमेशा समुचित व्यवहार करना चाहिए। उनसे सम्यक् व्यवहार करते हुए ये अग्निदेवता, सारे गन्ध रस रत्न और बीज, तथा पूर्वोक्त सभी देवता तुम्हारे लिए कल्याणकारक हो जायँगे, अन्यथा आचरण करनेसे तुम्हारा अमङ्गल करेंगे। आचार्यके ऐसा कहनेपर शिष्यको 'ऐसा ही करूँगा' कहकर अपनी स्वीकृति देनी चाहिए। यदि शिष्य आचार्यके उपदेशके अनुसार आचरण करे, तब तो उसे पढ़ाना चाहिए, अन्यथा नहीं पढ़ाना चाहिए। पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त होनेके कारण पढ़ाने योग्य शिष्यको पढ़ाता हुआ

१. एवम्भूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्। अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमतामित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति। —(विमान० ८।१४)

आचार्य अध्यापनजन्य फलोंको प्राप्त करता है तथा और भी अनेक अनुक्त श्रेयस्कर गुणोंसे अपने शिष्यको तथा स्वयंको युक्त करता है (विमान० ८।१४)।

ब्रह्मचर्य

महर्षिचरकने आहार स्वप्न और ब्रह्मचर्य इन तीनको जीवनाधारभूत शरीरका उपस्तम्भ कहा है—**"त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति"** (सूत्र० ११।३५)। जिस प्रकार मकानकी छतको धारण करनेके लिए लगाए गए प्रधान स्तम्भको सहारा देनेके लिए उसके समीप जो दूसरे स्तम्भ लगाए जाते हैं, वे उपस्तम्भ कहलाते हैं, उसी प्रकार आयुर्जनक कर्मके द्वारा प्रधान-रूपसे धारण किए जानेवाले शरीरको सहारा तथा बल प्रदान करनेके कारण आहार निद्रा और ब्रह्मचर्यको शरीरका उपस्तम्भ कहा जाता है। इन तीन उपस्तम्भोंके द्वारा युक्तिपूर्वक धारण किया गया शरीर, जबतक आयुके कारणभूत धर्माधर्म रहते हैं तबतक, बल वर्ण और पुष्टतादिसे युक्त होकर चलता रहता है (सूत्र० ११।३५)। ब्रह्मचर्यसे न केवल इन्द्रियसंयम और वीर्यरक्षा ही अभिप्रेत है, प्रत्युत ब्रह्मज्ञानके अनुकूल सौमनस्य उत्साह और प्रशमादि गुण भी विवक्षित हैं। मोक्षप्राप्तिके मार्गोंमें ब्रह्मचर्यको सबसे उत्कृष्ट मार्ग कहा गया है—**"ब्रह्मचर्यमयनानाम्"** (सूत्र० ३०।१५)। आयुकी वृद्धि करनेवाले भावोंमें भी ब्रह्मचर्यको ही सबसे श्रेष्ठ बताया गया है—**"ब्रह्मचर्य-मायुष्याणाम्"** (सूत्र० २५।४०)। ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे तथा ब्रह्म-चारियोंके संसर्गसे जनपदोद्ध्वंसक रोग तथा राजयक्ष्मा जैसे रोगोंका भी प्रतीकार किया जा सकता है (द्रष्टव्य—विमान० ३०।२० तथा चिकित्सा० ८।१८७)।

ब्रह्मचर्यसे यद्यपि ब्रह्मज्ञानके लिए परिपालनीय सम्पूर्णचर्या अभिप्रेत है, तथापि मुख्यरूपसे समस्त इन्द्रियोंको संयत तथा नियन्त्रित रखना अभीष्ट है। चूंकि इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे मनुष्यको सबसे अधिक कष्ट प्राप्त होता है—**"लौल्यं क्लेशकराणाम्"** (सूत्र० २५।४०), अतः अपने मन और इन्द्रियोंको निगृहीत करके सदा अपने वशमें रखना चाहिए। इस इन्द्रियनिग्रहरूप ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे साधकको समाधिरूप ब्राह्मीस्थितिकी प्राप्ति होती है, उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहत हो जाता है, और वह विना इन्द्रियोंके केवल समाधिबलसे ही सभी भावोंकी परीक्षा कर लेता है (द्रष्टव्य पृष्ठ २५६ टि० १)। चूंकि सभी इन्द्रियोंमें उपस्थेन्द्रियका संयम करना सबसे कठिन है, और इससे होनेवाली वीर्यरक्षाके विना ब्रह्मभावापत्ति असम्भव है, इसलिए कालान्तरमें 'ब्रह्मचर्य' शब्द उपस्थेन्द्रियके संयम और वीर्यरक्षाके अर्थमें रूढ हो गया—**"ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः"** (व्यासभाष्य २।३०)। आयुर्वेदमें वीर्यरक्षाका बहुत महत्त्व है। बलकी वृद्धि करनेवाले भावोंमें वीर्यको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—**"वीर्यं बलवर्धनानाम्"** (सूत्र० ३०।१५)। वीर्यका अत्यधिक ह्रास होनेसे मनुष्यको राजयक्ष्मा जैसे रोग घर दबोचते हैं और कष्टपरम्पराका प्रारम्भ करते हैं।

जब कोई पुरुष अत्यधिक प्रहर्षके कारण स्त्रियोंमें आसक्त होकर अतिमात्रामें स्त्रीप्रसङ्ग करना आरम्भ करता है, तो अतिप्रसङ्गके कारण उसका वीर्य क्षीण हो जाता है। वीर्यके क्षीण होनेपर भी यदि उसका मन स्त्रियोंकी ओरसे नहीं हटता है, तथा अत्यधिक प्रवृत्त होता ही रहता है, तो अत्यधिक सङ्कल्पके द्वारा ध्वजोच्छ्राय करके जब मैथुनमें संलग्न होता है, उस समय अतिमात्रामें क्षीण हो जानेके कारण उसका वीर्य स्खलित नहीं होता है। उसके बाद वायु निरन्तर मैथुनरूप व्यायाम करते हुए शरीरकी रक्तवाहिनी धमनियोंमें प्रवेश करके उनसे रक्त बहाने लगता है। तब शुक्रका क्षय हो जानेसे शुक्रमार्गसे दूषितवातके लक्षणोंवाला रक्त बाहर आने लगता है।[1] उस अवस्थामें शुक्रका क्षय होनेसे तथा रक्तके निकलनेसे शरीरकी सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीरमें रूक्षता आ जाती है, शरीर और अधिक दुर्बल हो जाता है, और वायु प्रकुपित हो जाता है। प्रकुपित हुआ वायु, शुक्र और रक्तका क्षय हो जानेसे, रिक्त हुए शरीरमें सञ्चार करता हुआ, कफ और पित्तको उदीर्ण करके मांस और रक्तको और अधिक सुखा देता है, कफ और पित्तको बाहर निकालता है, पार्श्वोंमें पीडा उत्पन्न करता है, कन्धोंको कुचल डालता है, गलेको खराब कर देता है, श्लेष्माको प्रकुपित करके शिरको श्लेष्मासे भर देता है, शरीरकी सन्धियोंको पीडित करता हुआ अङ्गोंमें वेदना उत्पन्न करता है तथा अरुचि और अपच उत्पन्न कर देता है। पित्त और कफको प्रकुपित करनेके कारण तथा अपनी गतिके प्रतिलोम होनेसे वायु ज्वर कास श्वास स्वरभेद और प्रतिश्यायको उत्पन्न करता है। खाँसी आते रहनेके कारण छातीमें घाव हो जानेसे उस पुरुषके थूकमें खून आने लगता है, और खून आनेसे वह दुर्बल हो जाता है। इसके अनन्तर शरीरको सुखानेवाले इन उपद्रवोंसे पीडित होकर वह पुरुष धीरे-धीरे सूखता ही जाता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषका कर्त्तव्य है कि अपने शरीरकी रक्षा करते हुए वीर्यकी रक्षा करे, क्योंकि यह आहारकी सर्वोत्कृष्ट परिणति है।[2]

---

१. यदा वा पुरुषोऽतिहर्षणात् प्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमुपैति। क्षयं चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्त्तते, अतिप्रवर्त्तत एव, तस्य चातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न च शुक्रं प्रवर्त्तते अतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्। अथास्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति। अस्य पुनस्तच्छुक्रक्षयात् शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्त्तते वातानुसृतलिङ्गम्। —(निदान० ६।१०)

२. अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्त्तनाच्च सन्धयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशतीति वायुः [illegible]ते। स प्रकुपितो व्यक्तं शरीरमनुसर्पन् उदीर्य श्लेष्मपित्ते परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, चावमृद्नात्यंसौ, कण्ठमुद्ध्वंसयति, शिरः श्लेष्माणमुपक्लेश्य परिपूरयति श्लेष्मणा, सन्धींश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च। पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति। स कासप्रसङ्गात्

चूंकि शुक्र भोजनका उत्कृष्टसार है और उसका क्षय होनेसे श्वास-कासादि नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं, यहाँतक कि मृत्यु भी हो जाती है, अतः मनुष्यको अपने शुक्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए (द्रष्टव्य पृष्ठ १८५ टि० २)।

साहस

मनुष्यको जिस प्रकार अत्यधिक स्त्रीप्रसङ्गसे बचना चाहिए, उसी प्रकार सभी प्रकारके साहसिक कर्मोंसे भी बचना चाहिए। शोष(राजयक्ष्मा)के चार हेतुओंको गिनाते समय साहसको प्रथम स्थान दिया गया है। मनके भीतर यदि किसी अप्रशस्त साहसिक कर्मको करनेके लिए आवेग उठे, तो उसे अत्यन्तदृढता और संयमके साथ दबा देना चाहिए। क्योंकि साहस सदा मनुष्यको विपत्तिमें डाल देता है। मन वचन और शरीरके भेदसे साहस भी तीन प्रकारका होता है। चरकसंहितामें अनेक स्थलोंपर साहसके परित्यागका उपदेश दिया गया है। साहसकी शोषहेतुकताकी व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं—"जब कोई पुरुष स्वयं दुर्बल होते हुए अपनेसे बलवान्के साथ विग्रह (झगड़ा या कुश्ती) करता है, अथवा बहुत बड़े धनुषको खींचकर तानता है, अथवा बहुत अधिक बोलता है, अथवा अपनी सामर्थ्यसे अधिक बहुत बड़े बोझको उठाता है, अथवा पानीमें बहुत दूरतक तैरता है, अथवा अत्यन्तबलपूर्वक उबटन और मालिश करवाता है, अथवा शरीरको अत्यन्त बलपूर्वक पैरोंसे रौंदवाता है, अथवा बहुत लम्बे मार्गको अत्यन्तशीघ्रतासे दौड़ते हुए तय करता है, अथवा किसी प्रकारसे चोट खा जाता है, अथवा इसी प्रकारके किसी दूसरे विषमव्यायामको अत्यधिकमात्रामें आरम्भ करता है, तो अपनी सामर्थ्यसे अधिक कर्म करनेके कारण उस पुरुषके उरःस्थलमें घाव हो जाता है।"[1] वक्षस्थलमें घाव हो जानेसे वायु उसके भीतर प्रवेश करके अपना उपद्रव प्रारम्भ कर देता है। शरीरकी धातुओं और अवयवोंमें प्रवेश करके वायु अनेकविध वेदनाओं पीडाओं और अनर्थपरम्पराओंको जन्म देता है। निरन्तर खाँसी आने लगती है और थूकके साथ रक्त आने लगता है। इस प्रकार साहससे उत्पन्न होनेवाले ये उपद्रव साहसिकपुरुषको आक्रान्त कर लेते हैं, और धीरे-धीरे सूखता हुआ वह पुरुष एक दिन राजयक्ष्माका

उरसि क्षते शोणितं निष्ठीवति। शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते। ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षन् शुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति। —(निदान० ६।१०)

१. यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वातिमात्रमतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते चातिदूरम्, उत्सादनपदाघातने वाति:[illegible]मासेवते, अतिप्रकृष्टं वाध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते। —(निदान० ६।४)

अतिथि बन जाता है। इसलिए आचार्यका कथन है—"मतिमान् पुरुषको अपना बल देखकर उसीके अनुसार सम्पूर्णकर्मोंको करना चाहिए, क्योंकि शरीर बलके ऊपर स्थित है, और पुरुषकी स्थिति शरीरके अधीन है।"[1] प्राणोंको बाधा पहुँचानेवाले भावोंमें अपने बलके अनुरूप कार्य न करना अर्थात् अपनी शक्तिकी परवाह न करके किसी कार्यको कर बैठना सबसे बढ़कर माना गया है—**"अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनाम्"** (सूत्र० २५।४०)। साहस करनेवालोंकी कभी-कभी तत्काल मृत्यु हो जाती है और कभी-कभी लम्बे अरसेतक बीमार रहकर मृत्यु होती है। मृत्यु हो जानेपर सारा खेल ही खत्म हो जाता है। इसलिए आचार्यने कहा है—"मनुष्यको अपने जीवनकी रक्षा करते हुए साहसपूर्ण कर्मका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि जीवित रहते हुए मनुष्य अपने कर्मका अभीष्टफल भोग सकता है।"[2] मर जानेपर तो कुछ भी सम्भव नहीं है।

शारीरस्थान(६।८)में आचार्यने शरीरकी धातुओंमें समता बनाए रखनेके लिए, और पूर्ण आरोग्यके लिए, समस्त साहसिककर्मोंके परित्यागका, तथा पूर्वोक्त स्वस्थवृत्तका अनुपालन करनेका उपदेश दिया है—"देश काल और अपने शरीरके गुणोंसे विपरीतकर्मोंका सम्यक् आचरण तथा आहारभेदोंका सम्यक् उपयोग, सभी अतियोगोंको रोकना, गतिशील प्रवृत्त वेगोंको न रोकना, साहसपूर्ण कर्मोंको बचाना—इस स्वस्थवृत्तका उपदेश शरीरगत धातुओंमें समता रखनेके लिए किया जाता है।" चक्रपाणिने उदाहरणके लिए 'मरुदेशमें निद्रा'को देशविपरीत कर्म कहा है, तथा 'वसन्तमें व्यायाम'को कालविपरीत और 'शरीर मोटा होनेपर व्यायाम और रात्रिजागरण'को आत्मविपरीत कर्म कहा है। इसी प्रकार आहारके विषयमें भी देशादिविपरीतका अनुमान करना चाहिए।

---

१. **तस्मात् पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य तदनुरूपाणि सर्वकर्माण्यारभेत कर्त्तुम्, बलसमाधानं हि शरीरम्, शरीरमूलश्च पुरुष इति।**
—(निदान० ६।५)

२. **साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः।**
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते॥ —(निदान० ६।६)



सहायकग्रन्थसूची

ग्रन्थनाम	रचयिता	प्रकाशनवर्ष	प्रकाशनस्थल
अमरकोश	अमरसिंह	१९७०	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
अष्टाङ्गसङ्ग्रह	वाग्भट	१९१३-१६	त्रिचूर
अष्टाङ्गहृदय	वाग्भट	१९४७	ट्रावनकोर विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम्
अष्टाध्यायी	पाणिनि	१९५५	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
आयुर्वेदका बृहद् इतिहास	अत्रिदेव विद्यालङ्कार	१९६०	सूचना विभाग, उ० प्र०
आयुर्वेदका सङ्क्षिप्त इतिहास	महेन्द्रनाथ शास्त्री	१९४८	हिन्दी ज्ञान मन्दिर, बाम्बे
ईशावास्योपनिषद्	—	१९६४	गीता प्रेस, गोरखपुर
ऋग्वेदसंहिता	—	१९५१	सोनटक्के, पूना
ऐतरेयब्राह्मण	—	१९४९	हिन्दी सा० स०, प्रयाग
ऐतरेयोपनिषद्	—	१९५६	गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषद्	—	१९५६	गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषद्भाष्य	शङ्कराचार्य	१९५६	गीता प्रेस, गोरखपुर
काशिकावृत्ति	वामन-जयादित्य	१९५२	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
किरातार्जुनीय	भारवि	१९३६	कुमुदरञ्जन राय, कलकत्ता
कुमारसम्भव	कालिदास	१९६७	मोती० बना०, वाराणसी
केनोपनिषद्	—	१९६२	गीता प्रेस, गोरखपुर
चरकसंहिताका निर्माणकाल	रघुवीरशरणशर्मा	१९५८	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
छान्दोग्योपनिषद्	—	१९५६	गीता प्रेस, गोरखपुर
जल्पकल्पतरु	गङ्गाधर	१८७२	भुवनचन्द्र वसाक, कलकत्त
तत्त्वसङ्ग्रह	शान्तरक्षित	१९६०	मोती० बना०, वाराणसी
तत्त्वसङ्ग्रहव्याख्या	कमलशील	१९६०	मोती० बना०, वाराणसी
तन्त्रार्थदीपिका	जयदेव विद्या०	१९५८	मोती० बना०, वाराणसी
तर्कभाषा	केशवमिश्र	१९६७	चौ० सं० सी०, वाराणसी
तात्पर्यटीकापरिशुद्धि	उदयन	१९६७	मिथि० इं० सी०, दरभंगा
तैत्तिरीयोपनिषद्	—	१९६२	गीता प्रेस, गोरखपुर
निरन्तरपदव्याख्या (चरकसंहिताटीका)	जेज्जट	१९४०-४१	मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर
नीतिशतक	भर्तृहरि	१९४६	गौतम बुक डिपो, देहली

ग्रन्थनाम	रचयिता	प्रकाशनवर्ष	प्रकाशनस्थल
न्यायवार्त्तिक	उद्योतकर	१९४०	का० सं० सी०, बनारस
न्यायसूत्र	गौतम	१९२५	चौ० सं० सी०, बनारस
न्यायसूत्रभाष्य	वात्स्यायन	१९२५	चौ० सं० सी०, बनारस
पञ्चदशी	विद्यारण्य	१९४९	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई
पाणिनीयशिक्षा	पाणिनि	१९६७	मोती० बना०, दिल्ली
प्रत्यक्षशारीर	गणनाथसेन	१९१९	मोती० बना०, लाहौर
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपाद	१९३०	चौ० सं० सी०, बनारस
प्रश्नोपनिषद्	—	१९६२	गीता प्रेस, गोरखपुर
बालक्रीडा (याज्ञ०स्मृतिटीका)	विश्वरूपाचार्य	१९६५	टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्
बुद्धचरित	अश्वघोष	१९६५	मोती० बना०, वाराणसी
बृहदारण्यकोपनिषद्	—	१९५५	गीता प्रेस, गोरखपुर
ब्रह्मसूत्र	बादरायण	१९३४	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे
ब्रह्मसूत्रभाष्य	शङ्कराचार्य	१९३४	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे
ब्रह्माण्डपुराण	वेदव्यास	१९१५	वेङ्कटेश्वर प्रेस, बाम्बे
भगवद्गीता	वेदव्यास	१९५२	गीता प्रेस, गोरखपुर
भगवद्गीताभाष्य	शङ्कराचार्य	१९६७	गीता प्रेस, गोरखपुर
भागवतपुराण	वेदव्यास	१९५१	गीता प्रेस, गोरखपुर
भावप्रकाश	भावमिश्र	१९३८	चौ० सं० सी०, वाराणसी
भाष्यचन्द्र (न्यायभाष्यटीका)	रघूत्तम	१९१५	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
भेलसंहिता	भेल	१९५८	विद्या० आ० ग्र० बनारस
मनुस्मृति	मनु	१९४६	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे
महानारायणीयोप०	—	१९२५	भण्डारकर ओ० इ०, पूना
महाभारत	वेदव्यास	१९६०	गीता प्रेस, गोरखपुर
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक	कुमारिलभट्ट	१८९९	चौ० सं० सी०, वाराणसी
मुण्डकोपनिषद्	—	१९६२	गीता प्रेस, गोरखपुर
याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञवल्क्य	१९५४	का० सं० सी०, बनारस
योगसूत्र	पतञ्जलि	१९३५	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारससे प्रकाशित 'साङ्ख्ययोगदर्शन'
योगसूत्रभाष्य	व्यास	१९३५	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारससे प्रकाशित 'साङ्ख्ययोगदर्शन'
योगवार्त्तिक	विज्ञानभिक्षु	१९३५	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारससे प्रकाशित 'साङ्ख्ययोगदर्शन'
राजतरङ्गिणी	कल्हण	१९३०	भण्डारकर ओ० इ०, पूना
राजमार्त्तण्डवृत्ति	भोजराज	१९१३	बनारस
ललितविस्तर	पी० एल० वैद्य	१९५८	मिथिला इन्स्टी०, दरभंगा
वायुपुराण	वेदव्यास	१९०५	आन० सं० सी०, पूना
विद्वन्मनोरञ्जनी	रामतीर्थ	१९३४	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे
वेदान्तपरिभाषा	रङ्गराजाध्वरीन	१९६७	ज्ञानसत्र प्रकाशन मन्दिर, नर्मदापुर
वेदान्तसार	सदानन्दयोगीन्द्र	१९३४	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे

ग्रन्थनाम	रचयिता	प्रकाशनवर्ष	प्रकाशनस्थल
वैयाकरणसिद्धान्त-लघुमञ्जूषा	नागेशभट्ट	१९५८	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
वैशेषिकसूत्र	कणाद	१९६९	चौ० सं० सी०, वाराणसी
वैशेषिकसूत्रोपस्कार	शङ्करमिश्र	१९६९	चौ० सं० सी०, वाराणसी
व्याकरणमहाभाष्य	पतञ्जलि	१९६७	मोती० बना०, वाराणसी
व्योमवती (प्रशस्त-पादभाष्यटीका)	व्योमशिवाचार्य —	१९३०	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस
शतपथब्राह्मण		१९३५	काशी सं० सी०, वाराणसी
शाबरभाष्य	शबरस्वामी	१९२८	काशी० सं० सी०, बनारस
शिवमहिम्नःस्तोत्र-व्याख्या	मधुसूदन-सरस्वती	१९३७	निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे
श्वेताश्वतरोपनिषद्	—	१९५२	गीता प्रेस, गोरखपुर
सङ्क्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	१९४८	काशी सं० सी०, बनारस
सर्वदर्शनसङ्ग्रह	माधवाचार्य	१९२५	लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, मुम्बई
साङ्ख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	१९३७	श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, बना०
साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	१९३७	श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, बना०
साङ्ख्यदर्शनकी ऐतिहासिक परम्परा	डा० आद्या-प्रसाद मिश्र	१९६७	सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद
सुश्रुतसंहिता	सुश्रुत	१९१५	निर्णय सागर प्रेस०, बाम्बे
हितोपदेश	नारायणपण्डित	१९२३	गुजराती मुद्रणालय, बाम्बे
A Critical Survey of Indian Philosophy	C. D. Sharma	1964	Motilal Banarasidass, Delhi
A History of Indian Philosophy	S. N. Das-Gupta	1961	Univerity Press, Cambridge
Indian Philosophy	Radha-krishnan	1951	Allen & Unwin, London
History of Hindu Chemistry	P. C, Roy	1925	Calcutta

